स्थापित : १९२९

वीर सेवा मन्दिर

२१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

वीर सेवा मंदिर उत्तर भारत का अग्रणी जैन संस्कृति, साहित्य, इतिहास, पुरातत्त्व एवं दर्शन शोध संस्थान है जो १९२९ से अनवरत अपने पुनीत उद्देश्यों की सम्पूर्ति में संलग्न रहा है। इसके पावन उद्देश्य इस प्रकार हैं :—

- ☐ जैन-जैनेतर पुरातत्व सामग्री का संग्रह, संकलन और प्रकाशन।
- ☐ प्राचीन जैन-जैनेतर ग्रन्थों का उद्धार।
- ☐ लोक हितार्थ नव साहित्य का सृजन, प्रकटीकरण और प्रचार।
- ☐ 'अनेकान्त' पत्रादि द्वारा जनता के आचार-विचार को ऊँचा उठाने का प्रयत्न।
- ☐ जैन साहित्य, इतिहास और तत्त्वज्ञान विषयक अनुसंधानादि कार्यों का प्रसाधन और उनके प्रोत्तेजनार्थ वृत्तियों का विधान तथा पुरस्कारादि का आयोजन।

विविध उपयोगी संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी एवं अंग्रेजी प्रकाशनों; जैन साहित्य, इतिहास और तत्त्वज्ञान विषयक शोध-अनुसंधान; सुविशाल एवं निरन्तर प्रवर्धमान ग्रन्थागार; जैन संस्कृति, साहित्य, इतिहास एवं पुरातत्व के समर्थ अग्रदूत 'अनेकान्त' के निरन्तर प्रकाशन एवं अन्य अनेकानेक विविध साहित्यिक और सांस्कृतिक गतिविधियों द्वारा वीर सेवा मंदिर गत ४८ वर्ष से निरन्तर सेवारत रहा है एवं उत्तरोत्तर विकासमान है।

यह संस्था अपने विविध क्रिया-कलापों में हर प्रकार से आपका महत्त्वपूर्ण सहयोग एवं पूर्ण प्रोत्साहन पाने की अधिकारिणी है। अतः आपसे सानुरोध निवेदन है कि :—

१. वीर सेवा मंदिर के सदस्य बनकर धर्म प्रभावनात्मक कार्यक्रमों में सक्रिय योगदान करें।

२. वीर सेवा मन्दिर के प्रकाशनों को स्वयं अपने उपयोग के लिए तथा विविध मांगलिक अवसरों पर अपने प्रियजनों को भेंट में देने के लिए खरीदें।

३. त्रैमासिक शोध पत्रिका 'अनेकान्त' के ग्राहक बनकर जैन संस्कृति, साहित्य, इतिहास एवं पुरातत्व के शोधानुसन्धान में योग दें।

४. विविध धार्मिक, सांस्कृतिक पर्वों एवं दानादि के अवसरों पर महत् उद्देश्यों की पूर्ति में वीर सेवा मन्दिर की आर्थिक सहायता करें।

—गोकुल प्रसाद जैन, सचिव :

प्राचीन जैन साहित्य
की

समृद्ध परम्परा

प्राचीन जैन साहित्य का क्षेत्र अति विस्तृत है। प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश कन्नड़, तमिल, गुजराती, मराठी हिन्दी आदि विभिन्न भाषाओं में निबद्ध इस साहित्य की अजस्र धारा अति प्राचीन काल से अद्यावधि अविछिन्न रूप से प्रवहित चली आ रही है। श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों का साहित्य प्रायः भिन्न है।

महावीर से पूर्व का साहित्य

चौदह 'पूर्व', उत्पादपूर्व आदि। महावीर से पश्चात् का साहित्य आचाराङ्ग आदि बारह अंग। 'दृष्टिवाद' नाम के बारहवें अंग मे चौदह पूर्वों का समावेश था किन्तु उसकी परम्परा समाप्त हो गयी।

अर्धमागधी जैनागम

इनकी संख्या ४५ है—११ अंग, १२ उपांग, ६ छेद-सूत्र, ४ मूल सूत्र, १० प्रकीर्णक एवं २ चूलिका सूत्र। इन सब पर जब जो रचनायें लिखी गई वे है—निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका।

शौरसेनी जैनागम

उपर्युक्त जैनागम श्वेताम्बर संप्रदाय मे प्रचलित है। दिगम्बर परम्परा का मूलागम 'षट्खण्डागम' के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी रचना आचार्य धरसेन के शिष्य आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि ने की। दिगम्बर आम्नाय के अनुसार समस्त जैनागम चार भागों में विभक्त है—प्रथमानुयोग (पुराण-कथा), करणानुयोग (ज्योतिष-गणित), चरणानुयोग (आचारशास्त्र) तथा द्रव्यानुयोग। इन चारों अनुयोगों का अपार साहित्य उपलब्ध है।

तत्पश्चात् आज से लगभग १०० वर्ष पूर्व से जैन साहित्य का आधुनिक युग प्रारम्भ होता है।

☐

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३१ किरण १	वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ वीर-निर्वाण संवत् २५०४, वि० सं० २०३४	जनवरी-मार्च १९७८

श्री महावीर-स्तवन

प्रशान्तं दर्शनं यस्य सर्वभूताऽभयप्रदम् । मांगल्यं च प्रशस्तं च शिवस्तेन विभाव्यते ॥
जगन्नैकावस्थं युगपदखिलाऽनन्तविषयं, यदे तत्प्रत्यक्षं तव न च भवान् कस्यचिदपि ।
अनेनैवाऽचिन्त्य-प्रकृति-रस-सिद्धेस्तु विदुषां, समीक्ष्यैतद्द्वारं तवगुण कथोत्काबयमपि ॥
नाऽर्थान् विवित्ससि न वेत्स्यसि ना, ऽप्यवेत्सीर्न ज्ञातवानसि न तेऽच्युत ! वेद्यमस्ति ।
त्रैकाल्य-नित्य-विषमं युगपच्च विश्वं, पश्यस्यचिन्त्य-चरिताय नमोऽस्तु तुभ्यम् ॥
दुरामाप्तं यदचिन्त्य-भूतिज्ञानंत्वया जन्मजराऽन्तकर्तृ ।
तेनाऽसि लोकानभिभूय सर्वान्सर्वज्ञ ! लोकोत्तमतामुपेतः ॥
क्रियां च संज्ञान-वियोग-निष्फलां क्रियाविहीनं च विबोधसंपदम् ।
निरस्यता क्लेशसमूह-शान्तये त्वया शिवाया लिखितेव पद्धतिः ॥
य एव षड्जीव-निकाय-विस्तरः परैरनालीढ पथस्त्वयोदितः ।
अनेक सर्वज्ञ-परीक्षण-क्षमास्त्वयि प्रसादोदय सोत्सवाः स्थिता ॥

—सिद्धसेनाचार्यः

अर्थ—जिनकी प्रशान्त मूर्ति के दर्शन मात्र से समस्त प्राणी अभय प्राप्त करते हैं, वह भगवान् प्रशस्त मंगलरूप एवं कल्याणमयी शोभायमान हैं।

अखिल विश्व के अनन्त विषय और उनकी समस्त पर्यायें जिसके प्रत्यक्ष हैं, अन्य किसी को नहीं, और प्रकृति-रस-सिद्धविद्वानों के लिए भी जो अचिन्त्य है, ऐसे उक्त सर्वज्ञद्वार की समीक्षा करके मैं आपका गुणगान करने को उत्सुक हुआ हूँ।

विश्व के त्रिकालवर्ती समस्त साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्त, सूक्ष्म-स्थूल, दृष्ट-अदृष्ट, ज्ञात-अज्ञात, व्यवहित-अव्यवहित आदि पदार्थ अपनी अनेक अनन्त पर्यायों सहित आप को युगपत् प्रत्यक्ष हैं, हे भगवान अच्युत ! आपको नमस्कार हो !

हे सर्वान्सर्वज्ञ ! कठिनाई से प्राप्त होने वाले अचिन्त्य तत्त्वज्ञान द्वारा आपने जन्म-जरा-मृत्यु को जीत कर लोक को अभिभूत किया और लोकोत्तमता प्राप्त की।

हे प्रभु ! आपके सन्मार्ग में सम्यग्ज्ञानरहित क्रिया को तथा क्रियाविहीन ज्ञान को क्लेश समूह की शान्ति और शिवप्राप्ति के अर्थ निष्फल बताया है।

हे वीर जिन ! छः काय के जीवों का जो विस्तार आपने प्रतिपादित किया है, वैसा कोई अन्य नहीं कर सका। अतएव जो लोग सर्वज्ञत्व की परीक्षा करने में समर्थ हैं, वे बड़े प्रसन्न चित्त से आपके भक्त बने हैं।

□□□

मध्यप्रदेश की जैन तीर्थस्थली : मक्सी पार्श्वनाथ

□ डा० सुरेन्द्रकुमार आर्य, उज्जैन

भारतीय संस्कृति धर्म प्रधान है, और हर धर्म में तीर्थ यात्रा की महत्ता प्रतिपादित की गई है। तीर्थ यात्रा से अनुयायी वर्ग मे भक्ति भाव का प्रादुर्भाव होता है और आत्मा की शांति प्राप्त होती है। ये किसी प्राकृतिक सुषमा की महत्ता के कारण शांत स्थान में निर्मित होते है। "तीर्थ" शब्द "तृ" धातु से निकला हुआ है, अर्थात् जिसके द्वारा अथवा जिसके आधार से तरा जाय। जिन-सेनकृत "आदि-पुराण" में आता है कि जो इस असार ससार समुद्र से पार करे उसे तीर्थ कहते हैं। यहा जिनेन्द्र का आख्यान श्रवण किया जाता है। जैन धर्म में तीर्थ स्थान उस स्थान को कहते है जहां तीर्थंकरों ने गर्भ, जन्म, अभिनिष्क्रमण, केवल-ज्ञान और निर्वाण कल्याण मे से कोई कल्याणक हुआ हो अथवा किसी तपस्वी मुनि को केवलज्ञान या निर्वाण प्राप्त हुआ हो।

दिगम्बर समाज में तीन प्रकार के तीर्थ क्षेत्र प्रसिद्ध हैं :—

(१) सिद्ध क्षेत्र (जहां निर्वाण प्राप्त किया गया हो)

(२) कल्याणक क्षेत्र।

(३) अतिशय क्षेत्र।

प्रथम कोटि में वे क्षेत्र आते हैं जहां तीर्थंकर या किसी तपस्वी मुनिराज का निर्वाण हुआ हो जैसे कैलाश, चपा, पावा, ऊर्जयंत और सम्मेद शिखर।

दूसरे वे हैं जहां किसी तीर्थंकर का गर्भ, जन्म, अभि-निष्क्रमण और केवल-ज्ञान कल्याणक हुआ है।

तीसरे अतिशय क्षेत्र है जहां किसी मन्दिर मे या मूर्ति मे कोई चमत्कार दिखाई दे, तो वह अतिशय क्षेत्र कह-लाता है।

तीर्थ क्षेत्र की यात्रा से पापों का क्षय और पुण्य का संचय होता है, आत्मशुद्धि होती है और वीतराग मुनियों के पावन चरित्र का श्रवण करके उसे हम अपने जीवन मे उतारने का संकल्प लेते हैं।

जैन धर्म में तीर्थ स्थान पर मूर्तियों की प्रतिष्ठा एवं उनका पूजन अति प्राचीन काल से प्रचलित है। तीर्थों पर मन्दिरों का निर्माण किया जाता है एवं मूर्तियों की प्रतिष्ठा की जाती है

मध्यप्रदेश में जैन पुरातत्त्व का अक्षय भंडार

मध्यप्रदेश भारत वर्ष के मध्य में स्थित, क्षेत्रफल की दृष्टि से सबसे बड़ा प्रदेश है। इसमें अति प्राचीन जनपद अवन्ती प्रदेश है और इसकी राजधानी उज्जयिनी थी। इसे ही सातवीं शताब्दी से 'मालवा' कहने लगे। प्राचीन काल से ही अवती प्रदेश मे नदी-तटों, वनों के सुरम्य वातावरण मे वीतराग योगी आत्मा के उत्थान के लिए ध्यानलीन रहा करते थे—पावागिरि, सिद्धवरकूट, चूल-गिरि, उज्जयिनी ऐसे ही प्राकृतिक सुषमा के प्रमुख तीर्थ हैं।

मालवा प्रदेश मे अतिशय क्षेत्र तो प्रसिद्ध है ही, परन्तु कला, पुरातत्त्व एवं इतिहास की दृष्टि से भी अनेक स्थल महत्त्वपूर्ण है। तीर्थंकरो की प्रतिमाओं, मानस्तंभ, मन्दिर, प्रकोष्ठ, जैन ग्रन्थ व जैन चित्रों से ऐसे स्थल अपने आप मे तीर्थो जैसे महत्त्वपूर्ण स्थल हो गये हैं[1]। उज्जैन मे तो जैन धर्म का विकास मौर्य युग (ईसा पूर्व २०० वर्ष) से ही हो गया था। कसरावद, महेश्वर, सामेर, उज्जैन, मक्सी, कायथा, उन्हेल, भारड़ा, खाचरोद, पानबिहार, हासामपुरा, बदनावर, इन्दौर व सोढंग, करेड़ी, सखेड़ी, पचोर, जामनेर, अंदार, आष्टा, शाजापुर, शुजालपुर, आगर आदि ऐसे स्थान है जहा जैन पुरातत्त्व प्रभूत मात्रा में है व जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाएं, धातुयंत्र, मन्दिर अव-शेष एवं हस्तलिखित ग्रन्थ सुरक्षित हैं।

गुना, बदनावर, ईसागढ़, आष्टा, सुसनेर, उदरसी, पचोर आदि स्थानों की सुन्दर तीर्थंकर प्रतिमाएं दिगम्बर जैन पुरातत्त्व संग्रहालय, जयसिंहपुरा, उज्जैन में सुरक्षित है। यह संग्रहालय भारत के जैन संग्रहालयों में प्रमुख

१. डा० वि० श्री वाकणकर : मालवा के जैन पुरावशेष, श्री महावीर स्मारिका, पृ० ३४–४०
(देखिए लेखक द्वारा लिखित दिगंबर जैन मूर्ति संग्रहालय, जयसिंहपुरा का परिचय, पृ० १०)

है, क्योंकि जैन पुरातत्व की दृष्टि से मध्यप्रदेश प्रमुख है; और किसी भी प्रदेश में जैन पुरातत्व इतनी प्रचुरता से नहीं मिलता है। यहां का जैन पुरातत्व प्रचुरता की दृष्टि से ही नही, ऐतिहासिक और कला की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण माना जाता है। डा० वाकणकर ने मालवा से प्राप्त लगभग साढे तीन सौ जैन अभिलेख नये खोजे हैं[1]। इसके अतिरिक्त, जैन तीर्थंकर मूर्तियों, शासन देवी-देवताओं की मूर्तियों, मन्दिर, स्तंभ व हस्तलिखित ग्रन्थ व दुर्लभ जैन चित्रकला के प्रमाण इस मालव प्रदेश में असंख्य भरे हुए हैं।

मालवा में जैन धर्म का प्रारम्भिक विकास ईसा पूर्व ३री शताब्दी में हो गया था, यद्यपि वह बौद्ध धर्म की भांति उन्नत न था। श्रीमती स्टीवेन्सन का मत है कि महावीर भगवान ने अपने समय मे उज्जैन में कठोर तपस्या की थी। इसमें रुद्र ने बाधा पहुंचाई थी[2]। जैन परम्पराओं मे चंड प्रद्योत को जैन धर्मानुयायी कहा गया है और उसने जीवंत स्वामी की महावीर प्रतिमा उज्जैन, विदिशा व दशपुर में स्थापित की थी।

मालवा में अशोक के पौत्र संप्रति ने जैन धर्म का अत्यधिक प्रचार एवं प्रसार किया। इस शासक ने जैन आचार्य आर्य सुहस्ति से दीक्षा ग्रहण की थी। संप्रति ने मालवा में अनेक जैन मन्दिर बनवाये और मूर्तियों की प्रतिष्ठा की। उसने अनेक सघों को प्रश्रय दिया व तीर्थों में निर्माण कार्य किया। महेश्वर के निकट कसराबद उत्खनन से ई० पू० दूसरी शताब्दी का 'निघटस बिहारे दीये' एक पात्र पर लिखा मिला है, जिससे कतिपय इतिहासकार यह कहते है कि यह प्रमाणित हैं कि मालवा में मौर्यकाल में जैन निर्ग्रन्थ साधु निवास करते थे।' (के.सी. जैन : मालवा थ्र दि एजेज, पृ० ७८)। बाद के शुंग सातवाहनकाल में सिद्ध सेन दिवाकर ने मालवा मे जैन धर्म का प्रसार किया। गुप्त काल में जैन धर्म का केन्द्र विदिशा बना और यहां पर जैन तीर्थंकर प्रतिमाओं की स्थापना की गई। यहां से ४थी-५वीं शताब्दी की जैन तीर्थंकर प्रतिमायें रामगुप्त द्वारा निर्मित मिली हैं।

मध्यप्रदेश में मध्यकाल की जैन मूर्तियां प्रचुर संख्या में मिलती हैं। यहां के अनेक क्षेत्रों की स्थापना इसी काल में हुई। यह मालवा में परमार नरेशों का शासन-काल था जो लगभग ५०० वर्षों तक रहा, अर्थात् ६५० ई० से १४५० ई० तक रहा। इस काल में प्रमुख नरेश मुंज, भोज, उदयसिंह, अजयपाल देव प्रमुख थे। इन सहिष्णु नरेशों ने जैन धर्म के उत्थान में अभूतपूर्व योगदान प्रदान किया।

परमार काल में मालवा में जैन धर्म का पर्याप्त समुन्नत विकास हुआ। इसी काल में यहां का डग-मग पुरातत्व जैन धर्म मंडित हुआ। यद्यपि परमार नरेश ब्राह्मण धर्म के अनुसरणकर्ता थे, परन्तु उन्होंने जैन धर्म के उत्थान व प्रसार में अभूतपूर्व योग प्रदान किया। परमार नरेशों ने जैन विद्वानों को राज्याश्रय दिया। उज्जैन व धारा नगरी जैन आचार्यों के स्थायी स्थान बने और जैन आचार्यों ने बहुत बड़ी संख्या में जनता को जैन धर्म की ओर आकर्षित किया। अनेकों जैन मन्दिर इस काल में बने और उनमें मूर्तियों की स्थापना की गई। इसी काल में अनेक जैन तीर्थों की नीव पड़ी और जैन आचार्यों ने पूर्व परम्परा से प्रसिद्ध चले आते हुए स्थानों की महत्ता बताई व वहां पर तीर्थों का समारम्भ हुआ।

परमार नरेश वाक्पति मुंज ने जैन आचार्य अमितगति, महासेन, धनपाल व धनेश्वर को राज्याश्रय प्रदान किया। परमार नरेश भोजदेव ने प्रभाचन्द्र मुनि को सम्मान प्रदान किया और धनपाल ने "तिलकमंजरी" ग्रन्थ रचा। सूराचार्य व देवभद्र ऐसे जैनाचार्य थे जिनका भोज के दरबार में आदर किया जाता था। साथ ही नयनन्दि, जिनवर सूरि अन्य जैन कवि थे, जिन्हें आदर प्राप्त था।

मक्सी पार्श्वनाथ का मन्दिर उज्जैन से ३८ कि० मी० और इन्दौर से ७२ कि० मी० उत्तर दिशा में स्थित है। यह एक चमत्कारी जैन तीर्थ है जहां पर किंवदति

[शेष पृष्ठ १२ पर]

१. जैन सेमिनार १९७६ में पठित अपना शोधपत्र।
२. स्टीवेंशन : दि हार्ट आफ जैनिज्म, पृ० ३३।
३. इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, भाग २५, पृ० २२।

मध्ययुग का एक अध्यातमियां नाटक

□ डा० प्रेमसागर जैन

कवि बनारसीदास ने 'नाटक समयसार' की रचना की थी। वे अपने युग के प्रख्यात साहित्यकार थे। यद्यपि उनका जन्म एक व्यापारी कुल में हुआ था, किन्तु वे अपने भावाकुल अन्तर मानस का क्या करते, जो सदैव कविता के रूप में प्रस्फुटित रहने के लिए व्याकुल रहता था। उन्होंने पन्द्रह वर्ष की आयु मे ही एक 'नवरस रचना' लिख डाली, जिसमें एक हजार दोहे-चौपाइयां थी। इस रचना में भले ही 'आसिखी का विसेस वरनन' था, किन्तु काव्य-कला की दृष्टि से वह एक अच्छा काव्य था। इसका प्रमाण है। एक दिन, जब बनारसीदास ने उस कृति को गोमती मे बहा दिया तो सहृदय मित्र हा-हा करते हुए घर लौटे। बनारसीदास की दूसरी कृति 'नाममाला' एक छोटा-सा शब्दकोश है। इसमें १७५ दोहे है। उसका मुख्य आधार धनञ्जय की नाममाला है। किन्तु, इसमें केवल संस्कृत का ही नही, अपितु प्राकृत और हिन्दी का भी समावेश है। अतः यह एक मौलिक कृति है। हिन्दी मे इतना सरस शब्दकोश अन्य नहीं है। आगरे के दीवान जगजीवन ने वि० स० १७०१ मे बनारसीदास की ६५ मुक्तक रचनाओ को एक ग्रन्थ के रूप में संकलित कर दिया था। उसका नाम रक्खा था 'बनारसी विलास'। यह ग्रन्थ बम्बई और जयपुर से प्रकाशित हो चुका है। बनारसीदास का 'आत्मचरित' अर्धकथानक के नाम से प्रसिद्ध है। बनारसीदास चतुर्वेदी ने उसे हिन्दी का पहला आत्मचरित माना है और इस दृष्टि से वह हिन्दी साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण धरोहर है। 'नाटक समयसार' बनारसीदास की सशक्त रचना है। सशक्त इसलिए कि उस युग की 'अध्यात्ममूला भक्ति' मे वह अनुपम है। उसका कोई सानी नहीं, तुलना नही। अभिव्यक्ति परिमार्जित है, तो स्वाभाविक भी। इसका निर्माण आगरे मे वि० सं० १६९३, आश्विन सुदी १३, रविवार के दिन हुआ था। उस समय बादशाह शाहजहाँ का राज्य था। इस कृति में ३१० सोरठा-दोहे, २४५ सवैय्या-इकतीसा, ८६ चौपाइयां, ३७ तेईसा-सवैय्या, २० छप्पय, ७ अडिल्ल और ४ कुण्डलियां हैं।

नाटक समयसार का पूर्वाधार

'नाटक समयसार' का मूलाधार था आचार्य कुन्दकुन्द का 'समयसार पाहुड'। आचार्य कुन्दकुन्द विक्रम सवत् की पहली शती में हुए है। उनके रचे हुए तीन ग्रन्थ—समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय अत्यधिक प्रसिद्ध है। जैन परम्परा मे आचार्य कुन्दकुन्द भगवान् की भांति ही पूजे जाते हे। श्री देवसेन ने वि० स० ६६० मे अपने दर्शनसार नाम के ग्रन्थ मे लिखा है कि यदि कुन्दकुन्दाचार्य ने ज्ञान न दिया होता तो आगे के मुनिजन सम्यक् पथ को विस्मरण कर जाते। श्रुतसागर सूरिकृत 'षट्प्राभृत' की टीका के अन्त में उनको 'कलिकाल सर्वज्ञ' कहा गया है। चन्द्रगिरि और विन्ध्यगिरि के शिलालेखो मे उनकी अत्यधिक प्रशंसा की गई है। 'समयसार' अध्यात्म का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है। अपने स्वभाव और गुण-पर्यायों में स्थिर रहने को 'समय' कहते है। जैन मान्यतानुसार छः द्रव्य 'समय' सज्ञा से अभिहित होते है, क्योंकि वे सदैव अपने गुण-पर्यायो में स्थिर रहते हैं। इनमें भी आत्मद्रव्य ज्ञायक होने के कारण सारभूत है। उसका मुख्यतया विवेचन करने से इस ग्रन्थ को समयसार कहते हैं। इसमें प्राकृत भाषा मे लिखी गई ४१५ गाथाएं है। इसका प्रकाशन बम्बई, बनारस और मारौठ आदि कई स्थानो से हो चुका है।

इन प्राकृत गाथाओं पर आचार्य अमृतचन्द्र ने वि० सं० की ६वीं शती में 'आत्मख्याति' नाम की सस्कृत टीका कलशों के रूप में लिखी। आचार्य अमृतचन्द्र प्रसिद्ध टीकाकार थे। उन्होंने केवल समयसार की ही नहीं, अपितु पंचास्तिकाय और तत्त्वसार की भी टीकायें लिखी हैं।

टीका की विशेषता है कि उसका मूल ग्रन्थ के साथ पूर्ण तादात्म्य होना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि अमृतचन्द्र ने आचार्य कुन्दकुन्द की प्रतिमा में घुसकर ही इस टीका का निर्माण किया हो। आचार्य अमृतचन्द्र विद्वान् थे और कवि भी, कवि प्रतिभा उनमें जन्मजात थी, किन्तु आत्मख्याति टीका, टीका है, अतः उसे अपने मूल ग्रन्थ समयसार पाहुड का सही प्रतिनिधित्व करना चाहिए था, वह उसने किया है। शायद इसी कारण उसमें दार्शनिकता ही मुख्य है। उसमे कवि का भावसकुलता का समन्वय नही हो सका। आचार्य अमृतचन्द्र ने जिन ग्रन्थ ग्रन्थों का निर्माण किया है. वे भी दार्शनिक ही है। 'तत्त्वसार' और 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' उनकी मौलिक कृतियां है।

विक्रम संवत् की १७वी शती में प० राजमल्ल ने 'समयसार' पर 'बालबोधिनी' नाम की टीका लिखी, जो हिन्दी गद्य मे थी। ये ढूंढाहढ़ प्रदेश के वैराटनगर के रहने वाले थे। अतः उनकी मातृभाषा ढूंढारी हिन्दी है। हिन्दी गद्य के इतिहास मे उनका गौरवपूर्ण स्थान है।

प० राजमल्ल की विद्वत्ता की ख्याति चतुर्दिक् व्याप्त थी। वे सस्कृत और प्राकृत के भी मर्मज्ञ विद्वान् थे। उनका व्यक्तित्व भी आकर्षक और समुन्नत था। विद्वत्ता के समन्वय ने उसे और भी निखार दिया था। किन्तु, अर्धकथानक मे लिखा है कि इस टीका को पढकर बनारसीदास को 'आत्मा' के विषय मे भ्रम हुआ था। इसका अर्थ यह हुआ कि पं० राजमल्ल जी 'समयसार' का सही अर्थ नही समझ सके। सच तो यह है कि समयसार एक ऐसा ग्रन्थ है जिसका मूल समझ लेना आवश्यक है। बिना उसके पाठक उलझ जाता है। हो सकता है, प० राजमल्ल भी कही मूल मे ही भूल कर गये हो।

बनारसीदास के नाटक समयसार पर उपर्युक्त तीनो आचार्यों का प्रभाव है।

नाटक समयसार और उसकी मौलिकता

'नाटक समयसार' को अमृतचन्द्र के संस्कृत कलशो का अनुवाद नही कहा जा सकता, उसमे पर्याप्त मौलिकता भी है। अमृतचन्द्र की आत्मख्याति टीका मे केवल २७७ कलशे हैं, जबकि नाटक समयसार मे ७२७ पद्य है। अत का १४वां 'गुणस्थान अधिकार' तो बिल्कुल स्वतन्त्र रूप में लिखा गया है। प्रारम्भ और अन्त के १०० पद्यों का भी आत्मख्याति टीका से कोई सम्बन्ध नहीं है। जिनका सम्बन्ध है, वे भी नवीन हैं। उनमे 'कलश' का अभिप्राय तो अवश्य लिखा गया है; किन्तु विविध दृष्टांतों, उपमा और उत्प्रेक्षाओं से ऐसा रस उत्पन्न हुआ है, जिसके समक्ष कलश फीका जंचता है। एक दृष्टान्त से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। अमृतचन्द्र ने एक कलश में लिखा है—

> नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यस्स्वं फलं विषयसेवनस्य ना।
> ज्ञान वैभव विरागता बलात्सेवकोऽपि तदसोऽसेवकः॥

इस पर लिखा गया नाटक समयसार का पद्य इस प्रकार है—

> "जैसे निशिवासर कमल रहे पंक ही में,
> पंकज कहावै पै न वाके ढिग पंक है।
> जैसे मन्त्रवादी विषधर सो गहावें गात,
> मन्त्र की शकति वाके बिना विष डंक है।
> जैसे जीभ गहे चिकनाई रहे रूखे अग,
> पानी मे कनक जैसे काई से अटंक है।
> तैसे ज्ञानवान नाना भांति करतूत ठानै,
> किरिया तै भिन्न माने योते निकलंक है॥"

स्पष्ट ही है कि उपर्युक्त शब्दो के चयन, पक्तियो के गठन, प्रसाद गुण और दृष्टान्तालकर की सहायता से "ज्ञानवान् नाना कार्यों को करता हुआ भी उनसे पृथक् रहता है", यह दार्शनिक सिद्धान्त सजीव हो उठा है। सच तो यह है कि समयसार और उसकी टीकायें दर्शन से सम्बन्धित हैं, जबकि बनारसीदास का नाटक समयसार साहित्य का ग्रन्थ है। उसमे कवि की भावुकता प्रमुख है, जबकि समयसार मे दार्शनिक का पाण्डित्य। दर्शन के रूखे सिद्धान्तों का भावोन्मेष वह ही कर सकता है जिसने उन्हे पचाकर आत्मसात् कर लिया हो। कवि बनारसीदास ने अपनी आध्यात्मिक गोष्ठी मे समयसार का भली भांति अध्ययन, पारायण और मनन किया था। इसमे उन्होने वर्षों खपा दिये थे। बीच मे गलत अर्थ समझने के कारण उन्हे कुछ भ्रम हो गया था, परिणामवशात् वे और उनके चार साथी एक बन्द कोठरी मे नग्न होकर मुनि बनने का अभ्यास करते थे। बादमे पाण्डे रूपचन्द्रसे, जिनकी समूची शिक्षा बनारस मे हुई थी, गोम्मटसार सुनकर उन्हे

वास्तविक ज्ञान हुआ और समयसार का सही अर्थ समझ सके। किन्तु, केवल अर्थ समझना और उसकी अनुभूति करना दो भिन्न बातें हैं। अनुभूति तभी हो सकती है, जबकि अर्थ को साक्षात् किया गया हो, अर्थात् अनुभूति के लिए केवल ज्ञाता ही नहीं, द्रष्टा होना भी आवश्यक है। कवि बनारसीदास ने आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार की गाथाओं का अमृतचन्द्र की आत्मख्याति टीका के माध्यम से अध्ययन किया, आध्यात्मिक गोष्ठी में मनन किया और एकान्त में साक्षात् किया। इनके समन्वय से जागृत हुई अनुभूति ने 'नाटक समयसार' को जन्म दिया। बनारसीदास की दृष्टि में सच्ची अनुभूति ही सच्चा ब्रह्म है। तज्जन्य आनन्द परमानन्द ही है, उससे कम नहीं। वह कामधेनु और चित्रवेलि के समान है। उसका स्वाद पंचामृत भोजन-जैसा है। नाटक समयसार मे यह पचामृत भोजन पग-पग पर उपलब्ध है। 'देह विनाशवान् है, उसकी ऊपरी चमक-दमक धोका देती है', दर्शन के इस मरुस्थल में से फूटने वाला एक निर्मल जल का स्रोत देखिए—

"रेत की-सी गढ़ी किधौं मढ़ी है मसान की-सी,
अन्दर अन्धेरी जैसी कन्दरा है सैल की।
ऊपर की चमक-दमक पटभूखन की धोखे,
लागे भली जैसी कली है कनैल की।
औगुन की ओंड़ी महाभौड़ी मोह की कनौडी,
माया की मसूरति है मूरति है मैल की।
ऐसी देह याहि के सनेह याकी सगति सों,
ह्वै रही हमारी मति कोलू के-से बैल की।।"

समयसार की 'नाटक' संज्ञा

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, 'समयसार' अध्यात्म का ग्रन्थ था, उसमे आचार्य कुन्दकुन्द के दार्शनिक विचार मुख्य हैं, भाव नहीं। उन्होने समयसार को नाटक संज्ञा से अभिहित नहीं किया। सर्वप्रथम आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार को 'नाटक' कहा। किन्तु, केवल कह देने मात्र से कोई ग्रन्थ नाटक नहीं बन जाता। उसमे भावोन्मेष की आवश्तकता बनी ही रहती है। वह आत्मख्याति टीका मे नही हो सका। बनारसीदास ने समयसार की 'नाटक' सज्ञा को सार्थक किया और इसी कारण उन्होने इसका नाम ही 'नाटक समयसार' रखा।

नाटक समयसारमें सात तत्त्व-जीव, बन्ध, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष अभिनय करते हैं। इनमें प्रधान होने के कारण जीव नायक है और अजीव प्रतिनायक। उनके प्रतिस्पर्द्धा अभिनयों ने चित्रमयता को जन्म दिया है। जीव को अजीव के कारण ही विविध रूपों में नृत्य करना पड़ता है। आत्मा के स्वभाव और विभाव को नाटकीय ढंग से उपस्थित करने के कारण इसको 'नाटक समयसार' कहते हैं। यह एक आध्यात्मिक रूपक है। एक स्थान पर आत्मा-रूपी नर्तक सत्तारूपी रंगभूमि पर ज्ञान का स्वांग बना कर नृत्य करता है। पूर्वबध का नाश उसकी गायन विद्या है, नवीनबध का सवर ताल तोड़ना है, नि.शकित आदि आठ अग उसके सहचारी है, समता का आलाप स्वरो का उच्चारण है, निर्जरा की ध्वनि ध्यान का मृदग है। वह गायन और नृत्य मे लीन होकर आनन्द मे सराबोर है—

"पूर्वबध नासै सो तो संगीत कला प्रकास
नवबध रुधि ताल तोरत उछरिकै।
निसकित आदि अष्ट अग संग सखा जोरि
समता अलापचारी करै सुर भरिकै।।
निरजरा नाद गाजै ध्यान मिरदग बाजै
छक्यो महानन्द मै समाधि रीझि करिकै।
सत्तारगभूमि मै मुकत भयो तिहूं काल
नाचै सुद्ध दिष्टि नट ग्यान स्वाँग धरिकै।।"

आत्मा ज्ञानरूप है और ज्ञान तो समुद्र ही है। जब वह मिथ्यात्व की गाठ को फोड़कर उमगता है, तो त्रिलोक में व्याप्त हो जाता है। इसी को दूसरे शब्दों में यो कहा जा सकता है कि जब आत्मा मिथ्यात्व को तोड़कर केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है, तो ब्रह्म बन कर घर-घर मे जा विराजता है। इसी को कवि ने एक रूपक के द्वारा प्रस्तुत किया है। रूपक मे आत्मा को पातुरी बनाया गया है। वह वस्त्र और आभूषणो से सजकर, रात के समय नाट्यशाला मे, पट को आड़ा करके आती है, तो किसी को दिखाई नही देती, किन्तु जब दोनो ओर के शमादान ठीक करके परदा हटाया जाता है तो सभा के सब लोग उसको भली भाति देख लेते है। यह ही दशा आत्मा की है—

जैसे कोऊ पातुर बनाय वस्त्र आभरन
आवति अखारे निसि आड़ो पट करिकै।
दुहूं ओर दीवटि सवारि पट दूरि कीजै
सकल सभा के लोग देखें दृष्टि धरिकै॥
तैसें ज्ञानसागर मिथ्यानि ग्रंथि भेदि करि
उमग्यो प्रगट रह्यो तिहू लोक भरिकै।
ऐसो उपदेस सुनि चाहिए जगत जीव
सुद्धता संभारै जग जाल सों निसरि कैं॥

जीव एक नट है और वह वटवृक्ष के समान है। वट-वृक्ष मे अनेक फल होते है, प्रत्येक फल मे बहुत से बीज तथा प्रत्येक बीज मे वटवृक्ष मौजूद रहता है। बीज मे वट और वट मे बीज की परम्परा चलती रहती है। उसकी अनंतता कम नही होती। इसी प्रकार, जीव रूपी नट की एक सत्ता मे अनन्त गुण, पर्यायें और कलाएँ है। वह एक विलक्षण नट है—

जैसे वटवृक्ष एक, तामैं फल है अनेक
फल-फल बहु बीज, बीज-बीज वट है।
वट माहिं फल, फल माहि बीज तामै वट
कीजै जो विचार, तो अनन्तता अघट है॥
तैसे एक सत्ता मैं, अनन्त गुन परजाय
परजै मे अनन्त-नृत्य, तामैं अनन्त ठट है।
ठट मे अनन्तकला, कला मै अनन्त रूप
रूपमे अनंत सत्ता, ऐसो जीव नट है॥

इस ससाररूपी रगशाला मे यह चेतन जो विविध भाँति के नृत्य करता है, वह अचेतन की संगति से ही। तात्पर्य है कि अचेतन ही उसे ससार के आवागमन मे भटकाता है। यदि अचेतन का साथ छूट जाय तो चेतन का नृत्य भी बन्द हो जाये। इसी को कवि ने लिखा है—

बोलत विचारत न बोले न विचारे कछु
भेखको न भाजन पै भेखको धरत है।
ऐसो प्रभु चेतन अचेतन की सगति सों
उलट पलट नटवाजी सी करत है॥

जब चेतन अचेतन की सगति छोड देता है, तो वह उस नाटक का केवल दर्शक-भर रह जाता है, जो भ्रम पूर्ण, विशाल एव महा अविवेकपूर्ण अखाड़े मे अनादिकाल स दिखाया जा रहा है। यह अखाड़ा जीव के घट में ही बना है। वह एक प्रकार की नाटघशाला है। उसमे पुद्गल नृत्य करता है और वेष बदल-बदल कर कौतुक दिखाता है। चिन्मूरति जो मोह से भिन्न और जड से जुदा हो चुका है, इस नाटक का देखने वाला है, अर्थात् चेतन मोह और जड़ से पृथक् होकर शुद्ध हो जाता है, अतः वह सांसारिक कृत्यो को केवल देखता भर है, उनमें सलग्न नही होता। बनारसीदास का कथन है—

या घट मे भ्रमरूप अनादि, विशाल महा अविवेक अखारो।
तामहि और स्वरूप न दीसत, पुद्गल नृत्य करै अति भारो॥
फेरत भेष दिखावत कौतुक, सौजि लियें वरनादि पसारो।
मोह सों भिन्न जुदो जड़ सो चिन्मूरति नाटक देखन हारो॥

कोई नट जब रंगमंच पर अभिनय करता है, तो उसकी अभिनयोपयुक्त वेशभूषा होती है। वह अपनी वास्तविकता भूलकर उसी को सच्ची मान बैठता है। नाटक की तन्मयता से उभरते ही उसे अपने वास्तविक रूप का ज्ञान होता है। ठीक यह ही हाल चेतन का है। वह घट मे बने रगमच पर अनेक विभावो को धारण करता है। विभाव का अर्थ है कृत्रिम भाव। जब सुदृष्टि खोलकर वह अपने पद को देखता है तो उसे अपनी वास्तविकता का ज्ञान हो जाता है। चेतनरूपी नट का यह कौतुक—

ज्यो नट एक धरै बहु भेख, कला प्रगटै बहु कौतुक देख
आपु लखै अपनी करतूति, वहै नट भिन्न विलोकत भेखैं।
त्यो घट मे नट चेतन राव, विभाउ दसा धरि रूप विसेखैं
खोलि सुदृष्टि लखै अपनो पद, दु विचारि दसा नहि लेखैं॥

चेतन मूर्ख है, वह अचेतन के धोके मे सदैव फंसा रहता है। अचेत-चेतन को या तो भटकाता है अथवा मोह की नीद मे सुला देता, अपना रूप नही देखन देता है। नाटक समयसार मे चेतन की सुषुप्तावस्था का एक चित्र अंकित किया गया है। वह काया की चित्रसारी मे माया के द्वारा निर्मित सेज पर सो रहा है। उस सेज पर कल्पना (तडपन) की चादर बिछी है। मोह के झकोरो से उसके नेत्र ढँप गये है। कर्मों का बलवान उदय ही श्वास का शब्द है। विषय भोगो का आनन्द ही स्वप्न है। इस

भांति चेतन मस्त होकर सो रहा है। वह ऐसी मूढ़ दशा में तीनों काल मग्न रहता है, भ्रम-जाल में फँसा रहता है। उससे कभी उभर नहीं पाता—

"काया चित्रसारी मे करम परजंक भारी,
माया की सवारी सेज चादर कलपना।
शैन करै चेतन अचेतनता नींद लिये,
मोह की मरोर यहै लोचन को ढँपना॥
उदै बल जोर यहै श्वास को शबद घोर,
विषै सुषकारी जाकी दौर यहै सुपना।
ऐसी मूढ़ दशा मे मगन रहै तिहुंकाल,
धावै भ्रमजाल में न पावै रूप अपना॥"

नाटक समयसार में वीर रस के अनेक चित्र है, जिनमें से एक में आस्रव और ज्ञान का युद्ध दिखाया गया है। कर्मों के आगमन को आस्रव कहते है। वह बहुत बड़ा योद्धा है, अभिमानी है। ससार मे स्थावर और जंगम के रूप में जितने भी जीव हैं, उनके बल को तोड़-फोड़कर आस्रव ने अपने वश मे कर रखा है। उसने मूंछों पर ताव देकर रण-स्तम्भ गाड़ दिया है, अर्थात् उसने अपने को अप्रतिद्वन्द्वी प्रमाणित करने के लिए अन्य योद्धाओं को चुनौती दी है। अचानक उस स्थान पर ज्ञान नाम का एक सुभट, जो सवाये बल का था, आ गया। उसने आस्रव को पछाड़ दिया, उसका रण-थभ तोड दिया। ज्ञान के शौर्य को देखकर बनारसीदास नमस्कार करते हैं—

जेते जगबासी जीव थावर जंगम रूप,
ते ते निज वस करि राखे बल दोरि के।
महा अभिमानी ऐसो आस्रव अगाध जोधा,
रोपि रन थभ ठाढो भयो मूछ मोरि के॥
आयो तिहि थानक अचानक परम धाम,
ज्ञान नाम सुभट सवायो बल फोरि के।
आस्रव पछार्यो रनथभ तोरि डार्यो ताहि,
निरखि बनारसी नमत कर जोरि के॥"

नाटक समयसार में भक्ति-तत्त्व

निष्कल और सकल अर्थात् निर्गुण और सगुण की उपासना का समन्वय जैन भक्ति की विशेषता है। कोई जैन कवि ऐसा नही, जिसने दोनो की एक साथ भक्ति न की हो। जैन सिद्धान्तों में आत्मा और जिनेन्द्र का एक ही रूप माना गया है, अतः वह शरीरी हो अथवा अशरीरी, जैन भक्त को दोनों ही पूज्य है। नाटक समयसार में इस परम्परा का पालन किया गया है। कवि बनारसीदास ने यदि एक ओर निष्कल ब्रह्म की आराधना की है, तो दूसरी ओर सकल के चरणो मे भी श्रद्धा के पुष्प चढ़ाये हैं।

'निष्कल' का दूसरा नाम है सिद्ध। कर्मों के आवरण से मुक्त आत्मा को सिद्ध कहते है। 'नाटक समयसार' में शुद्ध आत्मा के प्रति गीतों की भरमार है। एक स्थान पर कवि ने लिखा है कि शुद्धात्मा के अनुभव के अभ्यास से ही मोक्ष मिल सकता है, अन्यथा नही। उनका यह भी कथन है कि आत्मा के अनेक गुण-पर्यायों के विकल्प मे न पड़कर शुद्ध आत्मा को अनुभव का रस पीना चाहिए। अपने स्वरूप मे लीन होना और शुद्ध आत्मा का अनुभव करना ही श्रेयस्कर है। सिद्ध शुद्ध आत्मा के ही प्रतीक है। उनके विशेषणो का उल्लेख करते हुए कवि ने उसकी जय-जयकार की है। एक पद्य देखिए—

"अविनाशी अविकार परम रस धाम है,
समाधान सरवग सहज अभिराम है।
सुद्ध बुद्ध अविरुद्ध अनादि अनंत है,
जगत शिरोमनि सिद्ध सदा जयवत है॥"

एक दूसरे स्थान पर कवि ने शिवलोक मे विराजमान 'शिवरूप' की वन्दना की है। उनका कथन है कि जो अपने आत्मज्ञान की ज्योति से प्रकाशित है, सब पदार्थों मे मुख्य है, निष्कलक है, सुखसागर मे विश्राम करता है, संसार के सब जीव और अजीवों के घट-घट का जानने वाला है और मोक्ष का निवासी है, उसे भव्य जीव सदैव नमस्कार करते है। भक्त के वन्दनीय को शिवरूप तो होना चाहिए ही, साथ ही तेजवान भी, किन्तु तेज भौतिक न होकर, दिव्य हो, वह तभी हो। सकता है, जबकि सासारिक कलंक निकल जावे। तभी उसे अनत सुख और केवलज्ञान उपलब्ध हो सकता है। ऐसे भगवान् के भक्त का भक्तिपरक मापदण्ड निश्चयरूप से ऊँचा है। वह पद्य इस प्रकार है -

जो अपनी दुति आ विराजत, है परधान पदारथ नामी।
चेतन अक सदा निकलंक, महासुखसागर को विसरामी॥

जीव अजीव जिते जग मैं, तिनको गुन ज्ञायक अंतरजामी।
सो सिवरूप बसै सिवथान, ताहि विलोकि नमैं सिवगामी ॥"

निर्गुनिए संतों की भाँति ही बनारसी ने यह स्वीकार किया कि जिनराज घट मन्दिर में विराजमान रहता है। उसमें ज्ञानशक्ति विमल आरसी की भाँति दमक उठती है, जिससे वह समूचे विश्व को देख पाता है। इस देख सकने की सामर्थ्य से अन्तर-राग और महामोह दोनों समाप्त हो जाते हैं और आत्मा परम महारस रूप बन जाती है। महारस वह है जिसमें एक ओर मन की चपलता नहीं रहती तो दूसरी ओर योग से भी उदासीनता आ जाती है, अर्थात् आत्मा सहजयोगी का रूप धारण कर लेती है। 'सहजयोगी' का तात्पर्य है कि परम महारस के प्राप्त हो जाने से योगी को योग की दुरूह साधना से स्वत: निर्वृति मिल जाती है। वह साधना के बिना स्वाभाविक ढंग से ही योगी बना रहता है। बनारसीदास की सहजता में वज्रयानियों के सहजयानी सम्प्रदाय का 'सहज' नहीं है, इसमे आत्मा का स्वाभाविक रूप ही मुख्य है, अर्थात् बनारसीदास पहले महारस प्राप्त करते है, तब सहजता स्वाभाविक ढंग से आ ही जाती है। सहजयानी पहले सहजता प्राप्त करते है, फिर महारस की ओर आँख लगाते है। कुछ भी हो, बनारसीदास घट में शोभायमान सहजयोगी चेतन की वन्दना करते है।

जैन आचार्यों ने 'परम महारस' मे डूबी आत्मा को ब्रह्म कहा है। बनारसीदास ने भी उसे ब्रह्म कहा, उसके स्याद्वाद रूप का विवेचन किया। उन्होंने लिखा है कि वह एक भी है और अनेक भी, अर्थात् वह आत्मसत्ता मे एकरूप है और परसत्ता में अनेक रूप। वह ज्ञानी है और अज्ञानी भी, अर्थात् शुद्ध रूप मे ज्ञानी और कर्मसंगति मे अज्ञानी है। इसी भाँति वह प्रमादी है और अप्रमादी भी—जब अपने रूप को भूल जाता है तो प्रमादी और जब अपने रूप को जागृत होकर स्मरण करता है तो अप्रमादी। अपेक्षाकृत दृष्टि से ही वस्तु का वास्तविक निरूपण हो सकता है, अन्यथा नहीं। इस दृष्टि को ही स्याद्वाद कहते हैं। यह सिद्धान्त आत्मा पर भी घटित होता है। आत्मा का ऐसा निष्पक्ष और सत्य विवेचन अन्यत्र दुर्लभ ही है। बनारसीदास ने उस आत्म-ब्रह्म की प्रशंसा में लिखा है—

"देखु सखी यह ब्रह्म विराजित,
याकी दसा सब याही की सो है।
एक मैं अनेक अनेक में एक,
दुंदु लियैं दुविधामह दो हैं ॥
आपु संभारि लखैं अपनो पद,
आपु विसारिकैं आपुहि मो है।
व्यापक रूप यहै घट अंतर,
ग्यान मैं कौन अज्ञान मैं को है॥"

बनारसीदास ने सकल ब्रह्म के भी गीत गाये। सकल ब्रह्म वह है, जो केवलज्ञान उत्पन्न होने पर भी, आयुकर्म के अवशिष्ट रहने से विश्व में शरीर सहित मौजूद रहता है, अर्थात् उसके घातिया कर्मों का क्षय हो जाता है, अत: उसकी आत्मा में ब्रह्मत्व तो जन्म ले ही लेता है, किन्तु आयु के क्षीण होने तक उसे संसार में रुकना पड़ता है। केवलज्ञान उत्पन्न होने के उपरान्त अर्हन्त की यह ही दशा होती है। उन्हें जीवन्मुक्त कहा जा सकता है। वे सशरीरी ब्रह्म हैं। आचार्य जोइन्दु ने उन्हे 'सकल ब्रह्म' की सज्ञा से अभिहित किया है। सूर और तुलसी ने ऐसे ब्रह्म को सगुण कहा है, बनारसीदास ने तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की वन्दना करते हुए लिखा है कि उनकी भक्ति करने से समूचे डर भाग जाते हैं, अर्थात् भक्त निर्भय हो जाता है। भगवान् पार्श्वप्रभु का शरीर सजल-जलद की भाँति है। उनके सिर पर सप्तफणियों का मुकुट लगा है। उन्होंने कमठ के अहंकार को दल डाला है। ऐसे जिनेन्द्र को बनारसीदास नमस्कार करते है। यह सच है कि जिनेन्द्र ने अपने भक्तो को कभी नरक में नहीं जाने दिया, उनके पापों को बादल बनकर हरण कर लिया। इतना ही नहीं, किन्तु उन्हे अगम्य अपार भव-समुद्र से पार कर दिया। वह भगवान् कामदेव को भस्म करने के लिए रुद्र के समान हैं। भक्तजन सदैव उसकी जय-जय के गीत गाते है।

जिनेन्द्र (सकल ब्रह्म) की भक्ति की सामर्थ्य का बखान करते हुए बनारसीदास ने एक स्थान पर लिखा है

कि जिनेन्द्र की भक्ति कभी तो सुबुद्धि रूप होकर कुमति का हरण करती है, कभी निर्मल ज्योति बनकर हृदय के अन्धकार को दूर भगाती है, कभी करुणार्द्र होकर कठोर हृदयों को भी दयालु बना देती है, कभी स्वयं प्रभु की लालसा रूप होकर अन्य नेत्रों को भी तद्रूप कर देती है, कभी आरती का रूप धारण कर भगवान् के सम्मुख आती है और मधुर भावों को अभिव्यक्त करती है। कहने का तात्पर्य है कि भक्ति भक्त को प्रभु की तद्रूपता का आनन्द देती है। कवि ने लिखा है—

कबहूं सुमति ह्वै कुमति को बिनास करै,
कबहूं विमल ज्योति अंतर जगति है।
कबहूं दया ह्वै चित्त करत दयाल रूप,
कबहूं सुलालसा ह्वै लोचन लगति है॥
कबहूं आरती ह्वै कै प्रभु सन्मुख आवै,
कबहूं सुभारती ह्वै बाहरि बगति है।
धरै दसा जैसी तब करै रीति तैसी ऐसी,
हिरदै हमारे भगवत की भगति है॥

जिनेन्द्र की मूर्ति अथवा बिम्ब को देखकर जिनेन्द्र की याद आती है, उनके गुणों को प्राप्त करने की चाहना उत्पन्न होती है। जिनेन्द्र मे कुछ ऐसा सौन्दर्य है, जिसके समक्ष इन्द्र का वैभव भी न-कुछ सा लगता है। उसके यश का गान हृदय के तमस् को भगाने मे पूर्ण समर्थ है। भक्त उससे 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की याचना करता है। उससे मलिन बुद्धि शुद्ध हो जाती है। इस भांति जिनेन्द्र बिम्ब की छवि की महिमा स्पष्ट ही है।

बनारसीदास ने केवल निष्कल और सकल ब्रह्म की ही नही, अपितु उन सब साधुओं की भी वन्दना की है, जो सद्गुणों से युक्त हैं। उन्होने लिखा है कि मुनिराज ज्ञान के प्रकाश तो होते ही है, सहज सुखसागर भी होते हैं, अर्थात् ज्ञान के उत्पन्न होते ही उन्हें परम सुख स्वतः प्राप्त हो जाता है। वे प्रयत्नशील नही होते और सुख मिल जाता है। पापी शरणागत को भी वे शरण देते हैं। उन्हे मौत का भय नही सताता। वे धर्म की स्थापना और भ्रम का खण्डन करते है। वे कर्मों से लड़ते है, किन्तु विनम्र होकर, क्रोध अथवा भावावेश के साथ नही। ऐसे मुनिराज विश्व की शोभा बढ़ाते है। बनारसीदास ने उन्हें पुनः पुनः नमन किया।

भक्त आराध्य की वाणी में भी श्रद्धा करता है। उसकी महिमा के गीत गाता है। जिनवाणी जिनेन्द्र के हृदयरूपी तालाब से निकलती है और श्रुत-सिन्धु में समा जाती है, अर्थात् वह एक सरिता के समान है। यह वाणी सत्यरूपा है। सत्य अनन्त नयात्मक है। अनेक अपेक्षाकृत दृष्टियों से यह विविध रूप है। उसका कोई एक लक्षण नहीं, कोई एक रूप नहीं। उसे समझने के लिए वैसी सामर्थ्य आवश्यक है, अर्थात् सम्यग्दृष्टि ही उसे समझ सकता है, अन्य नही। बनारसीदास का कथन है कि वह जिनवाणी सदा जयवंत हो—

"तासु हृदै-द्रह सौं निकसी,
सरिता-सम ह्वै श्रुत-सिन्धु समानी।
याते अनन्त नयातम लच्छन,
सत्य स्वरूप सिधंत बखानी।
बुद्ध लखै न लखै दुरबुद्ध,
सदा जगमांहि जगै जिनवानी॥"

कवि बनारसीदास ने नवधा भक्ति का निरूपण किया है। उन्होने लिखा है, "श्रवन कीरतन चितवन सेवन वंदन ध्यान। लघुता समता एकता नवधा भक्ति प्रवान॥" नाटक समयसार मे इस नौधा भक्ति के उद्धरण बिखरे हुए है।

नाटक समयसार की भाषा

कवि बनारसीदास ने अपने अर्धकथानक की भाषा को 'मध्य देश की बोली' कहा है। डा० हीरालाल जैन ने 'मध्यदेस की बोली' की व्याख्या करते हुए लिखा है, "बनारसीदास जी ने अर्धकथानक की भाषा में ब्रजभाषा की भूमिका लेकर उस पर मुगलकाल मे बढ़ती हुई प्रभावशाली खड़ी बोली की पुट दी है, और इसे ही उन्होंने 'मध्यदेस की बोली' कहा है, जिससे ज्ञात होता है कि यह मिश्रित भाषा उस समय मध्य देश मे काफी प्रचलित हो चुकी थी।" डा० माताप्रसाद गुप्त का कथन है, "यद्यपि मध्य देश की सीमायें बदलती रही है, पर प्रायः सदैव ही

खड़ी बोली और ब्रजभाषी प्रान्तों को मध्य देश के अन्तर्गत माना जाता है और प्रकट है कि अर्धकथानक की भाषा में ब्रजभाषा के साथ खड़ी बोली का किंचित् सम्मिश्रण है, इसलिए लेखक का भाषा विषयक कथन सर्वथा संगत जान पड़ता है।" यह सत्य है कि अर्धकथानक मे खड़ी बोली और ब्रजभाषा का समन्वय है। इस भांति वह जनसाधारण को भाषा है। पं० नाथूराम प्रेमी ने 'बोली' को बोलचाल की भाषा कहा है। मध्यदेश की बोली ही मध्यदेश की बोल-चाल की भाषा थी।

बनारसीदास ने अर्धकथानक बोलचाल की भाषा में लिखा, किन्तु उनके अन्य ग्रंथ साहित्यिक भाषा मे है। 'साहित्यिक' का तात्पर्य यह नही है कि उसमें से खड़ी बोली और ब्रजभाषा निकल कर दूर जा पड़ी हों। रही दोनों किन्तु संस्कृत-निष्ठ हो जाने से उन्हे 'साहित्यिक' की सज्ञा से अभिहित किया गया। अर्धकथानक मे प्रत्येक स्थान पर 'श' को 'स' किया गया है, जैसे वहा शुद्ध को सुद्ध, वंश को बंस और पार्श्व को पारस लिखा है, किन्तु नाटक समयसार मे अधिकाशतया 'श' का ही प्रयोग है। शुद्ध चेतना, शुद्ध आतम और शुद्धभाव। इसी प्रकार अशुभ, शशि, विशेषिये, निशिवासर और शिवसत्ता आदि। अर्धकथानक में 'ष' के स्थान पर 'स' का आदेश देखा जाता है, किन्तु नाटक समयसार मे सब स्थानो पर 'ष' का ही प्रयोग हुआ है। उस समय 'ष' का ख उच्चारण होता था, अतः लिपि मे वह 'ख' लिखा हुआ मिलता है। किन्तु ऐसा बहुत कम स्थानों पर हुआ है। विषधर, भेष, दोष, विशेष और पिऊष आदि मे ष का ही प्रयोग है, किन्तु पोष के स्थान पर पोख, विशेषिये के स्थान पर विशेखिये, अभिलाष के स्थान पर अभिलाख मे ख देखा जाता है।

अर्धकथानक में 'ऋ' कही-कही ही सुरक्षित रह पाया है, किन्तु नाटक समयसार मे उसको कही पर भी स्वरादेश नही हुआ है। जैसे अर्धकथानक मे 'दृष्टि' को 'दिष्टि' का प्रयोग किया गया है, नाटक समयसार मे वह दृष्टि ही है। इसके अतिरिक्त कृपा, कृपाण, मृषा आदि शब्द ऋकारात्मक है।

संस्कृत के संयुक्त वर्णों को स्वरभक्ति या वर्णलोप के द्वारा आसान बनाने की प्रवृत्ति नाटक समयसार में भी पाई जाती है; जैसे—निहचै (निश्चय), हिरदै (हृदय), विवहार (व्यवहार), सुभाव (स्वभाव), शकति (शक्ति), सासत (शाश्वत), दुन्द (द्वन्द्व), जुगति (युक्ति), थिर (स्थिर), निरमल (निर्मल), मूरतीक (मूर्त्तिक), सरूप (स्वरूप), मुकति (मुक्ति), अभिअंतर (अभ्यंतर), अध्यातम (अध्यात्म), निरजरा (निर्जरा), विभचारिनी (व्यभिचारिणी), रतन (रत्न) आदि। 'य' के स्थान पर 'ज' का प्रयोग हुआ है। जैसे—जथा (यथा), जथारथ (यथार्थ), जथावत (यथावत), जोग (योग), विजोग (वियोग) और आचरज (आचार्य)। कोई स्थान ऐसा नही जहां 'य' का प्रयोग हुआ हो।

तद्भवपरक प्रवृत्ति के होते हुए भी नाटक मे संस्कृत निष्ठा ही अधिक है, अर्थात् अर्धकथानक की भांति चलताऊ शब्दों का प्रयोग नहीं के बराबर है। भले ही परपरिणति को परपरिनति कर दिया गया हो किन्तु शब्द तो संस्कृत का ही है। इस श्रेणी में उपर्युक्त शब्दों को लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त सानवन्त, कलावन्त, सम्यक्त्व, मोक्ष, विचक्षण और निर्विकल्प आदि अधिकांश सस्कृत के तत्सम शब्दो का प्रयोग हुआ है। उर्दू-फारसी के शब्द अर्धकथानक मे भरे पड़े हैं, किन्तु समूचे नाटक समयसार मे बदफैल और खुरापाती जैसे शब्द दो-चार से अधिक नही मिलेंगे। बनारसीदास उर्दू-फारसी के अच्छे जानकार थे। उन्होने जौनपुर के नवाब के बड़े बेटे चीनी किलिच को उर्दू-फारसी के माध्यम से ही सस्कृत पढ़ाई थी। किन्तु नाटक समयसार का विषय ही ऐसा था, जिसके कारण वे फारसी के शब्दो का प्रयोग नही कर सके। बनारसीदास ने विषयानुकूल ही भाषा का प्रयोग किया है। यह उनकी विशेषता थी।

भाषा का सौन्दर्य उसके प्रवाह मे है, सस्कृत अथवा फारसी निष्ठा मे नही। प्रवाह का अर्थ है भाव का गुम्फन के साथ अभिव्यक्तीकरण। नाटक समयसार के प्रत्येक पद्य मे भाव को सरसता के साथ गूंथा गया है, कही विशृंखलता नही है, लचरपन नही है। एक गुलदस्ते की भांति सुन्दर है। दृष्टान्तों की आकर्षक पंखुड़ियो ने उसके सौन्दर्य को और भी पुष्ट किया है। विचारों को अनु-

भूति जब भावपरक होती है तो उसको प्रकट करना आसान नहीं है। किन्तु बनारसीदास ने सहज में ही प्रकट कर दी है। इसका कारण है उनका सूक्ष्मावलोकन। उन्हें बाह्य संसार और मानव की अन्तःप्रकृति दोनों ही का सूक्ष्म ज्ञान था। इसी कारण वे भावानुकूल दृष्टान्तों को चुनने और उन्हें प्रस्तुत करने में समर्थ हो सके। एक उदाहरण देखिए—

जैसे निशिवासर कमल रहै पंकहि मे,
पंकज कहावै पै न वाके ढिग पक है।
जैसे मंत्रवादी विषधर सों गहावै गात,
मंत्र की सकति वाके बिना विष डंक है॥
जैसे जीभ गहै चिकनाई रहै रूखे अंग,
पानी में कनक जैसे काई सों अटंक है।
तैसे ज्ञानवंत नाना भांति करतूति ठानै,
किरिया को भिन्न मानै याते निकलंक है॥

दृष्टान्तों के अतिरिक्त उत्प्रेक्षा, उपमा और रूपको की छटा भी अवलोकनीय है। रूपकों मे साग और निरग दोनों ही हैं। अनुप्रासों मे सहज सौन्दर्य है। बनारसीदास को अलंकारो के लिए प्रयास नही करना पड़ा। वे स्वतः ही आये हैं। उनकी स्वाभाविकता ने रसपरकता को अभिवृद्ध किया है। बनारसीदास एक भक्त कवि थे। उनके काव्य में भक्तिरस ही प्रमुख है। उनकी भक्ति अलंकारों की दासता न कर सकी, अपितु अलंकार ही भक्ति के चरणों पर सदैव अर्पित होते रहे। वे रसस्कूल के विद्यार्थी थे। शरीर की विनश्वरता दिखाने के लिए उत्प्रेक्षा का सौन्दर्य देखिए—

थारे से धका के लगे ऐसे फट जाय मानो,
कागद की पुरी किधौं चादर है चैल की॥

छन्दों पर तो बनारसीदास का एकाधिपत्य था। उन्होंने 'नाटक समयसार' में सवैया, कवित्त, चौपाई, दोहा, छप्पय और अडिल्ल का प्रयोग किया है। इनमें भी 'सवैया इकतीसा' का सबसे अधिक और सुन्दर प्रयोग है। सवैया' तो वैसे भी एक रोचक छन्द है, किन्तु बनारसीदास के हाथों में उसकी रोचकता और भी बढ़ गई है।

कुल कहने का तात्पर्य यह है कि बनारसीदास ने जैन आध्यात्मिक विचारो का हृदय के साथ तादात्म्य किया, अर्थात् उन्होने जैन मन्त्रो को पढ़ा और समझा ही नही, अपितु देखा भी। इसी कारण मन्त्रदृष्टाओ की भांति वे उन्हे चित्रवत् प्रकट करने मे समर्थ हो सके। ऐसा करने मे उनकी भाषा सम्बन्धी शक्ति भी सहायक बनी। वे शब्दो के उचित प्रयोग, वाक्यो के कोमल निर्माण और अलंकारों के स्वाभाविक प्रयोग में निपुण थे। उनकी भाषा भावो की अनुवर्त्तिनी रही। यही ही कारण था कि वह निर्गुनिए सतो की भाँति अटपटी न बन सकी। □□□

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
दि० जैन कालेज, बड़ौत (मेरठ)

[पृष्ठ ३ का शेषांश]

प्रसिद्ध है कि जब महमूद गजनवी इधर आया तो उसने इस मन्दिर को तोड़ने की सोची, पर रात मे ही भयंकर रूप से बीमार पड़ गया। फिर उसने वहा अपनी श्रद्धा प्रकट करने के लिए ५ बुर्जियां बनवा दी।

१४वी शताब्दी मे भट्टारक ज्ञानसागर ने लिखा है—

"मालव देश मझार नयर मगसी सुप्रसिद्धह।
महिमा मेरु समान निर्धन हू धन दीधह॥"

यहां पर न केवल जैन समाज वरन् आस-पास के जैनेतर लोग भी आकर मनौतियां मानते है। यहा पर सर्व धर्मों के लोग एकत्रित होकर धर्म आराधना करते है।

समाज कल्याण के लिए गरीब छात्रो के लिए एक पाठशाला, गुरुकुल व अन्नछत्र भी है। पुस्तकालय से निःशुल्क पुस्तके दी जाती है। इस तीर्थ पर निश्चय ही धार्मिक सहिष्णुता के दर्शन होते है। मालवा मे जैनो का यह एक प्रमुख तीर्थ है। □□□

प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति विभाग,
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन (म०प्र०)

महाकवि स्वयम्भू और तुलसीदास

□ डा० प्रेमसुमन जैन

सभी भारतीय साहित्य एवं दिग्गज साहित्यकारों से रामकथा अन्तरग रूप से सम्बन्धित है। देश में जब कोई नया विचार, सम्प्रदाय या बोली आई, तो उसने रामकथा के पट पर ही अपने को अङ्कित किया। रामकथा पुरानी बनी रही, पर माध्यम से कितनी ही नवीनताएँ साहित्य के वातायन से जन-जीवन तक पहुचती रही।[1] रामकथा जैन-साहित्य मे भी पल्लवित हुई है। ईसा की दूसरी तीसरी शताब्दी से लेकर १६वी शताब्दी तक प्राकृत, सस्कृत, अपभ्रश और आधुनिक भाषाओं मे उसका सृजन होता रहा है। इसमे विमलसूरिकृत पउमचरिय' (प्राकृत), रविषेणकृत 'पद्मचरित' (सस्कृत) और स्वयम्भूकृत 'पउमचरिउ' (अपभ्रंश) रामकथा की प्रमुख रचनाएं है। ये अपने पूर्व और परवर्ती रामकथा साहित्य से तुलनात्मक अध्ययन की अपेक्षा रखती हैं।[2]

महाकवि स्वयम्भू और तुलसीदास रामकथा के समर्थ भाषाकवि हुए है। यद्यपि इन दोनों कवियों की विषय-वस्तु, युगचेतना, दार्शनिक-मान्यता आदि में बहुत अन्तर है, फिर भी कई बातों में वे समान भी हैं। इस विषय का परिवेक्षण लोकभाषाओं के पारस्परिक सम्बन्धों पर विशेष प्रकाश डाल सकता है।

वैयक्तिक जीवन एवं व्यक्तित्व

महाकवि स्वयम्भू और तुलसीदास के वैयक्तिक जीवन मे भिन्नता है, किन्तु व्यक्तित्व मे समानता है। स्वयम्भू कर्णाटक, दक्षिण भारत के थे।[3] तुलसीदास का जन्म राजापुर (बांदा), उत्तर भारत मे हुआ था।[4] वे प्रवध के निवासी थे।[5] दोनों महाकवियों में करीब आठ सौ वर्षों का अन्तर है। स्वयम्भू का समय ईसा की आठवीं सदी का प्रथम चरण माना गया है।[6] तुलसीदास सोलहवीं सदी (सं० १५८६) मे जन्मे थे।[7] दोनों कवियों के पारिवारिक जीवन मे कोई समानता नही है। स्वयम्भू परम्परागत कवि थे और उनके बाद भी घराने में सृजन होता रहा। तुलसीदास की परम्परा उन्ही तक सीमित है। वे एक पूर्ण गृहस्थ तथा एक घुमक्कड साधु थे। स्वयम्भू सम्पन्न थे। तुलसीदास हमेशा अपनी निर्धनता दरसाते रहे। यथा—

> बारे तें ललात बिललात द्वार-द्वार दीन।
> जानत हो चारि फल चारि ही चनन कों।।[8]

स्वयम्भू की मृत्यु और जीवन पर कोई सूचना प्राप्त नही है, जबकि तुलसीदास स्वय अपनी जीवनी लिखकर सं० १६८० मे काशी में मृत्यु को प्राप्त होते है।

व्यक्तित्व दोनो महाकवियों का समान था। दोनों ही स्वभाव से दयालु और भावुक थे तथा शारीरिक सौन्दर्य की जगह आत्मसौन्दर्य के प्रशंसक थे। दोनों ही उत्कृष्ट प्रतिभा और गहन अनुभूतियों के स्वामी थे और एक-से साहित्यकार भी। यद्यपि स्वयम्भू की रचनायें तीन हैं, किन्तु गोस्वामी तुलसीदास की १५-१६ रचनाओं के समक्ष बैठने में वे समर्थ भी हैं। चिन्तन की मौलिकता और आध्यात्मिकता के पुजारी होने के नाते दोनों का व्यक्तित्व और सन्निकट हो जाता है।

---

१. पउमचरिउ—डा० देवेन्द्रकुमार, दो शब्द।
२. द्रष्टव्य-डा० के. आर. चन्द्रा, 'पउमचरियं : ए स्टडी'
डा० आर. सी. जैन—रविषेणकृत पद्मचरित का सांस्कृतिक अध्ययन'
डा० एस. पी. उपाध्याय—'महाकवि स्वयम्भू'
३. पउमचरिउ की भूमिका—डा० भायाणी द्वारा संपादित
४. तुलसीदास—डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० १९९।
५. तुलसीदास और उनके ग्रन्थ, पृ० ४६।
६. पउमचरिउ की भूमिका—डा० देवेन्द्रकुमार।
७. तुलसीदास—डा० गुप्त, पृ० १४०।
८. कवितावली ३, ७३।

काव्य-सृजन का उद्देश्य एवं प्रारम्भ

स्वयम्भू के पउमचरिउ के सृजन के मूल में क्या कारण थे, स्पष्ट नहीं है। यद्यपि पउमचरिउ की सन्धियों की पुष्पिकाओं से इतना ही विदित होता है कि किसी धनंजय नाम के व्यक्ति की प्रार्थना पर कवि ने प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की थी—'इय रामचरिए धणंजयासिय सयंभुएव कए। पउ (१-१६)' लेकिन इतना ही कारण न रहा होगा।

स्वयम्भू अपनी काव्य-रचना का ध्येय आत्माभिव्यक्ति मानते हैं। रामायण काव्य के द्वारा वह अपने आपको व्यक्त करना चाहते थे—'पुणु अप्पाणउ पायडमि रामायण कावें। (पउ० १-१-१६) उनका लौकिक लक्ष्य था—यश की प्राप्ति। इसलिए उन्होंने अपने यश को चिरस्थायी रखने के लिए रामकथा का ही माध्यम चुना, क्योंकि उनके पूर्व कम से कम दो जैन महाकवि विमलसूरि और रविषेण राम साहित्य का सृजनकर प्रसिद्ध हो चुके थे। सम्भवतः उनकी कृतियों का आदर भी जन-साधारण में स्वयम्भू के समय था, जिससे प्रेरित और प्रभावित होकर ग्रंथ-प्रणयन के समय उनको कहना पड़ा है—

निम्मल-पुण्ण-पवित्त-कह कित्तणु आढप्पइ।
जेण समाणिज्जन्तएण थिर कित्ति विढप्पइ॥
—(पउ० १, २, १२)

जैन-साहित्य में रामकथा का प्रणयन लोक प्रचलित कुछ शंकाओं के समाधान के रूप में भी हुआ है।[1] हो सकता है, इसके प्रचार-प्रसार की भावना भी स्वयम्भू के मन में रही हो।

महाकवि तुलसीदास का लक्ष्य रामचरित मानस के प्रणयन में इससे भिन्न था। पत्नी की अवहेलना व प्रेरणा से उनमें रामभक्ति उपजी। स्वाभाविक है कि वे जो भी लिखते या उन्होंने लिखा है, राम के विषय में ही। दूसरी बात, वे अपने आराध्यका चरित बखानकर अपनी वाणी को पवित्र करना चाहते थे। उन्होंने परम्परा से प्राप्त रामकथा का भी अध्ययन किया था—

'जो प्राकृत कवि परम सयाने,
भाषा जिन हरि चरित बखाने।'

इनके अतिरिक्त तुलसीदास अपने युग से कम प्रभावित नहीं थे। तत्कालीन दार्शनिक व सामाजिक स्थिति को नया मोड देने के लिए एक इतने ऊंचे आदर्श की आवश्यकता थी जो केवल रामचरित के वर्णन में ही सम्भव थी। अतः तुलसीदास ने हिन्दू संस्कृति को मुगलशासन के प्रभाव से सुरक्षित रखने के लिए रामचरितमानस का प्रणयन किया और हर सम्भव प्रयत्न उन्होंने इस ग्रन्थ के द्वारा करना चाहा, जिससे वे परिवर्तन की दिशा को एक नया मोड़ दे सकें।

स्वयम्भू और तुलसीदास ने अपने प्रस्तुत ग्रन्थों का प्रारम्भ प्रायः एक-सा किया है। सर्वप्रथम देवताओं और अपने आराध्य की वन्दना कर आत्मलघुता दोनों ने प्रकट की है। यथा—

तिहुअण लग्गण खम्भु गुरु परमेट्ठि णवेप्पिणु।
पुणु आरम्भिय रामकह आरिसु जोएप्पिणु॥ पउ० १-१

बंदऊ गुरुपद पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा।
बदऊ नाम राम रघुबर को। हेतु कृसानु भानु हिमकर को॥[2]

यथा—

बुहयण सयम्भु पूइँ विण्णवई।
मइँ सरिसउ अण्णु णाहि कुकई।
हउँ कि पिण जाणमि मुक्खु मणें।
णिय बुद्धि पयासमि तो वि जणें॥ (पउ० १, ३-१, ६)
कवि न होहुं नहिं चतुर प्रवीनू।
सकल कला सब विद्या हीनू॥ इत्यादि।

इसके अतिरिक्त खल निन्दा, सज्जन प्रशंसा आदि प्राचीन परम्परा का निर्वाह दोनों ने किया है।

स्वयम्भू ने रामकथा को अनेक गुणों से युक्त माना है[3] तथा सरिता के रूप में उसका चित्रण किया है। रामकथा अक्षरविन्यास के जलसमूह से मनोहर, सुन्दर अलकार तथा छन्दरूपी मत्स्यों से परिपूर्ण और लम्बे प्रवाहरूप से अङ्कित है। यह संस्कृत और प्राकृतरूपी पुलिनों से अलंकृत देशीभाषा रूपी दो कूलों से उज्ज्वल है,

---

१. जइ रामहो तिहुअणु उवरे माइ।
तो रावणु कहिं तिय लेवि जाइ॥ इत्यादि-वही, १, १०

२. रामचरितमानस, बालकाण्ड।

३. दसरह तव कारणु सव्वुद्धारणु वज्जयण्ण सम्मयभरिउ।
जिणवरगुणकित्तणु तीयसइत्तणु तं विसुणहु राहवचरिउ॥—पउ० सधि ४०

इसमें कहीं कठिन घनशब्दरूपी शिलातल है, कहीं यह अनेक अर्थरूपी तरंगों से अस्त-व्यस्त हो गई है और कहीं सैकड़ों आश्वासरूपी तीर्थों से प्रतिष्ठित है।

एहि रामकहु तोरे सोहन्ती। गणहर देवहि दिट्ठु वहन्तो॥

(पउ० १, २)

गोस्वामी तुलसीदास रामकथा को सरिता मानकर तो चलते हैं—

चली सुभग कविता सरिता-सी।
राम विमल जस जल भरिता-सी॥ (राम० बाल० ३६-३८)

उसकी उपमा सरोवर से भी देते है और अनेक तरह से इसका गुणगान करते है।

दोनो ही कवि रामकथा को प्रारम्भ करते समय अपने पूर्व के आचार्यों व भगवत्कृपा के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते है—

बद्धमाण, मुह-कुहर-विणिग्गय।
राम कहा-णइ-एह कमागय॥ (पउ० १, २, १,)

तथा—

जस कछु बुधि विवेक बल मेरे।
तस कहिहहु हिय्र हरि के फेरे॥

अत: काव्यसृजन के उद्देश्य एवं प्रारम्भ मे दोनो कवि काफी साम्य रखते हैं। उनमे भिन्नता जो भी है, नही के बराबर है। फिर भी खल-निन्दा और सज्जन-प्रशंसा के बहाने तुलसीदास ने जो अपने युग का और अपनी आन्तरिक भावनाओं का चित्रण किया है, वह स्वयम्भू मे नही है।

वस्तु-विन्यास

गोस्वामी तुलसीदास ने रामकथा का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है, उसका घटनाक्रम इतना प्रसिद्ध हो चुका है कि यदि हम अन्य रामकथाओं को पढ़ते हैं तो उनके परिवर्तनों पर हमें विश्वास ही नही होता। लेकिन यह तो मानना ही पड़ेगा कि रामकथा जब भी जिस किसी भाषा मे लिखी गई, कई रूपों मे परिवर्तित हुई है। स्वय तुलसीदास की रामकथा मे वे घटनाएँ व प्रसंग नही है जिनसे राम के आदर्श में कुछ कमी आती थी और जिन्हे बाल्मीकि आदि ने निर्मित किया था। यह सब प्रत्येक कवि के उद्देश्य-भेद के कारण हुआ है।

स्वयम्भू के पउमचरिउ की रामकथा में परिवर्तन स्वाभाविक है। यहां न केवल कवि की दृष्टि मे ही भेद है, अपितु रामकथा को जैन विचारधारा के अनुकूल ढाला भी गया है। मानस की रामकथा के साथ—रामजन्म, धनुषभग, सीता-विवाह, वन-गमन, भरतमिलाप, सीता-हरण, शूर्पणखा का अपमान, खरदूषण-वध, रावण-वध आदि प्रसगो के वर्णनो मे पउमचरिउ का कोई विशेष विरोध नही है, केवल कही नामो म भिन्नता व वर्णनशैली की विविधता है। लेकिन पउमचरिउ मे स्वयम्भू की अपनी कुछ मौलिक स्थापनाएँ भी है; जैसे—(१) राम-लक्ष्मण और रावण को न केवल जैन धर्मावलम्बी मानना अपितु त्रिषष्टि शलाका महापुरुषो की कोटि मे रखकर बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव मानना। (२) राक्षस और वानर-वशो का विद्याधर वशो की भिन्न-भिन्न शाखाएँ मानना। (३) दशरथ की तीन रानियो के साथ चौथी रानी सुप्रभा को शत्रुघ्न की माता मानना। (४) राम और लक्ष्मण की अनेक पत्नियो का उल्लेख। (५) राम, लक्ष्मण और सीता की कामदशा का वर्णन। (६) वन-वास मे जलक्रीडा आदि के उल्लेख। (७) लक्ष्मण द्वारा रावण का वध तथा राम, सीता, लक्ष्मण आदि प्रमुख पात्रों द्वारा जिनदीक्षा का ग्रहण, इत्यादि।

तुलसीदास और स्वयम्भू की कथावस्तु मे इस तरह साम्य, वैषम्य होते हुए भी कथा की स्वाभाविकता किसी मे समाप्त नही हुई है। दोनों जगह जो परिवर्तन व भिन्नता है उसके अपने कुछ अनिवार्य कारण भी हैं। यद्यपि स्वयम्भू प्रौढ प्रतिभा के धनी थे किन्तु वस्तु-विन्यास मे वह सुघड़ता वे नही ला सके जो महाकवि तुलसीदास के रामचरितमानस मे है। गोस्वामी जी का प्रबध सौष्ठव कमाल का है।[1]

काव्य-सौष्ठव

महाकाव्यगत समस्त विशेषताओं का समावेश स्वयम्भू और तुलसीदास के प्रस्तुत ग्रन्थों मे है। सध्या-वर्णन, वसन्त, नदी, समुद्र, वन, युद्ध आदि काव्योपयुक्त प्रसंगों के

१. तुलसी-दर्शन —डा० बलदेवप्रसाद मिश्र, पृ० ३४७।

वर्णनों में दोनों कवि सिद्धहस्त हैं। प्रकृतिचित्रण में स्वयम्भू ने प्रकृति के शान्तरूप की अपेक्षा उसके उग्ररूप के वर्णन में जहां अधिक रुचि दिखाई है[1] वहां तुलसीदास ने प्रकृति-चित्रण के बहाने समाज का चित्र उपस्थित किया है। 'परम रम्य आराम यह जो रामहि सुख देत' के ब्याज से रामप्रेम से ओतप्रोत सन्त समाज की सृष्टि की है[2] और 'चातक कोकिल कीर चकोरा' पक्षियों के वर्णन में भक्तों के गुण गाये हैं। दोनों कवि जन-साधारण मे प्रचलित उपमानों का उपयोग करते है यही उनकी प्रमुख विशेषता है।

चरित्रचित्रण में स्वयम्भू के पात्र उतने सशक्त और सजीव नहीं हैं, जितने तुलसीदास के। स्वयम्भू ने हर पात्र को जिन-भक्ति के रग मे रगने की कोशिश की है और उसमें संसार की असारता आदि का कथन कराया है, जबकि तुलसीदास का प्रत्येक पात्र सधी हुई तूलिका से निर्मित और स्वाभाविक है। स्वयम्भू के राम धीरोदात्त, भक्ति, क्षमा, दृढ़ता और आत्मगौरव से युक्त साधारण मानव की तरह पूर्ण विकास की ओर बढ़ते है, जबकि तुलसी के राम परमात्मा से मनुष्य का अवतार ग्रहण करते हुए सरलता, स्नेह, नम्रता, उदारता एव नि स्वार्थता के आदर्श को उपस्थित करते हैं।

भाव-चित्रण मे दोनो कवि बेजोड़ हैं। नव-रसों का समावेश दोनो ग्रन्थों मे है। किन्तु शान्तरस की प्रधानता है। स्वयम्भू ने यद्यपि निवृत्ति-मार्ग का प्रतिपादन किया है, किन्तु जलक्रीड़ा के वर्णन मे स्वयम्भू की प्रसिद्धि है।[1] उन्होंने शृङ्गाररस का चित्रण भी बड़ी उदारता से किया है। यहां तक कि संसारत्यागी साधु भी हृदयग्राही शृङ्गारिक वर्णन करते नजर आते है, जबकि गोस्वामीजी का शृङ्गार रस मर्यादापूर्ण और विशुद्ध है। करुण रस के चित्रण मे स्वयम्भू ने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है। राम-वनगमन के समय व्याकुल सुमित्रा का चित्रण कवि ने किया है—

रोवंतिए लक्खण-मायरिए, सयल लोउ रोवावियउ।
कारुण्णइ कव्व कहाए जिह, कोवल अंसु मुआवियउ॥
(पउ० ६९-१३)

इसी तरह तुलसीदास की कौशल्या का विषाद हृदय-विदारक है—

कहि न जाइ कछु हृदय विषादू।
मनहुं मृगी सुनि केहरि नादू॥
दारुन दुसह दाहु उर व्यापा।
बरनि न जाहि विलाप कलापा॥
(रा० अयो० ५४-५७)

तुलसीदास रससिद्ध कवीश्वर थे। उनका मानस दिव्य-रस से परिपूर्ण है। उन्होंने प्रत्येक भाव की अभिव्यंजना इतने स्वाभाविक और सरल ढग से की है कि कई स्थलों पर नौ रसों का माधुर्य समेट कर रख दिया है। तीव्रता और वेग के भावों और मनोवेगों का चित्रण करने मे वे सिद्धहस्त थे। इसलिए जन-मानस के अन्तस्थल तक पैठ गये हैं।

कल्पना-विलास में दोनो कवियों ने विभिन्न अलंकार व छन्दों का प्रयोग किया है। स्वयम्भू के महाकाव्य मे उपमा, उत्प्रेक्षा, यमक, अनन्वय, तद्गुण आदि अनेक अलंकारों का स्वाभाविकता से प्रयोग हुआ है। अलंकारों में कहीं-कहीं हल्की-सी उपदेश-भावना भी दृष्टिगत होती है। यथा—

लक्खण कहिं वि गवेसिह तं जलु।
सज्जणहियउ जेम जं निम्मलु॥[4]

तुलसीदास का अलंकार विधान भी परम मनोरम है। उत्प्रेक्षा, रूपक और उदाहरण उनके सबसे प्रिय अलंकार हैं। इनके समन्वय की असाधारण क्षमता भी उनमें है।[5]

दोनों कवियों ने अपने-अपने युग की प्रतिनिधि भाषा मे लिखा है। स्वयम्भू ने साहित्यिक अपभ्रंश भाषा का प्रयोग किया है। अनुकरणात्मक शब्दों का प्रयोग—'तड़ि-तड़-तड़इ पड़इ घड़ु गज्जई,' भावानुकूल शब्द-योजना एवं

---

१. अपभ्रंश-साहित्य—कोछड़, पृ० ६३।
२. तुलसी-दर्शन, पृ० ३४७।
३. अपभ्रंश-साहित्य, पृ० ५७ तथा द्रष्टव्य, डा० उपाध्याय, 'महाकवि स्वयम्भू'।
४. अपभ्रंश-साहित्य, पृ० ६७।
५. तुलसीदास, पृ० ३५२।

शब्दों में समाहार-शक्ति के दर्शन स्वयम्भू की भाषा की मुख्य विशेषता है।[1] तुलसीदास की भाषा क्रमशः प्रौढ़ हुई है। मानस में भाषा का अत्यन्त सुघरा हुआ रूप प्राप्त होता है। तुलसीदास ने अवधी भाषा को अपने भाव व्यक्त करने का माध्यम बनाया है। किन्तु वे संस्कृत, प्राकृत एवं अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के भी जानकार थे। शब्द-भंडार इनका अत्यन्त विशाल है। अभिधा, लक्षणा, व्यंजना शक्तियों का चमत्कारिक प्रयोग उन्होंने किया है। इस प्रकार तुलसीदास जी की शैली मे ऋजुता, सुबोधिता, चारुता, अल्पालकारप्रियता और उपयुक्त प्रवाह आदि गुणों का समावेश हो गया है। भाषा शैली विषयक विशेषताएं उनकी अपूर्व प्रतिभा की ही परिचायक हैं।[2]

स्वयम्भू ने यद्यपि अपभ्रंश के प्रायः सभी छन्दों का प्रयोग किया है[3] किन्तु उनके ग्रन्थ मे कडवक का प्रयोग बहुलता से हुआ है, जिसमें आठ अर्धालियो के बाद छत्ता छन्द का व्यवहार किया गया है। यही शैली रामचरित मानस मे भी पाई जाती है। तुलसीदास ने आठ अर्धालियों अर्थात् चौपाई के बाद दोहो का प्रयोग किया है।[4] छन्द-प्रयोग मे तो वे निश्चित ही स्वयम्भू एवं अपभ्रंश शैली से प्रभावित थे।

दोनों ही महाकवि नैतिक आदर्शों के प्रतिष्ठापक हैं। अत स्वभावतः उनके ग्रन्थों के वर्णनों मे से कुछ पंक्तियो ने रसभरी उक्तियो का प्रभाव लिया है और जन-साधारण मे सरलता से प्रयोग की जाती है। तुलसीदास की उक्तियां तो प्रसिद्ध है, किन्तु स्वयम्भू के पास भी उनका कम भंडार नहीं है; जैसे — तिय दुक्खहुं खाणि विप्रोयणिहिं', 'सच्चउ जीविउ जलबिन्दु-सउ', 'गय दियहा कि एन्ति पडीवा', इत्यादि।[5]

आध्यात्मिक एवं दार्शनिक दृष्टिकोण

महाकवि स्वयम्भू और तुलसीदास दोनों के ग्रन्थ-प्रणयन के मूल में आध्यात्मिक एवं दार्शनिक भावना ही अधिक प्रबल है। दोनों महाकवियो के समय धार्मिकता के क्षेत्र मे परिवर्तन जोरों से हो रहा था। अतः प्रायः दोनों ने विभिन्न दार्शनिक मतभेदों के समन्वय और एव आध्यात्मिक विचारों के प्रसार के लिए प्रयत्न किये हैं। दोनों की दृष्टि अपनी-अपनी विशेष दार्शनिक परिधि में उदार है। किन्तु दार्शनिक सिद्धान्तों मे पर्याप्त अन्तर भी है।

स्वयम्भू का मुख्य उद्देश्य प्राचीन रामकथा की कुछ भ्रान्तिमूलक घटनाओं को बदलकर उसे जैनधर्म मे ढालना था। यद्यपि उसमे वे पूर्ण सफल नहीं हुए, किन्तु इस बहाने उन्होंने जैनधर्म के प्रमुख सिद्धान्तो का प्रचार खूब किया है। शायद ही कोई जैनतत्त्वमीमांसा का क्षेत्र उनकी दृष्टि से बचा हो। मनुष्य जीवन की सार्थकता, सासारिक जीवन में धार्मिक अनुष्ठानों का विधान, सुख-दुःख, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक आदि की तात्त्विक व्याख्या कर स्वयम्भू ने अपना आध्यात्मिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। दार्शनिक विचारों के अन्तर्गत उन्होंने क्षणिकवाद, सर्वास्तिवाद आदि अन्य मतो का खण्डन कर स्याद्वाद और समत्वयोग की प्रतिष्ठापना की है। यद्यपि ये सब परम्परागत जैन सिद्धान्त है तथापि अभिव्यक्ति की नवीनता मे स्वयम्भू की अपनी मौलिकता है। जिनवर-भक्ति द्वारा सर्वसामान्य को प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर प्रेरित करना उनका प्रमुख उद्देश्य था, जिसमे वे काफी हद तक सफल हैं। इनके द्वारा नैतिक उपदेशों का प्रतिपादन सम्प्रदाय के घेरे से बाहर है।

महाकवि तुलसीदास की आध्यात्मिकता एवं दार्शनिकता, जो रामचरितमानस में चित्रित हुई है, भक्तिवाद से प्रभावित है। तुलसीदास ने धर्मभावना मे बाह्याडम्बर, भूत-प्रेत-पूजा तथा रहस्यवाद का खण्डनकर नैतिक धर्म की स्थापना में अहिंसावाद को सर्वोच्च स्थान दिया है और हिंसा का परम्परागत रूप से विरोध किया है—'परपीडा सम नहीं अधमाई' आदि।

गोस्वामी जी की दार्शनिक पद्धति स्वतंत्र है।[6] उनका ज्ञान प्रत्यक्ष है, तर्क और वाद पर अवलम्बित नही।[7] उनके द्वारा माया, ब्रह्म, जीव, जगत् आदि के निरूपण में उपासक और उपास्य की पृथक् सत्ता पूर्णतया प्रतिष्ठित है।[8] शरीर और आत्मा को भिन्न मानते हुए उन्होंने कर्म-

१. अपभ्रंश-साहित्य, पृ० ६५।
२. तुलसीदास, पृ० ३६५।
३. पउमचरिउ—डा० भायाणी, पृ० ७८।
४ भारतीय जैन साहित्य संसद् परिवेशन १, पृ० ७७ —डा० राजाराम जैन का निबन्ध।
५. द्रष्टव्य—डा० उपाध्याय —'महाकवि स्वयम्भू'।
६. तुलसी-दर्शन—डा० बलदेवप्रसाद मिश्र।
७. रामचरितमानस की भूमिका, पृ० १०८।
८. तुलसीदास और उनका युग, पृ० ३०२।

सिद्धान्त का अनुकरण किया है। किन्तु वे इस जगत को मिथ्या, क्लेशयुक्त आदि नहीं मानते। उन्हें समस्त जगत् ही परमात्मामय दिखाई पड़ता है। इसलिए रामभक्ति को उन्होंने सर्वोपरि मानने का आग्रह किया है। किन्तु इस सबके बावजूद भी वे कट्टर व संकीर्ण सम्प्रदायवादी नहीं कहे जा सकते क्योंकि वे मूलतः उदार चिन्तक थे। उनका कहना है—

कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ जुगल प्रबलकर मानै।
तुलसीदास जो तजै तीनि भ्रम सो आपुन पहिचानै॥

योगदान

इसमें कोई शक नहीं कि स्वयम्भू और तुलसीदास दोनों ने ही अपने-अपने युग का प्रतिनिधित्व किया है। भारतीय संस्कृति और आज के सम-सामयिक परिवेश में उनका कितना योगदान है, इसका मूल्यांकन करना सहज नहीं है।

स्वयम्भू के पउमचरिउ ने पूर्व प्रसिद्ध रामकथा को एक नयी भाषा में जीवित रखा है और उसे नये परिवेश में देखने की कोशिश की। रामकथा और अपभ्रंश भाषा दोनों एक दूसरे से परस्पर उपकृत हैं। रामकथा को माध्यम बनाकर जैनधर्म के सिद्धान्तों का प्रचार प्रसार सर्वसामान्य में करने के लिए स्वयम्भू ने प्रयत्न किया और जनभाषा का आधार होने के कारण उस समय उसे प्रसिद्धि भी मिली, यह असंदिग्ध है। किन्तु पउमचरिउ के कथानक को समुचित आदर नहीं मिला, फिर भी कवि ने अपनी असाधारण काव्य-प्रतिभा, सरसता और अनुभव-गम्भीरता के कारण अपने जीवनकाल में पर्याप्त सम्मान एवं यश विद्वत्समाज में अर्जित कर लिया था, जो कवि का प्रतिपाद्य भी था।

पउमचरिउ वर्तमान में पठन-पाठन एवं मनन-चिन्तन से भले उपेक्षित ही हो, किन्तु हिन्दी साहित्य के विकास में भाषा-विज्ञान एवं काव्यात्मक दृष्टि से उसकी उपयोगिता कम नहीं है। वह तत्कालीन सामाजिक एवं धार्मिक जीवन का चित्र उपस्थित करने में भी समर्थ है। इस दृष्टि से शोध के क्षेत्र में कई विद्वानों ने उसका अध्ययन प्रस्तुत किया है, किन्तु अभी तक वह अन्यान्य कारणों से प्रकाश में नहीं आ पाया।[1]

महाकवि तुलसीदास के योगदान को परिधि में बांधना उसकी विशालता को कम करना है। वे भारत के उन प्रमुख रत्नों में हैं जिन्होंने भारत की संस्कृति पर प्रभाव डालकर हमारी मानसिक, व्यावहारिक और सामाजिक भावना के स्वरूप को बहुत कुछ बदल दिया है। भाषा और साहित्य के माध्यम से उन्होंने विश्व साहित्य में भी प्रतिष्ठापूर्ण स्थान बना लिया है। आज गोस्वामी जी के रामचरितमानस का घर-घर, गाँव-गाँव और झोंपड़ी-झोपड़ी में जो प्रचार और प्रसार हमें दिखाई देता है उसका कारण ग्रन्थ द्वारा सदाचार की प्रवृत्तियो का विकास, राम एवं सीता की आध्यात्मिक भावना और सांसारिक जीवन के पारिवारिक व व्यक्तिगत उत्थान को ही मानना चाहिए। आज भी ये भावनाएँ हमारे लिए वैसी ही उपयोगी है जैसी गोस्वामी जी के समय में थी।[2] किन्तु समाज के बदलते परिवेश और वातावरण के अनुकूल हमे काफी सजग होकर उसमे प्रवृत्त होना चाहिए।

तुलसीदास की इस अपूर्व देन के बावजूद भी रामचरितमानस, यद्यपि जन-साधारण में प्रसिद्ध एवं समादरणीय है, किन्तु व्यावहारिक रूप में उसके आदर्शों का कितना उपयोग हुआ है या हो रहा है, सोचने का विषय है? तुलसीदास ने परम्परा, अपने व्यक्तित्व एवं समय से प्रभावित होकर—

नहीं शूद्र गुनगान प्रवीना। पूजिय विप्र शील गुन हीना॥
सकल कपट अघ अवगुन खानी।
विधिहुं न नारि हृदयगति जानी।
अधम तें अधम अधम अति नारी।

इत्यादि जो बातें कही है इनसे कवि के व्यक्तित्व पर कोई अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा है, भले ही उनके साथ मजबूरी रही हो।

द्वैतवाद का खण्डन तुलसीदास को अवतारवाद की स्थापना के लिए करना पड़ा। किन्तु वही अवतारवाद

[शेष पृष्ठ २१ पर]

१. द्रष्टव्य, जैनोलाजिकल रिसर्च सोसायटी के दिल्ली सेमिनार ७३ की स्मारिका एवं ज्ञानपीठ-पत्रिका, ६९।
२. तुलसीदास और उनके ग्रन्थ, पृ० २।

दिगम्बर जैन ग्रंथ प्रशस्तियों का महाखान मोजखान

☐ श्री अख्तर हुसैन निजामी, रीवां (म० प्र०)

चंदेरी देश के इतिहास के तीन युग है —पहला राजपूत काल जिसमे परिहारो तथा याज्वपेल्लो का शासन रहा है। इस समय की प्रशस्तियो और शिलालेखो पर अनुसंधान की आवश्यकता है। दूसरा युग उस समय आता है जब अलाउद्दीन खिलजी की भेजी हुई सेना ने चंदेरी पर दिल्ली सुलतानो की सत्ता जमाई। तीसरा युग है माडव के गोरी खिलजी नरेशो का जब बृहद् मालवा के उत्तरी खण्ड की राजधानी चन्देरी रखी गई, जिसका अपना महत्व रहा। इस दिल्ली-माडव काल मे अनेकों शिलालेख संस्कृत तथा देशी बोली अथवा मिश्रित भाषा मे और इसी प्रकार ग्रंथ प्रशस्तिया तथा लिपि प्रशस्तिया भी पाई गई है जो दिगम्बर जैन ग्रंथों मे लगी हुई है।

चंदेरी देश मे दिल्ली सुलतानों के राज्यांतर्गत बटिहाडिम को उप-राजधानी बनाकर गढ़ का निर्माण कराया गया था। तुगलक काल के अनेको शिलालेख मिले है। संवत १३८५ (सं० १३२८ ई०) के बटिहागढ़ लेख मे सुलतान मुहम्मद बिन तुगलक के विषय मे इस प्रकार लिखा है :—

"अस्ति कलियुगे राजा शकेन्द्रो वसुधाधिप:।
योगिनीपुरमास्थाय यो भुंक्ते सकलां महीम् ॥
सर्वसागरपर्यन्तं वशीचक्रे नराधिपान्।
महमूदसुरत्राणो नाम्ना शूरोभिनन्दतु ॥

अर्थात् —'कलियुग में पृथिवी का स्वामी शकेन्द्र (मुसलमान राजा) है जो योगिनीपुर (दिल्ली) मे रहकर समस्त पृथ्वी का भोग करता है और जिसने समुद्र पर्यन्त सब राज्यो को अपने वश मे कर लिया है। उस शूरवीर सुलतान महमूद का कल्याण हो।" यहा 'महमूद' से अभिप्राय मुहम्मद बिन तुगलक है।

संवत १३८३ (सन् १३२६ ई०) के एक सती लेख मे भी पादशाह महमूद के राजत्वकाल का उल्लेख है जिसमे उसके लिए 'महासुल्तान" की उपाधि का प्रयोग किया गया है और एक अन्य लेख मे उसके लिए "महाराज साहि" तथा "महाराजाधिराज सुरताण" भी आया है। दतिया के पास एक शिलालेख मिला है जिसमे फीरोज शाह तुगलक को सन १३६४ ई० मे "परम भट्टारक परमेश्वर" के विरूद से स्मरण किया गया है। परगनाधिकारियो के लिए प्राय: 'महामलिक' का उपयोग शिलालेखो मे मिलता है।

माडव सलतनत की नीव डालने वाला दिलावर खाँ है। एक फारसी के शिलालेख मे उसकी उपाधिया इस प्रकार है—"उलुग कुत्लुग, आजम मुअज्जम, शम्सुद्दौलत वद्दीन अमीद बिन दाऊद गोरी अलमुखातुब दिलावर खाँ।" विदित हो कि 'उलुग कुत्लुग' (तुर्की) और 'आजम मुअज्जम' (अरबी) पर्यायवाची है जिनके लिए संस्कृत वालो ने 'महाभोज' की शब्दावली चलाई। यहां प्रयोजन तो चंदेरी देश से है। चंदेरी का प्रथम राज्यपाल कद्रखां जान पड़ता है। दिलावर खां का जेठा पुत्र अल्प खाँ (होशंग) युवराज पद के पश्चात् सुलतान बना और कनिष्ठपुत्र कद्रखाँ चंदेरी का शासक था जिसके दो शिलालेख चंदेरी (१४१६) तथा शिवपुरी (१४१९) के प्राप्त है। इसके दरबार में काजी खाँ बद्र मुहम्मद दिल्ली निवासी जो अपने को 'धारवाल' कहता है और 'अदातुल फुदला' नाम के शब्दकोश का सम्पादक था, सन १४१८ मे आया था। उसने चंदेरी के शासक की उपाधिया इस प्रकार दी है —"खाने आजम खाकाने मुअज्जम मसनदे आली कद्र खा इब्न दिलावर खाँ।[1] बस यू समझना चाहिए कि चंदेरी के गवर्नरो का विरूद "खाने आजम खाकाने मुअज्जम" कद्र खाँ शाहजादे से चला और बाद के उत्तराधिकारी

१. देखिये उर्दू (पत्रिका), जिल्द ४३, अंक ४ (अक्तूबर १९६७)।

उसी का अनुसरण करते रहे ; उदाहरणार्थ 'खाने आजम शेर खाँ' १४७६, ८४ और ८८–८६ के शिलालेखों म और खाने आजम अफजल खाँ १५२० ई० के शिलालेख मे इसी विरूद के साथ उल्लिखित है। इसी प्रकार माडव सुलतान के लिए 'महाराजाधिराज' का उपयोग गयास-शाह से महमूदशाह द्वितीय तक होता रहा। मालवा सुलतानो ने ग्राम जनता की राजभक्ति और स्वामीभक्ति का जहां लाभ उठाया, वहा साथ ही गैर मुस्लिम जनता का हृदय भी मोहने के साधन अपनाये ; मन्दिरो को उदारतापूर्वक सहायता देने के साथ-साथ जैन श्रेष्ठियो को उच्च पद तथा सम्मान प्रदान किया; सुदृढ़ शासन के द्वारा व्यवसाय तथा व्यापार को उन्नति दी। इतिहासकार फरिश्ता ने गयास खिलजी को भोगी-विलासी लिखा है। किन्तु उसके समय मे शिलालेखो का बाहुल्य था तथा ग्रन्थ प्रशस्तियो मे बड़ी सख्या मे उसका उल्लेख है और ये शिलालेख और प्रशस्तिया दूरवर्ती क्षेत्रो मे पाई गई है।

स्वय चंदेरी मे जेनियो के भट्टारकीय आन्दोलन का केन्द्र इसी समय मे बना। पडित फूलचन्द शास्त्री लिखते हैं कि—"मूलसघ नन्दि आम्नाय की परम्परा मे भट्टारक पद्मनन्दी का जितना महत्त्वपूर्ण स्थान है, उनके पट्टधर भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति का उससे कम महत्त्वपूर्ण स्थान नही है। उनका अधिकतर समय गुजरात की अपेक्षा बुन्देलखंड मे और उससे लगे हुए मध्यप्रदेश मे व्यतीत हुआ है। चंदेरी पट्ट की स्थापना का श्रेय इन्ही को प्राप्त है।'[1] शास्त्री जी की मान्यता यह है कि वि० सं १४६३ (सन् १४३६ ईस्वी) के पूर्व देवेन्द्रकीर्ति भट्टारक पद को अलंकृत कर चुके थे। ······· ऐसा लगता है कि वि० सं० १४६३ के पूर्व ही चन्देरी पट्ट स्थापित किया जा चुका होगा।··· · · और देवेन्द्रकीर्ति चदेरी मण्डलाचार्य बन चुके होंगे। भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य भट्टारक त्रिभुवनकीर्ति मण्डलाचार्य हुए और वि० सं० १५२५ (सन् १४६८ ई०) के पूर्व ही चन्देरी पट्ट पर अभिषिक्त हो गये थे जो वि० स० १५२२ (१४६५ ई०) के आस-पास का समय निर्धारित किया गया है।[2]

कवि श्रुतकीर्ति, त्रिभुवनकीर्ति के शिष्य थे। अपभ्रंश मे इनकी चार कृतियां उपलब्ध हैं। हरिवंशपुराण की दो प्रतिया—एक आरा के जैन सिद्धान्त भवन और दूसरी आमेर के भट्टारक महेन्द्रकीर्ति के शास्त्र भडार मे—पाई गई है। परमेष्ठी प्रकाशसार की एकमात्र प्रति आमेर ज्ञान भण्डार मे है। योगसार या जोगसार श्रुतकीर्ति का तीसरा ग्रथ है। चौथा ग्रथ धर्मपरीक्षा है, जिसकी एक मात्र अपूर्ण प्रति स्वर्गीय डा० हीरालाल जैन के पास थी। ये चारो ग्रथ श्रुतकीर्ति ने माडवगढ़ के सुलतान गयासुद्दीन और युवराज नसीर शाह के राज्यकाल मे सं० १५५२–५३ (१४९५–९६ ईस्वी) मे ही लिखे और प्रतिया भी जो मिली है वे भी इसी सन्-सवत की है।

श्रुतकीर्ति के इन ग्रन्थों मे दमावादेश के जेरहट नगर के "महाखान मोजखान" का और जेरहट नगर के नेमीश्वर जिनालय मे बैठ कर ग्रंथो के निर्माण का उल्लेख है। हरिवश पुराण की आरा प्रति मे लिखा है—"सवत १५५३ वर्षे क्वावादि दूज सुदि (द्वितीया) गुरौ दिने अद्येह श्री मंडपाचल गढदुर्गे सुलतान गयासुद्दीन राज्ये प्रवर्तमाने श्री दमोवादेशे महाखान भोजखान वर्तमाने जेरहट स्थाने सोनी श्री ईसुर प्रवर्तमाने श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वती गच्छे श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारक श्री पद्मनन्दिदेव तस्य शिष्य मडलाचार्य देविन्दकीर्तिदेव तच्छिष्य मडलाचार्य श्री त्रिभुवनकीर्तिदेवान् तस्य शिष्य श्रुतकीर्ति हरिवंशपुराणे परिपूर्ण कृतम ···।" धर्मपरीक्षा ग्रंथ में उस समय जेरहट नगर के सम्पन्न होने की सूचना मिलती है किन्तु 'जेरहट' अभी तक खोजा जा रहा है, इसका पता नही चलता। सागर जिले मे रायबहादुर हीरालाल ने 'जेरठ' गाव का उल्लेख किया है, लेकिन यहां मन्दिर के अवशेष पाये नही जाते। तो फिर 'जेरहट' कहां गया यह प्रश्न हल करने की आवश्यकता है।

अब रहा मूल प्रश्न महाखान मोजखान का, तो यह कोई राज्यपाल का नाम हो ऐसा जान नही पडता, यद्यपि इसे कुछ लोग महाखान भोजखान भी पढ़ते हैं। इन पंक्तियों के लेखक का मत है कि यहां कवि श्रुतकीर्ति अथवा लिपिकार का अभिप्राय किसी विशेष व्यक्ति से न

१. अनेकान्त, वर्ष २६ पृ० १३।

२. वही।

होगा। केवल परम्परा के अनुसार मांडव के सुलतान का नाम तो दे दिया जो गयासशाह और उसका युवराज नसीरशाह था, चन्देरी के राज्यपाल के नाम की चिन्ता नही की—केवल उसकी उपाधि जो उस समय प्रचलित थी और उपयोग में आ रही थी, अर्थात् "खाने आजम खाने मुअज्जम", उसी का संस्कृत रूप महाखान मोजखान' अंकित करते चले गये हैं। फिर भी सवाल उठता है कि सन् १४६५-६६ ई० में चंदेरी का हाकिम कौन था। अभी तक इसकी जानकारी शिलालेख या अन्य साधनो द्वारा सन्-सवत के साथ प्राप्त नहीं है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. हीरालाल : दमोह दीपक।
२. हीरालाल : इन्सक्रिप्शन्स आफ सी. पी. ऐन्ड बरार।
३. हरिहरनिवास द्विवेदी : ग्वालियर राज्य के अभिलेख।
४. पन्नालाल जैन शास्त्री : जैन पुस्तक प्रशस्ति संग्रह, भाग २।
५. एपिग्रैफिया इन्डिका—ऐरेबिक पर्शियन सप्लीमेण्ट।
६ —इन्डियन एपिग्रैफी ऐन्युअल।
७. —एपिग्रैफिया इन्डिका, रिपोर्टस।
८ —रिसर्चर (जयपुर—राजस्थान)।
९. —अनेकान्त (दिल्ली)।
१०. —जैन सिद्धान्त भास्कर (आरा)।
११ —जैन साहित्य का इतिहास, (वाराणसी)।
१२ नाथूराम प्रेमी : दि० जैन ग्रंथकर्ता और उनके ग्रंथ।
१३. डा० नेमीचन्द शास्त्री—तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग ३, ४३० ३२।
१४. भुजबली शास्त्री – प्रशस्ति सग्रह।
१५ भट्टारक श्रुतकीर्ति - हरिवंशपुराण (आरा तथा आमेर प्रतियाँ)
१६. —परमेष्ठी-प्रकाश-सार (आमेर प्रति)
१७ —योगसार (जयपुर प्रति)।

कोथर—रीवां (म० प्र०)

□□□

[पृष्ठ १८ का शेषांश]

मानस के आदर्शों के अनुकरण मे बाधा स्वरूप उत्पन्न हुआ है, क्योकि समाज के महानुभाव जब अवतार-कोटि मे चित्रित किये जाते है तो वे भक्ति और श्रद्धा के योग्य तो हो जाते है, किन्तु उनके जीवनचरितो से हम आदर्श और स्फूर्ति ग्रहण नही कर पाते। उनकी अलौकिक, अननुभूत शक्तियों के अनुकरण मे हम असमर्थ हो जाते है। अतः रामचरितमानस के आदर्शों का मानवीय स्तर पर ग्रहण किया जाना अधिक अपेक्षित है। इस दृष्टि से 'पउमचरिउ' का कथानक अधिक व्यावहारिक है। उसके आदर्श अधिक दूर नही लगते। वे व्यक्ति को स्वय पुरुषार्थ के लिए प्रेरित करते हैं।

उक्त पर्यवेक्षण के फलस्वरूप महाकवि स्वयम्भू और तुलसीदास के व्यक्तित्व एव कृतित्व का प्रत्येक पक्ष संक्षेप रूप से हमारे समक्ष स्पष्ट हुआ है। दोनों के वैयक्तिक जीवन में भिन्नता होते हुए भी व्यक्तित्व मे प्रायः समानता है. साहित्य सृजन मे यदि एक का उद्देश्य धार्मिक प्रचार तथा कीर्तिलाभ करना का है तो दूसरा सामाजिक उत्थान और आध्यात्मिक भावना के प्रसार से प्रेरित है। काव्यसौष्ठव मे दोनो बेजोड़ है। एक का दार्शनिक चिन्तन यदि ससार की असारता पर मनन करता हुआ निर्वाण की ओर उन्मुख हुआ है तो दूसरे ने सारे जगत को ही परमात्मामय बना देने की कोशिश की है। एक के राम मानवता से पूर्णता की ओर उन्मुख है तो दूसरे के राम पूर्णता से अवतरित हो मानवता की सृष्टि करते हैं। भारतीय संस्कृति को परिष्कृत एव समृद्ध बनाने मे दोनो का योगदान इतना है कि आने वाली पीढ़ी हमेशा ऋणी रहेगी।

स्वयम्भू और तुलसीदास का यह तुलनात्मक अध्ययन इस बात का एक उदाहरण है कि प्राकृत, अपभ्रंश भाषाओ के साहित्य ने आधुनिक क्षेत्रीय भाषाओ के साहित्य को कितना प्रभावित किया है; कितना स्वरूप एवं उपयोगिता की दृष्टि से दोनो मे साम्य-वैषम्य है ? भारतीय भाषाओं की रचनाओ के तुलनात्मक अध्ययन का यह क्रम जितना बढ़ेगा उतनी ही सांस्कृतिक एकता की दिशाएं उद्घाटित होगी।

□□□

स्याद्वाद : जैन-दर्शन की अन्तरात्मा

[ ] डा० रामनंदन मिश्र, आरा (बिहार)

'स्यात्' शब्द लिङ्-लकार का क्रियारूप पद भी होता है और उसका अर्थ होता है -- होना चाहिए'। लेकिन यहाँ इस रूप मे यह प्रयुक्त नही है। 'स्यात्' विधिलिङ् में बना हुआ तिङन्त प्रतिरूपक निपात है। इसका शाब्दिक अर्थ है 'शायद' 'सम्भवत' आदि। अतः स्याद्वाद को कभी-कभी संभववाद (theory of probability or may be) भी कहते है। प्रोफेसर बलदेव उपाध्याय अपनी पुस्तक "भारतीय दर्शन" (पृष्ठ १५५) मे 'स्यात्' शब्द का अनुवाद शायद या सम्भवत करते है; किन्तु यह अनुवाद सही नही है। 'शायद' शब्द संदेहवाद का सूचक है किन्तु जैन दर्शन सदेहवाद नही है। डा० देवराज ने अपनी पुस्तक "पूर्वी और पश्चिमी दर्शन" (पृ० ६५) में 'स्यात्' शब्द का कदाचित् (किसी समय) अनुवाद किया है। किन्तु यह अनुवाद भी भ्रमात्मक है क्योकि यह संदेह का सकेत करता है। कभी-कभी 'स्यात्' का अनुवाद 'somehow' (किसी न किसी प्रकार से) किया जाता है किन्तु यह भी सही अनुवाद नही है क्योकि इससे अज्ञातवाद की गंध मिलती है और जैन दर्शन अज्ञातवाद नही है। यद्यपि डा० एस०सी० चटर्जी तथा डा०डी०एन० दत्त अपनी भारतीय दर्शन की पुस्तक मे 'स्यात्' के लिए 'somehow' शब्द का प्रयोग करते है तथापि वे इसका अनुवाद 'कथंचित्' (in some respect) करते है। यह अनुवाद सही है। प्रोफेसर महेन्द्र कुमार जैन भी अपनी पुस्तक "जैन-दर्शन" (पृ० ५१८) मे 'स्यात्' शब्द का अनुवाद 'कथचित्' ही करते हैं। पं० कैलाश चन्द्र शास्त्री अपने ग्रथ "जैन न्याय" (पृ० २९८-९९) मे स्यात् का अनुवाद 'किंचित्', 'कथचित्' तथा 'कथचन' करते है। 'स्यात्' का अनुवाद कथचित् होना चाहिए। 'स्यात्' का प्रयोग सापेक्ष के अर्थ मे किया जाता है। इस तरह स्याद्वाद का अर्थ होना चाहिए सापेक्षतावाद। एक प्रसिद्ध जैन चिंतक अकलक देव 'स्यात्' का प्रयोग 'अनेकान्त' के अर्थ मे करते है। अपने ग्रथ 'तत्त्वार्थवार्तिक' (पृ० २५३) मे उन्होने लिखा है "तस्मानेकान्तविधि-विचारादिषु बहुष्वर्थेषु संभवत्सु इह विवक्षावशात् अनेकान्तार्थो गृह्यते।" स्वामी समंतभद्र अपनी पुस्तक 'आप्तमीमांसा' मे कहते है कि स्याद्वाद वह सिद्धान्त है जो सदा एकात का अस्वीकार कर अनेकान्त को ग्रहण करता है। वस्तु अनन्तधर्मात्मक है -अनन्त-धर्मक वस्तु। हमारे सभी निर्णय आवश्यक रूप मे सापेक्ष तथा सीमित है। वस्तु सत् और असत् दोनों है। यह सामान्य भी है और विशेष भी। यह स्थायी भी है और क्षणिक भी। यह एक भी है और अनेक भी। यदि हम द्रव्य की दृष्टि से वस्तु को देखते है तो यह यथार्थ, सामान्य, स्थायी तथा एक है किन्तु यदि हम इसे पर्याय की दृष्टि से देखते है तो यह अयथार्थ, विशेष, क्षणिक तथा अनेक है। छः अन्धे मनुष्यो तथा हाथी की प्रसिद्ध कथा का तात्पर्य यही है कि प्रायः सभी दार्शनिक मतभेदो तथा विवादो का मुख्य कारण है एक आंशिक सत्यता को सम्पूर्ण सत्यता मानने की भूल करना। हमारे मतभेद का कारण यह है कि हम अपने विचारो को सर्वथा सत्य मानने लगते है।

इस तरह जैन दर्शन की दृष्टि मे प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मवाली है। न वह सर्वथा सत् ही है और सर्वथा असत् ही है, न सर्वथा नित्य है और न सर्वथा अनित्य ही है। किन्तु किसी अपेक्षा से वस्तु सत् है तो किसी अपेक्षा से असत् है, किसी अपेक्षा से नित्य है तो किसी अपेक्षा से अनित्य है। अतः सर्वथा सत्, सर्वथा असत्, सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य इत्यादि एकान्तों का निरसन करके वस्तु का कथचित् सत्, कथंचित् असत्, कथंचित् नित्य, कथचित् अनित्य आदि रूप होना अनेकान्त है और अनेकान्तात्मक वस्तु के कथन करने का नाम स्याद्वाद है — अनेकान्तात्मकार्थकथन स्याद्वाद.।

(२)

हम लोग देख चुके है कि जैनों के अनुसार वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। केवल सर्वज्ञ ही वस्तु के सभी धर्मों को जान सकता है। किन्तु हम लोगो जैसे अपूर्ण प्राणी वस्तु को एक समय मे एक ही विशिष्ट दृष्टि से देखते है और इस तरह वस्तु के केवल एक पक्ष या धर्म का ही ज्ञान प्राप्त करते है। इस आंशिक ज्ञान को 'नय' कहते है—एकदेश विशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मत: (न्यायावतार, श्लोक २९)'। इस आंशिक ज्ञान के आधार पर जो परामर्श (Judgement) होता है उसे भी 'नय' कहते हैं। अकलंक देव 'लघीयस्त्रय' (श्लोक ५५) मे 'नय' की परिभाषा इस प्रकार करते है—'नयो ज्ञातुरभिप्राय.'। अभिप्राय वह है जो वस्तु के एक पक्ष को स्पर्श करता है। स्वामी समन्तभद्र के अनुसार, 'नय' वह है जो श्रुत प्रमाण के द्वारा गृहीत अर्थ के विशेषो अर्थात् धर्मो का अलग-अलग कथन करता है। उन्होने अपनी आप्तमीमांसा' (श्लोक १०६) मे लिखा है --'स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यञ्जको नयः।' विद्यानन्द स्वामी भी अपने 'तत्वार्थ-श्लोकवार्तिक' मे 'नय' के इसी अर्थ को स्वीकार करते है। नय के दो मूल भेद है—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। वस्तु के द्रव्यांश या सामान्य रूप का ग्राही द्रव्यार्थिक नय है और पर्यायांश या विशेषात्मक रूप का ग्राही पर्यायार्थिक नय है।

किसी वस्तु का ज्ञान तीन प्रकार से संभव है—दुर्नीति (bad judgement), नय (judgment) तथा प्रमाण (valid judgement)। दुर्नीति का अर्थ है आंशिक सत्यता को पूर्ण सत्यता के रूप मे जानने की भूल करना; जैसे यह कथन कि वस्तु निरपेक्ष रूप से सत् है (सदैव)। किसी सापेक्ष सत्यता का कथन मात्र, बिना यह कहे कि यह निरपेक्ष है या सापेक्ष नय कहा जाता है; उदाहरणार्थ, यह कहना कि वस्तु सत् है (सत्)। प्रमाण सापेक्ष सत्यता की उक्ति है, यह जानते हुए कि यह सिर्फ सापेक्ष है और विभिन्न दृष्टियो से इसके भिन्न भिन्न अर्थ हो सकते हैं (स्यात् सत)। जैन दार्शनिको के अनुसार स्यात् विशिष्ट नय को प्रमाण कहते हैं।

स्व द्रव्य, दिक्, काल तथा रूप की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु सत् है तथा पर द्रव्य, दिक्, काल तथा रूप की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु असत् है। 'घडा है' का अर्थ यह नही है कि घडा सर्वथा सत् है। घडे का अस्तित्व द्रव्य-विशेष, रूप विशेष, स्थान विशेष तथा काल-विशेष के अनुसार है। अत: यह कथन व्याघातक नही है कि घडा सत् और असत् दोनो है (भिन्न दृष्टियों से)।

(३)

पाश्चात्य तर्कशास्त्र मे परामर्शों के साधारणत: दो भेद किये जाते है - अस्तिवाचक तथा नास्तिवाचक। किन्तु जैन सात प्रकार का भेद मानते है। उपर्युक्त दो भेद भी इनके अंतर्गत है। परामर्श को जैन दार्शनिक 'नय' भी कहते है। जैन तार्किक प्रत्येक नय के साथ स्यात शब्द जोडते है। स्यात् शब्द को जोड़ कर यह दिखलाना चाहते है कि कोई भी नय एकान्त या निरपेक्ष रूप से सत्य नही है, बल्कि आपेक्षिक है। यह प्रश्न किया जा सकता है कि भंग सात ही क्यो होते है? जैन तार्किको के अनुसार इस प्रश्न का एक समाधान तो यह है कि मूल नय या भंग तीन है और गणित के नियम के अनुसार तीन के अपुनरुक्त विकल्प सात ही हो सकते है, अधिक नही। दूसरा समाधान है कि प्रश्न सात प्रकार के ही होते है। प्रश्न सात प्रकार के क्यो होते है? इसका उत्तर है कि जिज्ञासा सात प्रकार की होती है। जिज्ञासा सात प्रकार की क्यो होती है? क्योकि संशय सात प्रकार के ही होते है। संशय सात प्रकार क्यो होते है? क्योकि वस्तु के धर्म ही सात प्रकार के है।

भारतीय दर्शन मे विश्व के सम्बन्ध मे सत्, असत्, उभय तथा अनुभय ये चार पक्ष वैदिक काल से ही विचार-कोटि मे रहे है। चार कोटियो मे तीसरी उभय-कोटि तो सत् और असत् दो को मिलाकर बनाई गई है। अत. मूल भंग तो तीन ही है - सत्, असत् और अनुभय अर्थात् अवक्तव्य। गणित के नियम के अनुसार तीन के अपुनरुक्त विकल्प सात ही हो सकते है, अधिक नही। अत: जैन तार्किक परामर्श के सात भेद मानते हैं जिसे सप्तभंगी नय कहा जाता है। नय के सात भेद निम्नलिखित है—

स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अस्ति च नास्ति च, स्यात् अवक्तव्यम्, स्यात् अस्ति च अवक्तव्यम् च, स्यात् नास्ति च अवक्तव्यम् च, और स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यम् च।

'स्यात् अस्ति' अस्तिबोधक या भावात्मक परामर्शों का सामान्य रूप है। स्वद्रव्य की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु सत है। 'स्यात् घडा लाल है'—इसमें यह बोध होता है कि घडा सब समय के लिए लाल नही है, बल्कि किसी विशेष समय में या विशेष परिस्थिति मे लाल है। यह भी बोध होता है कि इसका लाल रंग एक विशेष प्रकार का है। परामर्श का दूसरा भेद है—स्यात् नास्ति। यह नास्ति-बोधक या अभावात्मक परामर्शों का सामान्य रूप है। 'स्यात् घडा काला नही है'—इसका अर्थ है कि कोई एक विशेष घडा विशेष स्थान समय तथा परिस्थिति मे काला नहीं है। परद्रव्य की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु असत्य है। परामर्श या नय का तीसरा रूप है—स्यात् अस्ति च नास्ति च; जैसे—'घड़ा लाल है तथा नही भी लाल है।' इससे यह बोध होता है कि घड़ा कभी लाल हो सकता है तथा कभी दूसरे रंग का भी हो सकता है। वस्तु सत् तथा असत् दोनों है (दो भिन्न अर्थों मे)। चौथे प्रकार का नय है—स्यात् अवक्तव्यम् जिस परामर्श मे परस्पर-विरोधी गुणों के सम्बन्ध में एक साथ विचार किया जाता है उसका यथार्थ रूप 'स्यात् अवक्तव्यम्' होता है। घड़ा जब अच्छी तरह से नही पकता है तो कुछ काला रह जाता है। जब पूरा पक जाता है तो लाल हो जाता है। यदि यह पूछा जाय कि घडे का रंग सभी समय मे तथा सभी अवस्थाओं में क्या है, तो इसका एकमात्र सही उत्तर यही हो सकता है कि इस दृष्टि से घड़े के रंग के सम्बन्ध मे कुछ कहा ही नही जा सकता है।

शेष तीन नय निम्नलिखित ढंग से प्राप्त होते है। पहले, दूसरे तथा तीसरे नयों के बाद अलग-अलग चौथे नय को जोड देने से क्रमश: पाँचवा, छठा तथा सातवाँ नय बन जाते है। पहले और चौथे नयो को क्रमिक रूप से जोडने से पाँचवा नय बनता है—स्यात् अस्ति च अवक्तव्यम् च। दूसरे और चौथे नयों को क्रमिक रूप से जोड़ने से छठा नय बनता है—स्यात् नास्ति च अवक्तव्यम् च। इसी तरह तीसरे और चौथे नयो को क्रमानुसार जोड़ देने से सातवा नय बन जाता है—स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यम् च।

(४)

स्याद्वाद के सात भंग जैन ग्रन्थों मे विभिन्न क्रमों में पाये जाते है। आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने 'प्रवचनसार' गाथा (२–२३) में 'स्यात् अवक्तव्य' को तीसरा और 'स्यादस्ति नास्ति' को चतुर्थ भग रखा है। किन्तु 'पंचास्तिकाय' गाथा चौदह में 'अस्ति नास्ति' को तीसरा और 'अवक्तव्य' को चतुर्थ भग रखा है। इसी तरह अकलंकदेव ने अपने 'तत्त्वार्थवार्तिक' में एक स्थल (पृ० ३५३) पर 'प्रवचनसार' का क्रम अपनाया है और दूसरे स्थल (पृ० ३३) पर 'पंचास्तिकाय' का क्रम अपनाया है। दोनो जैन सम्प्रदायों मे दोनो ही क्रम प्रचलित रहे है। दार्शनिक क्षेत्र मे दूसरा ही क्रम प्रचलित रहा है अर्थात् 'अस्ति नास्ति' को तीसरा और 'अवक्तव्य' को चतुर्थ भग माना गया है। किन्तु मूल भंग तीन ही है—स्यादस्ति स्यान्नास्ति और स्यादवक्तव्य। अत: अवक्तव्य ही तीसरा, भग होना चाहिए। स्वामी समन्तभद्र ने अपने 'युक्त्यनुशासन' मे इसी मत को स्वीकार किया है।

(५)

कुछ पाश्चात्य तार्किको के विचारो के साथ स्याद्वाद की बडी समानता है। ये पाश्चात्य तार्किक भी कहते है कि प्रत्येक विचार का अपना-अपना प्रसग या प्रकरण होता है। उसे हम विचार-प्रसग कह सकते है। विचारो की सार्थकता उनके विचार-प्रसंगो पर ही निर्भर होती है। विचार-प्रसग मे स्थान, काल, दशा, गुण आदि अनेक बाते सम्मिलित रहती है। विचार-परामर्श के लिए इन बातों को स्पष्ट करने की उतनी आवश्यकता नहीं रहती है। साथ-साथ उनकी संख्या इतनी अधिक होती है कि प्रत्येक का स्पष्टीकरण सम्भव भी नही है।

जैन स्याद्वाद की तुलना कभी-कभी पाश्चात्य सापेक्षवाद (theory ot relativity) से भी की जाती है। सापेक्षवाद दो प्रकार का होता है—विज्ञानवादी और वस्तुवादी। विज्ञानवादी सापेक्षवाद के प्रवर्तक प्रोटागोरस,

बर्कले तथा शिलर आदि हैं। वस्तुवादी सापेक्षवाद के प्रवर्तक ह्वाइटहेड, बूडिन आदि हैं। जैनमत को यदि सापेक्षवाद माना जाए तो वह वस्तुवादी सापेक्षवाद होगा, क्योंकि जैन दार्शनिक मानते हैं कि यद्यपि ज्ञान सापेक्ष है, फिर भी यह केवल मन पर निर्भर नही है, बल्कि वस्तुओ के धर्मों पर भी निर्भर है।

स्याद्वाद सिद्धान्त से यह स्पष्ट है कि जैनों की दृष्टि बडी उदार है। जैन अन्यान्य दार्शनिक विचारों को नगण्य नही समझते, बल्कि अन्य दृष्टियो से उन्हे भी सत्य मानते है। भिन्न-भिन्न दर्शनो मे संसार के भिन्न-भिन्न वर्णन पाये जाते है। इसका कारण यह है कि उनमे एक दृष्टि नहीं है। दृष्टि भेद के कारण ही उनमे मतभेद पाया जाता है।

(५)

बौद्ध तथा वेदान्त दार्शनिको के आक्षेप है कि स्याद्वाद आत्मविरोधी सिद्धान्त है। धर्मकीर्ति तथा शान्तरक्षित का कहना है कि अस्तित्व तथा अनस्तित्व जैसे व्याघातक गुण एक ही वस्तु मे एक ही अर्थ मे नही पाये जा सकते। शकराचार्य तथा रामानुज भी स्याद्वाद के विरुद्ध यही आक्षेप करते है। किन्तु ये आक्षेप सही नही है। जैन दर्शन यह कभी नही कहता है कि व्याघातक गुण एक ही वस्तु में, एक ही समय तथा एक ही अर्थ मे पाये जाते है। जैनों के अनुसार वस्तु अनन्त धर्म वाली है। द्रव्य की दृष्टि से वस्तु एक, स्थायी तथा यथार्थ है, किन्तु पर्याय की दृष्टि से यह अनेक, परिवर्तनशील तथा अयथार्थ है। स्व द्रव्य, रूप, दिक् तथा काल की दृष्टि से वस्तु सत् है तथा पर द्रव्य, रूप, दिक् तथा काल की दृष्टि से यह असत् है। अतः यहा विरोध का कोई प्रश्न ही नहीं है। वस्तु मे व्याघातक गुण भिन्न दृष्टियों से पाये जाते है, एक ही दृष्टि से नही।

वेदान्ती स्याद्वाद के विरुद्ध एक दूसरा आक्षेप भी करते है। उनका कहना है कि यदि प्रत्येक वस्तु संभाव्य है तो स्याद्वाद भी संभाव्य है, यथार्थ नहीं। किन्तु यह आक्षेप भी सही नही है। स्याद्वाद संभाव्यवाद नहीं है बल्कि सापेक्षवाद है। शकराचार्य का आक्षेप है कि यदि प्रत्येक सत्यता आंशिक है तो स्याद्वाद भी आंशिक रूप से ही सत्य है। इस आक्षेप के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि किसी सिद्धान्त की मौलिक मान्यता को स्वय उस सिद्धान्त के विरुद्ध आक्षेप के रूप मे प्रयुक्त करना सही नहीं है। तार्किक भाववादियों की मौलिक मान्यता है कि जो प्रत्यक्ष द्वारा प्रमाणित है वही सत्य है। उनके विरुद्ध यह आक्षेप करना सही नही है कि उनका यह सिद्धान्त ही सत्य नही है क्योंकि यह प्रत्यक्ष द्वारा प्रमाणित नही है। अतः स्याद्वाद के विरुद्ध यह आक्षेप सही नही है कि यह सिद्धान्त आंशिक रूप से सत्य है।

सप्तभंगी-नय के विरुद्ध यह आक्षेप किया जाता है कि इसके अन्तिम तीन भग पुनरुक्ति मात्र तथा निरर्थक है क्योंकि वे चतुर्थ भंग को क्रमशः प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय से मिला देने पर प्राप्त होते हैं। कुमारिल का आक्षेप है कि इस तरह के संयोग के आधार पर सात के स्थान पर सौ भंग सम्भव है। जैन तार्किक इस आक्षेप का उत्तर इस प्रकार देते हैं। वे स्वयं इस बात को स्वीकार करते है कि मूल भग तीन ही हैं किन्तु अन्य चार भंग पुनरुक्ति मात्र तथा निरर्थक नहीं हैं। उनका कहना है कि गणित के नियम के अनुसार तीन के अधिकतम अपुनरुक्त विकल्प सात ही हो सकते है। दूसरी बात है कि प्रश्न सात प्रकार के ही होते है। अतः अपुनरुक्त अधिकतम भगो की संख्या वे सात मानते हैं। □□□

मगध विश्वविद्यालय, आरा (बिहार)

'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीरसेवामन्दिर, २१ दरियागज, नई दिल्ली
मुद्रक-प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त
प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक श्री ओमप्रकाश जैन
राष्ट्रिकता—भारतीय पता—२१, दरियागज, दिल्ली-२
सम्पादक—श्री गोकुलप्रसाद जैन राष्ट्रिकता—भारतीय
पता—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागज, नई दिल्ली-२
स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

मैं, ओमप्रकाश जैन, एतद्द्वारा घोषित करता हू कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है। —ओमप्रकाश जैन, प्रकाशक

अग्रवालों की उत्पत्ति

□ पं० परमानन्द जैन, शास्त्री

(समूची वैश्य जाति अर्थात् अग्रवाल जैन एवं जैनेतर, खंडेलवाल, ओसवाल. वर्णवाल, माहेश्वरी रस्तोगी, राजवंशी, परमार (परवार), जायसवाल, पल्लीवाल, लम्बेचू, पोरवाड, गोलालारे, गोल-सिंगारे, गोलापूर्व एवं देश भर मे फैली हुई अनेकानेक इतर वैश्य उपजातियो के सम्बन्ध मे तथा उनके उत्पत्ति स्थलों के सम्बन्ध मे आनुश्रुतिक, पुरातात्विक एव ऐतिहासिक शोधकार्य करने तथा प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत करने के प्रयास सदैव होते रहे है जिनमे 'अनेकान्त' का भी अपना समुचित योगदान रहा है।

विद्वान लेखक का प्रस्तुत गवेषणापूर्ण लेख इसी दिशा मे एक सराहनीय प्रयास है। —सम्पादक)

'अग्रवाल' शब्द का अर्थ होता है, अग्र या आग्रेय जनपद का निवासी। प्राचीन समय मे अग्र गण अथवा अग्रेय जनपद समृद्धशाली नगर था। उसी का परिवर्तित रूप अग्रोहा जान पडता है। अग्रोदक भी उसका नाम है, इससे जान पड़ता है कि वहाँ कोई सुन्दर विशाल तालाब था, इसी से उसका नाम अग्रोदक ख्यात हुआ है। यह स्थान हरियाणा में हिसार नगर से १३ मील की दूरी पर दिल्ली-सिरसा सड़क पर अवस्थित है और इस समय वह उजड़ा हुआ एक छोटा-सा गाँव है। प्राचीन काल में वह एक विशाल एव अत्यन्त सम्पन्न नगर था। इसका प्रमाण वे ध्वसावशेष है, जो उसके निकट सात सौ एकड़ भूमि मे फैले हुए है। उसकी समृद्धि का इससे भी अनुमान होता है कि वहाँ के निवासी सवा लाख व्यक्ति लोहाचार्य के उपदेश से जैनधर्म के धारक श्रावक बने थे। इससे नगर की विशालता का भी पता चलता है। यह एक प्राचीन ऐतिहासिक नगर रहा प्रतीत होता है। यहाँ एक टीला ६० फुट ऊँचा था, जो फतेहगढ जाने वाली सड़क के दक्षिण की ओर अवस्थित है। इस टीले से तीन प्राचीन नगरो के अवशेष मिलते है, जिनका समय दूसरी शताब्दी मे पूर्व और दसवी शताब्दी मे बाद का अनुमानित किया जाता है, जिसकी खुदाई सन् १६३६-४० मे हुई थी। उसमे अनेक वस्तुएँ प्राप्त हुई थी। उसी से यह भी ज्ञात हुआ था कि वहाँ अनेक विशाल भवन भी बने हुए थे। २६ फुट के नीचे सबसे अधिक प्राचीन आहत मुद्रा का नमूना भी मिला है। प्राचीन नगर के अवशेषो के साथ यूनानी सिक्के और ५१ चौखूटे ताँबे के सिक्के भी मिले है, जो इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। तावे के सिक्को के सामने की ओर वृषभ तथा पीछे की ओर सिह या चैत्य वृक्ष की मूर्ति अंकित है, जो जैन मान्यता की ओर सकेत करती है।[1] सिक्को के पीछे ब्राह्मी अक्षरो मे अगोद के अगच-जनपदस, शिलालेख भी अंकित है, जिसका अर्थ अग्रोदक में अगच जनपद का सिक्का होता है। उक्त आग्रेय जनपद का ही नाम अग्रोहा प्रचलित हुआ है और राजधानी का नाम 'अग्रोदक' सिक्कों पर उत्कीर्ण है।[2]

इंडियन एण्टीक्वेरी, भाग १५, पृ० ३४३ पर अग्रोदक वैश्य का वर्णन दिया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि वहाँ अग्रवाल वैश्यो का खासा जमघट रहा है। अन्य जातियो की अपेक्षा वहाँ अग्रवाल वैश्यो की सख्या अधिक रही है और वे वहाँ अच्छे सम्पन्न एवं वैभवशाली रहे है। वे अग्रवाल देशभक्त और वीर जान पड़ते हैं, क्योकि उन्होने अपने देश की रक्षार्थ यूनानी, शक, कुषाण, हूण और मुसलमान आदि विदेशी आक्रमणकारियो से जमकर लोहा लिया था। मुहम्मद गौरी के समय यहाँ के निवासी अग्रवाल राजस्थान, उत्तर प्रदेश, दिल्ली आदि इधर-उधर के प्रान्तो मे बस गये थे। इस जाति मे भी अनेक प्रतिष्ठित, वीर, पराक्रमी एव ओज-तेज से सम्पन्न व्यक्ति हुए हैं, जिन्होने समय-समय पर महत्वपूर्ण कार्यो

१, एपिग्राफिआ इडिका, जिल्द २, पृष्ठ २४४। २. एपिग्राफिआ इडिका, जिल्द १, पृष्ठ ९३-९४।

का संचालन किया है और अपनी कीर्तिको चिरस्थायी बनाने का प्रयत्न किया है।

संभवतः ३२६ ई० पूर्व सिकन्दर की वापसी में अग्रोहे के अग्र श्रेणी गणतत्र से मुठभेड हुई है। अग्रोहे के वर्तमान अग्रवालो के पूर्वज अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए वीरतापूर्वक लडे और उन्होने सिकन्दर के यूनानी सैनिकों के दांत खट्टे किये, किन्तु वे आक्रान्ता की विपुल सैन्य शक्ति के आगे ठहर न सके। फलतः बीस हजार स्त्री-बच्चो ने जौहर द्वारा अपना अन्त किया।[1] जो इधर-उधर भाग गये थे, व्यापारादि द्वारा अपनी आजीविका करने के कारण वैश्य अग्रवालो मे उनकी गणना होने लगी।

कहा जाता है कि अग्रोहा मे अग्रसेन नाम का कोई राजा था, उसी की संतान परम्परा मे अग्रवाल कहे जाते हैं। यद्यपि अग्रसेन नामक राजा की कोई इतिवृत्ति नही मिलती और न इतिहास तथा पुराणो मे उसका नामोल्लेख ही उपलब्ध होता है और न उसकी वंश परम्परा का ही नामोल्लेख मिलता है। उसके अट्ठारह पुत्रो आदि का भी इतिहास मे कही कोई उल्लेख नही मिलता है। इससे अग्रसेन नाम कल्पित जान पडता है। किसी ने 'अग्र' शब्द के आगे 'सेन' शब्द जोडकर अग्रसेन नाम की कल्पना कर ली, अन्यथा सत्रह यज्ञ करने वाले राजा का पुराणों आदि मे नामोल्लेख तक न होना ही उसकी अप्रमाणिकता का द्योतक है।

अज्ञानकर्तृक महालक्ष्मी-व्रत-कथा के अनुसार, राजा अग्रसेन को अन्तिम यज्ञ मे हिंसा से सहसा घृणा हो गई, और उसने बीच में ही यज्ञ बन्द कर दिया। राजा का हिंसात्मक यज्ञो से सहसा उदासीन हो जाना, यह घटना अपने मे किसी रहस्य विशेष को समोये हुए है। उसका कोई न कोई कारण अवश्य रहा जान पडता है, जिसका ग्रन्थ मे कोई खुलासा नही, क्योंकि बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। जिसे जीवन मे कभी प्रबल हिंसा से खेद तक नही हुआ, प्रत्युत उसमें हर्ष मानता रहा हो, ऐसी स्थिति में सहसा हिंसा से घृणा हो जाना आश्चर्य-जनक है। कर्ता ने इसका समर्थक कोई प्रमाण नही दिया। लगता है यह भी कोरी कल्पना ही है। हिंसा पर अहिंसा का प्रभाव किस निमित्त से पडा है, उसे व्यक्त किये बिना उसकी यथार्थता सन्देहास्पद ही है अथवा कवि की कोरी कल्पना ही जान पडती है, अन्यथा जिस अहिंसा की महत्ता ने राजा के अन्तर्मानस को प्रभावित किया, उसका कोई कारण अवश्य होना चाहिए, जिसे ग्रन्थकार व्यक्त नहीं कर सका। जान पडता है कथाकार ने महालक्ष्मीव्रत की महत्ता बतलाने के लिए ऐसी कल्पना की हो।

'अग्रवाल' शब्द पर विचार

डा० सत्यकेतु ने अग्रवाल जाति के प्राचीन इतिहास के पृष्ठ १५६ पर लिखा है कि "अगरवाल शब्द बहुत पुराना नहीं है, इस जाति के लिए जो विभिन्न नाम पहले प्रयुक्त होते थे अग्रोतान्वय उनमे एक है।" जान पड़ता है डा० साहब को अग्रवाल शब्द की प्राचीनता का उल्लेख नही मिला, इसी से उन्होंने ऐसा लिखा है। प्राकृत और अपभ्रंश भाषा मे "अगरवाल" शब्द सन् ११३२ मे तोमर वंशीय राजा अनंगपाल तृतीय के समय प्रचलित था। अगरवाल का अर्थ अग्रवाल होता है। कविवर श्रीधर द्वारा स० ११८९ (सन् ११३२) में दिल्ली मे रचित 'पास-णाहचरिउ' मे उक्त अगरवाल शब्द का उल्लेख अग्रवालो के लिए किया गया है, इतना ही नही किन्तु अग्रवाल साहू जेजा के ज्येष्ठ पुत्र राघव का उल्लेख करते हुए उसे 'अग्रोतकान्वय नमोऽङ्गण पार्वणेन्दु'[2] बतलाया गया है, जिसका अर्थ अग्रवाल वंशरूपी आकाश का चन्द्रमा होता है। इससे प्रमाणित होता है कि अग्रवाल वंश उस समय बहुत प्रसिद्ध हो चुका था। 'अन्वय' शब्द वंश परम्परा का सूचक है। अनंगपाल तृतीय के समय साहू जेजा का कुटुम्ब अत्यन्त प्रसिद्ध था। इनके लघु पुत्र नट्टल साहू ने दिल्ली मे आदि-नाथ का एक सुन्दर मन्दिर बनवाया था और उसकी प्रतिष्ठा भी की थी। वह राज्यमान्य था और उसका व्यापार अंग, बंग, कलिंगादि देशों में होता था। उसी ने

१. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि, प्रथम संस्करण, भारतीय ज्ञानपीठ, पृ० ७४।

२. यस्याग्रजो जनि सुधीरिह राघवाख्यो, ज्यामानमन्दमतिसज्झितसर्वदोषाः। अग्रोतकान्वयनभोगणपार्वणेन्दुः, श्रीमाननेकगुणरंजित-चारुचेताः—पास. च.।

हरियाणा निवासी कवि श्रीधर से, जो स्वयं अग्रवाल वंश में उत्पन्न हुआ था। उक्त पार्श्वनाथचरित्र की रचना कराई थी। उस समय दिल्ली और हरियाणा आदि नगरों में अग्रवालों का निवास था। इसके बाद संवत् १३२६, १३६१, १३६६[1] की लिपि प्रशस्तियों, तथा संवत् १३६५ में लिखी हुई दातृ-प्रशस्ति मे 'तहिं मज्झ पसद्धउ अगरवाल, णामेण पउतउ रयण पालु।' अग्रवाल रत्नपाल का उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त वि० सं० १४१६, १४८६, १५१०, १५६६ आदि के अनेक ग्रन्थोंकी प्रशस्तियों में उनके लिखवाने वाले अग्रवालों का उल्लेख है :—

"संवत्सरेस्मिन् श्री विक्रमादित्य गताब्दा: संवत् १३६१ वर्षे ज्येष्ठ सुदि गुरुवासरे अथेह श्री योगिनीपुरे समसूराजावलि शिरो मुकुट माणिक्य खचित नखररमो सुरत्राण श्री महम्मदसाहि नाम्नि महीविभ्रति सति अस्मिन् राज्ये योगिनीपुरस्थिता अग्रोतकवान्यनभ. शशाक सा० महिपाल पुत्र: जिन चरणकमल चंचरीक सा० सेतु, फेरा, साढा, महाराजा, तूपा, ऐते, साहनेपु पुत्र गाल्हा आजा ऐते साह घेरा पुत्र बी था हेमराज एते: धर्म कर्म्मणि सदोद्यमपरैः ज्ञानावरणीकर्मक्षयाय भव्यजननां पठनाय उत्तरपुराण पुस्तकं लिखापितं। लिखितं गोडान्वय कायस्थ पंडित गंधर्व पुत्र बाहड राजदेवेन। (प्रशस्ति सं० पृ० ६२)।"

"सं० १३६६ फाल्गुण सुदी ५ शुक्रवासरे श्रीयोगिनीपुर सुरत्राण श्री मम्महंमद साहि राज्य प्रवर्तमाने काष्ठासघे त्रयोदशविधि चारित्र (धारक) भट्टारकनयसेन: तस्य शिष्य: भट्टारक दुर्लभसेन तस्याध्ययनाय पुस्तकामिदं प्रतिक्रमणरते लिखापयित्वा दरबारचैत्यालय समीप स्थित अग्रोतकन्वय परमश्रावक सागिया इति पूर्वपुरुषसज्ञकेन पाटण वास्तव्य सा० पाणा भार्याहिलो अनयो पुत्रो दिउप पूना नामादो सा० पूना भार्या बीक्षा अतयो पुत्रेण दरबारचैत्यालये पंचम्युद्यापनाय सकलसंबमाकार्य देव-शास्त्रगुरुणा महामहं विधाय सघपूजा वस्त्राआराधिभि: कृता शास्त्रदान प्रस्तावे पच पुस्तकानि ददानि।

— प्रशस्तिसंग्रह, पृ० ६७"

३. "सं० १६४६ वर्षे सादवा सुदी १३ गुरो दिने श्रीमद्योगिनीपुरे सकलराज्यशिरोमुकुटमाणिक्य मरीचिकृत चरण कमलपादपीठस्य श्रीमत् पेरोजसाहे सकल साम्राज्यधुरां विभ्राणस्य समये वर्तमाने श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये मूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे भट्टारक रत्नकीर्ति तरुणतरुणित्वभुर्वीकुर्वाणां श्रीप्रभाचन्द्राणां तस्य शिष्य ब्रह्मनाथू पठनार्थ अग्रोतकान्वये गोहिल गोत्रे भर (मर) थल वास्तव्य परमश्रावक साधुसाउ भार्यावीरो तयो पुत्र साधु ऊधस भार्यालोथा ही भरहपाल भार्या लोथा ही श्रीभरहपाल लिखापितं कर्मक्षयार्थं। कनकदेव पंडित लिखित। शुभ भूयात्।

—(जैन शास्त्र भंडार, ठोलियों का मन्दिर, जयपुर)"

४. "सवत् १४८६ वर्षे पोषवदी ६ रवौ दिने श्री गोपगिरे: तोमरवंश महाराजाधिराज श्रीमत् डोंगरसीदेव राज्य प्रवर्तमाने श्री काष्ठासंघे माथुरान्वये पुष्करगणे भट्टारक श्री क्षेमेन्द्रकीर्तिदेवास्तद्गुरुशिष्य श्रीमद्कीर्तिदेवा: तस्य शिष्य श्री वादीन्द्रचूडामणि महासिद्धान्ती श्री ब्रह्मसीराख्य नामदेवा। अग्रोताकान्वये मीतलगोत्रे साधु श्री गल्हा भार्या खेमा तयो पुत्र: भोणी एक पक्षा। द्वितीय पक्षा अग्रोतकान्वये गर्ग गोत्र साधु श्री क्षेमधरा भार्या हुरो तयो पुत्राश्चत्वार: प्रथम पुत्र देखलु, द्वितीय बील्हा, तृतीय आल्हा, चतुर्थ भरया। देखलु भार्यारूपा, बील्हा भार्या ना थी, साधु नाल्हा भार्या या नी, तयो: पुत्राश्चत्वार: साधु श्रीचन्द्रा, साधु हरिश्चन्द्र सा० रना, सा० साल्हा। श्रीचन्द्र पुत्र मेघा, स्वधर्मरत साधु श्री मर्या मीणा, शीलशालिनीं धर्मप्रभावनी रत्नत्रयाराधिनी बाई जोणी आत्मधर्म क्षार्थ इद परमात्मप्रकाश ग्रंथलिखापित।

—ठोलियों का मन्दिर जैन शास्त्र भडार, जयपुर"

इसके अतिरिक्त भ० यशःकीर्ति (१४८२-१५००) ने अपने पाण्डव पुराण और हरिवंशपुराण मे अग्रवालों का उल्लेख किया है। यथा—

"सिरि अगरवाल बमहि पहाण
सो सघहे वच्छलु विनयमाणु।"—पांडव पुराण

"तहिं अयरवाल बसहि पहायु सिरिगगगनोगंगेयभाण।
जो रूवें णिज्जिय काम बाणु दिउचंद सा'हू किउपत्तदाणु।"
—हरिवंश पुराण

१. 'सवत् १३२६ चैत्र सुदि दशम्या बुधवासरे अथेह योगिनीपुरे समस्त राजावलि समालंकृत गयासुद्दीन राज्ये अवस्थित अग्रोतक परमश्रावक जिनचरणकमल⋯।" तेरापंथी बड़ा मंदिर भंडार, जयपुर की ग्रंथ सूची, भाग २, पृ० १४२।

कवि रइधू ने भी अपने अनेकों ग्रन्थों में अग्रवालों का परिचय उनके कुटुम्ब-परिकर के साथ दिया है। दो ग्रथों का उल्लेख निम्न प्रकार है :--

'जो अयरवाल बंसहि हमयकु, विहु पवम्ब बुद्ध सोणेय बंकु।
बाटू साहूहुणदणु पवीण, णियजलण विहुलोहय विणयलीणु।
—बलहद्द पुराण

आग्रोय बंश णहससि दाणाविहाणेण णाहू खेयंहो।
वहुयणमण क्यतोखो हालू साहुस्स अंगओविदिग्ओ।
-- 'वित्तसार'

सोलहवी शताब्दी के कवि महाचन्द्र और माणिक्य-चन्द ने अपने ग्रन्थो मे अग्रवालों का निम्न शब्दो मे उल्लेख किया है :—

'अयरबाल सघहू सुहू भायउ, गग्ग गोत्त-णिम्मल गुणसायर।
—शान्तिनाथ पुराण

अयरवाल सुपसिद्ध विभासिउ, सिघलगोत्तउ सुप्पणमासिउ।
—अमरसेन चरित

इन दोनो कवियों के ग्रन्थों का रचनाकाल स० १५८७ और १५७६ है।

इन सब उल्लेखों से अग्रवाल शब्द की प्राचीनता और महत्ता पर प्रकाश पड़ता है। ये सब उल्लेख जैन अग्रवालों के है। अग्र जनपद या अग्रदेश के निवासी होने के कारण अग्रवाल कहे जाते है। अग्रसेन राजा की सन्तान-परम्परा के कारण अग्रवाल नहीं कहे जाते।

'अग्रवालों' में दो शब्द जुड़े हुए हैं—'अग्र' और 'वाल'। इनमें अग्र शब्द देश या जनपद का वाचक है और वाल शब्द उनके पूर्व निवास का सूचक है। जिस तरह कोई व्यक्ति कलकत्ता से दिल्ली मे जाये तो उसे कलकतिया या कलकत्ते वाला कहा जाता है, या किसी अन्य स्थान पर बस जाने पर उसे अन्य स्थान वाला कहा जायगा, इसी तरह राजस्थान के खण्डेला से खण्डेलवालो का निकास हुआ है। खण्डेला के निवासी होने से उन्हें खण्डेल-वाल कहा जाता है। पाली वासी होने के कारण पल्लीवाल, पद्मावती नगरी के निवासी होने के कारण से पद्मावतीपुर वाल कहा जाता है। यहां वाल शब्द स्पष्ट रूप से निवास का द्योतक है।

गाँव आदि के नाम पर गोत्र और जाति कल्पना

उपजातियो का इतिवृत्त दसवी शताब्दी से पूर्व का नही मिलता। हो सकता है कि कुछ उपजातियां पूर्ववर्ती रही हों। इन उपजातियों और उनके गोत्रादि का विकास ग्रामों और नगरो आदि के नाम पर हुआ है, उदाहरणार्थ, खण्डेला से खण्डेलवाल, ओसा से ओसवाल, बघेरा से बघेरावाल (व्याघ्रवाल), पाली से पल्लीवाल, पद्मावती से पद्मावतीपुरवाल, इसी तरह अग्रोहा से अग्रवाल, चदेरी के निवासी होने के कारण चदेरिया, चन्द्रवाड से चान्दुवाड। विभिन्न कार्य करने से भी लोगो की विविध नामो मे ख्याति देखी जाती है। पटवारगिरी करने से पटवारी, सोने का कार्य करने से सोनी या सुवर्णकार की प्रसिद्धि होती है।

गाँव के नाम पर गोत्र कल्पना कैसे की जाती थी, इसका एक उदाहरण १७वी शताब्दी के पंडित बनारसीदास के अर्धकथानक मे ज्ञात होता है और वह इस प्रकार है—मध्यदेश के रोहतकपुर के निकट बीहोली नाम का एक गाँव था, जिसमे राजवंशी राजपूतों का निवास था। वे गुरु प्रसाद से जैनी हो गये और उन्होंने अपना पापमय क्रियाकाण्ड छोड दिया, णमोकार मन्त्र की माला पहनी, अतएव उनका कुल श्रीमाल बतलाया गया। और गोत्र गाँव के नाम पर बिहोलिया रक्खा गया, जैसा कि अर्धकथानक के निम्न पदों से प्रगट है :--

याही भरत सुखेत में, मध्यदेश शुभ ठाऊँ।
बसै नगर रोहतकपुर, निकट बिहोली गाऊँ।
ते गुरुमुख जैनी भए, त्यागि करम अघभूत।
पहरी माला मन्त्र की, पायो कुल श्रीमाल।
थाम्यो गोत्र बिहोलिया, बीहोली रखपाल।
—अर्धकथाक

इसी तरह अन्य जातियों के गोत्रादि के सम्बन्ध में विचार करना चाहिए। उपजातियों के गोत्रों की कल्पना जुदी-जुदी है। जैन समाज में उपलब्ध उपजातियां व गोत्रादि भिन्न-भिन्न हैं। इसी तरह वैष्णव सम्प्रदाय की उपजातियों में भी गोत्र कल्पना भिन्न-भिन्न पायी जाती है। अग्रवालों के १८ गोत्र बतलाये जाते हैं; उनमें गर्ग, गोयल, मित्तल, सगल या सिंगल, बंसल, जिन्दल,

एण्डिल और मंगल नाम के गोत्रों के नामोल्लेख विविध ग्रन्थादि में मेरे अवलोकन में आये है। उन सब मे गर्ग गोत्र वालो के उल्लेख अधिक पाये जाते है। सम्भवत: उसी तरह वैष्णव अग्रवालों मे भी वैसे ही पाये जाते होगे। शेष गोत्रों के सम्बन्धमें मुझे कुछ जानकारी प्राप्त नही हुई। इसी तरह परवार, खण्डेलवाल, गोलापूर्व, हुंबड, गोलालारे, ओसवाल, बघेरवाल, आदि उपजातियों के गोत्रादि भिन्न-भिन्न पाये जाते है। सम्भव है तुलना करने पर कुछ उपजातियों के गोत्रादिको में कही कुछ समानता भी मिल जाय। वस्तुत उनके गोत्र भिन्न ही देखने मे आते है।

लोहाचार्य

लोहाचार्य नाम के दो आचार्यों का उल्लेख मिलता है। उनमे प्रथम लोहाचार्य तो भगवान महावीर के पचम गणधर थे। पट्खण्डागम की धवला टीका और कषाय पाहुड़ की जयधवला टीका मे लोहिज्ज नाम से उनका उल्लेख मिलता है यथा तेण गोदमेण दुविह मबिसुदणाण लोहजस्स सचारिद (धवला पु० १, पृ० ६५)। इनका नाम सुधर्म स्वामी था और अपरनाम लोहाचार्य। मुनि पद्मनन्दी ने जम्बूद्वीप पण्णती मे सुधर्म गणधर का नाम लोहाचार्य बतलाया है—तेण वि लोहज्जस्स य लोहज्जेण य सधम्म णामेण। (जम्बूद्वीप पण्णती १-१०)। इनका निर्वाण ई० पूर्व ५७३ मे हुआ था।

दूसरे लोहाचार्य आचाराग के धारण और शेष अगो के एकदेश धारक थे। इनका समय ६८३ वर्ष की श्रुतधरों की काल गणना मे आता है।[1] प्राकृत पट्टावली के अनुसार इनका समय वीर नि० सं० ५६५ है। 'लोहज्ज' शब्द प्राकृत भाषा का है जिसका अर्थ लोहार्य या लोहाचार्य होता है। बहुत सम्भव है कि इन लोहाचार्य से अग्रजनपद के निवासियों को प्रबोध मिला हो और उनके उपदेश से उन्होने जैनधर्म धारण किया हो और आग्रेय या अग्र जनपद के निवासी होने से अग्रवाल कहलाने लगे हो।

काष्ठासघ की उत्पत्ति तो बाद मे हुई है, फिर भी काष्ठा सघ के साथ लोहाचार्यान्वय का उल्लेख है। परन्तु इसका कोई प्राचीन उल्लेख मेरे देखने मे नही आया है। हाँ, १५वी-१७वी शताब्दी की लिपि प्रशस्तियो आदि मे लोहाचार्यान्वय का उल्लेख अवश्य देखने मे आया है।[2]

एक लोहाचार्य का उल्लेख प० बुलाकीचन्द्र ने अपने स० १७३७ मे रचित बचन-कोश मे किया है और बताया है कि काष्ठासघ की उत्पत्ति उमास्वामी के पट्टाधिकारी लोहाचार्य द्वारा अगरोहा नगर मे हुई। इसका कोई प्राचीन प्रामाणिक उल्लेख अभी तक प्राप्त नही हुआ। अतएव यह प्रामाणिक नही हो सकता। उमास्वामी के पट्टाचार्य किसी लोहाचार्य का कोई उल्लेख अभी तक प्राप्त नही हुआ।

काष्ठासंघ की उत्पत्ति

काष्ठासघ की उत्पत्ति का उल्लेख आचार्य देवसेन के दर्शनसार मे मिलता है। उसमे लिखा है कि गुणभद्राचार्य

---

१. सुभद्रो तो यशोभद्रो यशोबाहुरनेतर।
लोहाचार्यस्तुरीयो भूदाचारागधृतां अतत.॥
— हरिवशपुराण १-६५

लोहिज्जो, लोहाइरिए सग्गं गदे आयावस्स बोच्छेदो जादो। —जयधवला, पु० १, पृ० ८६

२. भट्टारकीय मन्दिर अजमेर शास्त्र भण्डार की समयसार टीका (आत्मख्याति) की लिपि प्रशस्ति में जो १४६३ सोमवार की लिखी हुई है, काष्ठा सघ के साथ लोहाचार्यान्वय का उल्लेख है, यथा—'स्वस्ति श्री संवत् १४६३ वर्ष त्रयोदश्या सोमवासरे अद्येय श्री कालपीनगरे समस्त राजावली समलकृत विर्नजितारिबली प्रचंड महाराजाधिराज सुरत्राण महमूद साहि विजयराज्य प्रवर्तमाने अस्मिन् राज्ये श्री काष्ठासंघे माथरान्वये पुष्करगच्छे लोहाचार्यान्वये प्रतिष्ठाचार्य श्री अनन्तकीर्तिदेवा: तस्य पट्टनगणागणे भट्टारक कल्प श्री क्षेमकीर्ति देव: तत्पट्टे श्री हेमकीर्ति देवा: तत्शिष्य श्री धर्मचन्द्रदेवा: तस्य धर्मोपदेशामृतेन हृदिस्थित घनोबल्ली खिच्चभामेन रोहितासनगरे वास्तव्य श्री कालपीनगरस्थित अग्रोतकान्वय मीतल गोत्रीय पूर्वपुरुष ·····।

सवत् १६५८ फाल्गुन सुदी ८ शनिवासरे श्री काष्ठासघे माथुरागच्छे श्री लोहाचार्यान्वये श्री गुणभद्र पट्टे श्री गुणकीर्ति तत्पट्टे श्री कुमारसेनास्तत: श्री विशालकीर्ति: तच्छिष्य जसोधर नित्य प्रणमिति।' यह लेख तार की गली आगरा मन्दिर की मूर्ति का है।

की मृत्यु के बाद जिनसेनाचार्य के गुरु भाई विनयसेन के दीक्षित शिष्य कुमारसेन द्वारा सं० ७५३ मे नन्दितट ग्राम मे काष्ठासघ की उत्पत्ति हुई, जैसा कि उसकी निम्न गाथाओं मे स्पष्ट है :—

तेण पुणो बिय बिच्चुं णाऊण मुणिस्य बिणयसेणस्स ।
सिद्धंते घोसिता सय गय सन्न लोयस्स ।।३३।।
आसीकुमारसेणो एबियडे बिणयसेण दिव्वखओ ।
चचोन समो रूद्दो वट्ठ सघ परुवेदि ।।३६।।
सो सवणसंघ बज्जो कुमारसेणो दुसमय मिच्छत्ती ।
सत्तसये तेवण्णे बिचकमरायस्य मरणपत्तस्स ।
णदियडेबरनामे कट्ठो सघो मुणयव्वो ।।३८।।

—दर्शनसार

दर्शनसार की गाथा मे, वि० सं० ७५३ में काष्ठासंघ की उत्पत्ति बतलाई गई है। यह समय ऐतिहासिक दृष्टि मे ठीक नही मालूम होता, क्योंकि आचार्य गुणभद्र की मृत्यु के उपरान्त काष्ठासंघ की उत्पत्ति हुई। इसमे ७५३ का विक्रम संवत ठीक प्रतीत नही होता, क्योंकि बीरसेन के शिष्य जिनसेन के सधर्मी विनयसेन थे, और इन्ही विनयसेन के अनुरोध से जिनसेन के पार्श्वाभ्युदय काव्य की रचना की थी। इन कुमारसेन ने गुणभद्र की मृत्यु के बाद काष्ठासघ की स्थापना की, जिससे उक्त ७५३ का सवत् १५० वर्ष के लगभग पीछे पड जाता है। इससे वह स्थापना काल सदोष है। काष्ठासघ की उत्पत्ति विक्रम की १०वी शताब्दी के लगभग ठहरती है। यदि उसे बिक्रम सवत् न मानकर शक सबत् माना जाय तो संभवतः उसका सामंजस्य हो सकेगा।

महालक्ष्मी व्रत कथा

महालक्ष्मी व्रत कथा संस्कृत भाषा की एक अर्वाचीन खंडित कृति है जिसका कर्ता अज्ञात है और जिसे भविष्य पुराण का अंश बतलाया गया है। परन्तु वह उसमे उपलब्ध नही होती। ग्रन्थ व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियों से युक्त है, जिसका सकेत डा० सत्यकेतु विद्यालकार ने भी अपने अग्रवालों के प्राचीन इतिहास मे किया है। रचना साधारण है। भाषा में प्रौढ़ता के दर्शन नही होते। कथानक सुनी-सुनाई काल्पनिक बातों से भरा हुआ है, अतएव प्रामाणिक प्रतीत नही होता।

अग्रोक नगरी को महालक्ष्मी व्रत कथा मे गंगा-यमुना नदियो के मध्य हरिद्वार से १४ कोश पश्चिम की ओर बतलाया गया है और अग्रसेन के साथ उसका सम्बन्ध जोडा गया है, जो काल्पनिक है। डा० सत्यकेतु की दृष्टि मे भी वह काल्पनिक रहा है। इतिहास की दृष्टि से वह मनगढंत है। दूसरे, अग्रसेन राजा की रानियों, पुत्रों और कन्याओं के नाम भी पूरे नही गिनाने जा सके है। उनका भी समर्थन अन्यत्र से नही होता। साढ़े सत्रह गोत्रों की कल्पना काल्पनिक ही है, आधे गोत्र का क्या आधार है? पुराणो मे इनका साक्ष्य मिलना चाहिये।

डा० सत्तकेतु ने पृ० १६८ पर लिखा है कि 'परम्परा अनुश्रुति के अनुसार रानियो की संख्या साढ़े सत्रह या अठारह लिखकर भी महालक्ष्मीव्रत कथा का लेखक उनके नामो की गिनती पूरी न कर सका। इस ग्रन्थ मे राजा अग्र की रानियो व कन्याओ के जो नाम दिये गये है वे कहा तक सत्य है यह कहना कठिन है। इससे स्पष्ट है कि डाक्टर साहब भी उससे शकित है।

कथा के १३७-१३८ पद्यों मे बतलाया गया है कि अग्रसेन ने साढ़े सत्रह यज्ञ से मधुसूदन को सतुष्ट किया। एक बार यज्ञ के बीच मे घोड़े का मास बोल उठा। उसने कहा कि राजन्! मांस और मद्य द्वारा स्वय को जय मत करो। हे दयानिधे! इन दोनो से रहित जीव कभी पाप से लिप्त नही होता। इसमे विचारणीय है कि क्या घोड़े या किसी जीव का मास बोल सकता है; उसमे उसका आत्मा निकल जाने या प्राण रहित हो जाने के बाद बोलने की शक्ति कहा से आ गई; क्या निर्जीव व्यक्ति का इस प्रकार की उद्घोषणा कर सकता है। यह कथन निरा काल्पनिक और मनगढ़त जान पड़ता है। क्या कोई वैज्ञानिक इसे कसौटी पर कसकर प्रमाणित कर सकता है?

कथा में यह भी लिखा है कि धनंजय का पुत्र श्रीनाथ हुआ और श्रीनाथ का पुत्र दिवाकर हुआ। दिवाकर ने जैनमत का पालन किया। परन्तु ग्रथकर्ता ने इसे स्पष्ट

(शेष आवरण पृ० ३ पर)

झारड़ा की अप्रकाशित जैन देवी प्रतिमाएं

□ डा० मायारानी आर्य, उज्जैन

मध्यप्रदेश के उज्जैन जिले की महीदपुर तहसील से पूर्व दिशा में १५ कि० मी० दूर झारडा ग्राम अपने जैनावशेषो के कारण कला जगत मे अधिक प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है। यहाँ कई स्थलो पर जैन अभिलेख तथा तीर्थंकर प्रतिमायें हैं जिनमें से कुछ को तो डाक्टर वाकणकर ने प्रकाशित किया है। इसके पूर्व उज्जैन जिला जैन पुरावशेष सग्रह समिति के तत्वावधान मे झारडा ग्राम के जैन अवशेषो का सर्वेक्षण पं० सत्यधर कुमार जी सेठी तथा डा० सुरेन्द्र कुमार आर्य ने किया। यहाँ ५-६ प्रतिमायें प्राप्त हुई है जिनकी चर्चा प्रथम बार यहाँ की जा रही है।

वि० सं० १२०८ के अभिलेख वाली रोहिणी की एक कलात्मक प्रतिमा २'५" ऊची और १'.७" चौड़ी है। १६ विद्यादेवियो में रोहिणी प्रसिद्ध है। प्रतिमा का वाहन गाय है। अतः यह श्वेताम्बर परम्परा मे निर्मित है। प्रतिमा के चार हाथ है। ऊपर के प्रथम बाये हाथ मे कलश, दायें हाथ मे शख, नीचे के बाँये हाथ मे कमल व चौथा भग्न है। प्रतिमा एक विशिष्ट मूर्तिकला का उदाहरण यह प्रस्तुत करती है कि इसमें वाहन के आधार पर जैन देवी श्वेताम्बरी है, पर आयुध के आधार पर दिगबर है (जैन लक्षण ग्रंथों के आधार पर)। संभवतः यह परमार नरेश भोज के समय संस्थापित धार्मिक समन्वय के कर्तृत्व द्वारा प्रभावित थी। देवी की शरीर यष्टि विशुद्ध रूप से परमार शिल्प से अनुप्राणित है।

द्वितीय प्रतिमा काले स्लेटी पत्थर पर अच्युता अथवा अच्छुप्ता देवी की है। जैन प्रतिमा शास्त्र के अनुसार यह भी १६ विद्या देवियों में प्रसिद्ध है। देवी अश्व पर आरूढ़ हैं और ५'.४" लम्बे व ३'.७" चौड़े प्रस्तर फलक पर उभारी गई है। दो हाथों से नमस्कार मुद्रा की प्रज्ञप्ति व दायें में खड्ग तथा बायें में वज्र है। नीचे के अभिलेख मे "संवत १२२९ वैशाख वदी ९ शुक्र ··· शांतिनाथ चैत्ये सा श्री गोशल भार्या ब्रह्मदेव देवादि कुटुम्बेन सहितेन निज गोत्र देव्याः श्री अच्छुम्नाथ प्रतिकृति कारिता" अकित है।

तीसरी प्रतिमा चक्रेश्वरी की है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभ नाथ की शासनदेवी चक्रेश्वरी परमार मूर्तिकला मे विशेष रूप से अकित मिलती है। मालवा की ऐसी चक्रेश्वरी प्रतिमाये उज्जैन की जैसिहपुरा जैन संग्राहलय मे सकलित है। झारडा की इस प्रतिमा मे देवी गरुड़-वाहना है और अष्टभुजी है। रूपमंडनकार ने जो आयुध दिये है वही इस प्रतिमा में है। चक्र, पाश, वाण, वरद, अकुश, वज्र आयुध स्पष्ट है व दो हाथो के आयुध भग्न है। अस्पष्ट शिलालेख से प्रतिमा का निर्माण काल १३वी शताब्दी ज्ञात होता है।

झारड़ा की चतुर्थ व पंचम जैन प्रतिमायें क्रमशः पद्मावती व अम्बिका की है। ये क्रमशः पार्श्वनाथ और नेमिनाथ की यक्षिणी देवियाँ है। पद्मावती ललितासना है और अम्बिका की गोद मे बालक है।

इस प्रकार की अन्य खडित देवी अबिका की प्रतिमायें घरों की सीढियों व दीवारों मे चुनी हुई पायी गई है जो अभी तक पूर्णतः अप्रकाशित है। झारड़ा में तीर्थंकर-प्रतिमाये प्रचुर मात्रा में है (डा० वाकणकर ने आदिनाथ, सुपार्श्वनाथ, सुमतिनाथ की ही लगभग ३० प्रतिमायें खोजी है)। सभी प्रायः १० से १३वी शताब्दी में निर्मित है व उन पर मालवा के परमार मूर्ति-शिल्प की स्पष्ट छाप है।

□□□

२२, टी० आई० टी० कालोनी,
दशहरा मैदान, उज्जैन (म० प्र०)

[पृष्ठ ३१ का शेषांश]

नही किया। दिवाकर ने जिसके द्वारा जैनधर्म ग्रहण किया, उसका स्पष्टीकरण अपेक्षित है, जिससे उनकी जांच की जा सके। इस तरह यह कथा अनेक कल्पित आख्यानों, किंवदन्तियों से पूर्ण है। उनका अन्यत्र से समर्थन नही होता। अतः वह प्रमाण कैसे मानी जा सकती है।

उरू चरितम्

उरू चरितम् कर्ता के नाम से रहित खण्डित ग्रन्थ है, जिसमें राजा उरू का चरित वर्णित है। उसका अग्रवालों के साथ कोई सम्बन्ध प्रतीत नही होता। ग्रन्थ में अग्रसेन के भाई शूरसेन का उल्लेख किया गया है और उसे शूरसेन देश बसाने वाला लिखा गया है। शूरसेन प्रदेश मथुरा के आसपास का क्षेत्र है। यह कथन ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक नहीं है। शूरसेन प्रदेश प्राचीन है और उसका सम्बन्ध यदुवंशियो के साथ है। वे उसके शासक रहे है। कंस के मरने के बाद जरासंघ के भय से यादव लोग शूरसेन प्रदेश को छोड़कर द्वारिका चले गये थे। शूरसेन प्रदेश के कारण वहाँ की भाषा शौरसेनी कही जाती है। जैनियों के कितने ही ग्रन्थ शौरसेनी प्राकृत मे लिखे गये है।

ग्रन्थ में लिखा है, कि जब अठारहवाँ यज्ञ महर्षि ने शुरू किया तब अग्रसेन के हृदय में हिंसा से अकस्मात् घृणा उत्पन्न हो गई और यज्ञ का कार्य बन्द हो गया। अग्रोहा से उरू का सम्बन्ध प्रतीत नही होता। उरू के चरित से अग्रसेन के साथ उसका सम्बन्ध जोडना समुचित नही है।

अग्रसेन के भाई शूरसेन के नाम से मथुरा का नाम शूरसेन पड़ा, यह कल्पना निराधार और अनैतिहासिक है। अग्रसेन और शूरसेन की एकता का क्या प्रमाण है ?

उरू को चन्द्रवंशी राजा लिखा गया है। उसका कोई पौराणिक उल्लेख उपलब्ध नही होता। उसका मथुरा के साथ क्या सम्बन्ध था यह भी कुछ ज्ञात नही होता। जान पड़ता है कि लेखक ने इधर-उधर से सुनी-सुनाई बातों को कल्पना के आधार पर सगठित करने का प्रयत्न किया है। अतः इससे इतिहास की शृंखला का सम्बन्ध निश्चय करना दुष्कर है।

एफ ६५, जवाहर पार्क (वेस्ट),
लक्ष्मीनगर, दिल्ली-५१

□□□

R. N. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक : मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७ पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट्. के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है। शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। १५-००

आप्तपरीक्षा : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००

स्वयम्भू स्तोत्र : समन्तभद्र भारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। २-००

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत, सुन्दर, जिल्द-सहित। १-५०

अध्यात्मकमलमार्तण्ड : पंचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित। १-५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १-२५

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ४-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन १-२५

अध्यात्म रहस्य : पं० आशाधर की सुन्दर कृति, मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद सहित। ... १-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। ५५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। स. प. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १२-००

न्याय-दीपिका : आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०। ७-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ५-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २०-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद। बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द ६-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ५-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : (तृतीय भाग मुद्रणाधीन) प्रथम भाग २५-००; द्वितीय भाग २५-००

Jain Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Pages 2500) (Under print)

प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के लिए रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली-२ से मुद्रित।

त्रैमासिक शोध-पत्रिका

अनेकान्त

वर्ष ३१ : किरण २ अप्रेल-जून १९७८

वार्षिक मूल्य ६) रुपए
इस किरण का मूल्य :
१ रुपया ५० पैसे

विषयानुक्रमणिका

क्र०	विषय	पृ०
१.	श्री महावीर-स्तवन—श्री आशाधर	३३
२.	नारी और जीवन-मूल्य : अपभ्रंश साहित्य के संदर्भ मे—साध्वी साधना जैन, दिल्ली	३४
३.	देवपूजा और उसका माहात्म्य —प्रो० उदयचन्द्र जैन, एम. ए.	४१
४.	नियतिवाद नामा नियमवाद —श्री महेन्द्रसेन जैनी, नई दिल्ली	४८
५.	कबीर की वाणी में वीर-वाणी की गूंज —श्रीमती कुसुम जैन सोरया, एम.ए., बी.एड.	४९
६.	देश के बौद्धिक जीवन में जैनों का योगदान —डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, जयपुर	५२
७.	स्याद्वाद या अनेकान्त : एक चिन्तन —पंडित वर्धमान पा० शास्त्री, सिद्धान्ताचार्य	५५
८.	सन्तकवि रइधू और उनका साहित्य —डा० राजाराम जैन, एम. ए., पी-एच. डी.	५९
९.	'जैन' हरिवंश पुराणकालीन भारत की सांस्कृतिक झलक—डा० प्रेमचन्द जैन, एम.ए., पी-एच. डी.	७३

प्रकाशक
वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

वीर सेवा मन्दिर के नए अध्यक्ष



साहू श्री अशोककुमार जैन

जैन समाज के अग्रणी स्व० साहू शान्तिप्रसाद जैन के ज्येष्ठ सुपुत्र श्री अशोक कुमार जैन का जन्म सन् १९३४ मे डालमिया-नगर (बिहार) मे हुआ। उन्होने कलकत्ता विश्वविद्यालय से उच्च शिक्षा प्राप्त की। मातृभाषा हिन्दी के अतिरिक्त अग्रेजी तथा बगला भाषा का उन्हे ज्ञान है।

देश के समकालीन साहित्य-सृजन के विकासोन्नयन एवं अर्थशास्त्र मे उनकी सदा से गहरी रुचि रही है।

श्री अशोक कुमार जैन मे अपनी विशेष बौद्धिक प्रतिभा है जिसके कारण उन्होने भारतीय उद्योग जगत मे अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है। उद्योगपतियो की प्रधान सस्था फेडरेशन आफ इण्डियन चेम्बर्स आफ कामर्स की सचालक-समिति के सदस्य वह वर्षो से है। उन अनेक समितियो के अध्यक्ष या सदस्य है जो अर्थ व्यवस्था सम्बन्धी विशेष विशेष राष्ट्रीय नीतियो की समीक्षा करती है, सरकार को सुझाव देती है और विभिन्न प्रकार के उद्योगों की समस्याओं को एक सकेन्द्रित रूप से देखती है।

अशोक जी को अपने स्वर्गीय पिता श्री साहू शान्ति प्रसाद जी और माता जी श्रीमती रमा जैन के गुण विरासत मे मिले हैं। जैन धर्म और संस्कृति की सर्वतोमुखी उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहना वह अपना कर्तव्य मानते हैं।

भारतीय ज्ञानपीठ की साहित्यिक और सास्कृतिक प्रवृत्तियो के संवर्धन का दायित्व उन्होंने सामर्थ्य के साथ सभाला है। उनसे जैन समाज को ही नही अपितु सारे देश के सास्कृतिक जीवन को अनेक-अनेक आशाएँ है।

बैनेट कोलमैन एण्ड कम्पनी के अध्यक्ष के नाते वह टाइम्स आफ इण्डिया, धर्मयुग, नवभारत टाइम्स, इलस्ट्रेटेड वीकली तथा अन्य बीसियो पत्र-पत्रिकाओ का संचालन करके देश की बौद्धिक अभिवृद्धि के लिए नये मानदंड स्थापित कर रहे है।

श्री अशोक जी के कुछ प्रमुख पद

चेयरमैन : बेनेट कोलमैन एण्ड कम्पनी लि० अग्रेजी और भारतीय भाषाओ में दैनिक एव सावधिक पत्रिकाओं की देश की सबसे बडी पत्रशृंखला के प्रकाशक।

चेयरमैन : न्यू सेन्ट्रल जूट मिल्स कम्पनी लि०; पी एन.बी. फाइनेन्स लि ; साहू जैन सर्विसेज लि.; भारत निधि लि.।

प्रेसिडेन्ट : रोहतास इण्डस्ट्रीज लि०।

डायरेक्टर : साहू जैन लि०, ओरियेन्टल गैस क० लि०।

प्रेसिडेन्ट : सीमेन्ट मैन्यूफैक्चरर्स एसोसियेशन, आ० इ० आर्गेननिजेशन आफ एम्पलाएर्स।

कमेटी मेम्बर : फेडरेशन आफ इण्डियन चेम्बर्स आफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्रीज, इण्डियन चेम्बर आफ कामर्स।

भू० पू० प्रेसिडेन्ट : इडियन नेशनल कमेटी आफ द इंटर-नेशनल चेम्बर आफ कामर्स, इडियन चेम्बर आफ कामर्स; इडियन पेपर मिल्स एसोसियेशन; बिहार चेम्बर आफ कामर्स; बिहार इडस्ट्रीज एसोसियेशन।

अध्यक्ष एवं मैनेजिंग ट्रस्टी : साहू जैन ट्रस्ट, नई दिल्ली।

मैनेजिंग ट्रस्टी : भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली।

अध्यक्ष : साहू जैन चैरिटेबुल सोसाइटी।

अध्यक्ष : साहू जैन कालेज, नजीबाबाद।

अध्यक्ष : वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली। श्री १००८ दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र एव विद्यालय, पपौरा, (टीकमगढ)

वाइस-प्रेसिडेन्ट : श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र कोनीजी जीर्णोद्धार समिति पाटन, जबलपुर।

चेयरमैन : गोविन्दबल्लभ पन्त भवन ट्रस्ट, कलकत्ता।

ट्रस्टी : अखिल भारतीय अणुव्रत न्यास, नई दिल्ली। गोविन्दबल्लभ पन्त भवन ट्रस्ट, कलकत्ता।

श्रीगणेश दिगम्बर जैन सस्कृत महाविद्यालम, सागर।

सरक्षक : श्री शौरीपुर बटेश्वर दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र कमेटी, बटेश्वर, आगरा; अखिल भ रतवर्षीय श्री दि० जैन युवा महासमिति, मुजफ्फरनगर (उ०प्र०); श्री महावीर ग्रन्थ एकाडमी, जयपुर; श्री दि० जैन अयोध्या तीर्थक्षेत्र कमेटी, अयोध्या; श्री कुन्दकुन्द कहान दि० जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट बम्बई; श्री गणेश दि० जैन सस्कृत महाविद्यालय, सागर।

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३१ किरण २ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर-निर्वाण संवत् २५०४ वि० सं० २०३४ | अप्रैल-जून १९७८

श्री महावीर-स्तवन

सम्मतिजिनपं सरसिजवदनं, संजनिताखिल-कर्मकमथनं ।
पद्मसरोवरमध्यगतेन्द्रं, पावापुरि-महावीर-जिनेन्द्रं ।
वीर-भवोदधिपारोत्तारं, मुक्ति-श्री-वधु-नगर-विहारं ।
द्विर्द्वादशकं तीर्थ-पवित्रं, जन्माभिषकृत-निर्मलगात्रं ।
वर्धमान-नामाख्य-विशालं, मानप्रमाण-लक्षण-दशतालं ।
शत्रुविमन्थन-विकटभटवीरं, इष्टैश्वर्यधुरीकृतदूरं ।
कुंडलपुरि-सिद्धार्थ-भूपालं, तत्पत्नी-प्रियकारिणी-बालं ।
तत्कुलनलिन-विकासितहंसं, घातपुरोघातिक-विध्वंसं ।
ज्ञानदिवाकर-लोकालोकं, निर्जित-कर्माराति-विशोकं ।
बालवयस्संयम-सुपालितं, मोहमहानल-मथन-विनीतं ॥

— आशाधर:

अर्थ— कमल जैसी मुख श्री वाले जिननाथ सन्मति ने समस्त कर्मों को पूर्णतया मथ डाला। पावापुरी में पद्म सरोवर के मध्य उन महावीर जिनेन्द्र ने निर्वाण लाभ किया। वह वीर प्रभु संसाररूपी सागर से पार उतारने वाले और मुक्ति रूपी लक्ष्मीवधू में सदा विलास करने वाले हैं। जन्माभिषेक से हुए निर्मल देह वाले वह भगवान चौबीसवें पवित्र तीर्थ के कर्त्ता हैं। उनका विशाल आशय वाला वर्धमान नाम है और उनके शरीर का मान दश ताल है। कर्म शत्रुओं के उन्मूलन में वह अद्भुत सुभट वीर है, और सांसारिक वैभव की धुरी को ही उन्होंने अपने से दूर कर दिया है। कुण्डलपुर के महाराज सिद्धार्थ की धर्मपत्नी प्रियकारिणी के वह लाडले पुत्र हैं। उनके कुलरूपी कमल का विकसित करने के लिए सूर्य के समान है तथा समस्त घात प्रतिघात के विध्वंसक हैं। अपने ज्ञान सूर्य से लोकालोक को प्रकाशित करके तथा कर्म शत्रुओं को पराजित करके वह विशोक हुए हैं। बालवय से ही संयम का सम्यक् पालन करके तथा मोहरूपी महाअग्नि का शमन करके उन्न मोह को उन्होंने विनीत बना दिया है।

□□□

नारी और जीवन-मूल्य : अपभ्रंश जैन साहित्य के संदर्भ में

□ साध्वी साधना जैन, दिल्ली

समाज में नारी का स्थान

नारी की संज्ञा अर्धांगिनी जैन संस्कृति में भी प्रचलित है। चतुर्विध संघ में श्राविकाओं को श्रावकों के ही समान अधिकार प्राप्त है। दैनन्दिन जीवन में भी नारी का कृत्य पुरुष के कृत्य के समकक्ष ही होता है।

आत्मिक उत्थान में नारी की सीमा

आत्मिक उत्थान में नारी किन्हीं अर्थों में पुरुष से आगे रहती है। इसका एक मुख्य कारण समाज की व्यवस्था और प्रकृति की देन है। जीवन के कुछ अनिवार्य काम केवल पुरुष ही कर सकता है या उसके द्वारा किये जाने पर ही वे सफल होते है। इसमे नारी को जो समय बच रहता है उसमें वह आत्मा की ओर उन्मुख हो लेती है। यही कारण है कि धर्माचरण और धार्मिक उत्सवों मे नारियों की सख्या पुरुषों मे कही अधिक होती है। नारियाँ आत्मिक उत्थान मे स्वय तो प्रवृत्त होती ही है, पति और बन्धुओं को भी उसकी प्रेरणा देती है। तथापि उनकी कुछ सीमाएं है, इसीलिए अन्ततोगत्वा पुरुष ही इस क्षेत्र मे आगे निकल जाता है। समाज और सस्कृति के विषय में जो जैन सहिताएं है, उनमे नारी को पुरुष के समकक्ष ही रखा गया है। वैदिक सहिताओं की भांति जैन सहिताओं में नारी की पूजा का प्रतिफल देवताओं का निवास घोषित नही किया गया, किन्तु नारी को किसी भी दृष्टि से हीन या अनधिकृत भी नही कहा गया। इतना अवश्य है कि वैराग्य, ब्रह्मचर्य आदि के संदर्भ मे अन्य सासारिक वस्तुओं की भाति नारी को भी एक बाधा के रूप मे लिया गया, पर यह बात वैदिक और बौद्ध सहिताओं मे भी ऐसी ही है। जो भी हो, यह विचित्र बात है कि वैराग्य ब्रह्मचर्य आदि के प्रसग मे पुरुष के लिए नारी तो बाधा बतायी गयी पर नारी के लिए पुरुष को बाधा के रूप मे नही दिखाया गया।

नारी अवस्था में मोक्ष का प्रश्न

नारी को ये सीमाएँ क्या हैं, यह एक विवादग्रस्त विषय है। यही नहीं कि नारी मोक्ष प्राप्त कर सकती है या नहीं, बल्कि यह भी कि मोक्षमार्ग मे नारी कितनी आगे बढ़ सकती है और किस प्रकार बढ़ सकती है, यह विषय भी विवादग्रस्त है। एक विधान तो यह है कि नारी दो तीन जन्मों के पश्चात् पुरुष के रूप मे जन्म लेकर ही मोक्षमार्ग पर चलती हुई मुक्त हो सकती है और नारी के रूप में वह पचम गुणस्थान तक ही बढ़ सकती है। इसके विपरीत जो विधान है उसके अनुसार नारी तद्भव-मोक्षगामी हो सकती है, उसे जन्मान्तर की प्रतीक्षा नही करनी होगी और गुणस्थानों के आरोहण मे भी वह स्वतन्त्र है।

नारी अवस्था मे मोक्ष के पक्ष मे तर्क है कि जन्मातर की प्रतीक्षा किये बिना ही नारी मोक्ष प्राप्त कर सकती है क्योंकि नर और नारी में शक्ति, बुद्धि, चातुर्य, साधना आदि की दृष्टि से ऐसा कोई भी अन्तर न तो प्रकृति-दत्त है और न समाज-विहित या शास्त्र-विहित ही, जो मोक्ष-मार्ग में उन दोनो मे कोई अन्तर डालता हो; जो अन्तर अन्यत्र प्रदर्शित किये गये है वे निर्विकार और सहृदय भाव से शून्य प्रतीत होते है क्योंकि पुरुष शास्त्रकारो द्वारा जब-तब ऐसे विधान प्रस्तुत किये जाते रहे हैं जिनमे नारी को सीमाबद्ध, हीनतर, अक्षम आदि सिद्ध किया गया है; और शास्त्रो मे यदि नारी को मोक्ष न हो पाने के उदाहरण मिलते है तो मोक्ष होने के उदाहरण उनसे कही अधिक मिलते है। नारी अवस्था में मोक्ष के विपक्ष मे तर्क है कि नारी तद्भव मोक्षगामी नही है: क्योंकि शारीरिक संरचना और सामर्थ्य तथा मनोभूमि की सीमाएँ नारी के साधना के उस केन्द्र तक पहुंचने मे बाधक है, जिस तक पुरुष अपेक्षाकृत सरलता से पहुंच सकता है, नारी की मोक्ष प्राप्ति का निषेध उसके तद्भव में ही तो है, भवान्तर मे तो नही, और वह निषेध भी जिन्होंने किया, वे शास्त्रकार स्वयं नर थे या नारी यह तो ज्ञात नही पर यह अवश्य ज्ञात है कि वे राग-द्वेष से परे थे, यदि वे राग-द्वेष से परे न रहे होते तो उनके इसी एक विधान पर ही नहीं अन्य अनेक विधानों पर भी आपत्ति उठायी जानी चाहिए थी; प्रकृति या स्वभाव से ही नारी

अवस्था ऐसी है जिसमें परम प्रकर्ष सम्भव नहीं, चाहे वह पुण्यात्मक हो, चाहे पापात्मक, इसीलिए तो नारी एक ओर तो इतना घोर पाप नहीं कर सकती कि वह सप्तम नरक का बंध करे, दूसरी ओर वह भावों की शुद्धता के उस केन्द्र पर भी नहीं पहुच सकती जहाँ मोक्ष का द्वार उन्मुक्त होता है; जहाँ तक आगम ग्रन्थों मे नारी-मोक्ष के उदाहरणों का प्रश्न है वे तथा कुछ अन्य सैद्धान्तिक मान्यताएँ ही तो वह कारण है जिससे उन आगम-ग्रन्थो को एक समूचा वर्ग अमान्य करता है।

नारी की मोक्ष-प्राप्ति के विषय मे उपर्युक्त तर्क-वितर्क का विश्लेषण अत्यन्त सहज और तटस्थ भाव की अपेक्षा रखता है। इसमें सन्देह नहीं कि नारी-शरीर की संरचना पुरुष शरीर से कुछ ऐसी भिन्न है कि वह दुस्साध्य साधना आदि के लिए अनुकूल नहीं दिखती, तथापि जीवमात्र में समानता के हामी सिद्धान्त मे मानवमात्र की समानता का थोड़ा भी अभाव तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। नारी और पुरुष की इस असमानता के मूल मे जो तर्क छिपा है वह वस्तुत: किसी और ही मान्यता से सम्बन्ध रखता है, यह मान्यता तो उस मान्यता के फल-स्वरूप ही अस्तित्व मे आयी दिखती है। वह मान्यता है सवस्त्र मोक्ष के अभाव की। परिग्रहके अभाव की पराकाष्ठा के रूप मे जो नग्नता आती है वह मोक्ष का एक अनिवार्य कारण है, ऐसी दिगम्बर जैन मान्यता है श्वेताम्बर जैन मान्यता मे नग्नता शब्द के बदले अचेलत्व शब्द का प्रयोग हुआ है। अचेल शब्द के दो अर्थ सम्भव हैं, वस्त्र का अभाव और वस्त्र की यथासाध्य अल्पता। इनमें से दूसरे अर्थ के आधार से श्वेताम्बर जैन मान्यता नारी की मोक्ष-प्राप्ति का आधार लेती है। तात्पर्य यह कि नारी की मोक्ष-प्राप्ति के पक्ष या विपक्ष में और जितने भी तर्क दिये जाते है वे या तो आनुषंगिक होते हैं या सामयिक या सापेक्ष; वस्तुत: एक ही तर्क ऐसा है जो विचारणीय है। वह तर्क है नग्नता का और वह तर्क चूंकि एक अलग ही मान्यता से जुड़ा है, इसलिए नारी की मोक्ष प्राप्ति का प्रश्न एक मौलिक प्रश्न नहीं बल्कि एक आनुषंगिक प्रश्न ही कहा जाना चाहिए और फिर इस प्रश्न तक पहुंचते-पहुचते जो अन्य प्रश्न उभरते है वे यद्यपि विवादग्रस्त नहीं तथापि है अत्यधिक विचारणीय।

अपभ्रंश के जैन साहित्य मे नारी अवस्था में मोक्ष के उदाहरण अदृश्य हैं क्योंकि वह अधिकतर दिगम्बर साहित्यकारों की देन है।

नारी शिक्षा

शिक्षा का प्रचार जैन समाज मे प्राचीन काल से रहा है। कन्याओं के लिए ललित कलाओं की शिक्षा का विशेष प्रावधान था। वे नृत्य संगीत, वाद्य आदि मे न केवल पारंगत होती थीं प्रत्युत उनकी प्रतियोगिताएँ भी आयोजित करती थी। ये प्रतियोगिताएं सोद्देश्य भी होती थी। काश्मीर की राजकुमारी त्रिभुवनरति ने नागकुमार का वरण इसलिए किया कि वह उससे वीणा-वादन मे पराजित हो गयी[1]। नागकुमार का एक अन्य विवाह मेघपुर की राजकुमारी तिलकासुन्दरी से इसलिए हुआ कि उसने नृत्य मे उसके पदचाप से मिला कर अपना मृदंग बजाकर उसे निरुत्तर कर दिया[2]। उज्जयिनी के राजा प्रजापाल ने अपनी गुणवती कन्या सुरसुन्दरी को पढ़ाने के लिए एक द्विजवर के पास भेजा और इन्द्राणी को जीतने वाली दूसरी कन्या मदनसुन्दरी को भी इसी उद्देश्य से एक मुनिवर के पास ले जाने का आदेश दिया[3]। सुरसुन्दरी इस प्रकार पढती कि उसके सामने कोई भी विद्वान् उत्तर नहीं दे पाता। वह इतनी निष्णात हो गयी जितना दृढ़-प्रतिज्ञ और अत्यन्त बुद्धिमान् व्यक्ति निष्णात हो जाता है। उसने व्याकरण, छन्द और नाटक समझ लिये। निघण्टु तर्कशास्त्र और लक्षणशास्त्र समझ लिया और अमरकोष तथा अलंकार-शोभा भी। उसने निस्सीम आगम और ज्योतिष ग्रन्थ भी समझ लिये। मुख्य बहत्तर कलायें भी उसने जान लीं। उसी प्रकार चौरासी खण्ड-विज्ञान भी। फिर उसने गाथा, दोहा और छप्पय का स्वरूप जान लिया। उसने चौरासी बन्धों का

---

१ पुष्पदन्त : णायकुमारचरिउ, नई दिल्ली, १९७२, पृ० ८३, स० ५, क० ६।

२ पुष्पदन्त : पूर्वोक्त, पृ० १३५, स० ८, क० ८।

३. नरसेन : सिरिवालचरिउ, नई दिल्ली, १९७४, पृ० ७, स० १, क० ५।

स्वरूप जान लिया तथा छत्तीस राग और सत्तर स्वरों को भी। पांच शब्दों और चौंसठ कलाओं को भी जान लिया। फिर गीत नृत्य और प्राकृत काव्य को भी जान लिया। उसने सब शास्त्र और पुराण जान लिये। अन्त मे छह भाषाए और षड्दर्शन भी जान लिये। छियानवे सम्प्रदायों को भी उसने जान लिया। उसने सामूहिक शास्त्र के लक्षणों को भी शीघ्र समझ लिया। उसने चौदह विद्याओ को पढ़-गुन लिया। औषधियो और भावी घटनाओ के समूह का भी ज्ञान उसे हो गया। छियानवे व्याधियां वह उगलियों पर गिना सकती थी। बहुत से देशों की मुख्य भाषाएं उसने सीख लीं। उसने अठारह लिपियां भी जान ली। नौ रसों और चार वर्गों को उसने जान लिया। जिन शासन के अनुसार उसने चरित्र और निर्वेद लिया। दुस्सह रति और कामार्थ मे उसे कौन जीत सकता है? उसने क्ष णक मुनि के पास जीवों के अट्ठानवे समासो का अध्ययन किया। समाधिगुप्त मुनि के पास उसने इन समस्त शास्त्रो को अच्छी तरह जान लिया[१]।

विवाहित जीवन का मूल्यांकन

ब्रह्मचर्य की महिमा जैन आचार संहिताओं में आमूल-चूल विद्यमान है। विशेष रूप से नारियों को इसके उपदेश का पात्र बनाया गया। पुरुषों को ब्रह्मचर्य के जो उपदेश दिये गये उनमें भी नारी को इस व्रत के पालन मे सबसे बड़ी बाधा के रूप मे चित्रित किया गया। इस प्रसग मे नारी के प्रति जिन आक्रोशात्मक शब्दों का प्रयोग किया गया है उनकी पात्र वह उस सीमा तक निश्चित ही नहीं रही; इतना अवश्य है कि पुरुष की भाति नारी ने भी जब तब अपनी विहित सीमाओ का उल्लंघन किया। विवाह सस्कार के अनुपालन के उदाहरण तो अधिकाश है किन्तु बहुत से उदाहरण ऐसे भी है जिनमे या तो विवाह सस्कार का उपहास किया गया या उसे एक खिलवाड़ बना लिया गया। आश्चर्य तब होता है जब नागकुमार, श्रीपाल, करकड आदि जैसे असाधारण पुण्य पुरुषों ने जब, जहाँ और जैसे मन आया तब वहा, वैसे ही कई-कई कन्याओ से विवाह रच डाले, और विडम्बना यह कि जब-जैसे मन आया तब-वैसे उन्हे उन्ही के हाल पर छोड़कर चल पड़े। जिस पर आसक्ति हुई वह चाहे विवाहिता रही हो चाहे अविवाहिता उसे प्राप्त करने के लिए युद्ध किये, अपहरण किये, बलात्कार किये, यहाँ तक कि हत्याये भी की। इससे भी अधिक विचारणीय स्थिति तब बन पड़ती है जब अपनी नवोढाओ तक को, कभी कभी तो हजारों पत्नियो को यों ही छोड़ कर वे दीक्षा ले लेते। उदाहरणके रूप मे सहस्रगति[२], नागकुमार[३], श्रीपाल[४], करकंड[५] आदि उल्लेखनीय है।

ऐसे कार्य सम्राट् से लेकर जनसाधारण तक में होते थे। इनमे श्रेणिक[६], चिलातपुत्र[७], हयग्रीव[८], सिंह नामक भिल्ल राजा[९], मथुरापुरी के एक राजा[१०], रत्नशेखर[११] नामक तथा मनोवेग[१२] नामक विद्याधर, धवल सेठ[१३]

---

१. नरसेन : पूर्वोक्त, पृ० ७–८, स० १, क० ७।

२. स्वयभू : पउमचरिउ, नई दिल्ली, १९७१, पृ० २४१, स० १५, घ० ९।

३. पुष्पदन्त : पूर्वोक्त, पृ० २४१, स० ९, क० २४।

४. नरसेन : पूर्वोक्त, पृ० १८५, स० २, क० ३६।

५. कनकामर : करकण्डचरिउ, नई दिल्ली, १९६४, पृ० १५७, स० १०, क० २३।

६. पुष्पदन्त : वीरजिणिदचरिउ, नई दिल्ली १९७४, पृ० ६५, स० ५, क० २।

७. उपर्युक्त, पृ० ७९, स० ६, क० ४।

८. विबुह सिरिहर : वड्ढमाणचरिउ, नई दिल्ली १९७५, पृ० ८५-९१, स० ४, क० ५।

९. पुष्पदन्त : पूर्वोक्त, पृ० ६६, स० ५, क० ४।

१०. पुष्पदन्त : णायकुमार चरिउ, नई दिल्ली, १९९२, पृ० ७३-७७, स० ५, क० २।

११. वीर कवि : जम्बूसामि चरिउ, नई दिल्ली, १९६८, पृ० ९३-९४, स० ५, क० ३।

१२. पुष्पदन्त : वीरजिणिदचरिउ, नई दिल्ली, १९७४, पृ० ६७, स० ५, क० ३।

१३. नरसेन : पूर्वोक्त, पृ० ३९-४५, स० १, क० ३८-४४।

आदि के नाम उल्लेखनीय है। दूसरी ओर जिस पर आसक्ति हुई उसे प्राप्त करने के लिए नारियों ने भी युद्ध करवाये, अपहरण कराये, पति के शत्रु तक का वरण करना चाहा और पति तक की हत्या की। ऐसे उदाहरण है सुरसुन्दर नामक गन्धर्व की छह हजार कन्याए[१४], वाराणसी के राजा लोकपाल की रानी विभ्रमा[१५], नल-कुबेर की रानी उपरम्भा[१६], यशोधर की रानी अमृतमती आदि[१७]।

नारी पुरुष के सम्बन्धो या यौन जीवन मे उपर्युक्त विषमताओ के अतिरिक्त कुछ और विकृतियाँ भी आयी; किन्तु उन सब से अधिक, ऐसे उदाहरण मिलते है जिनमे यौन जीवन के स्वस्थ और शास्त्र-विहित पक्ष का बोध होता है। मानव जीवन का यह पक्ष विवाह-सस्कार से मुख्यतया जुड़ा है। विवाहो के जो उदाहरण अपभ्रंश के जैन साहित्य म मिलते है उनमे और विवाहो के शास्त्रीय भेद-प्रभेदों से चाहे अन्तर दिखायी पड़े पर वे अधिकाश युगानुकूल थे और आज भी अनुकरणीय है। पुष्पोत्तर विद्याधर की पुत्री कमलावती और लका के राजा श्रीकण्ठ का[१८], मथुरा के राजा पाण्ड्यराज की पुत्री कामरति और उत्तर मथुरा के राजा जयवर्म के पुत्र व्याघ्रभट का[१९], अपने मामा की पुत्री गुणवती[२०] से नाग कुमार का तथा नारायण त्रिपृष्ठ के पुत्र श्रीविजय का अपने बहनोई और अर्ककीर्ति के पुत्र अमित तेज की बहिन सुतारा[२१] से जो विवाह हुए वे ऐसे ही विवाह थे।

अधिकांश विवाहों का निर्वाह आजीवन हुआ, यह तब विशेष रूप से उल्लेखनीय हो जाता है जब एक ही व्यक्ति ने एक साथ सैकड़ों या हजारों कन्याओं से विवाह किया हो। भूमितिलक नामक नगर के राजा रक्षराज की ५०० कन्याओ को बन्दीगृह से मुक्त कराकर नाग कुमार ने उनसे विवाह किया[२२]। मेघरव पर्वत पर पहुँचने पर रावण ने एक बावड़ी मे स्नान करती गन्धर्वराज सुरसुन्दर की छह हजार कन्याओं का तत्काल वरण किया[२३] क्योंकि वे उसके रूप-यौवन पर मोहित हो गयी थी। कुण्डलपुर के राजा मकरकेतु की एक सौ पुत्रियो की प्रतिज्ञा थी कि नगाड़ा बजाकर तथा दूसरे प्रकार के हाव विभाव से उन पर विजय पाने वाला ही उनका वरण करेगा[२४], श्रीपाल इसमे सफल हुआ। यही श्रीपाल कोकपद्वीप नगर के राजा यशोराशिविजय की सोलह सौ कन्याओं के समस्यामूलक प्रश्नो के उत्तर देकर भी उस सभी के द्वारा वरण किया जाता है[२५]। इस सब के अतिरिक्त भी उसने कचनपुर के राजा वज्रसेन की एक सौ राजकुमारियो से भी विवाह किया[२६]। पच पाण्डवो के सुप्रदेश मे दो हजार, मल्लिवाड मे सात सौ, तेलग देश मे एक हजार, सोराष्ट्र की पाच सौ, महाराष्ट्र की पांच सौ, गुजरात की चार सौ और मेवाड़ की नौ सौ कन्याओ का भी वरण किया[२७]। अपभ्रंश साहित्य मे बहु-विवाह के इन उदाहरणो के अतिरिक्त भी अनेक विचारोत्तेजक उदाहरण मिलते है। रानियों की ये सख्याए द्रष्टव्य है। चक्रवर्ती भरत की छियानवे हजार[२८], चक्रवर्ती

१४. स्वयंभू : पृ० १६३-६५, स० १०, क० ५-६।
१५. वीर : पूर्वोक्त, पृ० २०६-२०७, स० १०, क० १५-१७।
१६. स्वयंभू : पूर्वोक्त, पृ० २४५, स० १५, क० ११।
१७. पुष्पदन्त : जसहरचरिउ, नई दिल्ली १९७२, पृ० ५९-६१, स० २, क० २४।
१८. स्वयभू : पूर्वोक्त, पृ० ९९-१०१, स० ६, क० २-४।
१९. पुष्पदन्त : णायकुमारचरिउ, नई दिल्ली, १९७२, पृ० १२९, स० ८, क० २-४।
२०. उपर्युक्त पृ० ११९, स० ७, क० ९।
२१ विबुह सिहिर : पूर्वोक्त, पृ० १४७-१४९, स० ६, क० ९।
२२. पुष्पदन्त : पूर्वोक्त, पृ० १३९, स० ८, क० १३-१६।
२३. स्वयभू : पूर्वोक्त, पृ० १६३, स० १० क० ५।
२४. नरसेन : पूर्वोक्त, पृ० ५९, स० २, क ८ ९।
२५. नरसेन : पूर्वोक्त, पृ० ५९, स० २, क० ८-९।
२६. नरसेन : पूर्वोक्त, पृ० ६१-६३, स० २, ११-१२।
२७. नरसेन : पूर्वोक्त, पृ० ६५, स० २, क० १२ १३।
२८. स्वयभू : पूर्वोक्त, पृ० ६१, स० ४, क० १३।

प्रियदत्त की छियानवे हजार[२९], श्रीपाल की अठारह हजार[३०], वासुदेव त्रिपृष्ठ की सोलह हजार[३१], रावण की अठारह हजार[३२], सहस्रगति की सहस्राधिक[३३], नागकुमार की सहस्राधिक[३४], करकण्ड की सहस्राधिक रानियां[३५] थी।

पति-पत्नी सम्बन्ध

पति-पत्नी सम्बन्धो का चित्रण अपभ्रंश साहित्य मे उस सहज और व्यापक रूप में नही हुआ, जिस रूप मे आज के साहित्य मे हो रहा है। मनोविश्लेषण और चरित्र-चित्रण का प्रायः अभाव केवल अपभ्रंश ही नही, प्राकृत, संस्कृत, पुरानी हिन्दी और अन्य पुरानी भाषाओं मे भी रहा है। फिर भी पति-पत्नी सम्बन्ध की कुछ झाकियाँ शोचनीय मिलती है तो अधिकांश अनुकरणीय और विचारणीय भी। राजा यशोधर की रानी अमृतमती का एक कुबड़े पर[३६], राजा नलकूबर की रानी उपरम्भा का रावण पर[३७], वाराणसी के राजा लोकपाल की रानी विभ्रमा[३८] का एक सुनार पर आसक्त होना अवाछनीय है तो पतिव्रत या पति सेवा के हेतु सीता का राम के साथ १४ वर्ष का वनवास[३९], अंजना का विवाह के तुरन्त पश्चात् अपने पति पवनजय से बारह वर्ष का वियोग[४०], और सुर्यसेन की पत्नियो जयभद्रा, सुभद्रा, धारिणी और यशामती द्वारा अपने पति के सैकड़ो व्याधियो से ग्रस्त और अत्याचारी होने पर भी उनकी सविनय सेवा[४१], मैनासुन्दरी द्वारा एक कोढ़ी के साथ विवाहित होकर भी उसे कोढ़ से मुक्त कर लेना[४२] आदि अनुकरणीय उदाहरण है। पति का आदेश न मानने पर पृथ्वी देवी को अपने समस्त धन से हाथ धोना पड़ता है[४३], तो एक शबरी अपने पति को एक मुनि का वध करने से रोक लेती है[४४]। प्रवास पर जाते श्रीपाल का दामन पकड़ कर मैनासुन्दरी कहती है कि पहले किसे छोड़ूँ। अपने प्राण या तुम्हारा दामन[४५], समापन्न पति-विरह से उसकी जो अकुलाहट इस वाक्य द्वारा व्यक्त होती है. वह काव्यमात्र की वस्तु नही मानी जा सकती।

विरह-वर्णन और जीवन-मूल्य

विरह, विशेषत पत्नी या प्रेमिका का काव्य मे एक अत्यन्त व्यापक विषय रहा है किन्तु वह सदा ही जीवन-मूल्यों का सहगामी रहा है। विरह से व्याकुल और क्षीण नारी के मुख से निकली गालियां और कराहें[१] उसके आन्तरिक विचारो और अनुभूति की हीनाधिकता की द्योतक है। यही द्योतन जीवन-मूल्यो के निर्धारण मे सहायक बनता है। दूसरी ओर ध्यान देने की बात यह है कि विरह की व्याकुलता और असह्य वेदना स्त्रियो के मत्थे अधिक मढ़ी गयी है। प्रेम के वेग की मात्रा स्त्रियो मे अधिक दिखायी गयी है। नायक के दिन-दिन क्षीण होने, विरहताप मे भस्म होने, सूखकर ठठरी होने के वर्णन मे कवियों का जी उतना नही लगा है'। 'बात यह है कि स्त्रियों की शृंगार चेष्टा वर्णन करने मे पुरुषो को जो आनंद आता है वह पुरुषो की दशा वर्णन करने मे नही, इसी से स्त्रियो

---

२९. विबुह सिरिहर : पूर्वोक्त, नई दिल्ली, १९७५, पृ० १८३, स० ८, क० ५।

३०. नरसेन : पूर्वोक्त, पृ० ६७, स० २, क० १५।

३१. विबुह सिरिहर : पूर्वोक्त, पृ. १४३, स० ६, क० २।

३२. स्वयभू : पूर्वोक्त, पृ० ३५५, ख० २, स० ४१, क० ११।

३३. स्वयभू : पूर्वोक्त, पृ० २२७, ख० १, स० १८, क० ८

३४. पुष्पदन्त : पूर्वोक्त, पृ० १७१, स० ६, क० २३।

३५. कनकामर : पूर्वोक्त, पृ० १५१, स० १० क० २४।

३६. पुष्पदन्त : जसहरचरिउ, नई दिल्ली, १९७२, पृ० ४३, स० २, क० ७८।

३७. स्वयंभू : पूर्वोक्त, पृ० २४५, स० १५, क० ११।

३८. वीर : पूर्वोक्त, पृ० २०७, स० १०, क० १५।

३९. स्वयभू : पूर्वोक्त, पृ० ३९, ख० २, स० २३, क० ६।

४०. स्वयभू : पूर्वोक्त, पृ० २९९, ख १, स १८, क. ९।

४१. नरसेन : पूर्वोक्त, पृ० १७-२१, स० १ क० १६-१७।

४२. पुष्पदन्त : णायकुमारचरिउ, नई दिल्ली १९७२, पृ० ४९, स० ३, क० ११।

४३. वीर : पूर्वोक्त, पृ० ५४५५, स० ३ क० १०-११।

४४. पुष्पदन्त : वीरजिणिंदचरिउ, नई दिल्ली, १९७४, पृ० ५, स० प्रथम, क० ३।

४५. नरसेन : पूर्वोक्त, पृ० २५, स० प्रथम, क० २३।

के विरह का वर्णन हिन्दी काव्य का एक प्रधान अंग ही बन गया। ऋतु-वर्णन तो केवल इसी की बदौलत रह गया[1]।" अपभ्रंश में विरह के प्रसग उठाये गये है और सन्देशरासक तो एक बार कालिदास के मेघदूत, ऋतुसंहार आदि के समीप ही जा पड़ता है। जहाँ तक नख-शिख[2] के वर्णन का प्रश्न है वह अपभ्रश मे भी पर्याप्त मिलता है और उसमे यदा-कदा मौलिकता भी दीख जाती है, किन्तु जीवन-मूल्यो को वह कम ही प्रभावित करता है।

सास-बहू सम्बन्ध

सास-बहू के सम्बन्ध अनुमानतः आज जैसे ही अप-भ्रंश काल मे भी हो रहे होंगे पर एक स्थान पर सासो की बहुत कटु आलोचना की गयी है : 'बिना परीक्षा किये कोई काम नहीं करना चाहिए, सासें बहुत बुरी होती है, वे महासतियो को भी दोष लगा देती है। जिस प्रकार सुकवि की कथा के लिए दुष्ट की मति और कमलिनी के लिए हिमघन, उसी प्रकार अपनी बहुओं के लिए दुष्ट सासें स्वभाव से शत्रु होती है। लोगो मे यह प्रसिद्ध है कि सासों और बहुओ का एक दूसरे के प्रति वैर अनादि-निबद्ध है[3]।'

परिजनों, सौत आदि के मध्य नारी

नारी अपनी सपत्नी या सपत्नियों के प्रति शंकालु और असहिष्णु कदाचित् आदि-काल से रही होगी। उसकी इस प्रवृत्ति के कई उदाहरण अपभ्रंश साहित्य में मिलते है। राजा जयन्धर की एक रानी पृथ्वीदेवी, दूसरी रानी विशालनेत्रा पर राजा का विशेष प्रेम देखकर जिन-दीक्षा को उद्यत हो जाती है[4]। दूसरी ओर अपने पुत्र के पास जा रही पृथ्वी देवी पर विशालनेत्रा पर-पुरुष गमन का आरोप लगाती है[5]। अपनी पुत्री की भांति चन्दना की रक्षा करते सेठ वृषभदत्त से कुछ न कहकर उसकी सेठानी चन्दना पर घोर अत्याचार करती है[6]। सेठ जिनदत्त की नवोढा अपनी सपत्नी की युवती कन्या तिलकमती से प्रबल ईर्ष्या करती है[7]। परिजनों के प्रति सहज और सौम्य व्यवहार के मध्य नारियों में ईर्ष्या, जल्दबाजी आदि की भी कुछ प्रवृत्तियां दिख जाती हैं। सेठ जिनदत्त की पत्नी सौतेली पुत्री तिलकमती पर इस-लिए भी अत्याचार करती थी कि उसे विवाहेच्छुक वर उसकी अपनी पुत्री तेजमती की अपेक्षा अधिक पसन्द करते थे[8]। ससुराल से निकाल दी गयी पवनंजय की पत्नी अंजना सर्वथा निर्दोष होने पर भी अपने माता-पिता द्वारा भी ठुकरा दी जाती है[9]।

अपभ्रश मे जब भी सामाजिक कार्यों, समारोह, उथल-पुथल आदि के प्रसग आये तभी नारी को समान रूप से भाग लेते दिखाया गया है। परदेश, युद्ध आदि के लिए प्रस्थान करते हुए पति को प्रोत्साहित करना[10] उसकी धार्मिक प्रवृत्तियो मे सहयोग और मार्गदर्शन[11], तीर्थंकर के समवसरण मे पहुचना, तीर्थयात्रा[12], वन-

---

१ शुक्ल : आचार्य रामचन्द्र : जायसी ग्रन्थावली (भूमिका), काशी, पृ० १२५-१२६।

२. अद्दुर रहमाण : सन्देशरासक, पृ० १५०-१५१, द्वि० गाथा ३३-३६।

३. स्वयंभू : पूर्वोक्त, पृ० ३०७, स० १६, क० ४-५।

४ पुष्पदन्त : णायकुमारचरिउ, नई दिल्ली, १६७२, पृ० २१-२३, स० २, क० २ ३।

५. उपर्युक्त, पृ० ४५, स० ३ क० ८।

६. पुष्पदन्त : वीरजिणिंदचरिउ, नई दिल्ली, १६७४, पृ० ७१, स० ५, क० ४-५।

७. उदयचन्द्र : सुगन्धदशमी कथा, नई दिल्ली, १६६६, पृ० १८, स० २, क० २।

८. उदयचन्द्र . पूर्वोक्त, पृ० १६, स० २, क० २।

६ स्वयभू : पूर्वोक्त, पृ० ३०७-३०६, स० १६, क० ४-५।

१०. (क) वीर : उपर्युक्त, पृ० ११७, स. ६, क. ३।

(ख) स्वयभू : पूर्वोक्त, खं. ४, पृ. ३६ ४३, स. ५६, क. ३-५।

११. वीर : उपर्युक्त,पृ. ३६-४०, स. २, क. १७ १६।

१२. (क) वीर : पूर्वोक्त, पृ. ५६-५८, स. ३, क.१२-१३

(ख) विबुह सिरिहर . पूर्वोक्त, पृ. १६५, स. ७, क ५।

(ग) स्वयंभू : पूर्वोक्त, पृ० १५, स० १, क० ८।

(घ) स्वयभू : पूर्वोक्त, ख. ४, पृ. २७६-२८३, स. ७२, क. ५-७।

विहार[1], बसन्तोत्सव[2], जल-क्रीड़ा[3], आदिमे सम्मलित होना नारी के साधारण कार्य थे। इन और ऐसे ही अन्य कार्यों के चित्रण मे अपभ्रंश साहित्यकारो ने भी प्रचलित परम्परा का ही अनुसरण किया है। इस विषय मे उनकी कुछ मौलिकता यदि होगी तो वह काव्यगत ही होगी, जीवन-मूल्यो की दृष्टि से वह उल्लेखनीय नही दिखती।

राजनीति और नारी

अपभ्रंश में नारी के राजनीतिक पक्ष पर अधिक प्रकाश नही पडता। साधारणतः, यहाँ भी नारी के कारण युद्ध होते दिखाये गये है। कैकेयी का राजनीति मे प्रसिद्ध हस्तक्षेप[4] प्रसगवश पउमचरिउ भी मे आ या है। विशाखभूति की पत्नी ने अपने पुत्र के लिए विश्वनन्दी से नन्दन वन छीनने का आग्रह करके एक राजनीतिक सघर्ष को जन्म दिया[5]। राजकुमार नागकुमार पर राजा जयन्धर ने नगर परिभ्रमण पर इसलिए रोक लगा दी क्योंकि नगर की युवतियाँ उस पर मोहित हो जाया करती थी; इस रोक पर आपत्ति करके राजकुमार की माता पृथ्वीदेवी ने एक राजनीतिक-सामाजिक उथल-पुथल पैदा कर दी[6]। वज्रायुध की कन्या लंकासुन्दरी ने हनुमान से भीषण युद्ध करके रण-कुशलता का परिचय दिया[7]।

धर्मपालन और व्रताचरण

नारियों को साधारणतः धर्म-भीरु, व्रत-उपवास मे तत्पर, देव-देवियो और साधु-साध्वियो की आराधना मे अग्रेसर दिखाया गया है। नारियों की यह प्रवृत्ति कुछ प्रकृति और कुछ परिस्थितियो के कारण अपेक्षाकृत अधिक ही रही है और इसका चित्रण भी समस्त भारतीय साहित्य मे समान रूप से हुआ है। अपभ्रश के साहित्यकारों ने भी इसके अनेक उदाहरण सजोये है। नारियों ने एक ओर तो क्रमश. अभ्यास करते हुए यथाविधि जिन-दीक्षा ग्रहण की, दूसरी ओर समय-समय पर पर्वाराधन, तपश्चरण, साधु-भक्ति, देवताराधन आदि मे भी एकाकी या सामूहिक रूप से भाग लिया। इस सबमे जो विचारणीय विषय है वह है इन प्रवृत्तियों के मूल में विद्यमान या अविद्यमान विवेक। वस्तुतः होता यह था कि भावना के एक क्षणिक आवेग मे आकर पुरुषों की ही भांति नारियां भी दीक्षा के लिए चल पड़ती थी। पति के साथ उसकी सहस्राधिक नारियो के दीक्षित होने के पीछे विवेक की सम्भावना नगण्य ही हो सकती है। विपत्तियो मे वैराग्य सहज सम्भव है पर उसकी परिणति दीक्षा मे ही होगी, अनिवार्य नही। दीक्षा की मानसिक तैयारी, पूर्वाभ्यास आदि के स्पष्ट विधान है और वे कठोर तथा अनिवार्य भी है, जिनका अपवाद केवल ऐसे विरल कृती पुरुषो द्वारा ही सम्भव है जिनका जीवन ही प्रकारान्तर से मुनिपद के पूर्वाभ्यास मे व्यतीत हुआ होता है। दूसरी ओर, राजसी राग रग मे आकण्ठ डूबी हुई हजारों रानियां उठकर वन की ओर चल पड़े[8], वह भी अचानक ही विरक्त हो रहे अपने पति के साथ आंखें

(शेष पृष्ठ ४७ पर)

(च) नरसेन . पूर्वोक्त, पृ. ३७, स. १, क. ३६।
(छ) नरसेन वही, पृ. ७७, स. २, क. २६।

१ विबुह सिरिहर : पर्वोक्त, पृ ११, स १, क ८।

२ (क) वीर : पूर्वोक्त, पृ. ५६-५७, स. ३, क १२ १३।
(ख) वीर : पूर्वोक्त, पृ ७८-८४, स ४, क १६-१६।
(ग) उदयचन्द्र : पूर्वोक्त, स. १, क. ३-४।
(घ) स्वयभू : पूर्वोक्त, खं. ४, पृ. २४७-२५३ स. ७१, क. १-४। (ङ) उपर्युक्त, ख . २. पृ ६७ ६६, स. २६, क. ५-७।

३ (क) उपर्युक्त, ख १ पृ. ६३, स १, क. १४।
(ख) उपर्युक्त, ख. १, पृ. २२१-२२७, स. १४, क. ३८। (ग) उपर्युक्त, खं. १, पृ. १०७, स. २६, क. १४ १५। (घ) उपर्युक्त, ख. ५, पृ. ११५, स. ७६, क ११।

४. उपर्युक्त, पृ० २७, ख. २. स. २२, क. ८।

५. विबुह सिरिहर : उपर्युक्त, पृ. ५३, स. ३, क. ६।

६ पुष्पदन्त : णायकुमारचरिउ, नई दिल्ली १६७२, पृ ४७ स. १०, ६।

७ स्वयभू : पूर्वोक्त पृ. १०१-७१०, ख. ३, स. ४८, क.८-१३।

८ उपर्युक्त : पृ० ८७, ख. ५, स. ७८, क. ५।

देवपूजा और उसका माहात्म्य

□ प्रो० उदयचन्द्र जैन, एम. ए.,

जैनधर्म ही नही किन्तु अन्य भारतीय धर्मों में भी प्राचीनकाल से ही पूजा का विशिष्ट स्थान रहा है। साथ ही पूज्य का स्वरूप, पूजा की विधि और उसके उद्देश्य में भिन्नता भी रही है, जो कि अपने-अपने धर्म के अनुसार स्वाभाविक है। जब हम जैनधर्म मे पूजा के विषय मे विचार करते है तो हम देखते है कि इस धर्म के दो मुख्य स्तम्भ है—मुनि और गृहस्थ; और देवपूजा दोनों का ही आवश्यक कर्त्तव्य है। यह अवश्य है कि दोनो की पूजा करने की विधि भिन्न-भिन्न है।

देवपूजा का प्राचीन रूप

कृतिकर्म देवपूजा के अभिप्राय को प्रकट करने वाला एक प्राचीन शब्द है। यह एक व्यापक शब्द है जिसमे देवपूजा के अतिरिक्त कुछ अन्य बातें भी समाविष्ट हैं। कृतिकर्म मुनि और गृहस्थ दोनो का आवश्यक कर्त्तव्य है। भोजनग्रहण, गमनागमन आदि क्रियाओं मे प्रवृत्ति करते समय लगे हुए दोषों का परिमार्जन करने के लिए साधु को कृतिकर्म करना चाहिए। गृहस्थ की प्रवृत्ति तो निरन्तर सदोष रहती ही है। अतः उसे भी कृतिकर्म करना आवश्यक है। मूलाचार के षडावश्यकाधिकार मे पूजाकर्म को कृतिकर्म का पर्यायवाची कहा गया है। कृतिकर्म के पर्यायवाची अन्य दो नाम हैं चितिकर्म और विनयकर्म। कृतिकर्म का अर्थ नित्यकरणीय कर्म भी किया जा सकता है। मुनि के २८ मूल गुणो मे ६ आवश्यक बतलाये गये हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग। षट्खण्डागम मे बतलाया गया है कि कृतिकर्म तीनों सन्ध्या कालों मे करना चाहिए। तीनों सन्ध्या कालो मे जो कृतिकर्म किया जाता है उसमे सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव और वन्दना इन तीनो की मुख्यता रहती है। तीनों सन्ध्याकालों मे किया जाने वाला कृतिकर्म साधु और श्रावक दोनों के लिए समान रूप से आवश्यक है। साधु उक्त प्रकार का कृतिकर्म करके देवपूजा ही करता है। यह बात पृथक् है कि अपरिग्रही होने के कारण साधु कृतिकर्म करते समय अक्षत आदि द्रव्य का उपयोग नहीं करता है और गृहस्थ कृतिकर्म करते समय अक्षत आदि सामग्री का भी उपयोग करता है।

यथार्थ बात यह है कि पूजा दो प्रकार से की जाती है—द्रव्य और भाव से। साधु जो पूजा करता है वह भाव पूजा है। मूलाचार मे यह भी कहा गया है कि देव-पूजा अपने विभव के अनुसार करनी चाहिए। इस कथन का तात्पर्य गृहस्थ के द्वारा की गई द्रव्य पूजा से है। मूलाचार की टीका मे आचार्य वसुनन्दी ने कहा है कि जिनेन्द्र देव की पूजा के लिए अक्षत, गन्ध, धूप आदि जिस सामग्री का उपयोग किया जाय उसे प्रासुक और निर्दोष होना चाहिए।

आचार्य अमितगति ने अपने श्रावकाचार मे पूजा के दो भेद करके उनका लक्षण इस प्रकार बतलाया है :—

वचो विग्रहसंकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते।
तत्र मानससंकोचो भावपूजा पुरातनैः॥
गन्धप्रसूनसान्नाद्य दीपधूपाक्षतादिभिः।
क्रियमाणाऽथवा ज्ञेया द्रव्यपूजा विधानतः॥
व्यापकानां विशुद्धानां जिनानामनुरागतः।
गुणानां यदनुध्यानं भावपूजेयमुच्यते॥

अर्थात् पूर्वाचार्यों के अनुसार वचन और शरीर की क्रिया को रोकने का नाम द्रव्यपूजा है और मन की क्रिया को रोकने का नाम भावपूजा है। किन्तु स्वयं अमितगति के मतानुसार गन्ध, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और अक्षत आदि से पूजा करने का नाम द्रव्यपूजा है और जिनेन्द्र के गुणो के चिन्तन करने का नाम भावपूजा है।

आचार्य जिनसेन ने महापुराण के ३८वें पर्व के प्रारम्भ में—

इज्यां वार्तां च दत्तिं च स्वाध्यायं संयमं तपः।
श्रुतोपासकसूत्रत्वात् स तेभ्यः समुपादिशत् ॥

इस श्लोक द्वारा षट्कर्म —इज्या, वार्ता, दान, स्वाध्याय, संयम और तप का वर्णन करते हुए पूजा के चार भेद बतलाये हैं—

प्रोक्ता पूजार्हतामिज्या सा चतुर्धा सदार्चनम्।
चतुर्मुखमहः कल्पद्रुमाश्चाष्टाह्निकोऽपि च ॥

नित्यपूजा, चतुर्मुखपूजा, कल्पद्रुमपूजा और आष्टाह्निक-पूजा। ये सब द्रव्य पूजा के ही प्रकार है। प्रतिदिन अपने घर से गन्ध, पुष्प, अक्षत इत्यादि ले जाकर जिनालय में श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा करना सदार्चन अर्थात् नित्य पूजा है। महा मुकुटवद्ध राजाओ के द्वारा जो पूजा की जाती है उसे चतुर्मुख पूजा कहते है। चक्रवर्ती राजाओ के द्वारा किमिच्छिक दानपूर्वक जो पूजा की जाती है वह कल्पद्रुम पूजा है और आष्टाह्निक पर्व मे जो पूजा की जाती है वह आष्टाह्निक पूजा है। इससे पूर्व के उपलब्ध साहित्य मे पूजा के भेद नही मिलते है।

आचार्य सोमदेव ने पूजा के कोई भेद नही बतलाये किन्तु पूजको के दो भेद अवश्य बतलाये हैं—एक पुष्पादि में पूजा की स्थापना करके पूजन करने वाले और दूसरे प्रतिमा (मूर्ति) का अवलम्बन लेकर पूजन करने वाले। प्रतिमा के अभाव मे पुष्पादि में अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की स्थापना करके प्रत्येक की अष्टद्रव्य से पूजा करना बतलाया गया है। उसके बाद क्रम से दर्शनभक्ति, ज्ञानभक्ति, चारित्रभक्ति, अर्हद्भक्ति, सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति, शान्तिभक्ति और आचार्यभक्ति करना बतलाया है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रतिमा के अभाव में भी पूजा की जा सकती है।

सोमदेव ने यशस्तिलक मे पूजा की पद्धति या प्रकार को इस प्रकार बतलाया है—

प्रस्तावना पुराकर्म स्थापना सन्निधापनम्।
पूजा पूजाफलं चेति षड्विधं देवसेवनम् ॥

अर्थात् प्रस्तावना, पुराकर्म, स्थापना, सन्निधापन, पूजा और पूजा का फल, इस तरह छह प्रकार से देव की पूजा की जाती है।

जिनेन्द्र देव का गुणानुवाद करते हुए अभिषेक विधि की प्रस्तावना करना प्रस्तावना है। पीठ के चारो कोणों पर जल से भरे हुए चार कलशों की स्थापना करना पुराकर्म है। पीठ पर यथाविधि जिनेन्द्रदेव को स्थापित करना स्थापना है। ये जिनेन्द्रदेव है, यह पीठ मेरुपर्वत है, जल से पूर्ण ये कलश क्षीरोदधि से पूर्ण कलश है और मैं इन्द्र हू जो इस समय अभिषेक के लिए उद्यत हुआ हूं, ऐसा विचार करना सन्निधापन है। अभिषेक के बाद अष्टद्रव्य से पूजा करना पूजा है, और सबके कल्याण की भावना करना पूजा का फल है।

आचार्य वसुनन्दी ने पूजा के ६ भेद बतलाये है—

णामट्ठवणादव्वे खित्ते काले वियाण भावे य।
छव्विहपूया भणिया समासउ जिणवरिं देहिं ॥

अर्थात्, नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव यह छह प्रकार की पूजा जिनेन्द्र भगवान् ने सक्षेप मे कही है।

अर्हन्त आदि का नाम उच्चारण करके शुद्ध स्थान मे पुष्प क्षेपण करना नामपूजा है। सद्भाव और असद्भाव के भेद से दो प्रकार की स्थापना होती है। साकार वस्तु मे भगवान् के गुणो का आरोपण करना सद्भाव स्थापना है। अक्षत, कमल के बीज या किसी पुष्प मे यह संकल्प करना कि यह अमुक देव है और वैसा उच्चारण करना असद्भाव स्थापना है। पं० आशाधर जी ने भी जिन-प्रतिमा के न रहने पर अक्षत आदि में जिनेन्द्र की स्थापना करने का विधान बतलाया है। जल, चन्दन, अक्षत आदि द्रव्य से जो पूजा की जाती है उसे द्रव्यपूजा कहते हैं। जिनेन्द्रदेव की जन्मभूमि, दीक्षाभूमि, केवलज्ञानभूमि और मोक्ष प्राप्त होने की भूमि मे जो पूजा की जाती है वह क्षेत्रपूजा है। भगवान् के गर्भकल्याणक आदि के दिनों में, नन्दीश्वर पर्व के आठ दिनो मे तथा अन्य पर्व के दिनों में जो पूजा की जाती है वह कालपूजा है और अनन्त लाभादि गुणो की स्तुति करके जो त्रिकाल वन्दना की जाती है वह भावपूजा है।

उपर्युक्त विवेचन से यही तात्पर्य निकलता है कि पूजा दो प्रकार से की जाती है—द्रव्य से और भाव से। जो साधु है वह भावपूजा करता है। किन्तु श्रावक द्रव्यपूजा और भाव पूजा दोनो ही कर सकता है। पं० आशाधर

जी ने सागारधर्मामृत मे श्रावक की दिनचर्या का वर्णन करते हुए त्रिकाल देववन्दना के समय दोनों प्रकार से पूजा करने का विधान किया है।

वर्तमान पूजा विधि

वर्तमान पूजा विधि मे वे सब गुण नही रह गये हैं जो षट्खण्डागम, मूलाचार आदि मे प्रतिपादित है। त्रिकाल देववन्दना, प्रतिक्रमण और आलोचना की विधि समाप्तप्राय है। अब श्रावक का कृतिकर्म देवदर्शन और देवपूजा दो भागो मे विभक्त हो गया है। यद्यपि देव-दर्शन भी पूजा का एक प्रकार ही है किन्तु उसे दर्शन ही कहते है। जिन मन्दिर मे जाकर देवदर्शन करना प्रत्येक श्रावक और श्राविका का नित्य कर्तव्य है। वह जिन मन्दिर मे जाकर मूर्ति के समक्ष स्तुति पाठ करते हुए जिन भगवान् को नमस्कार करके तीन प्रदक्षिणा देता है। यह देवदर्शन है। पूजा करने के लिए पहले स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहिनकर सबसे पहले मूर्ति का जल से अभिषेक किया जाता है। कही-कही दूध, दधि, घृत, इक्षुरस और सर्वोषधिरस से भी अभिषेक करने की पद्धति है। अभि-षेक के बाद पूजा के प्रारम्भ मे जिस देव की पूजा करते है उसका आह्वानन, स्थापन और सन्निधिकरण किया जाता है। उसके बाद क्रमश: जल आदि आठ द्रव्यों से पूजन किया जाता है। अन्त मे आठ द्रव्यो को मिलाकर अर्घ चढाया जाता है। प्रत्येक द्रव्य चढ़ाते समय उसका उद्देश्य बोलकर उसे चढ़ात है। जैसे जल चढ़ाते समय कहते हैं—जन्मजरामृत्युविनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा। अर्थात् जन्म, जरा और मृत्यु के विनाश के लिए जल चढ़ाता हूं। पूजा के अन्त में सबके लिए शान्तिपाठ पढ़ा जाता है।

शान्ति पाठ मे—

क्षेमं सर्वप्रजाना प्रभवतु बलवान् धार्मिको भूमिपालः,
काले काले च सम्यग्वर्षतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम्।
दुर्भिक्ष चौर-मारी क्षणमपि जगतां मास्म भूज्जीवलोके,
जैनेन्द्र धर्मचक्रं प्रभवतु सततं सर्वसौख्यप्रदायि॥

यह पद्य मुख्य है और इसमे सम्पूर्ण राष्ट्र की सब प्रकार से भलाई की कामना की गई है। शान्तिपाठ के अन्त मे विसर्जन किया जाता है।

मूर्तिपूजा का प्रारम्भ और उपयोगिता

जैनधर्म में मूर्तिपूजन की परम्परा बहुत प्राचीनकाल से प्रचलित है। द्वितीय शताब्दी ई० पू० के सम्राट् खार-वेल के शिलालेख मे ऋषभनाथ की मूर्ति का उल्लेख है जिसे मगध का राजा नन्द कलिंग विजय के बाद पाटलि-पुत्र (पटना) ले गया था और जिसे खारवेल ने मगध पर चढाई करके पुन: प्राप्त किया था। इससे सिद्ध होता है कि आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व राजघरानो तक मे जैनो के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की मूर्ति की पूजा होती थी। एक मौर्यकालीन मूर्ति पटना के संग्रहालय मे स्थित है। आचार्य कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय मे अरहन्त, सिद्ध, चैत्य और प्रवचन भक्ति का उल्लेख किया है तथा प्रवचनसार मे देवता, यति और गुरु की पूजा का विधान किया है। उत्तरकाल मे तो जिन प्रतिमा और जिन मन्दिरो का निर्माण अधिक सख्या मे हुआ है। इसी युग मे प्रतिष्ठापाठो आदि की रचनाएं हुई है। पूजन साहित्य भी इस युग मे विशेषरूप से लिखा गया है।

जैनधर्म मे अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाँच पद बहुत प्रतिष्ठित माने गये है। इन्हें पञ्च परमेष्ठी कहते है। इन पाँच परमेष्ठियो मे से अरहन्त परमेष्ठी की मूर्ति जैन मन्दिरो मे विराजमान रहती है। ये मूर्तियाँ ४ तीर्थंकरों मे से किसी न किसी तीर्थंकर की होती है किन्तु होती अरहन्त अवस्था की ही है, क्योंकि अरहन्त अवस्था के बिना धर्म तीर्थ का प्रवर्तन नहीं हो सकता है। अत धर्म तीर्थ के प्रवर्तक जैन तीकर्थरो की मूर्तियाँ जैन मन्दिरों मे विशेषरूप से पायी जाती हैं। निराकार सिद्धों की मूर्तियां भी मन्दिर मे प्राय: रहती है। आचार्य, उपाध्याय और साधु की मूर्तियां भी कहीं-कही पायी जाती हैं। इनकी मूर्तियों में साधु के चिह्न पीछी और कमण्डलु अंकित रहते है। ये सभी मूर्तियां ध्यानस्थ अवस्था की होती है। आत्मध्यान मे लीन योगी की जैसी आकृति होती है वैसी ही आकृति उन मूर्तियो की होती है। उनके मुख पर शान्ति, निर्भयता और निर्विकारता विद्यमान रहती है। उनके शरीर पर कोई आभरण नही होता और न हाथ मे कोई अस्त्र-शस्त्र। दिगम्बर जैन मूर्ति निरावरण (नग्न) और अलकार रहित होती है।

जो लोग सवस्त्र और सालंकार मूर्ति की उपासना करते हैं उन्हें नग्न मूर्ति अश्लील प्रतीत हो सकती है। यहां प्रश्न यह है कि क्या नग्नता वास्तव मे अश्लीलता की प्रतीक है। इस विषय में प्रसिद्ध गान्धीवादी काका कालेलकर ने श्रवणबेलगोला (कर्णाटक) में स्थित भगवान् बाहुबलि की विश्वविख्यात नग्न मूर्ति को देखकर जो भाव व्यक्त किये थे वे ध्यान देने योग्य है—

"जब मैं कारकल के पास गोमटेश्वर की मूर्ति को देखने गया उस समय हम स्त्री, पुरुष, बालक और वृद्ध अनेक थे। हममे से किसी को भी इस मूर्ति का दर्शन करते समय सकोच जैसा कुछ भी मालूम नही हुआ। मैंने अनेक नग्न मूर्तियाँ देखी है और मन विकारी होने के बदले उल्टा इन दर्शनो के कारण ही निर्विकारी होने का अनुभव करता है। अतः हमारी नग्नता विषयक दृष्टि और हमारा विकारो की ओर झुकाव दोनो बदलना चाहिए।"

मूर्ति के द्वारा मूर्तिमान् की उपासना की जाती है तथा मूर्ति को देखते ही मूर्तिमान् का स्मरण हो जाता है। मूर्ति मनुष्य के चचल चित्त को स्थिर रखने के लिए एक आलम्बन है। उस आलम्बन के निमित्त से मनुष्य का चंचल चित्त कुछ क्षण के लिए पूज्य के गुण कीर्तन या चिंतन मे लीन हो जाता है। मूर्ति पूजा उस आदर्श की पूजा है जो प्राणिमात्र का सर्वोच्च लक्ष्य है। मूर्ति के द्वारा हमे उस मूर्तिमान् के स्वरूप को समझने मे सहायता मिलती है। अतः वर्तमान काल मे तो मूर्ति का होना अत्यन्त आवश्यक है। प० आशाधर जी ने मूर्ति की उपयोगिता के विषय मे सागारधर्मामृत मे कहा है—

धिक् दुःषमाकालरात्रिं यत्र शास्त्रदृशामपि।
चैत्यालोकादृते न स्यात् प्रायो दवविशामतिः॥

अर्थात् इस पंचमकाल मे शास्त्रवेत्ताओ को भी मूर्ति के दर्शन के बिना देवबुद्धि नही होती है।

जिनपूजा का उद्देश्य

जिनेन्द्र देव की पूजा किसी भौतिक सुख की कामना से नही की जाती है, किन्तु उसका उद्देश्य आत्मा मे निर्मलता द्वारा आध्यात्मिक सुख और शान्ति की प्राप्ति है। जिनदेव वीतराग होते हैं। अतः उनकी पूजा या स्तुति करने से न तो वे प्रसन्न होते है और न प्रसन्न होकर कुछ देते है। अपरिग्रही और वीतराग होने से उनके पास देने को कुछ है ही नही। उनकी निन्दा करने से वे नाराज भी नही होते है। तब उनकी पूजा से क्या लाभ है? इसका उत्तर यही है कि उनके पवित्र गुणो का स्मरण हमारे चित्त को पापो से बचाता है। इसी विषय मे आचार्य समन्तभद्र ने बृहत्स्वयम्भू स्तोत्र मे कहा है—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि तव पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्त दुरिताञ्जनेभ्यः॥

हे नाथ! तुम वीतराग हो इसलिए तुम्हे अपनी पूजा से कोई प्रयोजन नही है, और वीत द्वेष होने के कारण निन्दा से भी कोई प्रयोजन नहीं है। फिर भी तुम्हारे पवित्र गुणो की स्मृति हमारे चित्त को पापरूपी मल से बचाती है।

अभिषेक

पूजा के प्रारम्भ मे अभिषेक की परम्परा है। जिन प्रतिमा का अभिषेक तीर्थंकरो के जन्मकल्याण के समय सुमेरु पर्वत पर इन्द्र के द्वारा किये गये अभिषेक का ही प्रतिरूप है। इन्द्र ने केवल क्षीरसागर के जल से ही भगवान् का अभिषेक किया था। अतः शुद्ध आम्नाय के अनुसार जल से अभिषेक करना ही ठीक है। फिर भी जैन परम्परा मे कही-कही दूध, दधि, घृत आदि से भी अभिषेक किया जाता है। यह परम्परा कब से चली? पञ्चामृत से सम्बन्ध रखने वाले दुग्ध, दधि, घृत इक्षुरस और सर्वौषधिरस का सर्वप्रथम स्पष्ट उल्लेख हरिवंश पुराण में मिलता है। किन्तु वरांगचरित्र मे जो हरिवंशपुराण से प्राचीन है, अभिषेक के समय दूध, दधि आदि से भरे हुए कलशों का उल्लेख होते हुए भी उनसे अभिषेक किये जाने का उल्लेख नही है, केवल जल से ही अभिषेक का उल्लेख है। पद्मपुराण में भी अभिषेक के लिए घृत, दूध आदि से पूर्ण कलशों का उल्लेख है। किन्तु जिनसेन ने महापुराण मे और उनके शिष्य गुणभद्र ने उत्तरपुराण मे जल से ही अभिषेक करने का विधान किया है। सोमदेव ने उपासकाध्ययन में इक्षुरस, घृत, धारोष्ण दूध, दधि और अन्त

में जल से अभिषेक करने के पश्चात् पूजा करने का विधान किया है।

आह्वानन और विसर्जन

वर्तमान मे जो पूजा की विधि प्रचलित है उसमे जिसकी पूजा की जाती है उसका आह्वानन और विसर्जन किया जाता है। यह विधि कहां तक उचित है इस पर भी विचार करना आवश्यक है। जैन सिद्धान्त के अनुसार जिस देव की पूजा की जाती है वह न तो कहीं से आता और न कहीं जाता है। सोमदेव ने पूजन से पूर्व जो स्थापन और सन्निधापन क्रियाये बतलाई है वे आज के प्रचलित आह्वानन, स्थापन और सन्निधिकरण से भिन्न है। उनकी विधि मे आह्वानन तो है ही नहीं, विसर्जन भी नही है। विसर्जन का सम्बन्ध तो आह्वानन के साथ है। जब किसी को बुलाया नही जाता है तो भेजने का प्रश्न ही नही उठता। ऐसा प्रतीत होता है कि पं० आशाधर (वि० सं० १३००) के बाद ही पूजा मे उक्त प्रक्रिया समाविष्ट हुई है। धर्मसंग्रह श्रावकाचार (सोलहवी शताब्दी) और लाटी संहिता (सत्रहवीं शताब्दी) मे आह्वानन, स्थापन, सन्निधिकरण, पूजन और विसर्जन ये पांच प्रकार पूजा के बतलाये है। यथार्थ में बात यह है कि भगवान के पंचकल्याणक मे देव आते थे। अत: पंचकल्याणक प्रतिष्ठा मे देवों का आह्वानन और विसर्जन तो ठीक प्रतीत होता है। इसी बात को ध्यान मे रखकर देवसेन कृत भावसंग्रह मे इन्द्रादि देवताओ का आह्वानन तथा उन्हे यज्ञ का भाग अर्पित करके पूजन के अन्त मे उन आहूत देवताओ का विसर्जन भी किया गया है। इस प्रकार जो पहले आह्वानन और विसर्जन इन्द्रादि देवताओ के लिए किया जाता था उसको उत्तर काल मे पूजा का आवश्यक अंग मानकर जिनेन्द्र देव के लिए भी किया जाने लगा। पूजन के अन्त मे विसर्जन करते समय निम्नलिखित श्लोक भी पढ़ा जाता है—

आहूता ये पुरा देवा लब्धभागा यथाक्रमम्।
ते मयाऽभ्यर्चिता भक्त्या सर्वे यान्तु यथास्थितिम्॥

इसको हिन्दी में इस प्रकार पढ़ते है—

आये जो जो देवगण पूजे भक्ति प्रमाण।
ते सब जावहु कृपाकर अपने-अपने थान॥

यथार्थ मे यह विसर्जन इन्द्र आदि देवताओं के लिए है, जिनेन्द्र देव के लिए नही।

देवपूजा का माहात्म्य

सातवी शताब्दी के आचार्य रविषेण ने पद्मचरित में मूर्ति निर्माण तथा उसकी पूजा के फल के विषय मे लिखा है—

जिनबिम्बं जिनाकारं जिनपूजां जिनस्तुतिम्।
य: करोति जनस्तस्य न किंचिद् दुर्लभं भवेत्॥

अर्थात् जो व्यक्ति जिनदेव की आकृति के अनुरूप जिनबिम्ब बनवाता है तथा जिनदेव को पूजा और स्तुति करता है उसके लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है।

इसी प्रकार, सातवी शताब्दी मे रचित अध्यात्म ग्रन्थ परमात्म-प्रकाश मे लिखा है—

दाणु न दिण्णउ मुणिवरहं ण वि पुज्जिउ जिणणाहु।
पंच ण वंदिय परमगुरु किमु होसइ सिवलाहु॥

अर्थात् जिसने न तो मुनिवरों को दान दिया, न जिन भगवान् की पूजा की और न पञ्च परमेष्ठी को नमस्कार किया उसको मोक्ष का लाभ कैसे होगा।

आचार्य अमितगति ने सुभाषितरत्नसन्दोह मे लिखा है—

येनाङ्गुष्ठप्रमाणार्चा जैनेन्द्री क्रियतेऽङ्गिना।
तस्याऽप्यनश्वरी लक्ष्मीर्न दूरे जातु जायते॥

अर्थात् जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान् की अंगुष्ठ प्रमाण मूर्ति बनवाता है वह भी अविनाशी लक्ष्मी को प्राप्त करता है।

आचार्य पद्मनन्दि पंचसंग्रह मे उनसे भी आगे बढ़कर कहते हैं—

बिम्बादलोन्नतियवोन्नतिमेव भक्त्या ये
कारयन्ति जिनसद्म जिनाकृतिं वा।
पुण्यं तदीयमिह वागपि नैव शक्ता स्तोतुं
परस्य किमु कारयितुर्द्वयस्य॥

अर्थात् जो बिम्बपत्र के प्रमाण जिनमन्दिर बनवाकर उसमे जौ बराबर जिन प्रतिमा की भक्तिपूर्वक स्थापना करते हैं उनके पुण्य का वर्णन सरस्वती भी नहीं कर सकती, फिर जो बड़ा मन्दिर और बड़ी प्रतिमा बनवायें उनका तो कहना ही क्या है।

आचार्य वसुनन्दी ने अपने श्रावकाचार में पद्मनन्दि से भी आगे कहा है—

कुंथुंभरिदलमेत्ते जिणभवणे जो ठवेइ जिणपडियं।
सरिसवमेत्त पि लहइ सो णरो तित्थर पुण्ण॥

अर्थात् जो कुंथुभरि के पत्र बराबर जिन मन्दिर बनवा कर उसमें सरसों के बराबर भी जिनप्रतिमा की स्थापना करता है वह मनुष्य तीर्थंकर पद के योग्य पुण्यबन्ध करता है।

अन्त मे कहते है—

एयारसंगधारी जीहसहस्सेण सुरवरिंदो वि।
पूजाफलं ण सक्को णिस्सेस वण्णिउ जम्हा॥

अर्थात् ग्यारह अग के धारी मुनि तथा देवेन्द्र भी हजार जिह्वा से पूजा के फल को पूरा वर्णन करने मे समर्थ नही है।

आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्डश्रावकाचार मे पूजा के माहात्म्य को इस प्रकार बतलाया है—

अर्हच्चरणसपर्यामहानुभाव महात्मनामवत्।
भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे॥

अर्थात् राजगृह नगर मे हर्ष से आनन्दित मैंढक ने एक पुष्प के द्वारा भव्य जीवो को अरहन्त भगवान् के चरणो की पूजा के माहात्म्य को बतलाया था। तात्पर्य यह है कि जिस समय भगवान् महावीर का समवशरण राजगृह मे आया हुआ था उस समय राजा श्रेणिक आदि नगर के सब लोग भगवान् की वन्दना के लिए गये। उस समय एक मेढक भी धर्म की भावना से प्रेरित होकर मुख मे एक कमलपुष्प लेकर भगवान् की पूजा के लिए चला। इसी बीच वह मेढक राजा श्रेणिक के हाथीके पैर से कुचल कर मर गया और पूजा करने की पवित्र भावना के कारण उपार्जित पुण्य के प्रभाव स सौधर्म स्वर्ग मे ऋद्धिधारी देव हुआ, और तत्काल ही वह मुकुट के अग्रभाग मे मेंढक का चिह्न वनकर भगवान् के समवशरण मे आ गया। इस प्रकार उसने सबके समक्ष पूजन के माहात्म्य को प्रकट कर दिया।

अष्ट द्रव्य से पूजन करने का पृथक्-पृथक् फल

सोमदेव ने जलादि अष्ट द्रव्य से पूजा करने का पृथक्-पृथक् कोई फल नही बतलाया है किन्तु वसुनन्दी ने पूजा के समय जल आदि चढाने का फल इस प्रकार बतलाया है—

पूजा के समय जलधारा छोड़ने से पापरूपी मैल धुल जाता है और चन्दन चढ़ाने से पूजा करने वाला भगवान् होता है। अक्षत से पूजा करने वाल ९ निधि और १४ रत्नो का स्वामी होता है। पुष्प से पूजा करने वाला मनुष्य कामदेव तुल्य होता है। नैवेद्य को चढाने वाला मानव अति सुन्दर होता है। दीप से पूजा करने वाला मनुष्य केवलज्ञानी होता है। धूप से पूजा करने वाला नर निर्मल कीर्ति को प्राप्त करता है, और फल से पूजा करने वाला मनुष्य निर्वाण सुख को प्राप्त करता है।

पं० आशाधर जी ने इस विषय मे सागारधर्मामृत मे लिखा है—

वार्धारा रजस शमाय पदयो सम्यक् प्रयुक्ताऽर्हतः,
सद्गन्ध. तनुसौरभाय विभवाच्छेदाय सन्त्यक्षताः।
यष्टुः स्रग्दिविजस्रजे चरुरुमास्वाम्याय दीपस्त्विषे,
धूपो विश्वदृगुत्सवाय फलमिष्टार्थाय चार्घाय सः॥

अर्थात् अर्हन्त देव के चरणों मे जल की धारा चढाने से पापों का शमन होता है, चन्दन चढ़ाने से शरीर सुगन्धित होता है, अक्षत से अविनाशी ऐश्वर्य प्राप्त होता है, पुष्पमाला चढाने से स्वर्गीय पुष्पो की माला प्राप्त होती है, नैवेद्य के अर्पण से पूजा करने वाला लक्ष्मी का स्वामी होता है, दीप से शरीर की कान्ति प्राप्त होती है, धूप से परम सौभाग्य प्राप्त होता है, फल के चढ़ाने से इष्ट अर्थ की प्राप्ति होती है और अर्घ के चढ़ाने से मूल्यवान् पद प्राप्त होता है। भाव संग्रह मे इसी प्रकार का फल बतलाया गया है।

उपर्युक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि आचार्य वसुनन्दी, प० आशाधर आदि के समय में जलादि द्रव्यों के चढाने का फल प्रायः सौभाग्य-सूचक वस्तुओं की प्राप्ति था। किन्तु दूसरे आचार्यों के मत से उस समय भी पूजा के फल मे पूर्ण आध्यात्मिकता रही होगी। उसी के अनुसार पं० आशाधर के बाद की पूजाओं मे जन्म, जरा और मृत्यु के विनाश के लिए जल, संसार ताप के विनाश

के लिए चन्दन, अक्षय पद की प्राप्ति के लिए अक्षत, काम बाण के विनाश के लिए पुष्प, क्षुधारोग के नाश के लिए नैवेद्य, मोहान्धकार के नाश के लिए दीप, अष्टकर्मों के नाश के लिए धूप और मोक्ष फल की प्राप्ति के लिए फल चढ़ाने का विधान किया गया है। पूजा करने का यही वास्तविक फल है जो पूर्णरूप से आध्यात्मिक है। जिनेन्द्र देव की पूजा से भौतिक सुख की कामना करना ठीक नहीं है।

इस प्रकार जिनपूजा के माहात्म्य तथा फल को जानकर प्रत्येक गृहस्थ को यथाशक्ति देवदर्शन, पूजन और स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए। इसी मे मानव जीवन की सफलता है।

□□□

(पृ० ४० का शेषांश)

मीच कर। इसमे विवेक की सम्भावना तो कदाचित् ही हो, भावना भी अपर्याप्त ही दिखती है; और जो दिखता है वह है लोकलाज, अन्धानुकरण और अन्धकारमय भविष्य की विभीषिका। इसी प्रकार, व्रत, तप आदि के आचरण मे भी विवेक का पुट कम ही रहा दिखता है। किसी वरदान, प्रेमी, निधि आदि की प्राप्ति के लिए धर्मस्थान, श्मशान, वन आदि मे जाकर उपवास करना[1], विभिन्न प्रकार के तप करना आदि धर्मविरुद्ध प्रवृत्तियों के पीछे विवेक का तो सर्वथा अभाव होना ही है, व्यावहारिक या नैतिक-मूल्यो से भी वे शून्य होती हैं। देव-देवियों की उपासना[2] चाहे जिस उद्देश्य की जाए, जीवन के जैन-मूल्यों की दृष्टि से मूलतः अशास्त्रीय है। जा देव-देवियां न केवल राग-द्वेष से ओत-प्रोत होती है, प्रत्युत किसी भी दशा मे चतुर्थ गुणस्थान से आगे नही बढ़ सकती उनकी उपासना चौदहवें गुणस्थान तक अर्थात् उसी पर्याय मे मोक्ष तक प्राप्त करने का अधिकारी मानव करे, यह शास्त्रीय दृष्टि से तो अवैध है ही व्यावहारिक दृष्टि से भी असगत है। साहित्य मे उपर्युक्त अनेक विषम स्थितियों के जो चित्रण, अधिकाश यथोचित चित्रणो के मध्य बिखरे मिलते है उनका कारण किसी हद तक सहज माना जा सकता है, किन्तु उन्हे अनुकरणीय उदाहरणो के रूप मे प्रस्तुत नही किता जा सकता।

जैन स्यातक, चीराखाना,
वैदवाड़ा, दिल्ली

□□□

पृ० ११६, खं. ५, स. ७६, क. १३; पृ० १६६, खं. ५, स. ८३, क. १८; पृ २७५, खं. ५. स. ८६, क. १८; पृ. २७७, ख. ५, स. ८६, क १६; पृ० ३२५, ख. ५, स. ८८, क. ११; कनकामर : पूर्वोक्त, पृ० १५६, स. १०, क. २४; नरसेन : पूर्वोक्त, पृ० ८५, स. २, क. ३६; कवि वीर : पूर्वोक्त, पृ० ५८, स. ३. क. १३; पृ० २१२, स. १०, क. २१; पुष्पदन्त : जसहरचरिउ, नई देहली, १६७२, पृ० १२५, स. ४, क. ७।

१. स्वयंभू : पूर्वोक्त पृ० ८३-८५ ख० ३, स० ४७१, क. ३-६।

२. कनकामर : पूर्वोक्त, पृ० ६६, स. ७, क. १२; पुष्पदन्त : पूर्वोक्त, पृ० ५१, स. २, क. १४।

नियतिवाद नामा नियमवाद

□ श्री महेन्द्रसेन जैन, नई दिल्ली

जितनी उलझन और जितना वितण्डावाद भाग्य और पुरुषार्थ, कर्म और नियति को लेकर है, शायद ही किसी दूसरे विषय पर हो। अक्सर उदाहरण दिया जाता है कि एक गिलास मे आधा पानी है - भाग्यवादी कहता है कि मेरा गिलास आधा खाली है, मेरे भाग्य मे यही था। कर्मवादी कहता है कि मेरा गिलास आधा भरा है और अपने पुरुषार्थ से बाकी आधा भी मैं भर लूंगा। इससे चाहे जो भी अर्थ निकले, एक बात तो बहुत स्पष्ट है कि भाग्यवादी का गिलास भरने की तो कोई सम्भावना ही नही है क्योंकि अन्य कोई ऐसी दैवी शक्ति का प्रमाण नही है जो आकर किसी का आधा खाली गिलास भर दे। पुरुषार्थी यह कर सकता है ऐसा उसे विश्वास है, जिसके बल पर वह कर्म में जुटा हुआ है।

वास्तव मे बात दोनो की अधूरी है। जहाँ यह सच है कि स्वयं मानव के अलावा और कोई शक्ति नही है जो उसका कल्याण-अकल्याण कर सके या उसे प्रत्याशित-अप्रत्याशित फल दिला सके, वहा यह भी स्पष्ट है कि दुनिया का हर कार्य नियमो से बधा है और उनकी परिधि के अन्दर मानव की सीमाएँ है, सामाजिक नियम है, कानूनी नियम है और उसी प्रकार प्राकृतिक नियम है। झूठ बोलना, न बोलना हमारे पुरुषार्थ के अधीन है, परन्तु झूठ बोलकर झूठा कहलाना यह नियमबद्ध है, झूठ बोलकर मैं सच्चा ही कहलाऊँगा यह व्यर्थ का अहकार है। हत्या की, नियम ने फासी चढा दी। हत्या करना, न करना पुरुषार्थ के आधीन है, परन्तु हत्या करने का फल नियम के अनुसार मिलेगा। आम का पेड़ बोएं या बबूल का, यह पुरुषार्थ हमारे अधीन है, परन्तु उसमे फल लगना नियम के अधीन है। आम मे नियम के अनुसार आम लगेगा और बबूल में कांटे।

दूसरे शब्दों में, पुरुषार्थ भी तभी वांछित फल देगा जब नियमो को समझकर (शिक्षा-दीक्षा) उनके अनुकूल सही पुरुषार्थ करे। नीला-पीला मिलकर हरा रग बन जाता है, चित्रकार यह नियम जानता है। जब हरे रंग की वाछा हो तो वह दोनों को मिलाकर प्राप्त कर लेता है, परन्तु उसके मिलाने का पुरुषार्थ किए बिना उसको अपने आप हरा रंग कभी भी नही मिलेगा। दूसरी ओर, यदि पुरुषार्थ नीले-पीले रग को तो पकड़े नही और दुनिया भर के अन्य रगो का घोटा लगाता फिरे और कहे कि मैं हरा रंग बनाकर छोड़ूगा तो यह सिवाए शेखचिल्ली के अहंकार के और कुछ नहीं है।

इसके अतिरिक्त, नैसर्गिक सीमाएँ और क्षमताएं भी है। मानव चाहे कि मैं हाथी के बराबर बोझ उठा लू, तो नही हो सकता। परन्तु उसमे इतनी बुद्धि जरूर है कि यत्र से हाथी की शक्ति पैदा करके उसमे उठा ले। फिर भी इससे तो उसकी सीमा की ही पुष्टि होती है। दूसरी ओर, बुद्धि भी तो क्षमता ही है। चीटी की अपनी सीमाए व क्षमताए है, मानव की अपनी, पशु-पक्षी की अपनी, पेड़-पौधों की अपनी, इत्यादि-इत्यादि। इन सीमाओं और क्षमताओ को कान जी स्वामी ने संज्ञा दी है—**'पर्याय योग्यता'** अर्थात् जो जिस पर्याय मे है, उसकी कितनी क्षमता है और उसकी क्या सीमाए है। पुरुषार्थ उन्ही की परिधि मे हो सकता है। उनके बाहर भी मैं चाहे जो करके दिखा दूंगा, यह मात्र अहंकार है और उनके अनुरूप भी पुरुषार्थ न करके भाग्य मेरे खुले मुंह मे आसमान से बेर टपका देगा, यह महामूढ़ता है। वहाँ भी मुँह खोलकर रखने का पुरुषार्थ तो करना ही पड़ेगा।

अब प्रश्न उठता है कि यह भाग्य नाम की चीज आई कहाँ से? पुरुषार्थ तो स्पष्ट अनुभव में आता है और प्रत्यक्ष है, परन्तु भाग्य के सम्बन्ध मे हम अक्ल से काम नहीं लेना चाहते। हम रोज देखते है कि हर कार्य

(शुष पृष्ठ ५१ पर)

कबीर की वाणी में वीर-वाणी की गूंज

□ श्रीमती कुसुम जैन सोंरया, एम. ए., बी. एड.

क्रान्तिद्रष्टा कबीर

मध्ययुगीन काव्य जगत् में जिन कवियों ने जीवन को बड़ी सूक्ष्मता और गहरे उतर कर देखा, उनमें सन्त कबीर का नाम प्रमुख है : इन्होंने रूपकों और जीवन के व्यावहारिक प्रतीकों के माध्यम से अध्यात्म की अभिव्यक्ति बड़ी कुशलता से की है। गूढ़ रहस्यों और तत्त्वों को बोलचाल की भाषा मे रखकर साहित्य जगत् को एक उपलब्धि प्रदान की है। प्रस्तुत लेख में कबीर के ऐसे विचार-प्रसून प्रस्तुत किये जा रहे हैं, जिनमें जैन-दर्शन के सिद्धान्तों के पराग पूर्णरूपेण परिलक्षित है। ऐसा लगता है कि महात्मा कबीर उस धर्म से ज्यादा प्रभावित रहे, जो बाह्य क्रियाकाण्डों, अन्धविश्वासों और रूढ़ मान्यताओं के पक्ष में अपनी अस्वीकृति का हाथ उठाये रहा। इसके साथ उसे ही सच्चा धर्म माना, जिसमें आत्मा या जीव तत्त्व को परमात्मा तक पहुंचाने की घोषणा है; जो सत्य दृष्टि, सद्ज्ञान और सदाचरण के ऐक्य पर जोर देता है। जनकल्याण से अभिभूत कबीर न तो किसी सम्प्रदाय के दलदल में ही पड़े और न ही पाखण्डों के पोषण में अपनी जीवन साधना गंवाई। इसलिए वे निष्पक्ष रूप से एक समाज सुधारक और आध्यात्मिक भावनाओं के समर्थक कहे जा सकते हैं।

वीर-वाणी के अनुगूंज-स्वर

१. स्वयं बोध

भ० महावीर की वाणी वीतराग-वाणी है, जिसमें जीव के परम कल्याण और आत्म पुरुषार्थ की जीवन्तता है। भ० महावीर स्वामी ने किसी बात पर प्रमुख और अन्तिम रूप से जोर दिया तो वह है—'स्वयं बोध।' स्वयं से अपरिचय के कारण ही यह जीव दुःखमूलक सम्पदाओं को एकत्र कर उनसे तादात्म्य स्थापित कर रहा है; जीवतत्त्व या चैतन्य शक्ति ही इस दृश्यमान जगत् में वह पारस-निधि है, जिसके बिना संसार की अनन्त वस्तुयें निरर्थक और अनुपयोगी हैं। इस सन्दर्भ में कबीर की यह साखी कितनी युक्तियुक्त है :

> पारस रूपी जीव है, लौह रूप संसार।
> पारस से पारस भया, परख भया टकसार ।।

यह जीव पारस के समान अमूल्य है। इस जीव की व्यापकता का ज्ञान कर लेने पर ही यह संसारी प्राणी (लौह) पारस की तरह अमूल्य बन जाता है। यहाँ 'परख' से तात्पर्य अपनी पहिचान करने से है, क्योंकि बिना पहिचान के यह अपनी अनन्त शक्तियों को भूला हुआ है।

जीवत्व में सिद्धत्व

प्रत्येक जीव अपने में अनन्त सम्भावनायें समेटे हुए है। भ० महावीर ने कहा : शक्तिरूप तूं सिद्ध बुद्ध है, निरंजन है। परन्तु इसकी अभिव्यक्ति प्रसुप्त है। जागृति बिना सच्ची दृष्टि कैसे प्राप्त की जा सकती है ? कबीरदास जी ने एक मार्मिक साखी के द्वारा इस तथ्य को उजागर करने का प्रयास किया है :

> बूंद जो परा समुद्र मे, सो जानत सब कोय।
> समुद्र समाना बूंद में, सो जाने बिरला कोय ।।

इस बात को सभी जानते हैं कि यह जीवात्मा शरीर धारण कर संसार में जन्म और मरण की प्रक्रिया कर रही है, लेकिन इसकी अनन्त शक्ति और योग्यता को बिरला ही कोई जान पाता है। जिसमें इस सृष्टि को जानने की योग्यता है, वह बूंद हमारी आत्मा, अपने में समुद्र अर्थात् संसार को ही सोख लेती है, अर्थात् जीव के सहज स्वरूप में संसार बिसर्जित हो जाता है। जीव की इस विलक्षणता को सब नहीं जान पाते। जैनदर्शन की कितनी गहरी अनुभूति कबीर में उपजी होगी, इस

इस साखी को लिखते समय। एक दूसरी साखी में कबीर कहते हैं :

हंसा तू तो सबल था, हलुकी अपनी चाल।
रग कुरंगे रंगिया, तैं किया और लगवार ॥

हे मानव ! तू तो शक्तिमान् ईश्वर जैसा धवल स्वच्छ है, अर्थात् कर्म-कालिमा से रहित है। फिर भी तूने अपनी उस शक्ति पर एक दृष्टि नही दी और निकृष्ट आचरणों में गिरकर तथा स्वयं को कर्म-कालिमा से लिप्त कर अपने को रग-विरंगा बना लिया है। इस प्रकार, स्वयं *के अज्ञान ने तुझे स्वामी से दास बना दिया है।*

३. *कर्म-बेड़ियों का विनाश*

भ० महावीर ने इस कर्म-कालिमा का कारण जीव की बहिर्दृष्टि बताया है। जीव की आसक्तिपूर्ण या मूर्च्छा-सहित क्रियाये ही कमरूप सूक्ष्म शरीर मे परिणत होकर नये कर्मों से गठबन्धन करती रहती है। कबीर ने इसे उस सञ्चित बीज का रूप दिया जो योग्य भूमि और काल मे पड़ कर कई गुनी फसल प्राप्त करके बढ़ता जाता है। परन्तु यदि यही जीव अन्तर्दृष्टि प्राप्त करके अपने चैतन्य स्वभाव को मूर्च्छा से तोड़कर एक तटस्थ भाव में आ जाये तो वह अपने कर्मों को जर्जरित कर सकता है, जैसे भुंजे हुए बीज मे उसकी मौलिकता समाप्त हो जाती है और वह नये अकुरण नही कर सकता। कबीर ने इसे इस प्रकार कहा :

एक कर्म है बावना, उपजै बीज बहूत।
एक कर्म है भुंजना, उदय न अकुर सूत ॥

इस प्रकार, जीव की बहिर्बुद्धि उसके ससार-भ्रमण का कारण बनी हुई है। एक ओर जहाँ वह पुण्य के फल का आत्मविस्मृति के मूल्य पर भोग कर उन्हे अपना स्वरूप ही समझ बैठता है, वहाँ दूसरी ओर दुखमूलक पापरूप सततियो से वह विपन्न होता है और उनसे उपरत भी होना चाहता है। परन्तु शिवत्व की प्राप्ति मे कर्मों की गुरुता से निर्भार होने के लिए ये दोनों जीव की अदृश्य बेड़ियाँ हैं, जो जीव को कालचक्र के नीचे घसीट ले जाती है। इन्हीं भावों को कबीर ने कितने सरस रूप में कहा—

तीन लोक औ पींजरा, पाप पुण्य औ जाल।
सकल जीव सावज भये, एक अहेरी काल ॥

अर्थात् संसार की चौरासी लाख योनियों के कारागृह मे पाप और पुण्य बेड़ियां है। सजा देने वाला कालचक्र अथवा मृत्यु इस जीव के पीछे प्रत्येक समय लगा रहता है।

४. शरणागत : एक स्वानुभूति

भ० महावीर ने ससारी जीवो को सम्बोधते हुए *कहा है—'संसार में जरा और मरण के तीव्र प्रवाह मे डूबते प्राणियों को धर्म ही एक शरण है, प्रतिष्ठा है, गति* है। तुम स्वयं अपने दीपन हो। अपनी ही ज्योति में अपने को देखो। स्व के प्रति जागो। स्वानुभूति के अलावा और कोई शरण नही। ससार मे ऐसा कोई प्रभु नहीं है जो तुम्हारी अंगुली पकड़ कर तुम्हे भवसागर पार करा दे।' इन्ही भावो को कबीर ने बड़े सहज ढग से कहा :

जो तू चाहे मुझको, छांड़ सकल की आस।
मुझ ही ऐसा होय रहो, सब सुख तेरे पास ॥

पराश्रय बुद्धि से जीव अज्ञान के गहन अन्धकार में डूबा है। इस अज्ञान के घूघट को ऊपर उठाने के लिए एक जगह महात्मा कबीर लिखते है :

तोहि पीय मिलेंगे, घूंघट का पट खोल री।
घट घट में वहि स्वामी रमता, कटुक वचन मत बोल री।
बाहर आप भूल गई सजनी, पियो विषय रस घोल री।
धन यौवन को गर्व न कीजे, झूठो पचरंग चोल री।

वस्तुतः अज्ञान पर्दे को हटाने से ही सम्यक् दृष्टि प्राप्त होती है और घट-घट में व्याप्य आत्मा के सहज दर्शन हो सकते है। भ० महावीर ने विषय वासनाओं को मीठा जहर कहा है जिसे पीकर जीव अपने त्रैकालिक स्वभाव को भूला बैठा है और धन, यौवन जैसे बीच के क्षणिक सयोगों में ही अपनत्व बुद्धि कर अपने ऊपर झूठे मुखौटे ओढ़े हुए है। महावीर स्वामी का संदेश इस विषय राग

के रंग में रंगे चोले से उन्मुक्त होने का संदेश था जिसे कबीर ने 'संतो ! जागत नींद न कीजै' कहा।

वैसे कबीर के प्रत्येक पद, दोहे और साखियों मे आध्यात्मिक पुट है। माया, मोह, भ्रम, अज्ञान, इच्छाओं आदि के बारे मे प्रतीकात्मक शैली में पद और साखिया हैं। परन्तु यहाँ एक दृष्टि मे उनकी अन्तस् को छूती हुई उन भावनाओं की झलक दिखाई गई है, जो लगती है कि वह प्रभु वीर की ही वाणी है। सच है—एक सच्चे सत का हृदय खले आकाश की भांति होता है।

□□□

'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीरसेवामन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली
मुद्रक-प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त श्री ओमप्रकाश जैन
प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक
राष्ट्रिकता—भारतीय पता—२१, दरियागज, दिल्ली-२
सम्पादक—श्री गोकुलप्रसाद जैन राष्ट्रिकता—भारतीय
पता—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२
स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

मैं, ओमप्रकाश जैन, एतद्द्वारा घोषित करता हू कि मेरी पूर्ण जानकारी एव विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है। —**ओमप्रकाश जैन, प्रकाशक**

(पृ० ४८ का शेषांश)

का उद्देश्य पूर्ण होने में पुरुषार्थ करने पर और फल मिलने में कुछ अन्तराल होता है। किसान खेत बोता है और तीन-चार मास बाद फसल मिलती है। यदि किसी ने उसको खेत बोते नहीं देखा। तो फसल मिलने पर कहे उसका है कि खाली जमीन मे से उसे गेहूं का भण्डार मिल गया। वह भण्डार किसी भगवान का, किसी देवी-देवता का, किसी अन्य दैवी शक्ति का दान नहीं है, कृपा नही है; उसके पूर्व कर्म (पुरुषार्थ) का फल है जो उसे भाग्यरूप मिला है। खेत न बोता तो अर्चना-प्रार्थना, जप-तप, मंत्र-तंत्र कोई भी उसे गेहूं का भण्डार उपलब्ध कराने में समर्थ नही था।

भगवान् कृष्ण के निष्काम-कर्म के दर्शन का भी यही अर्थ होना चाहिए कि सही उद्देश्य निर्धारित करके, सही पुरुषार्थ करो, फल तो नियम के अनुसार मिलेगा ही। उसकी चिन्ता तुम्हे नही करनी पड़ेगी और उसके अलावा चाहे जितनी चिन्ता करते रहना कुछ मिलेगा ही नही, कदापि नहीं। पुरुषार्थ करने तथा उद्देश्य की पूर्ति मे जो अन्तराल है, वही भाग्य का, नियति का भ्रम पैदा करता है। कभी-कभी तो वह अन्तराल इतना अधिक हो जाता है कि आदि-अन्त कल्पना मे ही नहीं आ पाता। तब अक्ल काम नहीं करती कि यह जो हुआ सो क्यों हुआ और किसके किए हुए हुआ। तब वह मान कर बैठ जाता है कि प्रभु के किए हुआ, मेरे भाग्य मे ऐसा ही था। परन्तु बिना पुरुषार्थ के कुछ मिलता नही, कुछ होता नही, जो कुछ भी मिल रहा है, हो रहा है, किसी न किसी पूर्व पुरुषार्थ से अवश्य जुड़ा है। आगे क्या चाहिए उसका उद्देश्य निर्धारित करो, उसको पाने के सही पुरुषार्थ का अध्ययन करो और उसी मे लगे रहो। फल तो नियम के अनुसार मिलेगा ही, इसमें सन्देह नहीं है, परन्तु स्मरण रहे कि विपरीत पुरुषार्थ से भी सही फल कभी नही मिलेगा। यह उद्देश्य निर्धारण सम्यग्दर्शन, उसकी प्राप्ति के मार्ग का अध्ययन, सम्यग्ज्ञान और उसे प्राप्त करने का पुरुषार्थ सम्यक् चारित्र है।

वीर सेवा मन्दिर

२१, दरियागज, नई दिल्ली-२

देश के बौद्धिक जीवन में जैनों का योगदान

☐ डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, जयपुर

जैन धर्मानुयायी प्रारम्भ से ही देश के सबसे अधिक सुसंस्कृत, शिक्षित एवं विचारक रहे हैं। अपनी दार्शनिक बुद्धि के माध्यम से उन्होंने सभी क्षेत्रों मे क्रान्तिकारी परिवर्तन किये और भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर एवं उनके पश्चात् होने वाले आचार्यों ने देश के बौद्धिक विकास में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। मुनि, आर्यिका, श्रावक एवं श्राविका इन चार भागो में समस्त जैन संघ को विभक्त करके भगवान् महावीर ने सभी को बौद्धिक विकास का सुअवसर प्रदान किया। यही कारण है कि जैनाचार्यों, मनीषियों एव विचारकों ने अपने विचारो से, साहित्यिक एव दार्शनिक कृतियों से देश के जनमानस को सदैव जाग्रत रखा। इसे परम्पराओं से चिपटे रहने से बचाकर बुद्धिपूर्वक सोचने पर विवश किया और स्याद्वाद एवं अनेकान्त जैसे दार्शनिक सिद्धान्तों को व्यावहारिक जीवन मे खुलकर उतारा। अपरिग्रहवाद के माध्यम से लोगों मे संग्रह वृत्ति की भावना को उभारने से बचाया और स्वाध्याय की प्रेरणा देकर जन-जन को ज्ञानार्जन की दिशा मे प्रवृत्त होने के मार्ग को प्रशस्त बनाया।

प्रमुख आचार्यों का योगदान

भबवान् महावोर के आचार मे अहिंसा, विचारों मे अनेकान्त, वाणी मे स्याद्वाद् और जीवन मे अपरिग्रह जैसे सिद्धान्तो से देशवासियों को बौद्धिक विकास की ओर प्रवृत्त होने की बिशेष प्रेरणा मिली। महावीर के पश्चात् होने वाले आचार्यों एव साधुओ ने उक्त सभी सिद्धान्तों को दृढ़ता से अपने जीवन मे उतारा और वे उन्ही के अनुसार श्रावकों एवं सामान्य जनता को इस ओर प्रवृत्त होने की प्रेरणा देते रहे। सर्व प्रथम आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थाधिगम की रचना करके चिन्तन के क्षेत्र मे एक नयी क्रान्ति उपस्थित की। उन्होंने प्राकृत के आगम ग्रथो में विकीर्ण जैन तत्त्वज्ञान को अपने तत्त्वार्थ-सूत्र में समेटकर रख दिया।[1] उमास्वामी प्रथम जैनाचार्य थे जिन्होंने जैन तत्त्वज्ञान को योग, वैशेषिक आदि दार्शनिक पद्धतियों के अनुरूप वैज्ञानिक ढंग से बुद्धिजीवियों के समक्ष उपस्थित किया। सूत्र रूप में लिखे इस ग्रन्थ में दर्शन, आचार एवं कर्मसिद्धान्त आदि का जो विवेचन हुआ है वह अवर्णनीय है। जैन साहित्य के क्षेत्र मे यह इतना प्रभावशील सिद्ध हुआ कि दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों मे यह ग्रन्थ समान रूप से समादृत ही नही हुआ, किन्तु अनेक आचार्यो ने इस पर छोटी-बड़ी टीकाएँ लिखकर उसके प्रचार को सर्वोच्च प्राथमिकता दी।

दूसरी-तीसरी शताब्दी में होने वाले आचार्य समन्तभद्र का बहुचर्चित व्यक्तित्व था। दे उच्चकोटि के दार्शनिक थे। शास्त्रार्थ मे अपने बिरोधियो को परास्त करने मे अत्यधिक पारंगत थे। उन्होंने अपने आपको आचार्य, कवि, वादिराज, पडित, ज्योतियी, वैद्य, यान्त्रिक एवं तान्त्रिक आदि सभी की तो घोषणा की थी। शास्त्रार्थ करते-करते उन्होंने पाटलिपुत्र, मालबा, सिन्धु, ढाका, कांचीपुर एवं बिदिशा मे अपनी विद्वत्ता एव तार्किकपने की दुन्दुभि बजायी।[2] उन्होने आप्तमीमासा, युक्त्यनुशासन एव स्वयम्भूस्तोत्र जैसे दार्शनिक ग्रन्थों तथा रत्नकरण्डश्रावकाचार जैसे आचार प्रधान ग्रन्थों की रचना करके जन साधारण मे तार्किक बुद्धि के विकास मे योग दिया।

चतुर्थ शताब्दी मे होने वाले आचार्य सिद्धसेन का जैन दार्शनिको मे उल्लेखनीय स्थान है। वे बड़े ही तार्किक विद्वान् थे तथा उन्होने सन्मतिसूत्र एवं सिद्धसेनद्वात्रिंशिका जैसे दार्शनिक ग्रन्थो की रचना करके देशके बौद्धिक चिन्तन के विकास मे महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।[3] इन दार्शनिको के

---

१. जैन लक्षणा वली, प्रस्तावना, पृ. १६। २. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ १७२।

३. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृ. ५०१।

अतिरिक्त अकलंक, हरिभद्रसूरि, सिद्धसेन, अनन्तवीर्य, विद्यानन्द, अनन्तकीर्ति, माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्रदेव सूरि, मल्लिषेण आदि दार्शनिकों ने देश के बौद्धिक धरातल को समुन्नत बनाने में उल्लेखनीय योगदान किया और अपने दार्शनिक विचारों से देश के वातावरण को चिन्तनशील बनाया। १३वीं शताब्दी में होने वाले हेमचन्द्राचार्य बहुश्रुत विद्वान् थे जिन्होंने समूचे भारत मे ज्ञान के प्रति जन-जन मे अपूर्व श्रद्धा उत्पन्न की। उनकी लेखनी सशक्त थी। वाणी मे अद्भुत आकर्षण था एवं वे चुम्बकीय व्यक्तित्व के धनी थे। ज्ञान के किसी भी अग को उन्होंने अछूता नही छोड़ा। काव्य लिखे। पुराण, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, कोष आदि सभी पर तो उन्होंने लिखा और देश में हजारों-लाखों को बुद्धिजीवी बनाने मे अपना योग दिया।[१]

व्याकरणों का योगदान

वैय्याकरणो ने दार्शनिकों के समान ही देश के बौद्धिक विकास में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। मेघा शक्ति के स्वतंत्र विकास और चिन्तन की परमोच्च स्थिति का निर्माण करने मे व्याकरण का पहला स्थान रहा है। पूज्यपाद प्रथम जैनाचार्य थे[२] जिन्होंने अष्टाध्यायी पर टीका लिखी और जैनेन्द्र-व्याकरण की रचना की। इस पर अभयनन्दि (८वी शताब्दी) एव सोमदेव (११वी शताब्दी) ने टीकाएं लिखकर वे उसके प्रचार में सहायक बने। नवमी शताब्दी मे होने वाले शाकटायन ने शब्दानुशासन की रचना की। इस कृति की टीका भी स्वयं ने ही लिखी जिसका नाम अमोघवृत्ति है। यह व्याकरण शाकटायन के नाम से ही प्रसिद्ध हो गया। ११वी शताब्दी में आचार्य हेमचन्द्र ने शब्दानुशासन लिखकर इस क्षेत्र मे एक क्रान्तिकारी परिवर्तन किया। इसी तरह शिववर्मा ने एक नये कातन्त्र व्याकरण को जन्म दिया। यह व्याकरण अत्यधिक सरल एवं संक्षिप्त है।[३] इसके प्रारम्भिक संधि के सूत्र जन-जन के जीवन में उतर गये थे और जैन विद्यालयों के अतिरिक्त ब्राह्मण पंडितों द्वारा भी अपनाये गये और सर्वप्रथम इसी व्याकरण के सूत्रों का अपभ्रंश रूप करके पढ़ाया जाने लगा। 'ओ नामा सीधम्' (ओम् नमः सिद्धेभ्यः), पंचोवरणा (पंचवरणाः), वऊ बिवारा (द्वौ स्वरौ) जैसे सूत्रों के साथ अध्ययन प्रारम्भ किया जाने लगा और छात्रों को याद कराया जाने लगा। एक ओर वैदिक विद्वान् जहां केवल संस्कृत से ही चिपके रहे, वहां जैनाचार्यों ने देश की सभी लौकिक भाषाओं का आदर किया और उनमे नयी-नयी कृतियों का निर्माण करके जन-जन में ज्ञान प्रसार का विशेष प्रयास किया।[४]

जैनाचार्यों ने बौद्धिक क्षेत्र में और भी अनेक क्रान्तिकारी प्रयोग किये। उन्होंने भाषा विशेष से चिपके रहने की नीति को छोड़कर उन सभी भाषाओं में साहित्य निर्माण किया जो जनभाषायें थी। इनमें अपभ्रंश, हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी एवं मराठी भाषाओं के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

अपभ्रंश में साहित्य निर्माण

अपभ्रंश भाषा के महाकवि स्वयम्भू ने लौकिक एवं प्रादेशिक भाषाओं को समान आदर देकर देश के बौद्धिक विकास मे जबरदस्त योग दिया। उन्होंने उन सभी तत्वों को अपना लिया जो तत्कालीन समाज मे अत्यधिक लोकप्रिय थे। इसलिए एक तो जन सामान्य मे उनकी कृतियों को पढ़ने मे अभिरुचि जाग्रत हुई; दूसरे, इन आचार्यों एव विद्वानों को अपनी कृतियो के माध्यम से अपने क्रान्तिकारी विचारों को जनसाधारण तक पहुंचाने में सहायता मिली।[५] इस दृष्टि से पुष्पदन्त, धनपाल, वीर, नयनन्दि, नरसेन, यशःकीर्ति एव रइधू के नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। यशःकीर्ति को छोड़कर शेष सभी श्रावक थे, लेकिन सभी बुद्धिजीवी थे। अपभ्रंश काव्यों एवं पुराणों के माध्यम से ज्ञान के प्रसार का जितना कार्य कवियों ने किया, वह साहित्यिक इतिहास का एक शानदार अध्याय है। इनकी सशक्त लेखनी के द्वारा जनप्रिय काव्यों के निर्माण के कारण कुछ समय तक तो पाठक प्राकृत एवं संस्कृत काव्यों को भुला बैठे और चारों ओर अपभ्रंश काव्यो की मांग

१. राजस्थान के जैन सन्त, व्यक्तित्व एवं कृतित्व, प्रस्तावना
२. जैन लक्षणावली, प्रस्तावना, पृ. १८।
३. जैन ग्रंथ भण्डार्स इन राजस्थान, पृ. १६८।
४. महावीर दौलगय नामावली—व्यक्तित्व एवं कृतित्व, प्रस्तावना, पृ. २।
५. प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य, पृ. १०२।

होने लगी। इस भाषा में प्रमुखतः काव्य, चरित्र, पुराण एवं कथाएं ही लिखी गयीं, इससे स्पष्ट है कि उनकी रचना जनरुचि को देखकर ही होती थी। महाकवि स्वयम्भू एवं पुष्पदन्त दक्षिण भारत के कवि थे, लेकिन उनके काव्यों का सबसे अधिक प्रचार उत्तर भारत में हुआ। अपभ्रंश के सभी कवियों ने काव्यों की रचना स्वाध्याय प्रेमी श्रावकों के आग्रह से की, जिनकी प्रशस्तियां काव्यों के अन्त मे लिखी हुई मिलती हैं जो उन कवियो की लोकप्रियता की ओर स्पष्ट संकेत है।[1]

अपभ्रंश ग्रन्थों की प्रशस्तियों के आधार पर तत्कालीन समाज की साहित्यिक अभिरुचि का पता लगता है। उस समय श्रावकगण विद्वानों से ग्रन्थ निर्माण की प्रार्थना करते थे। अपभ्रंश एवं हिन्दी साहित्य के निर्माण में ऐसे ही श्रावकों की विशेष प्रेरणा रही थी। कविवर बुलाकीदास को तो उनकी माता जैनी ने पाण्डवपुराण एव प्रश्नोत्तरोपासकाचार के निर्माण मे प्रेरणा दी थी[2] जिसका कवि ने पाण्डवपुराण मे स्पष्ट उल्लेख किया है। महाकवि रइधू का सारा साहित्य ऐसी ही प्रेरणा देने वाले व्यक्तियों के परिचय से भरा पड़ा है।

हिन्दी को प्रोत्साहन

अपभ्रंश के पश्चात् जैन कवियो ने प्रादेशिक भाषाओ में ऐसे काव्य-साहित्य का निर्माण किया जिसे जन साधारण भी बड़े चाव से पढ़ सके। उन्होने चरित्र काव्यों की रचना की। रास काव्य लिखे। वेलि फागु के नाम से उनमें कुछ नवीनता दिखलाई। बारहमासा लिखकर घटना वर्णन के साथ-साथ प्रकृति वर्णन किया। सतसई, शतक, पंचासिका, चौबीसी नाम देकर पाठको में संख्यावाचक कृतियो के प्रति अभिरुचि पैदा की। विभिन्न प्रकार के स्तवन लिखे और उनमे भक्ति का अलग-अलग पुट भी दिया। इन काव्यों में तत्कालीन समाज की आर्थिक दशा, व्यापार, व्यापार के तरीके, रहन-सहन, खान-पान आदि का अच्छा परिचय मिल सकता है। साहित्य निर्माण के अतिरिक्त तात्विक एव दार्शनिक अर्थ मे विद्वानों एवं जनसाधारण द्वारा रस लेना बौद्धिक जागृति का एक अभूतपूर्व लक्षण है। देश में छोटे-छोटे स्वाध्याय-मंडल खोले गये। आध्यात्मिक शैलियां चलायी गयीं जिनमें विभिन्न श्रावक श्राविकायें भाग लेकर चर्चायें करते थे। यही नहीं, गुणस्थान, मार्गणा, अष्टकर्म एवं उनकी प्रकृतियों पर विस्तृत चर्चा ग्रंथ लिखे गये। आगरा में इसी प्रकार की एक आध्यात्मिक शैली थी जिसका महाकवि बनारसीदास ने उल्लेख किया है।[3]

आध्यात्मिक चर्चा

जैनाचार्यों ने आध्यात्मिक साहित्य का निर्माण करके जनजीवन को जाग्रत बनाने का प्रयास किया। "पुनरपि जननं पुनरपि मरणं" के भुलावे से बचाने के लिए उन्होंने आध्यात्मिक ग्रंथों की रचना की। आत्मा की सच्ची अनुभूति के लिए उन क्रियाओं पर जोर दिया जिनमें भेद विज्ञान की चर्चा की गई है। ईश्वर के प्रभाव से बचने, उसमे आस्था रखकर स्वयं निष्क्रिय बनने से बचाने के लिए स्वयं परमात्मा बनाने की कल्पना अनूठी है तथा इससे उसमें स्वय ही एक कर्त्तृत्व शक्ति पैदा होती है। आध्यात्मिक साहित्य के रचयिताओं मे आचार्य कुन्दकुन्द[4] का नाम सर्वोपरि है जिन्होने प्राकृत भाषा में प्रवचनसार, समयसार जैसी कृतियां लिखकर बुद्धिजीवियों का महान् उपकार किया। हमारे आगम साहित्य मे तो अध्यात्म का अनूठा वर्णन मिलता ही है। लेकिन उनके पश्चात् लिखे जाने वाले प्राकृत, अपभ्रंश, सस्कृत ग्रन्थों मे आत्मा, परमात्मा, जन्म-मरण आदि की जो चर्चायें मिलती हैं उन सबसे बौद्धिक जीवन पर गहरी छाप पड़ी तथा उसने वैचारिक क्रान्ति करने मे अपना विशेष योग दिया।[5]

शास्त्रार्थ परम्परा

शास्त्रार्थों की परम्परा ने भी बौद्धिक विकास में विशेष योग दिया। शंकराचार्य ने शास्त्रार्थों द्वारा ही बौद्ध धर्म को देश से बाहर जाने को मजबूर किया था। लेकिन जैनाचार्य शकराचार्य की आंधी मे भी अप्रभावित रहे और

(शेष पृष्ठ ५८ पर)

१. अपभ्रंश साहित्य, प्रो० हरिवंश कोछड़, पृ० ५१।
२. देखिये, राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रंथ सूची, भाग ३, पृ. ६४।
३. अर्धकथानक—नाथूराम प्रेमी, पृ. ३५।
४. जैन लक्षणावली, प्रस्तावना, पृ. ५।
५. अपभ्रंश साहित्य, पृ. २६५।

स्याद्वाद या अनेकान्त : एक चिन्तन

□ पंडित वर्धमान पा० शास्त्री, सिद्धान्ताचार्य

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यंध सिंधुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकांतम् ।।
—अमृतचन्द्र

अनेक अंधों ने हाथी कभी नही देखा था। हाथी देखने चले गये। किसी अन्धे ने कहा कि हाथी खम्भे के समान है। किसी अन्धे ने कहा कि हाथी पंखे के समान है। किसी ने कहा कि हाथी केले के खूंट के समान है। किसी ने कहा कि ढोल के समान है। किसी ने डंडे के समान बताया। साथ ही इन अन्धों ने अपनी-अपनी बात का समर्थन करते हुए दूसरे के विरोधी कथन को अस्वीकार करते हुए आपस में झगड़ा भी किया। झगड़ा बढ़ता ही जा रहा था। कोई आँखों वाला बुद्धिमान् जा रहा था। उसने देखा कि ये आपस में लड़ रहे है, वास्तव में झगड़ा क्या है? सो उसकी समझ मे आया। उसने सोचा कि इन्होने हाथी के एक-एक अंग को हाथ लगाया है; अपनी-अपनी अपेक्षा से हाथी का वर्णन करते है। यह हाथी का सम्पूर्ण वर्णन नही है। हाथी तो सभी अवयवों का पिण्डरूप है। अस्तु इनका आपस का झगड़ा मिटाना चाहिए, किसी नय की अपेक्षा एक-एक का कथन भी सत्य है। अतः उसने कहा कि तुम्हारा कहना भी सत्य है, तुम्हारा कहना भी सत्य है। सभी अन्धो को आनन्द हुआ। झगड़ा मिट गया, 'भी' से झगड़ा मिटा, 'ही' से विरोध नहीं मिटता। इस 'ही' और 'भी' का अन्तर अनेकान्त है। इसे ही स्याद्वाद् कहते हैं।

मैं कहता हूं सो सत्य ही है, ऐसा कहने वाला सत्य से बहुत दूर है। आप जो कहते हैं वह भी सत्य हो सकता है, यह कहने से विरोध हो ही नहीं सकता है।

इसलिए यह अनेकान्त या स्याद्वाद नयों के द्वारा उत्पन्न विरोध को मिटा है। वस्तुस्थिति के साध्य में यह स्याद्वाद किसी प्रकार का कोई विघ्न उपस्थित नहीं करता।

अनेकांत—अनेके अंता धर्म जिसमें हों उसे अनेकांत कहते है। स्याद्वाद का वही अर्थ है। किसी ने पूछा कि क्या पदार्थ नित्य है? अनेकांतवादी यह नही कहेगा कि पदार्थ नित्य ही है। वह कहेगा कि स्यात्, होगा, अर्थात् नित्य होगा। इसमे यह भी अर्थ गर्भित है कि अनित्य भी होगा।

फिर तो लोग कहेंगे कि यह संशय है, किसी विषय का निर्णीत रूप से कथन नहीं करता है। तो यह संशय नही है।

विरुद्धानेककोटिस्पर्शिज्ञानं संशयः।

विरुद्ध अनेक कोटि को स्पर्श करने वाला ज्ञान संशय है। यह साँप होगा? या रस्सी होगी? क्या और कुछ है? इस प्रकार विचार करने वाला संशय है। संशय में किसी भी विषय का निर्णय नही हो पाता है, परन्तु इस स्यात् अथवा अपेक्षावाद के ज्ञान मे निश्चितता है, अमुक अपेक्षा से पदार्थ नित्य है, अमुक अपेक्षा से पदार्थ अनित्य है, अमुक अपेक्षा से उसमे वस्तुत्व है, अमुक अपेक्षा से उसमें प्रमेयत्व है, इत्यादि अनन्त धर्म होने पर भी अपेक्षावाद से वह निश्चित है। सो यह संशय, विपरीत व अनध्यवसाय आदिक ज्ञानाभास नही हो सकता है। अतः स्याद्वाद सम्यग्ज्ञान है।

दूसरी बात, इसका कथन वस्तुस्वरूप के अनुसार है। कोई भी कृत्रिमता या बनावटी बात यहां नहीं है, क्योंकि पदार्थ उसी प्रकार मौजूद है। उसका कथन उसी प्रकार किया जा रहा है। इसमें कृत्रिमता क्या है? पदार्थों में अनन्त धर्म विद्यमान, है उसे अपेक्षावाद से ही हम समझ सकते है। अपेक्षावाद को छोड़ दिया जाय तो उसका कथन हम नहीं कर सकते हैं। अतः अपेक्षावाद की अत्यन्त

आवश्यकता है। अपेक्षावाद के बिना एक पत्ता भी हिल नहीं सकता है, जीभ तो कैसे हिले ?

पदार्थ जिस प्रकार अस्तित्व में हो, उसका उसी प्रकार कथन करना चाहिए। उस प्रकार कथन न करें तो उसका कथन ही अयथार्थ होगा, अर्थात् वह ज्ञान सत्य ज्ञान नही है।

अनेकान्त या स्याद्वाद हमें अपेक्षावाद को सिखाता है। यह भी कहता है कि पदार्थ जिस प्रकार है, उसे उसी प्रकार कथन करने का अभ्यास करो।

जहां अनेकान्त है वहां पर कोई विवाद उत्पन्न नहीं होता है। अनेक समस्यायें इस अनेकान्त के कारण अपने आप सुलझ जाती हैं। अतः प्रत्येक पदार्थ को समझने के लिए इस अपेक्षावाद का उपयोग आवश्यक है, इसमें परस्पर कोई विरोध भी नही है।

प्रकाश-अन्धकार, शत्रु-मित्र, गुरु-शिष्य, पति-पत्नी, बैठना-उठना, सोना-जागना, गेहूं-चावल, घी तेल, नमक-मिर्च आदि सर्व व्यवहार अपेक्षावाद से युक्त है, अपेक्षावाद को छोड़कर हम इन शब्द प्रयोगों को नही कर सकते हैं।

एक ही व्यक्ति में पितृत्व, पुत्रत्व, भ्रातृत्व, कनिष्ठ भ्रातृत्व, ज्येष्ठ भ्रातृत्व, मामापना, भानजापना, आदि सम्बन्ध विद्यमान हैं। इन सबको अपेक्षावाद से जानना चाहिए। अपेक्षावाद के बिना हम पदार्थों को समझने मे असमर्थ रहेंगे, अज्ञानी बने रहेंगे।

पदार्थ को जैसा है वैसा समझना ही सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञान के बिना वस्तु के निश्चित स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता है। वस्तु के निश्चित स्वरूप के बिना अपना भी ज्ञान नहीं हो सकता है। अतः वह निरपेक्षवादी सर्व ज्ञानों से वंचित रहता है। स्याद्वाद समन्वयवाद है, पदार्थ को सर्वथा स्वीकार नही करना है, उसमें कथंचित् अर्थ अभिप्रेत है। कथंचित् अर्थ जहां अभिप्रेत हो वहां पर कोई विवाद उत्पन्न नहीं हो सकता है।

जहां पक्षपात है वहीं विवाद उत्पन्न होता है, पक्षपात रहित स्वाभाविक कथन में विवाद ही उत्पन्न नहीं हो सकता है। इसीलिए कहा गया है कि—

स्याद्वादो विद्यते यत्र, पक्षपातो न विद्यते।

जहां स्याद्वाद है वहां पक्षपात नहीं। आचार्य हेमचन्द्र ने इससे भी आगे बढ़कर कहा कि—

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचन यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥

मुझे भगवान् महावीर में भी पक्षपात नही है, और कपिलवादिकों के प्रति द्वेष भी नहीं है, जिनका कथन युक्तियुक्त है उसे स्वीकार मैं करता हूं।

स्याथाद की उत्पत्ति क्यों ?

नय दो प्रकार के है। नय दो प्रकार के कहने की अपेक्षा, अपेक्षावाद दो प्रकार का है यह कहने से काम चल सकता है। अपेक्षावाद दो प्रकार का है यह कहने की अपेक्षा पदार्थ उसी प्रकार से है यह कह दिया जाय तो अधिक समजस दिख सकेगा।

नय विवक्षा दो प्रकार से है—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक।

द्रव्य की अपेक्षा रखने वाला, द्रव्य ही जिसका प्रयोजन हो, द्रव्य की दृष्टि को रखकर कथन करने वाला नय द्रव्यार्थिक है। पर्याय की दृष्टि को रखकर पदार्थ का विचार करने वाला, पर्याय की अपेक्षा रखकर विचार करने वाला, पर्याय ही जिसका प्रयोजन हो वह पर्यायार्थिक नय है। नयों का समुदाय ही प्रमाण है। अतः यह नय भी प्रमाण का एकदेश होने से प्रमाण-स्वरूप है।

इसे महर्षि पूज्यपाद ने 'क्षीरार्णवजल घटगृहीतमिव', क्षीरसमुद्र के पास से एक घड़े मे जैसा लेवें तो वह क्षीरसमुद्र है क्या—नहीं, क्षीरसमुद्र का जल है क्या ? है, इस प्रकार प्रमाण एकदेश प्रमाणात्मक उत्तर मिलेगा, इसी प्रकार नय में प्रमाण का एकदेशत्व है।

फिर द्रव्य-पर्याय दृष्टि क्या है ?

आचार्य उमास्वामी ने द्रव्य का लक्षण करते हुए कहा कि 'सत् द्रव्यलक्षणम्', सत् द्रव्य का लक्षण है। सत् क्या है। इसका उत्तर देते हुए आचार्य ने कहा हैं कि 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'; उत्पत्ति, विनाश और ध्रुवता

सत् कहलाता है, अर्थात् ये तीनों बातें उस द्रव्य में है। पूर्व पर्याय का विनाश, वर्तमान पर्याय की उत्पत्ति, यह जिस प्रकार पर्याय में होती है उसी प्रकार ध्रुवता द्रव्यत्व मे रहती है। उदाहरण के लिए, एक मनुष्य जीव को लीजिए। वह पहले तिर्यञ्च योनि मे था। अब पर्याय की दृष्टि से मनुष्य योनि मे उसकी उत्पत्ति हुई, तिर्यञ्च योनि का विनाश हुआ, अर्थात् तिर्यञ्च भी उसका पर्याय था, मनुष्य गति भी एक पर्याय है। अतः पर्याय की दृष्टि से उसकी उत्पत्ति व विनाश हुआ। परन्तु द्रव्य दृष्टि से वह जीव था, अभी भी जीव है, आगे भी जीव रहेगा। जीवत्व का विनाश कभी नही होगा, उसमे ध्रुवता है। इस दृष्टि से उसका नाश कभी नही होगा। अतः नित्य है, पर्याय अनित्य है।

इन दोनो नयो का विचार करने पर स्याद्वाद की उत्पत्ति होती है। इन दोनो नयों की अपेक्षा पदार्थ को सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य नही कह सकते है। स्यात् नित्य, स्यात् अनित्य कह सकते है।

मानवीय प्राणी की शक्ति, बुद्धि आदि सीमित होने के कारण अनन्त धर्मों से युक्त पदार्थ का अनन्त धर्मों से उल्लेख नही किया जा सकता है, इसलिए सात विवक्षाओ मे उन सभी धर्मो का अन्तर्भाव कर कह दिया जाता है। उसे सप्तभंगी कहते है, इस प्रकार का अर्थ भग है, सात प्रकारो से युक्त है। अतः वह स्याद्वाद सप्तभंगी कहलाता है।

सप्तभंगी क्या है ?

पदार्थ का स्वचतुष्टय-परचतुष्टय की दृष्टि से विचार किया जाता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव वे चतुष्टय है, अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव स्वचतुष्टय हैं, दूसरों के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव परचतुष्टय है।

स्यादस्ति—अपने चतुष्टय (स्वचतुष्टय) की अपेक्षा पदार्थ मौजूद है।

स्यान्नास्ति—परचतुष्टय की अपेक्षा से पदार्थ नहीं है, अर्थात् पदार्थ में अस्तित्व नास्तित्व दोनों धर्म आये।

स्यादस्ति नास्ति—कथचित् वह पदार्थ उभयरूप है, क्योंकि क्रम से दोनो की अपेक्षा है।

स्यादवक्तव्य—कथचित् वह अवक्तव्य है क्योंकि दोनों की एक साथ विवक्षा होने से कथन नही किया जा सकता है। अतः अवक्तव्य है।

अवक्तव्य होने पर उसका अस्तित्व कैसे माना जावे ? तब पाचवां भंग उदय मे आया।

स्यादस्ति अवक्तव्य—पदार्थ मौजूद है परन्तु अवक्तव्य है। अपने स्वचतुष्टय की अपेक्षा से वह अस्तित्व मे है तथापि हम उसका कथन नही कर सकते है।

स्यान्नास्ति अवक्तव्य परचतुष्टय का उसम अभाव है। अतः कथचित् नास्ति अवक्तव्य है। यहा परचतुष्टय की अपेक्षा नही होने पर भी अवक्तव्य है।

स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य—दोनो विवक्षा से अस्तित्व नास्तित्व धर्म के एक काल मे होने पर भी अवक्तव्य है।

इन सब भंगों में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की अपेक्षा कर लेनी चाहिए। इसे स्वामी समन्तभद्र ने एक सुन्दर उदाहरण देकर समझाया है—

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थां जनो याति सहेतुकम्॥

—आप्तमीमासा, ५९.

एक मनुष्य को सोने के घड़े की जरूरत थी, दूसरे को सोने के मुकुट की जरूरत थी, तीसरे को सोने की जरूरत थी। तीनों सराफ की दुकान मे गये। जिसको घड़े की जरूरत थी वह निराश हुआ, क्योंकि सराफ ने कहा कि मेरे पास सोने का घड़ा था, परन्तु उसके लिए कोई ग्राहक न होने से उसे तुड़वाया एव सोने का मुकुट बनवाया; मुकुट को लेने वाले को हर्ष हुआ, क्योंकि वह मुकुट चाहता था, परन्तु जो केवल सोना चाहता था उसे न हर्ष न विषाद, मध्यस्थ भाव है, क्योंकि घड़े मे भी सोना है, मुकुट मे भी सोना है। इसलिए उसे तोड़ने का न विषाद है और न बनाने का हर्ष।

यहां पर आचार्य ने द्रव्य और भाव दोनो मे उत्पाद,

व्यय, ध्रौव्य का निरूपण किया है। घड़े का विनाश व मुकुट की उत्पत्ति, ये सोने में दो पर्याय दृष्टिगोचर होते है। उसके साथ ही एक में शोक की उत्पत्ति और हर्ष का नाश दीख रहा है, तो दूसरे में विषाद का नाश व हर्ष की उत्पत्ति दीख रही है, तथा तीसरे उदाहरण मे जिस प्रकार सोने में सर्वत्र ध्रुवता है उसी प्रकार परिणाम मे भी माध्यस्थ या ध्रुवता है। न हर्ष है और न विषाद है। परिणाम ध्रुवता है।

इउ प्रकार सर्व तत्त्वों को प्रकाशित करने वाले स्याद्वाद का आचार्य ने केवलज्ञान के रूप में वर्णन किया है—

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशके।
भेद: साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतम भवेत्॥

—आप्तमीमांसा १०५

सर्व तत्त्व को प्रकाशित करने वाला स्याद्वाद भी केवलज्ञान के समान ही है। भेद सिर्फ इतना ही है कि केवलज्ञान प्रत्यक्ष रूप से जानता है। स्याद्वाद परोक्ष रूप से जानता है। दोनो मे ज्ञान की दृष्टि से कोई भेद नही है। एक केवल है, दूसरा श्रुतकेवल है। एक प्रत्यक्ष है, दूसरा परोक्ष है। इस बात का समर्थन नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने भी किया है।

सुदकेवलं च णाण दोण्णिवि सरिसाणि होंति बोहादो।
सुदणाणं तु परोक्ख पच्चक्ख केवल णाणम्॥

—गोम्मटसार जीवकाड

अर्थात् श्रुतज्ञान मे और केवलज्ञान में ज्ञान की अपेक्षा से कोई भेद नहीं है। श्रुतज्ञान परोक्ष है, केवलज्ञान प्रत्यक्ष है, इतना ही अन्तर है।

इस प्रकार समझकर स्याद्वादरूपी श्रुतकेवलज्ञान से जो पदार्थों का ज्ञान करता है वह न भूलता है, वस्तु स्वरूप के समझने में न धोका खाता है, और न वहा पर विवाद उत्पन्न होता है। परस्पर वैषम्य को वह अनेकांत दूर कर हर एक मे समन्वय दृष्टि को निर्माण करता है। यही कारण है कि स्याद्वाद लोक मे शांति को उत्पन्न करने के लिए कारण है।

नयचक्र पारंगत आचार्य अमृतचन्द्र स्पष्टत: निर्देश करते हैं कि—

इति विविधभंगगहने सुदुस्तरे मार्गमूढदृष्टीनाम्।
गुरवो भवन्ति शरण प्रबुद्धनयचक्रसंचारा:॥

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ५८.

इस प्रकार विभिन्न नय के प्रयोग में अनेक भंग हैं, और कठिन है। मिथ्यादृष्टि जीव इस भवकानन मे चलते हुए कभी-कभी मार्ग भूल जाता है, इधर-उधर भटकता रहता है। भटकना भी चाहिए ससार में भटकना या परिभ्रमण करना ही ससार का वास्तविक लक्षण है। जो इस नयचक्र का ठीक-ठीक प्रकार से प्रयोग नही कर सकें और नयचक्र में चक्कर खाकर भटकते रहे, वे इसे समझने के लिए, इस नयचक्र में संचार करने मे प्रवीण, सदा निश्शक विचरण करने वाले सद्गुरुओ की शरण जावें। अपने आप उसका परिज्ञान हो जायगा। □□□

(पृष्ठ ५४ का शेषांश)

अकलंक, विद्यानन्दि, हरिभद्र सूरि, समन्तभद्र जैसे आचार्यों ने अपने शास्त्रार्थों द्वारा देश में एक नयी लहर पैदा की। आचार्य समन्तभद्र के ये दो पद्य तत्कालीन बौद्धिक जीवन पर अच्छा प्रकाश डालते है:

[1]पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता,
पश्चान्मालवसिन्धुठक्कविषये काचीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं सकट,
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम्।
[2]आचार्योऽहं कविरहमहं वादिराट् पडितोऽहं,
दैवज्ञोऽहं भिषगहमहं मांत्रिकस्तान्त्रिकोऽहम्।
राजन्नस्या जलधिवलयामेखलायामिलायामाज्ञा-
सिद्ध: किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोऽहम्॥

जन सामान्य के बौद्धिक विकास के लिऐ शिक्षण-सस्थान स्थापित किये गये। देश के प्राचीनतम नगरों में ऐसे ही विद्यालय थे, जिनमे प्राइमरी शिक्षा के पश्चात् विद्यार्थियों को दार्शनिक, साहित्यिक एवं धार्मिक शिक्षा दी जाती थी। नालन्दा के समान अन्य शिक्षण सस्थाये भी थी जिनमे गुरुकुलों के रूप मे विद्यार्थियो को शिक्षा दी जाती थी। १०वी शताब्दी मे बांरा मे[3] और १५वीं शताब्दी में नैणवा[4] (राज०) मे ऐसी ही शिक्षण संस्थायें थी। इनके अतिरिक्त, राजस्थान मे ही आमेर, अजमेर, जैसलमेर, नागौर, सागवाडा में विद्यार्थियों को पढ़ाने के लिए शिक्षण संस्थान थे।[5]

---

१. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृ. १७। २. वही, पृ. २४२।
३. जैन ग्रन्थ भण्डार इन राजस्थान, पृ. २२७। ४. वही, पृ. २३१। ७. वही, पृ. २०२।

सन्तकवि रइधू और उनका साहित्य

☐ डा० राजाराम जैन, एम. ए., पी-एच. डी.

भारतीय वाङ्मय के उन्नयन में जिन बरेण्य साधकों ने अनवरत श्रम एवं अथक साधना करके अपना उल्लेख्य योगदान किया है, उनमे महाकवि रइधू अपना प्रमुख स्थान रखते हैं। उन्होने अपने जीवनकाल के सीमित समय मे २३ से भी अधिक विशाल अपभ्रंश, प्राकृत ग्रन्थों की रचना करके साहित्य-जगत् को आश्चर्यचकित किया है। रचनाओ का विषय वैविध्य, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी आदि भाषाओं का असाधारण पाण्डित्य, इतिहास एवं संस्कृति का तलस्पर्शी ज्ञान, समाज एवं राष्ट्र को साहित्य, संगीत एवं कला के प्रति जागरूक कराने की क्षमता जैसी उक्त कवि मे दिखाई पड़ती है, वैसी अन्यत्र कठिनाई से ही प्राप्त हो सकेगी।

कवि की कवित्त-शक्ति उसके वर्ण्य-विषय मे तो स्पष्ट दिखती ही है, किन्तु समाज एवं राजन्यवर्ग के लोगो को भी उसने साहित्य एवं कलाप्रेमी बना दिया था। यह महाकवि रइधू की अद्वितीय देन है। ऐसी लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि लक्ष्मी एवं सरस्वती का सदा से वैरभाव चला आया है। कई जगह यह उक्ति सत्य भी सिद्ध हुई है, लेकिन कवि ने उनका जैसा समन्वय किया-कराया, वही उसकी विशिष्ट एवं अद्भुत मौलिकता है; उदाहरणार्थ कवि की प्रशस्तियों में से एक अत्यन्त मार्मिक प्रसग उपस्थित किया जाता है, जिससे कवि प्रतिभा का चमत्कार स्पष्ट देखने को मिल जाता है।

महाकवि रइधू की साधना-भूमि गोपाचल (ग्वालियर) मे तत्कालीन तोमरवंशी राजा डूगरसिंह के मन्त्री सबबी कमलसिंह निवास करते थे, जो स्थितिपालक एवं उदारमना थे। राज्यपदाधिकारी होने से वे राज्यकार्यों मे बड़े व्यस्त रहते थे। एक दिन वे उससे घबराकर रइधू से भेंट करते है तथा निवेदन करते है—

सयणासण तबेर तुरग,
धय-छत-चमर-भामिणि-रहग।
कंचण-धण-कण-घर-दविण-कोस,
जाणइ जपाइ जणिय तोस।
तह पुण णयरायर-देस-गाम,
बंधव णंदण णयणाहिराम।
सारयरु अणु पुणु बच्छु भाउ,
ज जं दीसइ णाणा सहाउ।
तं त जि एत्थु पावियइ सव्वु,
लब्भइ ण कव्व-मणिक्कु भव्वु।
एत्थु जि बहु बुह णि वसहिउ किट्ठु,
णउ सुकउ को वि दीसइ मणिट्ठु।
भो णिसुणि वियक्खण कहमि तुज्झु,
रक्खमि ण किंपि णियचितगुज्झु।

घत्ता—
तहु पुणुकव्वरयण-रयणायरु बालमित्तु अम्हहं णेहाउरु।
तुहु महु सच्चउ पुण्ण सहायउ मह मणिच्छ पूरण अणुरायउ॥
—सम्मत० १।७।१–७ तथा १।१४।८-९

अर्थात् "हे कविवर, शयनासन, हाथी, घोड़े, ध्वजा, छत्र, चमर, सुन्दर रानियां, रथ, सेना, सोना, धन-धान्य, भवन, सम्पत्ति, कोष, नगर, देश, ग्राम, बन्धु-बान्धव, सुन्दर सन्तान, पुत्र, भाई आदि सभी मुझे उपलब्ध हैं। सौभाग्य से किसी भी प्रकार की भौतिक सामग्री की मुझे कमी नही है। किन्तु इतना सब होने पर भी मुझे एक वस्तु का अभाव सदैव खटकता रहता है, और वह यह कि मेरे पास काव्यरूपी एक भी सुन्दर मणि नही है। इसके बिना मेरा सारा ऐश्वर्य फीका-फीका लगता है। हे काव्यरूपी रत्नों के रत्नाकर, तुम तो मेरे स्नेही बालमित्र हो, तुम्ही हमारे सच्चे पुण्य-सहायक हो, मेरे मन की इच्छा परिपूर्ण करने वाले हो। इस नगर मे बहुत से विद्वज्जन निवास करते है, किन्तु मुझे आप जैसा कोई भी अन्य सुकवि नही दिखता। अतः हे कवि श्रेष्ठ, मैं अपने हृदय की ग्रन्थि खोलकर सच-सच अपने मन की बात आप से कहता हूं कि आप एक काव्य की रचना करके मुझ पर अपनी महती कृपा कीजिए।" कमलसिंह के उक्त निवेदन पर कविने 'सम्मत्तगुणणिहाणकव्व' नामक एक अध्यात्म एवं दर्शन के ग्रन्थ की रचना की।

उक्त महाकवि का काल अन्तर्वाह्य साक्ष्यो के आधार पर वि० स० १४४०–१५३० सिद्ध होता है। पिछले १५ वर्षों के निरन्तर प्रयासो से उक्त कवि के २१ ग्रन्थ इन पक्तियो के लेखक को भारत के विविध शास्त्रभण्डारो से

उपलब्ध अथवा ज्ञात हो सके है, जिनकी वर्गीकृत सूची इस प्रकार है—

चरित साहित्य

(१) महेसर चरिउ (मेघेश्वरचरित), (२) बलहद्दचरिउ (बलभद्रचरित), (३) जिमधरचरिउ (जीमन्धरचरित), (४) सिरि सिरिवालचरिउ (श्री श्रीपालचरित), (५) जसहरचरिउ (यशोधरचरित), (६) सम्मइजिणचरिउ (सन्मतिजिनचरित), (७) हरिवंशचरिउ (हरिवशचरित), (८) सुक्कोसलचरिउ (सुकौशलचरित), (९) धण्णकुमारचरिउ (धन्यकुमारचरित), (१०) सतिणाहचरिउ (शान्तिनाथचरित), (११) पासणाहचरिउ (पार्श्वनाथचरित)।

आचार, दर्शन एव सिद्धान्त साहित्य

(१२) पुण्णासवकहा (पुण्याश्रवकथा), (१३) सावयचरिउ (श्रावकचरित), (१४) सम्मतगुणणिहाणकव्व (सम्यक्त्वगुणनिधान काव्य), (१५) अप्पसबोहकव्व (आत्मसम्बोध काव्य), (१६) अणथमिउकहा (अनस्तमित कथा), (१७) सिद्धंतत्थसार (सिद्धान्तार्थसार), एवं (१८) वित्तसार (वृत्तसार)।

अध्यात्म साहित्य

(१९) बारा भावना, (२०) सोलहकारण जयमाला, (२१) दशलक्षणधर्म जयमाला।

उक्त ग्रन्थो के अतिरिक्त कवि द्वारा विरचित महापुराण, सुदसणचरिउ (सुदर्शनचरित), पज्जुणचरिउ (प्रद्युम्नचरित), भविसयत्तचरिउ (भविष्यदत्तचरित), करकडचरिउ (करकडुचरित) प्रभृत्ति ग्रन्थ अनुपलब्ध है, किन्तु उनका अन्वेषण कार्य जारी है।

रइधू साहित्य की विशेषताएँ

रइधू-साहित्य की सर्वप्रथम विशेषता है उसकी विस्तृत आद्यन्त प्रशस्तियां। कवि ने अपने प्रायः सभी ग्रन्थो के आदि एवं अन्त मे प्रशस्तियों का अकन किया है, जिनके माध्यम से कवि ने समकालीन साहित्यिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक एव सांस्कृतिक परिस्थितियो पर सुन्दर प्रकाश डाला है। इन प्रशस्तियो से विदित होता है कि तोमरवशी राजा डूगरसिह एव कीर्त्तिसिह तथा चौहानवशी राजा रुद्रप्रताप कवि के परमभक्त तथा साहित्य एव कथा रसिक थे। राजा डूगरसिह तथा उनके पुत्र राजा कीर्त्तिसिह ने राज्य की कोटि-कोटि मुद्राएं व्यय करके तैंतीस वर्षों तक लगातार अगणित जैन मूर्तियों का निर्माण गोपाचल दुर्ग में कराया था। उनमे से कई मूर्तियां विशाल है। एक मूर्ति तो ५७ फुट ऊँची है। सख्या, विशालता एव कला-वैभव मे वे अनुपम है।

इसी प्रकार चन्द्रवाडपट्टन (आधुनिक चन्दुवार, जिला फिरोजाबाद, उ० प्र०) निवासी श्री कुन्थुदास नगरसेठ ने भी कवि की प्रेरणा से हीरे, मोती, माणिक्य की अनेक मूर्त्तियो का निर्माण कराकर पचकल्याणक प्रतिष्ठाएं की थीं। उपलब्ध भारतीय इतिहास मे मूर्तिकला सम्बन्धी उक्त घटनाओ की चर्चा नही की गई। ऐसा क्यों हुआ? यह कारण अज्ञात है। किन्तु अब रइधू-साहित्य-प्रशस्तियो के आधार पर मध्यकालीन भारतीय इतिहास के पुनर्लेखन की आवश्यकता है।

प्रशस्तियो की दूसरी विशेषयता यह है कि उनमे काष्ठासघ, माथुरगच्छकी पुष्करगण शाखा के अनेक भट्टारको को क्रमबद्ध परम्परा प्राप्त है। कवि ने देवसेन, विमलसेन, धर्मसेन, भावसेन, सहस्रकीर्त्ति, गुणकीर्त्ति, यशःकीर्त्ति, श्रीपालब्रह्म, खेमचन्द्र, मलयकीर्ति, गुणभद्र, विजयसेन, क्षेमकीर्त्ति, हेमकीर्त्ति, कमलकीर्त्ति, शुभचन्द्र एवं कुमारसेन के उल्लेख किये है। यद्यपि ये उल्लेख सक्षिप्त एवं प्रसंगप्राप्त है, किन्तु उनके क्रम एवं समय निर्धारण तथा उनके साधनापूर्ण कार्यों को समझने के लिए वे महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ-सामग्री प्रस्तुत करते है।

रइधू ने पूर्ववर्ती अपभ्रश कवियो में चउमुह (चतुर्मुख) द्रोण, ईशान, स्वयम्भू, पुष्पदन्त, धनपाल, वीर, धवल, धीरसेन, पविषेण, सुरसेन तथा दिनकरसेन तथा सस्कृत कवियो मे देवनन्दि, जिनसेन (प्रथम और द्वितीय) एवं रविषेण के उल्लेख किये है। अपभ्रश एव हिन्दी के अनुसन्धित्सुओ के लिए धीरसेन, पविषेण, सुरसेन एव दिनकरसेन इन चार कवियो के नाम नवीन है। रइधू ने उनकी क्रमशः प्रमाण, नय प्रमाण, नेहेसरचरिउ एवं अणगचरिउ नाम की कृतियो के उल्लेख किये हैं। इन ग्रन्थो के अन्वेषण एव प्रकाशन से निश्चय ही साहित्यिक इतिहास के पुर्ननिर्माण मे कई दृष्टियो से सहायता मिलेगी।

महाकवि रइधू ने अपने आश्रयदाताओं की ११-११ पीढ़ियों तक की कुल परम्पराएँ एवं उनके द्वारा किए गये साहित्य, धर्म, तीर्थ, मूर्त्ति-निर्माण, मन्दिर-निर्माण, दान एवं राज्य-सेवा सम्बन्धी कार्यों पर अच्छा प्रकाश डाला है। इन सन्दर्भों के आधार पर मालवा के मध्यकालीन समाज के सांस्कृतिक इतिहास का प्रामाणिक लेखा-जोखा तैयार हो सकता है। इस विषय में संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि रइधू-साहित्य मध्यकालीन परिस्थितियों का एक प्रतिनिधि साहित्य है। उसमे राजतन्त्र एवं शासन-व्यवस्था, सामाजिक-जीवन, परिवार-गठन एव परिवार के घटक, वाणिज्य-प्रकार, आयात-निर्यात की सामग्रियो की सूची, समुद्र-यात्रायें, आचार-व्यवहार, मनोरंजन, शिक्षा-पद्धति सम्बन्धी बहुमूल्य सामग्री प्राप्त होती है।

प्राचीन एव मध्यकालीन भारतीय भूगोल की दृष्टि से भी रइधू साहित्य कम महत्त्वपूर्ण नही। भारतवर्ष की मध्यकालीन राजनैतिक सीमाएँ; विविध नगर, देश, ग्राम, पत्तन, पर्वत, नदियाँ, वनस्पतियाँ, जीव-जन्तु, आदिम जातिया, खनिज पदार्थ, यातायात के साधन आदि सम्बन्धी सामग्री इसमे प्रस्तुत है।

साहित्यिक दृष्टि से रइधू के प्रबन्धात्मक आख्यानों का गम्भीर अध्ययन करने से उनकी निम्नलिखित विशेषताएँ परिलक्षित होती है—

१. पौराणिक पात्रों पर युग-प्रभाव।

२. प्रबन्धो की अन्तरात्मा मे पौराणिकता का पूर्ण समावेश रहने पर भी कवि द्वारा प्रबन्धों का स्वेच्छया पुनर्गठन।

३. चरित-वैविध्य।

४. पौराणिक प्रबन्धो में काव्यत्व का संयोजन।

५. प्रबन्धावयवों का सन्तुलन।

६. मर्मस्थलों का संयोजन।

७. उद्देश्य की दृष्टि से सभी प्रबन्ध-काव्यो का सादृश्य, किन्तु जीवन की आद्यन्त अन्वितिका पृथक्त्व-निरूपण।

प्रबन्ध आख्यानों के अतिरिक्त कवि ने 'सम्मत्तगुणणिहाणकव्व', 'वित्तसार', 'सिद्धान्तार्थसार', जैसे दार्शनिक, सैद्धान्तिक एव आध्यात्मिक ग्रन्थों का भी प्रणयन किया है। यद्यपि उक्त ग्रन्थों मे निरूपित विषय कुन्दकुन्द प्रभृत पूर्वाचार्यों से ही परम्परा-प्राप्त है, इस कारण उनमे मौलिकता भले ही न हो, तो भी 'नद्या नवघटे जलम्' वाली उक्ति के अनुसार विषय के प्रस्तुतीकरण मे अवश्य ही निम्न प्रकार के वैशिष्ट्य दृष्टिगोचर होते है—

१. सिद्धान्त-प्रस्फोटन के लिए आख्यान का प्रस्तुतीकरण।

२. बहुमुखी प्रतिभा द्वारा सिद्धान्तों का सरल रूप में प्रस्तुतीकरण।

३. विषयो का क्रम-नियोजन।

४. दार्शनिक विषयो का काव्य के परिवेश मे प्रस्तुतीकरण।

५ आचार के क्षेत्र मे मौलिकता का प्रवेश।

महाकवि रइधू ने अपने समस्त वाङ्मय मे चार भाषाओ का प्रयोग किया है—संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एव हिन्दी। संस्कृत मे कवि ने कोई स्वतन्त्र रचना नही की, किन्तु ग्रन्थों की सन्धियो के आदि एव अन्त में आदि मंगल या आशीर्वादात्मक विचार संस्कृत के आर्या, वसन्ततिलका, मालिनी, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी, स्रग्धरा, शार्दूलविक्रीडित जैसे विविध श्लोकों के माध्यम से व्यक्त किये है। उपलब्ध ग्रन्थो मे ऐसे श्लोको की संख्या १२० के लगभग है। श्लोको की संस्कृत भाषा पाणिनी-सम्मत ही है, किन्तु कही-कही उस पर प्राकृत, अपभ्रंश का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है।

रइधू की प्राकृत रचनाओं में शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग मिलता है। उसमें क्वचित् अर्धमागधी एव महाराष्ट्री के शब्द प्रयोग भी दृष्टिगोचर होते हैं।

कवि की एक रचना हिन्दी मे भी उपलब्ध है। यद्यपि वह अत्यन्त लघुकृति है, जिसमे मात्र ३९ पद्य है, किन्तु भाषा, विधा एव छन्दरूपो की दृष्टि से वह महत्त्वपूर्ण कृति है। उस रचना का नाम है—'बारा भावना'। इसमे दोहा, चौपाई, मिश्रित गीता-छन्द मे द्वादशानुप्रेक्षाओ का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया गया है। इस रचना की हिन्दी अपभ्रंश से प्रभावित है और उसके 'करउ', 'केरो' जैसे परसर्गों के प्रयोग उपलब्ध है। उसमे राजस्थानी ब्रज, बुन्देली एव बघेली, शब्दों के प्रयोग भी

प्राप्त होते है। वस्तुतः कवि की इस लघुकृति में प्राचीन हिन्दी के विकास की एक निश्चित परम्परा वर्तमान है।

महाकवि रइधू मूलतया अपभ्रंश के कवि है। अतः उनकी तीन कृतियां छोड़कर शेष सभी अपभ्रंश भाषा मे निबद्ध है। उनकी अपभ्रंश परिनिष्ठित अपभ्रंश है, पर उसमे कही-कही ऐसी शब्दावलियां भी प्रयुक्त है, जो आधुनिक भारतीय भाषाओ की शब्दावली से समकक्षता रखती है। उदाहरणार्थ कुछ शब्द यहा प्रस्तुत है—

टोपी, मुग्गदालि (मूग की दाल), लइगउ (ले गया), सालो (पत्नी की बहिन), पटवारी, बक्कल (बुन्देली, वकला—छिलका), ढोर, जगल, पोटलु, (पोटली), खट्ट (खाट), गाली, झड़प्प, खोज्ज (खोजना), लक्कड़ी, पीट्टि (पीट कर), ढिल्ल (ढीला) आदि।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी महाकवि रइधू निस्सन्देह ही भारतीय वाङ्मय के इतिहास के एक जाज्वल्यमान नक्षत्र है। विपुल एव विविध साहित्य रचनाओ की दृष्टि से उनकी तुलना मे ठहरने वाले किसी अन्य प्रतिस्पर्द्धी कवि या साहित्यकार के अस्तित्व की सम्भावना नहीं की जा सकती। रस की अमृत स्रोतस्विनी प्रवाहित करने के साथ मध्यकालीन भारतीय संस्कृति के चिरन्तन आदर्शों की प्रतिष्ठा करने वाला यह प्रथम सारस्वत है, जिसके व्यक्तित्व मे एक साथ इतिहासकार, दार्शनिक, आचार-शास्त्र-प्रणेता एव क्रान्तिद्रष्टा का समन्वय हुआ है।

कवि की उपलब्ध समस्त रचनाओ का परिशीलन बिहार सरकार के शिक्षा-विभाग की ओर से 'अपभ्रंश के महाकवि रइधू की रचनाओं का आलोचनात्मक परि-शीलन' नामक शोधग्रन्थ के रूप मे शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है तथा 'जीवराज ग्रन्थमाला', शोलापुर (महाराष्ट्र) की ओर से 'रइधू-ग्रन्थावली' के रूप मे समग्र रइधू-साहित्य १६ भागों मे सर्वप्रथम सम्पादित होकर प्रकाशित होने जा रहा है। उसका प्रथम भाग प्रकाशित है तथा द्वितीय एवं तृतीय भाग यन्त्रस्थ है। इनके प्रकाशन से कई नवीन तथ्यों पर प्रकाश पड़ने की सम्भावनाएं है। ☐☐☐

(आवरण पृ० ३ का शेषांष)

हरिवंशपुराण का समस्त वर्णन किसी न किसी प्रकार से मुक्ति आदि कार्यों से सम्बद्ध है। तीर्थंकरो, पच परमेष्ठियो के स्तवन के साथ-साथ विभिन्न आचारो और व्यवहारो का वर्णन किया गया है। पुराण म सर्वतोभद्र,[३२] महासर्वतोभद्र,[३३] चान्द्रायण[३४] आदि अनेक व्रतो, उपवासो की विधियो एवं उनके फलो का विस्तृत विवेचन किया गया है।

दर्शन के प्रमुख तीन अग है—(१) सम्यग्दर्शन (२) सम्यग्ज्ञान और (३) सम्यक्चारित। जैनागम मे जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा, मोक्ष, पाप और पुण्य ये नो तत्त्व कहे गये है। इन जीवाजीवादि तत्वार्थों की सच्ची श्रद्धा का नाम सम्यग्दर्शन है।[३५]

वस्तु अनन्तधर्मात्मक होती है। उनमें से किसी एक निश्चित धर्म का ग्रहण करने वाला ज्ञान नय कहलाता है। इसके द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के भेद से दो भेद हैं—इनमे द्रव्यार्थिक नय यथार्थ है और पर्यायार्थिक नय अयथार्थ है। नैगम, सग्रह, व्यवहार ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवभूत— ये सात नय है। पूर्व तीन तो द्रव्यार्थिक के भेद है और अवशिष्ट चार पर्यायार्थिक के भेद है।

पापो की पाच प्रणालिया है—हिंसा, असत्य, स्तेय, कुशील और परिग्रह। इनसे विरक्त होना चारित्र है।[३६] उक्त पाचों पापो से पूर्णतः विरक्ति का नाम सम्यक् चारित्र है। व्यवहार नय और निश्चय नय को क्रमशः श्रावक और मुनि पालन करते है।[३७]

व्रत, उपवास, तप आदि का धार्मिक साधना से अभिन्न सम्बन्ध है। इस देश में लोग नाना प्रकार के व्रतोपवास आदि धर्मभावना से करते रहे है। जैनेतर सम्प्रदायों में चान्द्रायण व्रत करने का प्रचलन रहा है। स्वय चन्द्रमा के द्वारा चान्द्रायण व्रत[३८] किये जाने के व्याज से हरिवंशकार ने इस व्रत के प्रचलन का उल्लेख किया है। (३४वा सर्ग)। ☐☐

३२. हरिवंशपुराण, ३४।५२-५५। ३३. हरिवंशपुराण, ३४।५७-५८। ३४. हरिवंशपुराण, ३४।९०।

३५. तत्वार्थश्रद्धानम् सम्यग्दर्शनम्, तत्वार्थसूत्र, १।२

३६. हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च। पाप प्रणाणिकाभ्या विरतिः संज्ञस्य चारित्रम्।।

—रत्नकरण्डश्रावकाचार।। ४९।।

३७ हरिवंशपुराण, १०।७।

३८. *इस व्रतमे कृष्ण प्रतिपदा के दिनसे चन्द्रमा घटने के साथ-साथ प्रतिदिन एक-एक ग्रास भोजन घटाते हुए अमावस्या* के दिन पूर्ण निराहार रहा जाता है, और शुक्ल प्रतिपदा को एक ग्रास भोजन लेकर प्रतिदिन एक-एक ग्रास बढ़ाते हुए पूर्णिमा के दिन केवल १५ ग्रास आहार लिया जाता है। इस प्रकार यह व्रत एक मास मे पूर्ण होता है।

'जैन' हरिवंशपुराण कालीन भारत की सांस्कृतिक झलक

□ डा० प्रेमचन्द जैन एम. ए., पी-एच. डी.

प्रत्येक युग का सच्चा साहित्यकार, कवि या महाकवि स्वयं अपने समय की भौगोलिक, सामाजिक, राजनैतिक और ऐतिहासिक परिस्थितियो के परिप्रेक्ष्य मे एवं पृष्ठभूमि के पट पर ही अपने वर्ण्यविषय के काल की अमुक स्थिति के चित्र की रेखाए अकित करता है। चाहे वह किसी भी काल की स्थितियो का वर्णन करे, परन्तु उसके अनुमान का आधार तो उसका वर्तमान ही होता है। इसी वर्तमान के तट पर, उसकी कल्पना रूपी तूलिका मन-माने रग भर-भरकर नये-नये चित्र बनाती है। उसका सजागरूक यत्न रहता है कि वह पाठक को वर्तमान से उठाकर, उसके मानस को अपने वर्ण्य काल के स्तर पर ले जाय और इस यत्न में उसे जितनी सफलता मिलती है, वही उसके साहित्य साफल्य का मापदण्ड बनती है। पर सम-सामयिक युग की स्थितियों का सही-सही चित्रण भी उसके साफल्य की उतनी ही महत्त्वपूर्ण कसौटी है जितनी कथा-वस्तुगत वर्ण्य काल के चित्रण की। इस दृष्टि से जिनसेनाचार्य ने तत्कालीन भारत की भौगोलिक स्थिति, देश, प्रान्त और प्रमुख पर्वत, नगर, नदिया, वृक्ष, वन-स्पतिया, पशु-पक्षी, दक्षिण से लगाकर उत्तरपूव और उत्तर-पश्चिम के दक्षिण पथ के मार्ग और विंध्य के उत्तर म उत्तर के प्रमुख महाजनपथों के सम्बन्ध मे प्रभूत व प्रामाणिक जानकारी प्रदान की है। देश के तत्कालीन सामाजिक जीवन, व्यापार, कृषि, शिक्षा, साहित्य, सामाजिक रीतिरिवाज एव धार्मिक विश्वासो तथा ग्रामीण व नागरिक जीवन का सटीक परिचय प्राप्त करने की दृष्टि से भी यहां प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है। देश की राजनैतिक अवस्था के सम्बन्ध मे कवि ने प्रत्यक्ष तो नहीं परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से जो सकेत दिये है उनसे तत्कालीन समय की राजनैतिक अवस्था का अच्छा बोध हो जाता है।

भौगोलिक स्थिति

भारतवर्ष के भौगोलिक विभाजनों का कवि का ज्ञान विशद और प्रामाणिक था। इसकी अनुभूति हमें हरिवंशपुराण के ११वें सर्ग में वर्णित भगवान ऋषभदेव की दीक्षा के प्रकरण में चारों दिशाओं के अनेक नगरो के उल्लिखित होने से होती है—कुरुजागल, पांचाल, सुरसेन, पटच्चर, यवन, अभीर और भद्रक, क्वाथतोय, तुलिगं, काशी, कौशल्य, भद्राकार, वृकार्थक, सोल्व, आवृष्ट, त्रिगर्त, कुशाग्र, आत्रेय, काम्बोज, शूर, वाटवाना, कैकय, गान्धार, सिन्धु, सौवीर, भारद्वाज, दशरूक, प्रास्थाल और तीर्ण-कर्ण ये देश उत्तर दिशा की ओर थे। खग, अंगारक, पौण्ड्र, मल्ल, युवक, मस्तक, प्राग्ज्योतिष, वग, मगध, मानर्वातक, मलद और भार्गव ये देश पूर्व सीमा मे स्थित थे। वाणमुक्त, वैदर्भमाणव, सक्कापिर, मूलक, अश्मक, दाण्डिक, कलिगं, आशिक, कुन्तल, नवराष्ट्र, माहिस्क, पुरूष, और भौगवर्दन ये दक्षिण दिशा के देश थे। माल्य, कल्लीवनोपान्त, दुर्ग, सुपार्ट, कर्बुक, काशि, नासारिक, अगर्त, सारस्वत, तापस, महिम, भरूकच्छ, सुराष्ट्र और नर्मद ये पश्चिम दिशाके देश थे। दशार्णक, किष्किन्ध, त्रिपुर, आवर्त, नैषध, नेपाल, उत्तमवर्ण, वैदिश, अन्तप, कौशल, पत्तन और विनिहात्र ये देश विन्ध्याचल के ऊपर स्थित थे। भद्र, वत्स, विदेश, कुश, भग, सैतव और वज्रखण्डिक ये देश मध्यदेश के आश्रित थे।[1] इनमे वत्स, अवन्ती, कौशल और मगध मे राजतन्त्र था, बाकी गणतान्त्रात्मक थे।

राजतन्त्रों का राजा निरंकुश नही होता था, वह मंत्रिपरिषद की राय से कार्य करता था और प्रजा की भावना का समादर करता था। गणतन्त्र में कहीं एक मुख्य राजा होता था, कहीं गणराजाओ की परिषद् थी, कही मुख्य राजा होते हुए भी गणपरिषद प्रधान थी और कही मुख्य-गण बारी-बारी से राज्य करते थे। कुछेक महत्त्वाकाक्षी विस्तार-लोलुप सम्राट भी थे। गणतन्त्रो से इनके सम्बन्ध अच्छे नही थे और कभी-कभी वे युद्ध तक कर बैठते थे। गणतन्त्रों के सम्बन्ध आपस मे प्राय: अच्छे थे। कारण विशेष से कभी कभी कुछ विवाद भी उठते रहते थे। नदी, जल, परिवहन, ग्राम आदि के कारणों से विवाद उठना ही इनमे मुख्य था। कभी-कभी किसी

१. हरिवंशपुराण, ११।५७-७४।

कन्या को लेकर भी झगड़े खड़े हो जाते थे।

राजा का पद परम्परागत होता था। राजा के अपदस्थ होने पर उसका ज्येष्ठ पुत्र राज्याधिकारी होता था।[२] पुत्र-विहीन राजा का उत्तराधिकारी उसकी पुत्री का पुत्र होता था। राज्यासन पर पदारूढ़ होने से पूर्व अभिषेक होने की परम्परा थी।[३]

इस काल का भारतीय समाज युद्ध-विज्ञान मे पर्याप्त उन्नति कर चुका था। स्वार्थसिद्धि के लिये देव, असुर, मानव और पशु सबका चरम साधन एकमात्र युद्ध ही था। पशुओ और मनुष्यों मे भी युद्ध होने के उदाहरण दृष्टिगत होते है।

इस काल मे रथयुद्ध,[४] पदातियुद्ध,[५] मल्लयुद्ध,[६] दृष्टियुद्ध,[७] जलयुद्ध,[८] प्रभृत्ति विविध प्रकार के युद्धों के उदाहरण मिलते है। युद्ध मे प्रमुखतः हाथी, घोड़, रथ, पैदल सैनिक, बैल, गान्धर्व और नर्तकी ये सात अंग होते थे। व्यूहों मे क्रौच, गरुड़[९], चक्रादि के उल्लेख प्राप्त होते है। असि, उलूखल, कायत्राण, कार्मूक, कौमुदगदा, खग, खुर, गदा, गाण्डिव, चक्र जानु, तल, तोमर, त्रिशूल, दण्ड, बाणादि अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्र थे। कतिपय शस्त्रास्त्रो में अद्भुत चमत्कृतिपूर्ण अलौकिक शक्ति भी विद्यमान थी। गज, घोड़े, रथ, ऊँट, खच्चर आदि भी युद्ध की सवारियां थी। राजमहिषियां भी रण-कौशल मे निष्णात होती थी और आवश्यकता पड़ने पर युद्ध भी करती थीं। कभी-कभी अपने पतियो की सहायतार्थ भी युद्ध मे साथ-साथ जाती थीं।[१०]

सामाजिक जीवन

हरिवंशपुराण मे एक सगठित समाज का स्वरूप मिलता है। समाज मे चारों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) की स्थिति ज्ञात होती है, पर उनके घेरे कठिन नही थे। चारों वर्गों के अतिरिक्त भी समाज में व्यावसायिक और औद्योगिक वर्ग थे, इनमे राजक, चाण्डाल, चर्मकार, स्वर्णकार, दारुशिल्पी आदि प्रमुख थे।

प्राचीन काल से ही विवाह जीवन की सर्वोत्कृष्ट घटना मानी जाती है। उसका इस काल में ह्रास देखने को मिलता है। विवाह अब दैविक विधान न रह कर, योग्यता, पराक्रम और शक्ति का मापदण्ड रह गया था। इस काल में स्मृतियों में प्रतिपादित आठ प्रकार के विवाहों मे से ब्राह्म, प्राजापत्य और आर्ष को ही धर्मसम्मत माना जाता था। अन्य विवाहों के प्रकार (आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच) को निन्दनीय या परित्याज्य माना जाता था।[११]

इस काल मे उक्त आठ विवाह विधियों मे से कोई भी एक विशुद्ध रूप मे प्रचलित नही थी। समाज में ऊंचे आदर्शों के बीच स्थान न मिलने पर भी गान्धर्व व राक्षस विधि का प्रसार था।[१३] अन्य विवाहों में वाग्दान से, भविष्यवाणी से, साटे से विवाह,[१४] विधवा विवाह[१५] एवं विधुर विवाह आदि भी प्रचलित थे। समाज मे बहुपत्नी प्रथा[१६] प्रचलित थी। मातुल कन्या से विवाह सम्भव था।[१७] चारुदत्त का विवाह उसके मामा की लडकी से किया गया था (२१/३८)। अर्जुन और सुभद्रा का सम्बन्ध भी ऐसा ही था। विवाह दो विकसित व्यक्तियों का सम्बन्ध था। कन्याएं पिता के घरमे ही युवा हो जाया करती थीं। प्रथाओं में दहेज प्रथा का भी उल्लेख है। यद्यपि स्पष्ट रूप से 'दहेज' शब्द का न नाम आता है और न उसकी मांग की जाती थी। खुशी से लड़की वाला लड़के को यथाशक्ति और यथेच्छानुसार कुछ दे देता था।

---

२. हरिवंशपुराण, २७।५४, २१।११२। ३. हरिवंशपुराण, २७।४७-६०। ४. लेखक का शोध प्रबन्ध, पृ० ८६।
५. हरिवंशपुराण, ४२।८०, ५०।१०३-१०४, ४२।८१। ६ हरिवंशपुराण, ३६।३०-३४, २४।८, ११।८४, ३६।४१-४३, ३६।४५। ७. हरिवंशपुराण, ११।८०-८२। ८. हरिवंशपुराण, ११।८३।
९. हरिवंशपुराण, ५०।१०२-११०। १०. हरिवंशपुराण ५२।५। ११. हरिवंशपुराण, ६।३६।
१२. पाटील, डा० के० के०, कल्चरल हिस्ट्री फ्रोम वायुपुराण—पूना, १९६४, पृष्ठ १५६।
१३. हरिवंशपुराण, ४४।२१-२५, ४३।१७१-१७६, ४४।२६-३२, ४२।७४-९७, ४४।९-१९।
१४. हरिवंशपुराण, ३३।१०-२९। १५. (i) नारद स्मृति, १२।९७। (ii) बाल्वलकर, हिन्दू सोशल इंस्टिट्यूशन्स, बम्बई, १९३९। (iii) विवाह सम्बन्धी अध्याय—अल्टेकर : पोजीशन आफ वुमन इन ऐनशियन्ट इण्डिया, पृष्ठ १८१-१८३। १६. हरिवंशपुराण, १२।३२, २४।९, ४४।३-५०, ५९।११६। १७. हरिवंशपुराण, ३३।११-२४, ३३।१=३६, २१।३८।

इस समय स्त्री जाति का समाज में कोई स्वतन्त्र स्थान नही था। स्त्रियां पुरुषों की इच्छा के अनुसार उनके उपभोग के लिए उपकरण मात्र थी। स्त्रियों को चल सम्पत्ति के रूप में भी माना जाता था।

हरिवंशकालीन व्यक्ति का जीवन सभ्य और सुसज्जित था। वह विविध परिधानो द्वारा शरीर का अलकरण करता था। उसके वस्त्रो मे वासस्, उपवासस् नीवि, कम्बल आदि प्रमुख थे।[18] आभूषणों मे मुकुट,[19] कुण्डल, केयुर, चूडामणि, कटक, कंकण, मुद्रिका, हार, मेखला, कटिसूत्र, कठक, रत्नावली, नूपुर आदि का प्रचलन था (८/२६), प्रसाधन सामग्रियां भी अनेक थी। साधारण से लेकर बहुमूल्य सामग्रिया व्यवहृत होती थी। चन्दन,[20] कुकुम, अंगराग, आलक्तक, अंजन, शतपाक, तेल, गध, आदि अनेक सुगन्धित द्रव्य मिश्रित लेप सिन्दूर, कस्तूरी, माला, ताम्बूल आदि के प्रयोग का उल्लेख मिलता है (८वा सर्ग)। वृद्धाये प्राय: त्रिपुण्डाकार तिलक लगाती थी (२२/४७)।

समाज मे शाकाहारी और मासाहारी दोनो ही तरह के भोजन भोज्य होते थे। शाकाहारी भोजन मे जौ, धान, गेहू, तेल, शाक, उडद, मूग आदि मुख्य थे।[21] पशुओं का मास मांसाहारियो के लिए भोजन मे सम्मिलित होता था।[22] पेय पदार्थों मे दूध,[23] सुरा, मधु[24] आदि उल्लेखनीय है। भोजन करने के बाद सुगन्धि द्रव्यो से मिश्रित पानी से कुरला किया जाता था।[25] बाद मे पान-सुपारी खिलाई जाती थी। पान को थूकने के लिये पीकदान भी रखा रहता था।[26] महाकवि बाण की कादम्बरी और हर्ष चरित मे भी इनके उल्लेख प्राप्त होते है।

विश्राम के लिए शय्या (आसन्दी), उपधान, पर्यकादि हुआ करते थे। मनोरंजन के लिए नाटक, गीत, वाद्य, चित्रकला, द्यूत-क्रीडा[27], वनविहार[28] जलक्रीडा[29] आदि का प्रमुखता से प्रचलन था। विशेष अवसरो पर अनेक सामूहिक महोत्सव भी होते थे।

उन दिनों भी व्यायाम करने की प्रक्रिया आज जैसी ही थी। गोलाकार अखाडा होता था जिसमे पहलवान लोग अपने-अपने दावपेंच दिखाते थे। इस ग्रन्थ को देखने से यह भी पता चलता है कि आजकल जो यह मुष्टियुद्ध प्रचलित हो रहा है, वह पाश्चात्य देशों की देन नही है। हमारे देश मे प्राचीन काल मे मुष्टियुद्ध का आम रिवाज था।[30] श्री कृष्ण और बलभद्र ने चाणूर और मुष्टिक पहलवान को मुष्टियुद्ध से ही पराजित किया था (३६/४५)।

आर्थिक जीवन

आर्थिक दृष्टि से भी भारतवर्ष सम्पन्न था। कृषि, पशुपालन, व्यापार, वाणिज्य और कला-कौशल में भी यह देश काफी प्रगति कर चुका था। आन्तरिक व्यापार के साथ ही विदेशो से जलपोतो के द्वारा व्यापार होता था। यहा से कपास और बहुमूल्य रत्नादि का व्यापार किया जाता था। दूर देशों या विदेशों से व्यापार के लिए कई व्यापारी समूह मे जाते थे और मार्ग दिखाने के लिए सार्थ होते थे। सार्थो को मार्ग का पूरा ज्ञान होता था। सार्थ सम्पन्न भी होते थे। वे व्यापारियों को निश्चित शुल्क या भागीदारी के आधार पर ऋण भी देते थे। सार्थों के अपने यान, वाहन, चालक, वाहक, रक्षक आदि भी होते थे। प्राचीन भारत मे सार्थों की भूमिका की विशेष जानकारी डा० मोतीचन्द्र की पुस्तक 'सार्थवाह' से मिलती है।

व्यापार मे लेने देने के लिए निष्क, शतमान, कार्षापण आदि का व्यापार था। मुद्राओं पर जनपद श्रेणी अथवा धार्मिक चिह्न हुआ करते थे। वाणिज्य-व्यापार पर राजकीय नियत्रण नही था। कर भाग भी आय के दसवे से छठें भाग तक सीमित था। विशेष परिस्थितियो मे युद्ध, दुर्भिक्ष आदि[31] के समय यह अवश्य ध्यान रखा जाता था कि कोई अनुचित लाभ न ले सके। जंगलों, दुर्गम स्थानो मे कही-कही दस्युदल भी सक्रिय होते थे। और अपराध बहुत कम होते थे।

धार्मिक जीवन

यदि धर्म और विश्वास जाति या समाज की उत्कृष्टता का द्योतक है तो हरिवशपुराण एक ऐसे व्यक्ति के धार्मिक जीवन का चित्र प्रस्तुत करता है जो तप: प्रधान था। इस युग मे प्राचीन धार्मिक परम्परायें टूट रही थी। बलि, यज्ञादि क्रियाकाण्डों का स्थान भक्ति, उपासना, सत्कर्म और सदाचार ने लिया था। जैन, बौद्ध और वैदिक तीनो सस्कृतिया साथ-साथ चल रही थी।

(शेष पृ० ६२ पर)

१८. हरिवशपुराण, २६।७ १७, ५।१८-३८। १९. हरिवशपुराण, २५।३०। २०. हरिवंशपुराण, ४७।४२।
२१ हरिवशपुराण, १८।१७१, ११।११६, ३६।२७-२८, १८।१६१-१६३। २२. हरिवशपुराण, २१।१०४-११०।
२३. हरिवशपुराण, १८।१७१। २४. हरिवशपुराण, ६१।२३, ६१।५१, ६१।३६, ६१।२४।
२५ हरिवशपुराण, ३६।२७-२८। २६. हरिवशपुराण, ८।५०।
२७-हरिवशपुराण, ४८।१४, ४६।३, २१।५४-६२। २८. हरिवशपुराण. ५२।२६, १४।८१।
२९ हरिवशपुराण, ५७।५१-५५। ३० हरिवशपुराण, २४।८, ११।८६, ३६।४१-४३। ३१. हरिवशपुराण, २१।७६।

R. N. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यो की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक: मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७ पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट्. के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है। शोध-खोज के विद्वानो के लिए अतीव उपयोगी, बडा साइज, सजिल्द। १५-००

आप्तपरीक्षा : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००

स्वयम्भू स्तोत्र : समन्तभद्र भारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। २-००

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापो के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत, सुन्दर, जिल्द-सहित। १-५०

अध्यात्मकमलमार्तण्ड : पंचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित। १-५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १-२५

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थो की प्रशस्तियो का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टो और प० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ४-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, प० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन १-२५

अध्यात्म रहस्य : पं० आशाधर की सुन्दर कृति, मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद सहित। ... १ ००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थो की प्रशस्तियो का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारो के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। स. प. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १२-००

न्याय-दीपिका : आ अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०। ७-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ५-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टो और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों मे। पुष्ट कागज और कपडे की पक्की जिल्द। २०-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी मे अनुवाद। बडे आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द ६-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ०-५०

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : सपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : (तृतीय भाग मुद्रणाधीन) प्रथम भाग २५-००; द्वितीय भाग २५-००

Jain Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Pages 2500) (Under print)

प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के लिए रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली-२ से मुद्रित।

त्रैमासिक शोध-पत्रिका

अनेकान्त

साहू शान्तिप्रसाद जैन स्मृति अंक

सम्पादन-मण्डल
डा० ज्योतिप्रसाद जैन
डा० प्रेमसागर जैन
श्री गोकुलप्रसाद जैन

□

सम्पादक
श्री गोकुलप्रसाद जैन
एम.ए., एल-एल. बी.,
साहित्यरत्न

□

वर्ष ३१ : किरण १-४
जनवरी-दिसम्बर १९७८

□

वार्षिक मूल्य ६) रुपये
इस अंक का मूल्य :
६ रुपये



उदारमना श्री साहू शान्तिप्रसाद जैन

वीर-सेवा-मन्दिर के यशस्वी संरक्षक

वीर-सेवा-मन्दिर के यशस्वी संरक्षक बम्बई, के सुप्रसिद्ध उद्योगपति श्री साहू श्रेयासप्रसाद जैन का जन्म नजीबाबाद (जिला बिजनौर) के प्रतिष्ठित जमीन्दार घराने मे ३ नवम्बर, १६०८ को हुआ था। साहू जी बड़े उदारमना, दानवीर, राष्ट्रसेवी एवं धर्मनिष्ठ है तथा समाज सेवा, नागरिक सेवा, शैक्षिक एवं साहित्यिक सेवा के प्रति समर्पित है।



श्री साहू श्रेयास प्रसाद जैन

आपने अल्पायु मे ही अपने परिवार के दायित्व को सम्भाल लिया था। आपको नजीबाबाद म्युनिसिपैल्टी का उपाध्यक्ष एवं बिजनौर एजूकेशन समिति का अध्यक्ष चुना गया। इसके पश्चात् आपका जीवन क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों की ओर हो गया जिससे आपने देश की आजादी के लिए राष्ट्रीय आंदोलन मे सक्रिय भाग लिया।

सन् १६४३ मे आपको "भारत छोड़ो" आन्दोलन मे भाग लेने के कारण गिरफ्तार कर लिया गया और लाहौर जेल में दो माह तक रखा गया।

उद्योग के क्षेत्र मे आपकी प्रशंसनीय और सराहनीय सेवाओ के कारण आपका सदा उच्च स्थान रहा है जिससे विगत वर्षों मे आप देश की विभिन्न व्यावसायिक संस्थाओ के अध्यक्ष रहे है। इनमे प्रमुख है: फेडरेशन आफ इण्डियन चैम्बर्स आफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्रीज, नई दिल्ली; इण्डियन नेशनल कमेटी-इण्टरनेशनल चैम्बर्स आफ कामर्स, ऐल्कली मैन्युफैक्चरर्स एसोसियेशन आफ इण्डिया, बम्बई; आर्थिक सहयोगार्थ ऐफो-एशियन आर्गेनाइजेशन। इसके साथ-साथ आपका क्षेत्र इतना व्यापक बनता गया कि आप इन्जीनियरिंग, वस्त्र, रबड़, आटोमोबाइल, रासायनिक और विद्युत् आदि की वस्तुओं के निर्माताओ की परिषद् के डाइरेक्टर हुए।

आपका जैन समुदाय मे सुविशिष्ट स्थान है जिससे आप अनेको सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक संस्थाओं के संरक्षक है और साथ ही अनेको सगठनो के ट्रस्टी है। आप अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद् और भारत जैन महामण्डल के भी अध्यक्ष रहे। आप महावीर कल्याण केन्द्र, बम्बई के अध्यक्ष हैं जिसके माध्यम से आपने अकाल व बाढ़-पीड़ितो के कार्यों मे अभिरुचि लेकर पूर्ण सहयोग दिया।

आपकी सेवाओ के सम्मानस्वरूप आपको महाराष्ट्र सरकार ने स्पेशल एग्जीक्यूटिव मैजिस्टेट नियुक्त किया। आप जस्टिस आफ पीस रहे तथा छह वर्ष तक संसद् सदस्य रहे। साहूजी महाराष्ट्र के महानगर बम्बई के 'बम्बई हास्पिटल ट्रस्ट' के ट्रस्टी एवं अध्यक्ष है।

आपने १६५७ मे भारतीय औद्योगिक प्रतिनिधि मण्डल के सदस्य के रूप मे अमेरिका व रूस की यात्रा की जिससे भारत के अन्य देशो के साथ व्यापार मे वृद्धि हुई। आपने सितम्बर १६६७ व १६७० मे जापान-भारत प्रतिनिधि मण्डल के सदस्य के रूप मे जापान यात्रा की।

आपकी भारतीय धर्म दर्शन, इतिहास तथा सास्कृतिक विषयो के अध्ययन मे भी आन्तरिक अभिरुचि है। भारतीय कला एवं पुरातत्व के क्षेत्र मे भी आपने महत्वपूर्ण कार्य किया। भारतीय भाषाओ की शिरोमणि सस्था भारतीय ज्ञानपीठ के आप अध्यक्ष है। आप भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी के कोषाध्यक्ष तथा वैशाली प्राकृत, जैन धर्म एव अहिंसा शोध सस्थान के अध्यक्ष हैं।

भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव के कार्यक्रमों को सफल बनाने मे आपका बडा योगदान रहा है। आप चारो सम्प्रदायों की ओर से गठित "भगवान महावीर मेमोरियल समिति" के कार्याध्यक्ष है। आपको दिगम्बर जैन समाज की उत्कट आकांक्षा के अनुरूप, आपके कनिष्ठ भ्राता स्व० साहू शान्ति प्रसाद जी द्वारा स्थापित, दिगम्बर जैन महासमिति के अध्यक्ष का, उनके निधन पर, दायित्व भार सौंपा गया। ☐☐☐

सम्पादकीय

स्वनामधन्य स्व० साहू शान्तिप्रसाद जैन वर्तमान युगीन जैन जगत की अप्रतिम विभूति थे। सन् १९११ मे नजीबाबाद (जिला बिजनौर, उत्तर प्रदेश) के साहू घराने मे, प्रसिद्ध साहू सलेखचन्द्र जी के पौत्र और साहू दीवानसिंह के कनिष्ठ पुत्र के रूप मे माता मूर्तिदेवी की कुक्षि से इउ महाभाग का जन्म हुआ था। लगभग २३-२४ वर्ष की आयु मे विद्यार्थी जीवन समाप्त करके और सेठ रामकृष्ण डालमिया की सुपुत्री स्व० रमारानी के साथ विवाहित होकर वह कर्मक्षेत्र मे उतरे। पुण्य और पुरुषार्थ का कुछ ऐसा सुखद सयोग हुआ कि वह लौकिक अभ्युदय मे द्रुतवेग से उत्तरोत्तर वृद्धि करते गये, यहां तक कि दो दशको के भीतर ही वह चोटी के भारतीय उद्योगपतियो मे परिगणित होने लगे। साथ ही, धर्म, सस्कृति, समाज एव भारतीय जन सामान्य की सेवा की ऐसी विलक्षण लगन थी कि इन क्षेत्रो मे उन्होने अनगिनत श्रेष्ठ उपलब्धिया प्राप्त की, जो उनके जीवनोपरान्त भी उनकी स्मृति को सजीव बनाये हुए है और बनाये रक्खेगी। स्वभावतः उन्हे यश, मान और प्रतिष्ठा भी प्रभूत मिले; सत्कार्यों के करने मे जो आनन्द और आत्मसन्तोष मिलता है, वह तो मिला ही। लगभग ६६ वर्ष की आयु में दिनाक २७ अक्तूबर, १९७७ को कालकवलित होने तक, लगभग चार दशक साहू शान्तिप्रसाद जैन, जैन समाज के तो सर्वमान्य सर्वोपरि नेता एवं प्रायः एकच्छत्र सम्राट् बने रहे। निश्चय ही उनका शील, सौजन्य, उदाराशयता, दानशीलता, सामाजिक चेतना, उत्साह और लगन इस मान-प्रतिष्ठा के कारण थे। अनेक धर्म एव सम्प्रदाय-निरपेक्ष लोकहितकारी प्रवृत्तियो के अतिरिक्त प्रायः सभी जैन तीर्थों को, अनगिनत जैन सस्थाओं, संगठनो एव प्रवृत्तियों को तथा दर्जनों सास्कृतिक एवं शिक्षा संस्थाओ को उनसे उदार सरक्षण एवं पोषण प्राप्त हुआ। अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद तो उनके जीवनकाल मे प्रायः उन्ही के अवलम्बन पर जीवित रही। कम से कम पूरे दिगम्बर जैन समाज मे एकता, एकसूत्रता स्थापित करने के उद्देश्यो से, अपने निधन से कुछ ही पूर्व उन्होने दिगम्बर जैन महासमिति की स्थापना के लिए सफल प्रेरणा दी।

स्व० प० जुगलकिशोर जी मुख्तार के साहूजी प्रारम्भ से ही बड़े प्रशंसक थे। अतः वह मुख्तार साहब द्वारा सस्थापित वीर-सेवा-मन्दिर और 'अनेकान्त' पत्रिका को सदैव सरक्षण प्रदान करते रहे। मुख्तार साहब द्वारा चलाये गये 'वीर-शासन-जयन्ती' अभियान को साहूजी का पूरा समर्थन प्राप्त हुआ, और उनके तथा स्व० बाबू छोटेलाल जी के सत्प्रयत्नो एव सहयोग से ही सन् १९४४ की श्रावण कृष्ण प्रतिपदा के प्रातःकाल राजगृह के विपुलाचल पर वीरशासन का २५००वी जयन्ती ससमारोह मनाई गई। भगवान् के उक्त पुनीत प्रथम देशना स्थल पर शिलालेखांकित स्मारक स्थापित किया गया और 'वीर-शासन सघ' के नाम से दस लाख रुपये का एक विशाल योजना बनी। कतिपय कारणो से वह योजना सफल न हो सकी, जिसका साहूजी और छोटेलाल जी, उसके उक्त दोनो ही कर्णधारो को दुःख हुआ।

अब विकल्प रूप मे उन्होने निश्चय किया कि वीर-सेवा-मन्दिर को सरसावा जैसे छोटे-से कस्बे से हटाकर राजधानी दिल्ली मे लाया जाय और अधिक व्यवस्थित रूप से चलाया जाय। अतएव दिल्ली के दरियागंज मे भूमि लेकर एक चौमंजिला विशाल भवन 'वीर-सेवा-मन्दिर' के नाम से निर्मापित हुआ, और संस्था एव उसके अधिष्ठाता मुख्तार साहब भी वहा स्थानान्तरित हो गये। संस्था की नई सोसाइटी, ट्रस्ट, विधान आदि भी बन गये और कार्य होने लगा। यह बात दूसरी है कि कतिपय मतभेदों के कारण कुछ समय बाद मुख्तार साहब ने स्वयं को सस्था से प्रत्यक्ष रूप मे पृथक् कर लिया, किन्तु सस्था चलती रही और साहूजी उसका संरक्षण बराबर करते रहे। 'अनेकान्त' जब सरसावा से प्रकाशित होता था तब भी साहूजी ने उसके मुद्रण-प्रकाशन की बेहतरी एवं सुविधा के लिए उसे अपने भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित कराना प्रारम्भ कर दिया था। यह व्यवस्था भी कुछ ही वर्ष चल पायी। तथापि वीर-सेवा-मन्दिर और 'अनेकान्त' पर उनका प्रेम बराबर बना रहा, और ये दोनो आज भी जो जीवित एव सक्रिय है, उसका बहुत-कुछ श्रेय साहूजी को है।

अस्तु, वीर-सेवा-मन्दिर एवं 'अनेकान्त' के लिए यह उचित ही था कि वे अपने उस परमोपकारी महानुभाव के स्वर्गस्थ हो जाने पर उनकी स्मृति मे कम से कम एक उपयुक्त विशेषांक तो निकाल ही दें। इसी आशय से इस विशेषांक की योजना बनी, और भले ही कुछ विलम्ब से, यह अपने पाठकों के हाथ मे है। विशेषांक की तैयारी मे उसके सम्पादक श्री गोकुलप्रसाद जैन ने जो सोत्साह श्रम किया वह सराहनीय है। वीर-सेवा-मन्दिर के महासचिव श्री महेन्द्रसेन जैनी का भी पूरा सहयोग प्राप्त हुआ। संस्था एवं पत्र के अन्य प्रेमियों, विद्वान लेखकों और स्व० साहूजी के प्रशसकों के अमूल्य सहयोग के लिए भी सम्पादक-मण्डल आभारी है।

अन्त मे, हम प्रबुद्ध समाजचेतना एव सस्कृति-सेवी तथा अपने चिरस्मरणीय महामना स्व० साहू शान्तिप्रसाद जैन की स्मृति मे अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

ज्योति निकुञ्ज,
चारबाग, लखनऊ-१

ज्योतिप्रसाद जैन

विषयानुक्रमणिका

क्र०	विषय	पृ०
१.	श्री वर्द्धमान स्तवन	१
	व्यक्तित्व और कृतित्व	
२.	नररत्न साहू जी और जैन संस्कृति का उद्धार —श्री अगरचन्द नाहटा, बीकानेर	२
३.	साहू जी और भावी समाजोत्थान योजना —डा० विद्याधर जोहरापुरकर, जबलपुर	३
४.	जैन समाज के शिरोमणि—श्री भगतराम जैन, दिल्ली	५
५.	सौजन्य-मूर्ति साहू जी : कुछ संस्मरण —पं० पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर	७
६.	आदर्श समाज नेता—श्री वशीधर शास्त्री, जयपुर	६
७.	ज्योतिर्मय व्यक्तित्व—श्री मिश्रीलाल जैन, गुना	६
८.	संगत श्री-सरस्वत्योः—डा० हरीन्द्रभूषण जैन, एम. ए., पी-एच. डी, उज्जैन	१०
६.	साहू शान्तिप्रसाद . सेठ और साधु —डा० प्रेमसागर जैन, बडौत	११
१०.	बीसवीं सदी के भोज—श्री कुन्दनलाल जैन, दिल्ली	१४
११.	उदारमना सदाशय व्यक्तित्व —डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच	१६
१२.	पुण्यश्लोक प्रेरणाप्रद व्यक्तित्व —डा० रमेशचन्द जैन, बिजनौर	१७
१३.	आधुनिक भामाशाह—विद्यावारिधि डा० महेन्द्रसागर प्रचंडिया, अलीगढ़	१६
१४.	सरस्वती के परम उपासक डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, जयपुर	२०
१५.	महान् कर्मयोगी की जीवन-साधना —पं० परमानन्द शास्त्री, दिल्ली	२१
१६.	यशस्वी सरस्वती पुत्र—श्रीमती जयवन्ती देवी जैन, नई दिल्ली	२५
१७.	अनुपम आदर्श जीवन—डा० प्रेमचन्द रावका	२६
१८.	उन्हे श्रमण दीक्षा की आकाक्षा थी —श्री गणेश ललवानी	२७
१६.	उनकी लगन और दृष्टि—मुनिश्री यशोविजयजी	२६
२०.	सामाजिक इतिहास का एक युगात —श्री चन्दनमल	३०
२१.	उनके नेतृत्व का फल—श्री मिश्रीलाल पाटनी	३२
२२.	आदर्श एव अभूतपूर्व व्यक्तित्व —श्री सुमनप्रकाश जैन, दिल्ली	३३
२३.	जैनत्व के जीवन्त प्रतीक —डा० राजेन्द्रकुमार बसल, शहडोल	३५
२४.	अनमृ की सालती स्मृति —डा० शोभनाथ पाठक, मेघनगर	३७
२५.	समाज और राष्ट्र की सेवा के लिए समर्पित व्यक्तित्व—श्री सत्यधर कुमार सेठी, उज्जैन	३६
२६	पुरातत्व के अमर प्रेमी—डा० सुरेन्द्रकुमार आर्य, उज्जैन	४१
२७.	महाप्रभावक श्रावक शिरोमणि —पं० सुमेरचन्द्र जैन दिल्ली	४२
२८.	युग के भामाशाह—श्री लक्ष्मीचन्द्र 'सरोज', जावरा	४५
२६.	सरस्वती के पुजारी—श्रीमती रूपवती 'किरण' जबलपुर	४६
३०.	दानवीर श्रावक शिरोमणि —श्री महेन्द्रकुमार जैन, दिल्ली	४८
३१.	सरस्वती के परम उपासक —डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, जयपुर	५०
३२.	आधुनिक खारवेल—श्री बिशनचन्द जैन, शिकारपुर	५२



सौजन्य-मूर्ति श्री साहूजी



गरिमाङ्कन : अटूट निष्ठा और धर्म-वत्सलता



श्री साहूजी के सान्निध्य में एक अविस्मरणीय सांस्कृतिक आयोजन

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ३१ किरण ३-४ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर-निर्वाण संवत् २५०५, वि० सं० २०३५ | जुलाई-दिसम्बर १९७८

श्री वर्द्धमान स्तवन

श्रियं त्रिलोकीतिलकायमानामात्यन्तिकीं ज्ञातसमस्ततत्त्वाम् ।
उपागतं सन्मतिमुज्ज्वलोक्तिं वन्दे जिनेन्द्रं हतमोहतन्द्रम् ।।
श्रीवीर यद्यथ वचोरुचिरं न ते स्याद् भव्यात्मनां खलु कुतो भुवितत्त्वबोधः ।
तेजो बिना दिनकरस्य विभातकाले पद्मा विकासमुपयान्ति किमात्मनैव ।।
अस्नेहसंयुतदशो जगदेकदीपश्चिन्तामणिः कठिनतारहितान्तरात्मा ।
अव्यालवृत्तिसहितो हरिचन्दनागस्तेजोनिधिस्त्वमसि नाथ निराकृतोष्मा ।।
—वर्धमानचरित्रे असगः

श्री वर्द्धमान-वचसा पर-मा-करेण, रत्नत्रयोत्तम-निधेः परमाऽऽकरेण ।
कुर्वन्ति यानि मुनयोऽजनता हि तानि, वृत्तानि सन्तु सततं जनता हितानि ।।
—सिद्धप्रियस्तोत्रे देवनंदिः

जो तीनों लोकों में श्रेष्ठ, अविनाशी सर्वज्ञत्वलक्ष्मी को प्राप्त थे, जिनके वचन निर्दोष (पूर्वापर विरोध रहित) थे, और जिन्होंने मोहरूपी तन्द्रा को नष्ट कर दिया था, उन सन्मति जिनेन्द्र महावीर की मैं वन्दना करता हूँ ।

हे वीर जिनेन्द्र ! यदि आपके मनोहारी वचन न होते तो निश्चय से इस भूतल पर भव्य जीवों को तत्त्व-बोध कैसे होता ? प्रभातकाल में सूर्य के तेज के बिना क्या कमल आप से आप विकसित हो जाते हैं ?

हे नाथ ! आप जगत के ऐसे अद्वितीय दीपक हैं कि जिसकी दशा (बाती) स्नेह (तैल) रहित है (अर्थात् आप वीतराग दशा में स्थित हैं), आप चिन्तामणि (मनवांछित देने वाले रत्न) हैं, किन्तु आपकी अन्तरात्मा कठोरता (निर्दयता) से शून्य है, आप हरिचन्दनतरु हैं किन्तु वहाँ सर्पों का अभाव है (अर्थात् आप परोपकारी दयालु चेष्टाओं से युक्त हैं), आप तेज के निधि हैं किन्तु (मन की) ऊष्मा (गर्व) का निराकरण करने वाले हैं ।

उत्कृष्ट लक्ष्मी के कारण, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र रूप रत्नत्रय के भंडार, श्री वर्द्धमान के वचनों के आश्रय से मुनिजन आत्महित साधन करते हैं और सामान्य जन पर उपकारी मार्ग प्राप्त करते हैं । उन भगवान का ऐसा वृत्त समस्त जनों के लिए सतत हितकारी हो !

□□□

नररत्न साहू जी और जैन संस्कृति का उद्धार

□ श्री अगरचन्द नाहटा, बीकानेर

मानव मानव में बहुत अन्तर है जैसे कि हीरे व कांकरे में। एक मनुष्य दूसरो का हृदय सम्राट् बन जाता है, दूसरा दूसरों के लिए आफत बन जाता है। अपनी प्रवृत्तियों से ही मनुष्य नर से नारायण बन सकता है और अपनी दुष्प्रवृत्तियों से पशु व नारकीय भी बन जाता है। इसलिए जो जो व्यक्ति अपने गुणो का उत्थान करते है तथा दूसरो के उत्थान मे सहयोगी बनते है, वे सभी का आदर पाते है व स्वय का भी कल्याण करते है। परन्तु अधिकतर लोग स्वार्थी होते है, परमार्थी बहुत ही कम। साहू जी का जीवन हमारे सामने है। उन्होने अपनी खूब उन्नति की। खूब धन कमाया, पर साथ ही अच्छे कामों मे खूब लगाया भी। सभी से सद्व्यवहार रखा। धन का मद नही किया। विलासिता मे डूबे नही। अपने व्यवहार को बहुत संतुलित रखा, इसीलिए सभी के प्रिय भाजन हुए। हजारो-हजारों मुखो से उनकी प्रशसा के गीत गाये जाते है और वे अपनी सुकृतियों से मर कर भी अमर बन गये। उनका कीतिध्वज बडी ही ऊँचाई पर लहरा रहा है। उनकी सहृदयता सबके दिल मे घर कर गई है।

साहू जी ने थोड़े वर्षों मे जितनी अधिक उन्नति की, उतनी बहुत ही कम व्यक्ति कर पाते है। उनकी नम्रता व सरलता, सज्जनता और उदारता से जो भी उनके सम्पर्क मे आये, प्रभावित हुए। सौभाग्य से रमा देवी जैसी विलक्षण और सुलक्षण वाली धर्मपत्नी उन्हे मिली। इससे उनकी सुकृतियों को बढ़ावा मिला और चार चाद लग गये। भारतवर्ष मे एक लाख रुपये का प्रतिवर्ष साहित्यिक पुरस्कार देने की योजना अभूतपूर्व थी। यद्यपि विदेशो में यह परम्परा भारत से पहले प्रारम्भ हो चुकी थी, पर भारत मे किसी का भी ध्यान इस ओर नही गया। अतः साहू दम्पत्ति ने इसमे पहल की तथा सदा के लिए एक कीर्तिमान स्थापित कर दिया। भारतीय ज्ञानपीठ की स्थापना और इतने बड़े साहित्य के प्रकाशन का काम भी जैन समाज के लिए अपने ढग का एक ही कार्य है। एक ओर साहू जी ने माता के नाम से मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला चालू की जिसमें बहुत से उत्कृष्ट जैन ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ व हो रहा है। दूसरी ओर, सर्वजनोपयोगी विविध प्रकार का उच्च स्तर का साहित्य प्रकाशित किया जा रहा है। साहित्य के क्षेत्र मे इस प्रकार का व इतना बड़ा काम जैन समाज मे तो दूसरे किसी ने नही किया।

जैन तीर्थों के उद्धार मे भी साहू जी ने मुक्तहस्त एवं उदार भाव से लाखों रुपये खर्च किये और अब भी उनके फण्ड से वह काम चालू है, जिससे अनेको जैन तीर्थों, मन्दिरो और मूर्तियो का संरक्षण हो सका। जैन शास्त्रानुसार नये मन्दिर व मूर्ति निर्माण की अपेक्षा जीर्णोद्धार मे आठ गुना फल माना गया है। साहू जी ने इस कार्य द्वारा बहुत बड़ा पुण्य अर्जन किया। साथ ही, नाम की भी कामना नही की। काम को ही महत्त्व दिया। यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

देवगढ के जैन कला धाम तीर्थ का दर्शन-वदन करने मै गया तो वहा देखा कि साहू जी ने वहां एक संग्रहालय भवन भी बना रखा है, जिसमे बहुत सी कलापूर्ण भव्य मूर्तियो का महत्त्वपूर्ण संग्रह है। इस संग्रहालय द्वारा नष्ट होती हुई उत्कृष्ट जैन कला कृतियों का सरक्षण हुआ देख उनके कलानुराग के प्रति सद्भावना जगी।

वैसे तो साहू जी से हमारा परिचय काफी पहले से था। कलकत्ते मे उनके भवन मे जाने व उनसे बातचीत करने का प्रसंग मिलता रहा है। पर भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव के प्रसग से हमारी घनिष्ठता बढ़ी। वे उस महोत्सव के कार्याध्यक्ष थे। अतः सदस्य होने के नाते मेरा कई मीटिंगों मे उनसे मिलना होता रहा। मेरी साहित्य साधना और जैन धर्म की गहरी पैठ से वे भली भाति परिचित थे। अतः समय-समय पर वे मेरे सामने अपनी जिज्ञासायें व प्रश्न रखते एवं परामर्श भी लेते। उनके दिल्ली के व्यावसायिक कार्यालय एवं उनके निवास-स्थान पर भी जाने व बातचीत करने का अवसर

(शेष पृष्ठ ४ पेर)

साहू जी और भावी समाजोत्थान योजना

☐ डा० विद्याधर जोहरापुरकर, जबलपुर

स्वर्गीय साहू शान्तिप्रसाद जी से व्यक्तिगत प्रत्यक्ष संपर्क होने का सौभाग्य हमे प्राप्त नही हुआ। फिर भी उनके द्वारा प्रवर्तित और संरक्षित साहित्यिक कार्यों में यत्किंचित् भाग लेने का अवसर अवश्य मिला। अतः उनकी स्मृति मे आदरांजलि के रूप में कुछ विचार प्रकट करना अपना कर्तव्य समझ कर यह लेख प्रस्तुत किया जा रहा है।

स्वर्गीय साहू जी के बहुविध यशस्वी कार्यों मे अन्तिम, भगवान् महावीर के निर्वाण की पच्चीसवी शताब्दी के पूर्ण होने पर आयोजित विशाल समारोह था। चार-पांच वर्षों तक चले इन विविध आयोजनों मे जैन समाज ने अपने अतीत और वर्तमान के गौरव का विस्तृत अनुभव किया। दर्शन, साहित्य और कला के क्षेत्रो मे जैनो के योगदान पर विश्व के जैन-जैनेतर मनीषियो ने प्रशंसा के फूल बरसाये। महावीर निर्वाण संवत् की छब्बीसवी शताब्दी का प्रारम्भ अत्यन्त उत्साहवर्धक रूप मे हुआ। इसमे सन्देह नही कि इस छब्बीसवी शताब्दी मे भी हमारे गौरव को अधिकाधिक उजागर करने वाले कार्यक्रम चलते रहेगे। इसके साथ ही यह आवश्यक प्रतीत होता है कि जैन विचारक आत्मगौरव के कोष मे लिपटे न रहें तथा आधुनिक युग मे प्राप्त नवीन ज्ञान-विज्ञान के प्रकाश मे अतीत की उपलब्धियों का यथार्थपरक मूल्यांकन भी करते चलें। इसी दृष्टि से कुछ विचार यहा प्रस्तुत किये जा रहे है।

विगत डेढ़ शताब्दी मे विकसित समीक्षात्मक अध्ययन पद्धति का प्रयोग जैन विद्या के क्षेत्र में स्व० पं० मुख्तार जी, प्रेमी जी, जिनविजय जी आदि मनीषियों ने किया है। इनके प्रयत्नों से विक्रम की दूसरी सहस्राब्दी के जैन साहित्य मे व्याप्त संकीर्णता और भ्रान्तियो को समझने मे काफी सफलता मिली है। किन्तु इस पद्धति का प्रयोग विक्रम की प्रथम सहस्राब्दी के साहित्य के विषय मे प्रायः नही हुआ है। इसके विपरीत, प्रतिक्रिया के रूप मे इस युग के आचार्यों के विषय मे पूजा की भावना अधिक बढ़ती दिखाई देती है। अब समय आ गया है कि हम पुनः समीक्षात्मक अध्ययन पद्धति को अपनायें और सत्यान्वेषण को आदरभाव का बाधक न समझें। इस दृष्टि से विचारणीय कुछ विषयों की संक्षिप्त चर्चा प्रस्तुत है।

पुरातत्त्व :

भारतीय पुरातत्त्वज्ञों द्वारा खोजे गये सहस्रों शिलालेखों से जैन समाज के अतीत के विषय मे बहुमूल्य जानकारी मिली है और महावीरोत्तर युग का इतिहास निश्चित करने मे जैन पण्डितो ने भी इस सामग्री से लाभ उठाया है। किन्तु महावीर पूर्व युग के विषय मे पुरातत्त्व की उपलब्धियों के प्रति जैन पण्डित उदासीन प्रतीत होते है। भारत के शताधिक स्थानो के वैज्ञानिक उत्खनन के परिणामो का सार संक्षेप आलचिन दम्पति के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'दि बर्थ आफ सिविलाइजेशन इन इन्डिया' मे उपलब्ध है। इससे ज्ञात होता है कि ईसवी सन् पूर्व तेईसवी शताब्दी तक भारतीय पाषाणयुग मे ही थे। ई० पू० तेईसवीं शताब्दी मे कृषि पर आधारित सभ्य जीवन के साथ ताम्रयुग का आरम्भ हुआ जो लगभग एक सहस्राब्दी तक चला और फिर ईसवी सन् पूर्व दसवी-ग्यारहवी शताब्दी मे लोहयुग का प्रारम्भ हुआ। यहा ध्यान रखना होगा कि समयनिर्धारण के ये निष्कर्ष रेडियोकार्बन विधि-पर आधारित है —इन्हे भौतिक पदार्थ विज्ञान का ठोस आधार प्राप्त है —अतः केवल अनुमानात्मक कह कर इनकी उपेक्षा नही की जा सकती। इनके प्रकाश मे भारत मे आर्य सभ्यता के इतिहास का प्रारम्भ अब हम ईसवी सन् पूर्व बाईसवी शताब्दी से करना होगा तथा हमारे पुराण पुरुषो की कथाओ मे वर्णित लाखो-करोड़ो वर्षों की कालगणना को छोड़ना होगा। इस दृष्टि से वैदिक पुराण कथाओ के अध्ययन का उत्तम प्रयत्न पं० द्वारका प्रसाद मिश्र के ग्रन्थ 'स्टडीज इन दि प्राटो हिस्टरी आफ इन्डिया' मे मिलता है। जैन पुराण कथाओ के विषय मे ऐसे प्रयत्न अपेक्षित है।

अन्तरिक्ष युग :

पृथ्वी और ग्रह-नक्षत्रों के आकार और गति के विषय में विभिन्न विचार-धारायें पुरातन समय में प्रचलित थीं। वे प्राय: स्थूल निरीक्षण पर आधारित थी। अत उनकी ग्राह्यता के विषय मे तर्क-वितर्क सम्भव थे। रूसी और अमरीकी वैज्ञानिकों द्वारा प्रवर्तित अन्तरिक्ष यात्राओं के फलस्वरूप यह विषय अब प्रत्यक्ष ज्ञान की कक्षा मे आ गया है तथा चन्द्र के धरातल पर खड़े होकर मानव द्वारा लिए गए पृथ्वी के फोटो प्राप्त हो चुके है। इस नये ज्ञान के प्रकाश में हमारे त्रिलोक वर्णन सम्बन्धी परम्परागत विवरण परीक्षणीय है। खेद की बात है कि अधिकाश जैन पण्डित केवल श्रद्धा के बल पर पुराने विवरणों से चिपके रहना चाहते हैं। इसके अपवाद स्वरूप जैनेन्द्र-सिद्धान्तकोश में क्षु० जिनेन्द्र वर्णी जी का यह अभिमत पढ़कर हमे सुखद आश्चर्य हुआ (भा० ३, पृ० ४५२) कि वर्तमान के भूगोल की, जिसका आधार इन्द्रियप्रत्यक्ष है, अवहेलना करना या उसे विश्वासयोग्य न मानना युक्त नही। इस दृष्टि का विस्तार अपेक्षित है।

संक्षेप में, जिस प्रकार स्वर्गीय साहू जी ने उद्योग के क्षेत्र में नवीन प्रवृत्तियों को आत्मसात् करने में सफलता पाई, उसी प्रकार जैन विचारकों को विद्या के क्षेत्र में नवीन प्रवृत्तियों को आत्मसात् करना होगा। हमारा विश्वास है कि नई पीढ़ी के अधिकतर जैन विद्वान् यही चाहते हैं। किन्तु इस समय उनके विचार आपसी बातचीत या सीमित विद्वद्गोष्ठियों तक ही सीमित है। सामाजिक मंचों पर पुरातन के दोहराव की ही प्रवृत्ति लक्षित होती है। इस स्थिति में सुधार होकर, विद्वज्जन खुले मन से विचार व्यक्त करें तो जैन विद्या को बड़ा लाभ होगा। ऊपर केवल प्रथमानुयोग और करणानुयोग के ही विचारणीय विषयों की ओर सकेत किया गया है। इसी प्रकार, आधुनिक प्राणिशास्त्र आदि की उपलब्धियों से हमारे चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग भी लाभान्वित हो सकते है। श्रद्धालु समाज और विचारक इन दो वर्गों मे वर्तमान समय मे जो अन्तर पड़ा हुआ दिखता है उसे यथासम्भव कम करना तो इसी दिशा मे प्रयत्नों से सम्भव होगा। □□□

(पृष्ठ २ का शेषांश)

मुझे मिला है। इससे उनकी जैन धर्म के प्रति श्रद्धा और धर्म की अधिक से अधिक सेवा करने की भावना, साहित्य कलानुराग एवं अनेक मानवोचित्र सद्गुणो का परिचय पाकर उनके प्रति मेरी सद्भावना मे वृद्धि होती रही है।

बम्बई मे निर्वाण महोत्सव की मीटिंग थी और मैं भी उसमे गया था। वहां जैन कला मर्मज्ञ पूज्य मुनि श्री यशोविजय जी के साथ जैन चित्रकला, मूर्तिकला आदि के सम्बन्ध मे मैंने बहुत जिज्ञासा व अनुराग साहू जी मे पाया। दो दिन तक कई घण्टे वे मुनि जी के सम्पर्क मे रहे औ काफी प्रेरणा प्राप्त की, इसका मै साक्षी हूं।

निर्वाण महोत्सव को अच्छा से अच्छा और अधिक से अधिक प्रभावकारी रूप मे मनाने के लिए साहू जी मे जितना उत्साह देखा, उतना और किसी मे नही। वास्तव मे जितना काम उन्होंने किया उतना दूसरे किसी ने नही किया। अपने विशाल व्यापार पर बहुत कम ध्यान देकर वे निर्वाण महोत्सव की सफलता के लिए पूर्ण रूप से जुट गये। जिससे भी, जहां से भी, जो अच्छा सुझाव उन्हे मिला व जो भी अच्छी बात उनके ध्यान मे आ गई, तुरंत कार्य रूप मे परिणत की। यदि वे और कुछ वर्ष जीते तो जो काम अधूरे रह गये वे काफी हद तक पूरे हो जाते।

जैन समाज के चारों सम्प्रदायों मे एकता लाने व दृढ करने के लिए उन्होने बहुत बड़ा प्रयत्न किया। अपनी ओर से वे पूर्ण सावधान रहे कि सभी सम्प्रदायों के प्रमुख मुनियों व व्यक्तियों का अधिकाधिक सहयोग प्राप्त किया जाय व किसी को भी ऐसा न लगे कि वे दिगम्बर का कुछ भी पक्षपात कर रहे है। दिगम्बर सम्प्रदाय की एकताके लिए भी, अन्तिम समय मे भी, उन्होने बहुत अच्छा प्रयास किया। खेद है कि हम उनकी भावना, कार्यक्षमता, तत्परता उदारता से जितना अधिक लाभ उठाना चाहिए था, नही उठा पाये और निर्वाण महोत्सव के बाद हमारी एकता व जागृति मे बहुत कमी आ गयी। अतः ऐसे समय मे उनका आकस्मिक चला जाना बहुत ही अखरता है। उनके अभाव की पूर्ति असंभव सी हो गई है। एक नररत्न को हम खो बैठे हैं। □□□



साहू जी के ज्येष्ठ पुत्र
श्री साहू अशोक कुमार जैन
वीर-सेवा-मन्दिर के वर्तमान अध्यक्ष



तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री मोरारजी देसाई के साथ परिवार के सदस्य
[दायें से बायें : श्री अशोक कुमार जैन, श्री साहूजी, श्रीमती इन्दु जैन (पुत्रवधू) एवं श्री आलोक प्रकाश जैन]



ज्ञानपीठ पुरस्कार समारोह : श्री साहूजी तत्कालीन राष्ट्रपति श्री वी० वी० गिरि के साथ

जैन समाज के शिरोमणि

□ श्री भगतराम जैन, दिल्ली

उत्तर प्रदेश के अन्तर्गत नजीबाबाद के पुराने घरानों मे साहू जैन घराना बहुत प्रतिष्ठित रहा है। शान्तिप्रसाद जी का जन्म इसी नगर और घराने में सन् १६१२ मे हुआ था। उनके पितामह साहू सलेकचन्द जैन थे। पिता श्री दीवान चन्द जी और माता श्रीमती मूर्तिदेवी जी थी।

आपकी प्रारम्भिक शिक्षा नजीबाबाद के शिक्षा केन्द्रों में हुई। हाई स्कूल करने के बाद आपने काशी विश्वविद्यालय में प्रवेश किया। वहाँ से फिर आगरा विश्वविद्यालय में आ गये। आगरा विश्वविद्यालय से ही बी० एस-सी० परीक्षा प्रथम श्रेणी मे पास की। वस्तुतः आपका समूचा विद्यार्थी जीवन प्रथम श्रेणी का रहा और यह केवल अध्ययन और ज्ञानोपार्जन की दृष्टि से ही नही, वरन् अन्य दृष्टियों से भी। वे सभी सद्गुण और सद्वृत्तियां आप में विकसित हुईं जो सफलता के शिखर तक पहुंचने के लिए आवश्यक है।

उद्योग के क्षेत्र में आपने तीसरे दशक मे पदार्पण किया था और प्रारम्भ से ही अपनी दृष्टि इस ओर केन्द्रित की कि न केवल देश के उद्योग व व्यवसाय का विकास और अभिवर्द्धन हो, बल्कि संचालन प्रणालियों में भी नये-से-नये प्राविधिक रूपों का अन्वयन हो। इसके लिए आपने स्वयं विभिन्न आधुनिक पद्धतियों का गम्भीर अध्ययन किया तथा विविध विषय-क्षेत्र में निरंतर गवेषणायें कराईं। अर्थशास्त्र और वित्तीय सिद्धान्तों और पद्धत्तियों का आपका बड़ा व्यापक और विशद अध्ययन था और प्रत्येक विषय से सम्बद्ध आंकड़ों एव विवरण की जानकारी उन्हें इस प्रकार हृदयगम थी कि वह देश-विदेश के आर्थिक मामलों के तथ्य को पूरे परिप्रेक्ष्य मे देखकर सही निष्कर्ष निकालते थे और अपनी प्रतिभा से सबको चकित कर देते थे। विशेष रूप से भारतीय उद्यम और भारतीय क्षमता के प्रति आप अपने औद्योगिक जीवन के प्रारम्भ से ही अत्यन्त आस्थावान रहे।

साहू साहब ने अपने इन उद्देश्यों की पूर्ति को दृष्टि मे रखते हुए आवश्यकता के अनुरूप अन्यान्य देशों का भ्रमण-पर्यटन भी किया। सर्वप्रथम १६३६ मे वह डच-ईस्ट-इंडीज गये, फिर १६४५ में आस्ट्रेलिया और १६५४ में सोवियत रूस। ये तीनों यात्रायें उन्होंने भारतीय औद्योगिक प्रतिनिधि के रूप में की थी और परिणामो की दृष्टि से ये अत्यन्त उल्लेखनीय मानी जाती है। ब्रिटेन, अमरीका, जर्मनी तथा अन्य कई योरोपीय देशों का भी आपने परिभ्रमण किया और अनुभवों के समावेशन द्वारा साहू जैन उद्योगों को अधिकाधिक समृद्ध किया।

सचमुच जिस सहजता के साथ उद्योग एव व्यवसाय के क्षेत्र में साहू जी ने सफलता प्राप्त की, वह उनकी स्वभावगत प्रतिभा और सूझबूझ, संगठन क्षमता तथा अध्यवसाय और सहनशीलता की सम्मिलित देन है। पिछले लगभग ४५ वर्षों में आपने विभिन्न प्रकार और प्रकृति के उद्योग धन्धों की एक सुविस्तृत श्रेणी की स्थापना एवं संचालना करके देश के औद्योगिक विकास में योगदान किया और अनेक उद्योगों का नेतृत्व किया। इस श्रेणी के अन्तर्गत जहां एक ओर कागज, चीनी, वनस्पति, सीमेंट, एस्बेस्टस प्रोडक्ट्स, पार्ट निर्मित वस्तुयें, भारी रसायन, नाइट्रोजन खाद, पावर एल्कोहल, प्लाइवुड, साइकिल, कोयले की खानें, लाइट रेलवे व इंजीनियरिंग वर्क्स आते हैं वहाँ दूसरी ओर हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी और गुजराती के दैनिक पत्र और आवधिक पत्रिकायें और महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक साहित्यिक शोध एवं प्रकाशन के कार्य भी आते हैं।

विगत वर्षों में देश की विभिन्न शीर्ष व्यवसाय-संस्थाओं के आप अध्यक्ष रहे हैं। इनमें प्रमुख है—फेडरेशन आफ इंडियन चेम्बर आफ कामर्स एण्ड इन्डस्ट्री,

इंडियन चेम्बर आफ कामर्स, इंडियन शुगर मिल्स एसोसिएशन, इंडियन पेपर मिल्स एसोसिएशन, बिहार चेम्बर आफ कामर्स एण्ड इन्डस्ट्री, राजस्थान चेम्बर आफ कामर्स एण्ड इन्डस्ट्री, ईस्टर्न यू० पी० चेम्बर आफ कामर्स एण्ड इन्डस्ट्री। चार वर्ष तक लगातार आप आल इंडिया आर्गेनाइजेशन आफ इंडस्ट्रियल एम्पलायर्स के भी अध्यक्ष रहे और इसी अवधि में, भारतीय श्रमव्यवस्था सम्बन्धी नियम बनते समय आपने उद्योग-धन्धों का व्यावहारिक दृष्टिकोण उपस्थित किया।

अपनी विशिष्ट प्रतिभा-सम्पन्नता तथा व्यापक अनुभव के कारण साहू जी देश के उद्योग एवं व्यवसाय वर्ग द्वारा अनेक अवसरों पर सम्मानित किये गये। स्वर्गीय प० जवाहरलाल जी ने देश की औद्योगिक प्रगति की वैज्ञानिक परिकल्पना को कार्यान्वित करने के लिए जो प्रथम राष्ट्रीय समिति बनाई थी उसमें देश के तरुण औद्योगिक वर्ग का प्रतिनिधित्व करने के लिए आपको इसका सदस्य बनाया था।

साहू साहब को भारतीय धर्म दर्शन और इतिहास तथा सांस्कृतिक विषयो के अध्ययन में भी अतिरिक्त रुचि थी। भारतीय कला एव पुरातत्व के क्षेत्र में भी वे साधिकार चर्चा किया करते थे। धार्मिक श्रद्धा मे वे अडिग थे। भारतीय भाषाओं एवं साहित्य के विकासोन्नयन की दिशा मे आपका अति विशिष्ट योगदान रहा। आपके द्वारा सन् १९४४ मे भारतीय ज्ञानपीठ की स्थापना एवं अपनी सहधर्मिणी स्वर्गीया श्रीमती रमा जैन के साथ उसकी कार्यप्रवृत्तियां, विशेषकर उसके द्वारा प्रवर्तित भारतीय भाषाओं की सर्वश्रेष्ठ सृजनात्मक साहित्यिक कृति पर प्रतिवर्ष एक लाख रुपये की पुरस्कार योजना की परिकल्पना और अब तक ११ पुरस्कारों के निर्णायों को कार्यविधि मे अनवरत रुचि एवं मार्गदर्शन, उनकी दूरदर्शिता एव क्षमता के बहुप्रशंसित अमर प्रतीक हैं। ज्ञानपीठ के अतिरिक्त आपने साहू जैन ट्रस्ट, साहू जैन चैरिटेबल सोसायटी तथा अनेक शिक्षण संस्थाओ की भी स्थापना की। वैशाली, प्राकृत, जैन धर्म एव अहिंसा शोध-सस्थान को तथा प्राचीन तीर्थों एव मन्दिरो आदि के जीर्णोद्धार मे आपने प्रचुर अर्थदान दिया है। आप अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी, बम्बई तथा अहिंसा प्रचार समिति, कलकत्ता, अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद् एवं मारवाड़ी रिलीफ सोसायटी तथा भारत जैन महामंडल के अध्यक्ष रह चुके थे।

भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव के कार्यक्रमों को सफल बनाने में आपका सर्वाधिक योगदान रहा है। जैन समाज के चारों सम्प्रदायों की ओर से गठित भगवान महावीर २५००वां निर्वाण महोत्सव महासमिति के आप कार्याध्यक्ष थे। भारत की सम्पूर्ण दि० जैन समाज की ओर से गठित आल इडिया दिगम्बर भगवान महावीर २५००वां निर्वाण महोत्सव सोसायटी एवं बगाल प्रदेश क्षेत्रीय समिति के अध्यक्ष के रूप में आपने देश-व्यापी सांस्कृतिक चेतना को जागृति किया। भारत सरकार द्वारा गठित राष्ट्रीय समिति और बिहार तथा बंगाल की समितियों मे भी आपने महत्वपूर्ण पदों का दायित्व तन्मयता से सम्भाला। निर्वाण महोत्सव के बहुमुखी कार्यक्रमों को आपने चिन्तन, उत्साहपूर्ण नेतृत्व और मुखर श्रद्धा के प्रत्यक्ष प्रभाव से उपलब्धियों का जो वरदान दिया है वह जैन समाज के इतिहास मे चिरस्मरणीय रहेगा।

समाज ने अपनी श्रद्धा स्वरूप आपको 'दानवीर' तथा 'श्रावक-शिरोमणि' की उपाधियों से सम्मानित किया। उनके निधन से श्री साहूजी के बड़े भाई श्री श्रेयांसप्रसाद जैन को, साहू जी के बड़े पुत्र श्री अशोककुमार जैन, मंझले पुत्र श्री आलोकप्रकाश जैन एवं कनिष्ठ पुत्र श्री मनोजकुमार जैन को, उनकी पुत्री श्रीमती अलका जालान एवं सारे परिवार को जो मर्मान्तक आघात पहुंचा है उसके प्रति समाज की सहज सम्वेदना उत्प्रेरित है। वास्तव में, उनका देहान्त सामाजिक इतिहास का एक युगान्त है।

मेरा उनका साथ लगभग सन् १९५० से था। जैन समाज की गतिविधियो मे मुझे उनके साथ कार्य करने का बहुत अधिक अवसर मिला। उनके निधन से मुझे तो अपार क्षति हुई है। मैं उनके चरणो अपने श्रद्धा के सुमन अर्पित करता हूं। □□□

सौजन्य-मूर्ति साहू जी : कुछ संस्मरण

□ पं० पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर

दानवीर सर सेठ श्री हुकमचन्द जी के बाद श्री साहू शान्ति प्रसाद जी ने दिगम्बर जैन समाज का नेतृत्व जिस स्तर से संभाला उससे समाज के गौरव की चौमुखी वृद्धि हुई। क्या तीर्थ क्षेत्र, क्या शिक्षा, क्या प्रकाशन, क्या सामाजिक सेवा, सभी कार्यों को आपने जिस तत्परता से सभाला वह सबके समक्ष है। समस्त तीर्थ क्षेत्रो पर नया निर्माण न करा कर जीर्णोद्धार मे आपने जो द्रव्य खर्च किया है और द्रव्य ही नही अपने निरीक्षको को भेज कर उनकी देख-रेख मे, स्थायी काम कराया है जो उससे अनेक क्षेत्रो का कायाकल्प हो गया है। पपौरा का भोंयरों का मन्दिर और अहारजी का शान्तिनाथ मन्दिर इसके ज्वलन्त उदाहरण है। बिहार प्रान्त ही नहीं, भारत के सभी प्रान्तीय क्षेत्र आपके द्वारा उपकृत हुए है।

शिक्षा के क्षेत्र मे कार्य करने वाली सस्थाओं का आपने भरपूर पोषण किया है। बनारस के स्याद्वाद विद्यालय और सागर के गणेश दिगम्बर जैन विद्यालय को आपने पर्याप्त सहायता देकर स्थायी बनाया है। आपके द्वारा स्थापित छात्रवृत्ति कोष से अनेक असहाय छात्र, छात्रवृत्ति पाकर अपना जीवन सुसम्पन्न कर रहे है।

प्रकाशन की दिशा मे भारतीय ज्ञानपीठ की स्थापना कर आपने जो काम किया है, वह देश मे ही नही विदेशो में भी गणनीय माना गया है। ज्ञानपीठ की मूर्ति देवी ग्रन्थमाला के माध्यम से दिगम्बर जैन प्राचीन ग्रन्थों के जो आधुनिक संस्करण प्रकाशित हुए है तथा लोकोदय ग्रन्थमाला के माध्यम से जो विपुल हिन्दी साहित्य सामने आया है उसे देखते हुए हृदय मे बड़ा सन्तोष होता है। महापुराण एक-दो भाग, उत्तर पुराण, पद्मपुराण, १-२-३ भाग, हरिवश पुराण, गद्य चिन्तामणि, पुरुदेव चम्पू, जीवन्धर चम्पू और धर्मशर्माभ्युदय आदि ग्रन्थ जिस साज सज्जा और विविध सामग्री के साथ प्रकाशित हुए, उससे समाज को बड़ा हर्ष हुआ और कितने ही ग्रन्थों के द्वितीय संस्करण छप चुके है।

तीर्थ क्षेत्रों सम्बन्धी जो विशाल सचित्र ग्रन्थ अभी हाल ही मे प्रकाशित हुए है उनमे दिगम्बर जैन क्षेत्रों के पुरातत्त्व पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा है। जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश के ४ भाग एक बड़ी निधि के रूप में माने गये हैं।

प्रकाशन के अतिरिक्त, आप देश की सभी भाषाओं के सर्वोत्तम लेखक की कृति को एक लाख रुपये के नगद पुरस्कार से सम्मानित करते है। इससे लेखक को जो सहकार और प्रोत्साहन प्राप्त होता है उसकी सर्वत्र सराहना हो रही है।

भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव के सम्बन्ध मे माननीय साहूजी की तत्परता से ही उसे गौरव के साथ सफलता प्राप्त हुई है। समाज मे होने वाले विशिष्ट आयोजनों मे आप स्वय पहुचते रहे है और अपने सामयिक सम्बोधनो से समाज को सबोधित करते रहे है। पिछले वर्ष अस्वस्थता के रहते हुए भी आप द्रोणगिरि क्षेत्र पर होने वाले गजरथ महोत्सव मे शामिल हुए थे। आपके सान्निध्य तथा सामयिक सम्बोधन से वहां की विशाल जनता बहुत ही प्रभावित हुई थी।

पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णीजी के आप विनम्र भक्त थे। जब तक वे ईसरी मे विद्यमान रहे, तब तक उनके जयन्ती समारोहों में पहुंचते रहे है। उन्ही समारोहो, मे बिहार प्रान्त मे फैले हुए सराक जाति के उद्धार की योजना बनी थी और उस योजना के पुरस्कर्ता माननीय साहूजी थे।

साहूजी अत्यन्त विनम्र व्यक्ति थे। कई बार उनसे साक्षात्कार हुआ। कोई न कोई नयी बात उनके साक्षात्कार से प्राप्त होती थी। एक बार वे अतिशय क्षेत्र महावीर जी मे बन रहे कीर्तिस्तम्भ का शिलान्यास करने गये थे। उसका विधि-विधान मैंने कराया था। विधि

विधान के बाद भगवान महावीर २५००वां निर्वाण समारोह के विविध आयोजनों पर विचार होता रहा। जाते समय स्टेशन पर मेरी पत्नी ने मुझसे पूछा कि साहूजी कौन हैं ? मैंने कहा कि वे खड़े हैं काला कोट पहने। ये शब्द उन्होंने सुन लिये। सुनते ही पत्नी के पास खड़े होकर कहने लगे—माता जी जय जिनेन्द्र।

द्रोणगिरि के गजरथ महोत्सव में पास-पास ठहरने में अधिक सम्पर्क रहा। मैंने कहा कि आप यहां तक आ गये हैं, अतः सागर चलकर पूज्य वर्णी जी का विद्यालय भी आपको देखना है। वे बोले कि सागर चलने की इच्छा तो बहुत समय से है, पर शरीर इतनी लम्बी यात्रा करने मे समर्थ नहीं है। आपका आग्रह हो तो सागर चलूं या नैनागिरि जी के दर्शन कर आऊं। दो जगह में से एक ही जगह जा सकता हूं। उनके शरीर की स्थिति को देखते हुए मैं चुप हो गया। वे नैनागिरि जी के दर्शन कर द्रोणगिरि जी वापिस आ गये। वहा उनके हाथ से छात्रावास का शिलान्यास कराया गया। रात्रि को विशाल जन समूह मे आपका सारगर्भित भाषण हुआ। धार्मिक भाषण के बाद उन्होंने समाज की आर्थिक स्थिति को सुधारने के सन्दर्भ में भी अनेक उपाय बतलाये। उन्होंने कहा कि एक व्यक्ति बड़े उद्योगों की क्षमता नहीं रखता है, यह ठीक है, परन्तु अनेक लोग मिलकर परस्पर के सहयोग से बड़े-बड़े कार्य कर सकते हैं। औद्योगिक कार्यों में लगन और धैर्य की आवश्यकता होती है। अन्त मे कहा कि पूज्य वर्णी जी की साधना भूमि बुन्देलखण्ड का अतीत गौरवशाली रहा है। तभी तो यहां अनेक जिन मन्दिरों का निर्माण हुआ है।

एक बार आप अहार जी तथा पपौरा जी गये थे। साथ में रमा जी तथा छोटा पुत्र भी था। उस समय मैं भी वहां गया था। शान्तिनाथ मन्दिर का जीर्णोद्धार देख कर उन्होंने बड़ी प्रसन्नता प्रगट की थी।

सागर विद्यालय का स्वर्ण जयन्ती उत्सव सम्मेदशिखर जी मे करने की स्वीकृति लेने के लिए एक बार हम और संगौरिया जी कलकत्ता गये थे। तब आपने स्वीकृति देते हुए बड़ी प्रसन्नता प्रकट की थी। इसके एक वर्ष पूर्व बनारस के स्याद्वाद विद्यालय का स्वर्णजयन्ती उत्सव सम्मेदशिखर जी मे सम्पन्न हुआ था और उसकी अध्यक्षता स्वयं साहूजी ने की थी। सागर विद्यालय के उत्सव के समय सम्मेदशिखर जी नही पहुंच सके। परन्तु बाद मे पूज्य वर्णी जी के पास गिरीडीह मे आकर, न आ सकने पर खेद प्रकट किया और सागर विद्यालय को प्रति वर्ष ५०००) की सहायता देना स्वीकृत कर गये। वह सहायता बराबर आती रही। अब दो वर्ष पूर्व ८०००० के शेयर्स देकर उस सहायता को स्थगित किया है। ईसरी मे पूज्य वर्णी जी का स्मारक बनाया गया है। उसके उद्घाटन के समय साहूजी स्वयं पधारे थे। मुझे भी पहुंचने का अवसर मिला था। उस समय वे पूज्य वर्णी जी का गुणगान करते हुए गद्गद् हो गये; बोले कि मुझपर कोई आपत्ति आती है और सपने में वर्णी जी के दर्शन हो जाते है तो सब आपत्ति टल जाती है। मेरी उनके प्रति बहुत भारी आस्था है।

वे एक सौजन्य-मूर्ति थे। उनके प्रति स्मृति अंक का प्रकाशन करना कृतज्ञता प्रकाशन का एक प्रशस्त रूप है।

□□□

प्राचीन काल में जैन धर्म

महा सम्राट् चन्द्रगुप्त के दरबार में सेल्यूकस के राजदूत मेगास्थनीज ने अपने 'भारतवर्षीय वर्णन' में लिखा है कि—"भारतीयों के दो सम्प्रदाय हैं—एक 'सरमनाई' (Sarmanai) (अर्थात् श्रमण) और दूसरा 'ब्राचमनाई' (Brachmanai) (अर्थात् ब्राह्मण)। सरमनाई ही के अन्तर्गत वे दार्शनिक हैं जो 'हाइलोब्योइ' कहलाते हैं। वे नगरों और घरों में नहीं रहते, वृक्ष की छाल से अपने को ढंकते हैं और जल अपने हाथों से मुंह तक ले जाकर पीते हैं। वे न विवाह करते हैं, न सन्तानोत्पादन।"

मौलाना सुलेमान नदवी द्वारा लिखित 'अरब और भारत के सम्बन्ध' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि—संसार में पहले दो ही धर्म थे—एक समनियन और दूसरा कैल्डियन। 'समनियन' लोग पूर्व के देशों में थे। खुरासान वाले इनको बहुवचन में 'शमनान' और एक वचन में 'शमन' कहते हैं। चीनी यात्री ह्वेन्सांग ने भी 'श्रमणेरस' (Sramaneras) नाम से 'श्रमण' का उल्लेख अपनी यात्रा के प्रसंग में किया है।

आदर्श समाज नेता

□ श्री वंशीधर शास्त्री एम. ए., जयपुर

आदरणीय साहू शान्तिप्रसाद जी की स्मृति हमे उस महान आत्मा का स्मरण कराती है जिन्होंने अपने अथक श्रम व दूरदर्शिता से बड़े-बड़े उद्योगों का संचालन ही नहीं किया, अपितु भारतीय साहित्य, संस्कृति के गौरव को बढ़ाने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। वे कोट्याधीश होते हुए भी समाज, संस्कृति एवं धर्म संस्थानों के लिए साधारण कार्यकर्त्ता बन जाते थे।

वे समाज के उत्थान के लिए सतत जागरूक रहते थे। वे समाज की मान-मर्यादा को उच्च स्तर पर रखना चाहते थे। सन् १९६० में कलकत्ता पुलिस ने वहाँ के प्रसिद्ध रथ यात्रा जुलूस के लिए नग्न साधु के प्रवेश की निषेधाज्ञा युक्त स्वीकृति देनी चाही थी। समाज के अनेक प्रमुख व्यक्तियों ने यह कह कर ऐसी स्वीकृति के लिए हाँ करना चाहा था कि अभी वहा मुनि नही है, अतः ऐसी निषेधाज्ञा मान कर जुलूस की स्वीकृति ले लेनी चाहिए। लेकिन साहू जी जैसे स्वाभिमानी के लिए ऐसा तर्क स्वीकार्य नही था। उन्होने स्पष्ट कहा कि यह किसी व्यक्ति के अभी होने या न होने का प्रश्न नहीं है, यह वीतराग दिगम्बर धर्म का प्रश्न है, भले ही जुलूस न निकले, किन्तु दिगम्बर साधुओ के प्रवेश की निषेधाज्ञा को हमें स्वीकार नही करना चाहिए। पुलिस अधिकारियों ने ऐसी निषेधाज्ञा बिना जुलूस के लिए स्वीकृति देने से इन्कार कर दिया। अन्त मे साहू जी के व्यक्तिगत उच्चस्तरीय प्रयत्नों से मुनिप्रवेश के निषेध बिना ही रथयात्रा की स्वीकृति मिल गई।

साहू जी ने साहित्य के सरक्षण, सवर्द्धन के लिए भारतीय ज्ञानपीठ की स्थापना तो की ही, साथ ही साहित्यकारो को प्रोत्साहित करने के लिए भारत का नोबिल पुरस्कार—'ज्ञानपीठ पुरस्कार'—की स्थायी योजना बनाई। मेरा ज्ञानपीठ के वर्तमान पदाधिकारियों से निवेदन है कि वे इस पुरस्कार का नाम 'शातिप्रसाद जैन पुरस्कार' घोषित कर उनकी स्मृति को चिरस्थायी बनावे।

साहूजी जैन तीर्थों के जीर्णोद्धार के लिए सर्वदा चिन्तित रहे। उन्होंने अनेक तीर्थो के विकास के लिए सब प्रकार का सहयोग दिया। उनकी यह विशेषता अनुकरणीय है कि उन्होने हजारों, लाखो रुपए का दान कर भी कभी अपना नाम लिखाने-छपाने की चिन्ता नही की।

वे समाज की फूट एवं सघर्ष मे व्यथित रहते थे। उनका हमेशा यही प्रयास रहता था कि समाज मे एकता रहे, ताकि समाज अपने धार्मिक आयतनो की रक्षा करता हुआ राष्ट्र की गतिविधियो मे अपना समुचित स्थान प्राप्त कर सके। समाज मे एकता का स्थायी रूप बना रहे, इसके लिए हम सब प्रयत्न करें यही हमारी उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी। एकता होने से ही समाज अपनी सर्वतोमुखी प्रगति कर सकेगा, अन्यथा नही।

□ □

११५, चाणक्य मार्ग, सुभाष चौक,
जयपुर (राजस्थान)

ज्योतिर्मय व्यक्तित्व

संस्कृति क्षितिज का ज्योतिर्मय,
एक नक्षत्र ज्यों टूट गया।
संस्कृति सरगम का ज्यों कोई,
मर्मारम स्वर ज्यों टूट गया॥
साहित्य, संस्कृति को जिसने —
प्रति क्षण सजीवनी दी;
वह दानी कर्ण, श्रमण —
संस्कृति का, असमय रूठ गया॥

—श्री मिश्रीलाल जैन, एडवोकेट
पृथ्वीराज मार्ग, गुना (म० प्र०)

संगतं श्री-सरस्वत्योः

□ डा० हरीन्द्रभूषण जैन एम. ए., पी-एच. डी., उज्जैन

विश्ववन्द्य महाकवि कालिदास ने अपने विक्रमोर्वशीय नाटक के भरतवाक्य में लिखा है :—

परस्परविरोधिन्योरेकसंश्रयदुर्लभम् ।

सङ्गतं श्रीसरस्वत्योर्भूतयेऽस्तु सदा सताम् ।।

अर्थात्—परस्पर विरोधिनी श्री एवं सरस्वती का एक स्थान पर समागम यद्यपि दुर्लभ है, फिर भी सज्जनों की समृद्धि के लिए इन दोनो का समागम हो।

ऐसा लगता है कि महाकवि की उपर्युक्त कामना को साकार करने के लिए ही भारत के गौरव एवं जैन समाज के अनभिषिक्त सम्राट् साहू शान्तिप्रसाद जैन ने इस भारत-भू को अलंकृत किया था।

'साहू' शब्द जैन संस्कृति का महत्वपूर्ण शब्द है। अनादि-निधन-मन्त्र मे हम सभी पढते हैं—"णमो लोए सव्व-साहूण"। 'साहू' का अर्थ है साधु अर्थात् सरल, निश्छल, विनीत, सेवाभावी, स्वपर-कल्याणी आदि। दूसरे शब्दों मे, मानवता के जितने विभूषण इस वसुन्धरा पर सम्भव है, 'साहू' ने उन सबको समेट लिया है। यदि हम यह कहें कि श्रद्धेय साहूजी का नामाग्र 'साहू' न केवल सार्थक है, प्रत्युत वह उनके समग्र जीवन के लक्ष्य, आदर्श एवं चिंतन को प्रतिबिम्बित करता है, तो यह कोई अत्युक्ति न होगी। अन्तिम क्षणो में उनकी अभिलाषा हस्तिनापुर मे मुनिश्री शांतिसागर महाराज के निकट साधु जीवन व्यतीत करने की थी।

साहूजी ने अपने जीवन में, विशेषतः उद्योग-व्यवसाय के क्षेत्र मे जो अनेक लक्ष्य प्राप्त किए, वे निःसन्देह असाधारण है। पर हम जिस बात को अत्यन्त महनीय मानते हैं वह उनका राष्ट्र की सास्कृतिक, साहित्यिक एवं शैक्षणिक प्रगति मे अदृष्टपूर्व योगदान।

साहूजी भारतीय धर्म एवं दर्शन, इतिहास तथा संस्कृति और पुरातत्व एवं कला के अध्ययन मे विशेष रुचि रखते थे। उनके मन मे भारतीय भाषाओ और साहित्य के विकास का दृढ़ सकल्प था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होने भारतीय ज्ञानपीठ की स्थापना की और भारतीय भाषाओ की सर्वश्रेष्ठ सृजनात्मक साहित्यिक कृति पर प्रतिवर्ष एक लाख रुपए के पुरस्कार की घोषणा की।

साहूजी की जैन धर्म और दर्शन के प्रति अटूट श्रद्धा थी। वे प्राकृत भाषा और उसके साहित्य के उन्नयन में विशेष रुचि लेते थे। इस विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिए उन्होंने 'अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन' के भूतपूर्व प्रधान अध्यक्ष यशःशेष डा ए. एन. उपाध्ये, प्राकृत एवं जैनोलाजी विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष स्वर्गीय डा. हीरालालजी, प. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री आदि के परामर्श एव सहयोग से स्व. पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवी की पवित्र स्मृति में, भारतीय ज्ञानपीठ के अन्तर्गत 'मूर्तिदेवी जैन ग्रंथमाला' की स्थापना की। इस ग्रंथमाला के माध्यम से प्राकृत, सस्कृत, अपभ्रश, हिन्दी, कन्नड़, तमिल आदि प्राचीन भाषाओ मे उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक पौराणिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक आदि विविध विषयक जैन-साहित्य का अनुसन्धान-पूर्ण सम्पादन, अनुवाद एवं प्रकाशन हो रहा है। जैन भंडारो की सूचियां, जैन शिलालेख संग्रह और लोक-हितकारी जैन साहित्य भी इसी ग्रंथमाला मे प्रकाशित हो रहा है।

साहूजी ने भगवान् महावीर के २५ सौवें निर्वाण महोत्सव को, सभी सम्प्रदायों के द्वारा मिल कर सफल बनाने मे जो अभूतपूर्व योगदान दिया, वह अविस्मरणीय है। इस अवसर पर यदि भारतीय ज्ञानपीठ ने अपने महत्वपूर्ण प्रकाशन न किए होते तो महावीर परिनिर्वाण महोत्सव केवल उत्सवो और भाषणो में ही उलझ कर रह जाता।

साहूजी ने प्राचीन जैन तीर्थों और मन्दिरों के जीर्णोद्धार में प्रचुर अर्थदान किया। उन्होंने साहू जैन कालेज, नजीबाबाद जैसी अनेक शैक्षणिक संस्थाओ की भी स्थापना की।

जैन शिक्षा के क्षेत्र में साहूजी का जो अविस्मरणीय योगदान है, वह है वैशाली में 'प्राकृत, जैन धर्म एवं अहिंसा शोध संस्थान' तथा मैसूर विश्वविद्यालय में 'साहू जैन चेयर इन जैनालाजी' की स्थापना।

इस प्रकार, दानवीर एव श्रावक शिरोमणि साहू श्री शान्तिप्रसाद जी ने अपने जीवन के ६५ यशस्वी वर्ष मानवता की सेवा में व्यतीत किए। भारत माता के इस सच्चे सपूत को मेरा सादर प्रणाम। □□□

रीडर, संस्कृत विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय,
उज्जैन (म० प्र०)

साहू शान्तिप्रसाद : सेठ और साधु

□ डा० प्रेमसागर जैन, एम. ए., पी-एच. डी, बड़ौत

साहू शान्तिप्रसाद जैन सेठ थे तो साधु भी थे, ऐसा मैं अनेक वर्षों के सम्पर्क से जान सका हूं। जब शान्तिप्रसाद जैन मेरठ मे पढ़ते थे, तो वहां के ही एक होस्टल मे रहते थे। होस्टल के बराण्डे मे शहद की मक्खियों का बहुत बड़ा छत्ता लगा हुआ था। कुछ छात्र उसे तोड़ने का प्रयत्न करते थे, तो शान्ति जी नाना उपायो से उन्हे रोके रहते थे। एक दिन वे शहर गये हुए थे कि कुछ छात्रो ने उस छत्ते को तोड डाला। मक्खियो को मार दिया। जब शान्ति भाई लौट कर आये और उन्होने ऐसा देखा तो रोने लगे! उस समय उनका रो पड़ना छात्रो के मध्य बडी चर्चा का विषय रहा। इससे उनके भावुक दिल और अहिंसक भाव का परिचय मिलता है। वे एक पुराने जैन संस्कारो से युक्त खानदान मे जन्मे थे।

मैंने ऐसा अनेक अवसरो पर देखा कि दीन-दुखी को देख कर उनका दिल दया-द्रवित हो उठता था। उन्होने आगे चलकर, गरीब छात्रो की भलाई के लिए ही 'साहू जैन ट्रस्ट" की स्थापना की, जिसकी सहायता से अनेक जैन और अजैन छात्र विद्याध्ययन कर सके और आज बड़े-बड़े पदो पर प्रतिष्ठित है। यह ट्रस्ट अब भी चल रहा है और अनेक नवयुवा उससे लाभान्वित हो रहे हैं।

साहू जी की एक सबसे बड़ी विशेषता है— अनहंकार। उन्होंने छोटे-बड़े का भेद किये बिना समान भाव से गुणियों का समादर किया। मैं उन दिनो भारतीय ज्ञानपीठ की 'प्रकाशन समिति' का सदस्य था। एक लाख के पुरस्कार समारोह के अवसर पर 'प्रकाशन समिति' की बैठक हुआ करती थी। डा० ए० एन० उपाध्ये, डा० नेमिचन्द्र शास्त्री और प० कैलाशचन्द जी भी सदस्य थे। हमारे ठहरने का प्रबन्ध प्रायः 'साहू श्रेयांसप्रसाद गैस्ट हाउस', गोल्फलिंक रोड पर किया जाता था। तीन सदस्य दूर के थे। वे पहले ही आ जाते थे—एक दिन पहले अथवा समारोह वाले दिन प्रातःकाल। मुझे समीप से जाना होता था, अत. निश्चिन्त रहता था और किसी-किसी वर्ष शाम के चार बजे तक पहुच पाता था। इस बीच साहू शान्तिप्रसाद कम-से-कम पाच बार टेलीफोन कर मालूम करते थे कि प्रेमसागर अभी तक आये या नही। भोजन के समय वे सदैव मुझे अपने पास बैठाल कर खिलाते थे। बड़े-बड़े लोगो से मेरा परिचय बहुत अच्छे शब्दो मे करवाते थे और मैं सकुचित होकर रह जाता था। मेरे अन्दर जो इन्फीरियर्टी है वह दिल्ली के उस उच्च वर्ग मे स्पष्ट हो उठती थी। शायद वह यह सब कुछ समझते थे, इसीलिए मुझे अधिकाधिक प्रोत्साहन और प्रेरणा देते थे और मेरा ऐसा चित्र खीचते थे, जैसा कि मैं नही हू। उनकी इस सदाशयता का मै सदैव ऋणी रहूगा।

साहू जी की सहृदयता जन्म-जात थी। उनका स्वभाव ही ऐसा था। जो कुछ उठता, भीतर से। दिखावे वाली बात ही नही थी। आज की उदारता के पीछे दिखावे के न-जाने कितने मुखौटे चढ़े हुए है। उनमे ऐसा नही था। उन्होने जो कुछ किया, दिल से किया। 'महावीर निर्वाणोत्सव' के साल से पहले ही उन्हे एक ऐसा उच्च सहज वातावरण मिला था, जिसमे उनकी उदारता को उन्मुक्त अवकाश मिला। फिर तो, कही उन्होने तीर्थो को दिया, कही मन्दिरों को, कही मुनिसघो को, कही ग्रन्थागारो को, कही विश्वविद्यालयो को, कही उत्सवो को और कही विद्वद्पुरस्कारो को। उनकी श्रद्धा का ओर-छोर नही था—अनाडम्बरित श्रद्धा। वे महामना थे।

उन्हे अपनी जाति से प्रेम था, किन्तु उनमे जातिवाद का विष नही था। उन्होने अथक प्रयत्न किया कि चारो सम्प्रदाय मिल कर महावीर निर्वाणोत्सव मनाये। हुआ भी ऐसे ही, किन्तु जो बाधाये आई, वे अननुभूत और अकल्पनीय थी। साहू जी का स्वास्थ्य बिगड़ता गया

और पटना मे ऐसा "हार्ट अटेक" हुआ कि जीने की आशा ही धूमिल पड गई। किन्तु प्रकृति को उनका जाना अभीष्ट नही था। अभी उनसे कुछ काम लेना था और वे बच गये। श्रीमती रमा रानी की दिन-रात की सेवा का अच्छा फल प्राप्त हुआ और साहू जी मृत्यु के कराल जबड़ो मे जाकर भी निकल आये।

इस बीच, सम्प्रदायों का सन्तुलन बिगड गया। साहू जी के बीमार हो जाने से, कोई अन्य योग्य निर्देशन न मिल सका, तो सन्तुलन बिगडना था, वह बिगडा। दूसरी ओर, दिगम्बरों मे एक नया मत 'काजी स्वामी" के नाम पर जोर पकडने लगा। यह मत केवल 'निश्चय' पर बल देता है, 'व्यवहार' को नितान्त हेय और वर्जनीय कहता है। इससे जन-साधारण मे प्रचलित "भक्ति" को मिटा देने की बात कही। उन्होंने जैनों मे प्रचलित देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति को नकार दिया। सासारिक जन को तो इसी का सहारा था। अतः दिगम्बरो के एक वर्ग ने (उनका काजी स्वामीका) पुरजोर खडन किया। उनके ग्रथो को जलाया अथवा नदी मे बहा दिया। बाहिष्कार की बात भी जोर पकड़ने लगी। साहू जी ने इनको सन्तुलित मस्तिष्क से नापा-जोखा और परखा। उन्होने देखा कि दिगम्बर विखण्डित हो जायेंगे। शायद इसी कारण उन्होने 'दिगम्बर जैन महासमिति' की रचना की। उन्होने कहा कि दिगम्बरो के सभी मत और सम्प्रदाय इसमे सम्मिलित हों। हमें खुली विचारधाराओं का अधिकार है, केवल मत-वैभिन्य के कारण हम पृथक् न होंगे। मरते-मरते एकता का यह आह्वान जितना शानदार था, उतना ही उनकी भाव-गरिमा का द्योतक भी।

साहू शान्तिप्रसाद पण्डित थे। भारतीय जैन पुरातत्व का उनको विशिष्ट ज्ञान था। मन्त्र-तन्त्र मे उनकी गति किसी भी साधारण कोटि के विद्वान से अधिक थी। सबसे बड़ी बात थी – उनकी मौलिक प्रतिभा और नव-नवोन्मेशालिनी बुद्धि। एक दृष्टात दे रहा हू:--भारतीय ज्ञानपीठ की प्रकाशन-समिति' की बैठक थी। शोध प्रबन्ध के प्रकाशन पर चर्चा चल रही थी। शोध ग्रथ के प्रकाशन मे पर्याप्त व्यय करना होता है। इस दृष्टि से इनकम नही हो पाती। एक प्रकार से घाटे का सौदा रहता है। साहू शान्तिप्रसाद चुपचाप बैठे थे और उस चर्चा को ध्यानपूर्वक सुन रहे थे। एकाएक उन्होंने पूछा कि एक शोध ग्रथ मे अधिक से अधिक दो-चार मान्यताएं स्थापित की जाती है, फिर ग्रथ इतना मोटा क्यों हो जाता है! उन मान्यताओ को संस्थापित करने, प्रमाणिक बनाने और पुष्ट करने के लिए सामग्री को इर्द-गिर्द लगाना ही होता है, ऐसा मैने उत्तर दिया। साहूजी ने कहा कि यदि ऐसा भी है तो कुछ सम्बन्धित सामग्री के साथ मान्यताओं के प्रस्तुतीकरण मे साठ या सत्तर पृष्ठ से अधिक न हो पायेंगे। इतना आवश्यक है कि सामग्री "टू दि प्वाइट' हो। मैं ऐसा समझता हू कि व्यर्थ के भार से ही शोध ग्रंथ का कलेवर बढ़ जाता है। मैं चुप हो गया। इसके बाद इतने वर्षों तक मैं निरन्तर यह सोचता रहा हूं कि साहू साहब का कथन नितात सत्य और अनुसन्धित्सु तथा उनके निदेशकों के लिए खरी चेतावनी भी थी। यह सत्य है कि आज के शोध ग्रथ प्राय व्यर्थ के बोझ से बोझिल होते है।

इतना ही नही समय-समय पर सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश, हिन्दी, कन्नड आदि मे कैसे ग्रथों की रचना हो, ऐसा दिशा-निर्देश भी वे देते रहते थे। उन्ही की सूझ-बूझ का परिणाम था कि 'महावीर निर्वाणोत्सव" के वर्ष मे, भारतीय ज्ञानपीठ "जैन स्थापत्य और कला" जैसे ग्रथों की रचना करवा कर प्रकाशित करने में समर्थ हुआ। जैन ग्रंथ भंडारो मे प्राचीन महत्वपूर्ण ग्रंथ हस्तलिखित रूप में सुरक्षित है। साहूजी चाहते थे कि उन सब को बाहर निकाला जाये, उनका सम्पादन और प्रकाशन हो। वे इस दिशा मे बढ़ रहे थे। भरसक सहायता भी करते थे। जैन हिन्दी की प्राचीन और मध्यकालीन रचनाओं को वह भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित करना चाहते थे। उन्होंने अपना यह विचार एकाधिक बार मुझ पर प्रकट किया था। एतदर्थ कुछ वर्ष पूर्व "भारतीय ज्ञानपीठ" की प्रकाशन समिति में मुझे दो ग्रंथ सौंपे गये थे—मध्यकालीन हिन्दी पदों के आधार पर 'भक्ति और भाव' तथा 'जैन हिन्दी का आदि काल'। मुझे दुख है कि उनके जीवन काल मे मैं इन्हें तैयार न कर सका। अब, पहला ग्रंथ ज्ञानपीठ को सौंपा है और दूसरा भी तैयार ही है। कुछ पिछड़ गया। आज के जीवन की घनीभूत व्यस्तता

और सतत मानसिक तनाव, मनुष्य को जड़-मूल से तोड़ते जा रहे हैं। मैं भी उससे पृथक् नहीं हूं। लेखन कार्य से कुछ उदासीनता-सी होती जा रही है। जैन ग्रथों के लिखने में अत्यधिक श्रम करना होता है। यह श्रम निष्ठा के बिना संभव नहीं है। किंतु निष्ठावान को न प्रतिष्ठा मिलती है और न जीवन-यापन की सुविधाएं। डा. एम. विण्टरनित्स सात समन्दर पार हिन्दुस्तान मे रह कर 'हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर' लिख सके, का ण था ऊंची से ऊंची जीवन सुविधाएं, जो उनकी सरकार ने उन्हे दी थी। दूसरी ओर एक जैन धनाढ्य व्यक्ति अपने बेटे की शादी के निमन्त्रण-पत्र को खूबसूरत बनाने में जितना खर्च कर सकता है, जैन ग्रंथ के प्रकाशन मे नहीं। जैन लेखक की कृति यदि वह प्रकाशित भी करता है, तो यह जैन लेखक पर उसका अहसान ही है। डा. ए. एन. उपाध्ये ने मुझे बताया था कि एक जैन लेखक ने अपना ग्रथ प्रकाशित करवाने के लिए आधा व्यय दिया था।

इस सबके होते हुए भी साहू शान्तिप्रसाद ने भारतीय ज्ञानपीठ से जो भी प्रकाशित किया, लेखक का भरपूर मेहनताना दिया। हिसाब-किताब मे कभी गड़बड़ नही हुई। ज्ञानपीठ लेखक के प्रति पूरी ईमानदारी बरतता है, यह सभी जानते है। यही कारण है कि हर लेखक अपनी रचना ज्ञानपीठ को देना चाहता है। इसके अतिरिक्त, साहु शान्ति प्रसाद प्रत्येक रचना को ऊँचे स्तर से प्रकाशित करते थे। क्या कागज, क्या गेटअप, क्या प्रूप रीडिंग सभी कुछ उत्तम होता था। उनकी रुचियां परिमार्जित और सुसंस्कृत थी।

जीवन के अन्तिम वर्षों में साहु शान्ति प्रसाद और एक वीतरागी साधु मे कोई अन्तर नही रह गया था। उनका हृदय निर्मल दर्पणवत् हो गया था। उन्हें अध्यात्म का गहरा ज्ञान था। वे चलते-फिरते, उठते-बैठते सदैव आत्म-लीन से रहते थे। साधुओ की अधिक-से-अधिक सेवा-सुश्रूषा और विनय करते थे। उन पर, उनके सघों पर, उनकी कृतियों पर धन व्यय करने में वे कभी हिचके नहीं। यदि उन पर कभी उपसर्ग आया, तो उसे दूर करने में उन्होने भरसक प्रयत्न किया। समूचे भारत में जैन साधुओं के वे एकमात्र संरक्षक थे। उनकी तीव्र इच्छा थी कि जैन साधु आधुनिक युग को ठीक से समझें, अध्ययनशील बनें, मौलिक ग्रन्थों का निर्माण करें। समाज को ठीक से समझे बिना साधु उसमे प्रतिष्ठापूर्वक विचरण नहीं कर सकता। साधु को ऐहिक लोकेषणाओ से दूर रहना ही चाहिए, ऐसा वे चाहते थे। इस बात के वे सख्त खिलाफ थे कि कम उम्र की लड़कियों और लड़को को दीक्षा दी जाए। यदि दी जाये तो सघ और सघाचार्यों को सशक्त होना ही चाहिए। साधु या साध्वी का चरित्र एक आदर्श चरित्र होना अनिवार्य है। उससे समाज और राष्ट्र एक दिशा ग्रहण करता है।

साहू शान्ति प्रसाद मूलत: व्यापारी थे। उन्होने अपने छोटे व्यापार को समृद्ध बनाया। उनमे प्रतिभा थी और रिस्क झेलने की अभूतपूर्व क्षमता। बढ़ते-बढ़ते उनका व्यापार भारत के लीडिंग ३५ व्यापारो मे गिना जाने लगा। उन्होने कोटिश: सम्पत्ति कमाई। यह वही कर सकता है, जिसमे व्यापारिक सूझ-बूझ हो—ऐसी वैसी नही, जिसने अन्तर-राष्ट्रीय अर्थ तन्त्र को भली-भाति समझा हो। उतार चढाव आये, अच्छाइया-बुराइयां भी मिली, किन्तु वे बढते गये और उनका व्यापार आसमुद्रान्त ही नही, उसे भी पार कर विस्तृत हो गया। किन्तु मानव-मन विचित्र होता है। उसकी अन्तर परतों को कौन समझ पाता है। साहु साहब का मन शनै:-शनै: मुमुक्षु हो उठा। वे आत्मवान् बन उठे। व्यापार और पैसे से नितांत निरासक्त मन लिए वे समूचे भारत में दौड़ते फिरे। कुछ ने उन्हें समझा और कुछ ने नहीं। वे उन्मुक्त-हस्त विश्वविद्यालयो मे "जैन चेयर्स", शोध संस्थान, कालेज, तीर्थक्षेत्र और मन्दिरों को देते रहे—देते गये, जब तक उनका दिवावसान न हुआ। मेरी दृष्टि मे वे इस दुनियां के एक क्षमतावान व्यक्ति थे। जब मन मुड़ा, तो उनकी क्षमता, परलोक की दिव्य अनुभूतियों को भी सहज ही सहेजने में समर्थ हुई।

आज वे नहीं है। उनकी स्मृति-भर है। सब चले जाते हैं। जो आया है वह जायेगा। वे भी गए, किन्तु वे अमर-पुत्र थे, यह कहने में मुझे कोई संकोच नही। □□

अध्यक्ष हिन्दी विभाग,
दि० जैन कालेज, बड़ौत (मेरठ)

बीसवीं सदी के भोज

□ श्री कुन्दनलाल जैन, दिल्ली

दसवीं सदी में परमारवंशी धारा नरेश महाराज भोजराज देव जिस तरह लक्ष्मी और सरस्वती के अपूर्व संगम थे, उसी तरह हजार वर्ष बाद इस बीसवीं सदी मे उत्तर प्रदेश के नजीबाबाद नामक एक छोटे से कस्बे के साहू परिवार में श्री शान्ति प्रसाद जी जन्मे थे। उन्हें यदि इस सदी का भोज कहा जावे तो कोई अत्युक्ति न होगी।

साहू शान्ति प्रसाद जी ने अपनी प्रतिभा, बुद्धि-कौशल एवं सतत अध्यवसाय से महाराज भोज की भांति लक्ष्मी और सरस्वती का अद्भुत सगम स्थापित किया था। वे हिन्दू विश्वविद्यालय काशी, के साइस ग्रेजुएट थे, पर उन्होंने अपने वैज्ञानिक अध्ययन एव तकनीकी स्वाध्याय से अपना ज्ञान बहुत विस्तृत कर लिया था।

सौ० रमा जैसी पत्नी को पाकर उनका दाम्पत्य जीवन मणि काचन संयोग की भांति दमक उठा था। वे जहां ज्ञान के सच्चे आराधक और पुजारी थे, वहा लक्ष्मी उनके चरण चुम्बन किया करती थी, पर उन्होंने लक्ष्मी मे कभी आसक्ति नही दिखाई। वे तो ज्ञान की ज्योति को आलोकित करने मे ही अपना तन मन धन लगाते रहे।

साहू जी ने अमेरिका के श्री फोर्ड की भांति अपने व्यावसायिक साम्राज्य का विस्तार किया था। पर वे उससे 'जलते भिन्न कमल' की भांति सर्वथा निरासक्त रहे। उधर दूसरी ओर मि० नोबिल की भांति अपनी कीर्ति पताका को चिरस्थाई रखने के लिए उन्होंने ज्ञानपीठ पुरस्कार का आयोजन किया। महाराज भोज भले ही एक श्लोक पर 'लक्ष दर्दौ की उक्ति से इतिहास मे प्रसिद्ध हों, पर ज्ञानपीठ का प्रतिवर्ष एक सर्वश्रेष्ठ कृति पर एक लाख रु० का पुरस्कार तो इस सदी के सभी लोगो ने देखा सुना है। इस सारी सूझ-बूझ एवं क्रियान्वयन के पीछे स्व. श्री साहू जी एव स्व. सौ. रमा जी का ही हाथ था।

जब ज्ञानपीठ के पुरस्कार का आयोजन चल रहा था और इसकी भूमिका एवं विधि-विधान तैयार किए जा रहे थे, तब लोगो ने इसकी निष्पक्षता पर बड़े-बड़े प्रश्न चिन्ह लगाए थे। कोई कहता था यह पुरस्कार तो केवल जैनियों को ही मिलेगा, कोई कहता था कि इसे चाटुकार या चापलूस साहित्यकार ले उड़ेंगे, कोई कहता था राजनैतिक दबाव या सिफारिश पर यह पुरस्कार दिया जाया करेगा। पर पिछली दस-बारह पुरस्कृत कृतियों की चयन पद्धति को देखकर सभी की आशंकाएं एवं अविश्वास कपूर की भांति गल गए हैं। जिस निष्पक्षता, सचाई और ईमानदारी एवं गहन छानबीन के बाद प्रति वर्ष रचना पुरस्कार के लिए चुनी जाती है, उसके पीछे स्व. श्री साहू जी एव स्व. सौ. रमा जी की विशुद्ध साहित्यिक उदात्तभावना एवं निष्पक्ष दृढ सकल्प ही कार्य कर रहे हैं।

स्व० साहू जी जहां जैन सस्कृति और जैन वाङ्मय के प्रबल उद्धारक, प्रचारक एव प्रसारक थे, वहां सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति, साहित्य और वाङ्मय एवं भारतीय भाषाओ के प्रति उनका दृष्टिकोण बड़ा उदार, सहानुभूतिपूर्ण एव तीव्र अनुरागमय था। वे सभी भारतीय भाषाओ के सपूर्ण साहित्य को समुन्नत एव समृद्ध दशा मे देखना चाहते थे और इसके लिए मनसा-वाचा-कर्मणा प्रयत्नशील भी थे।

एक बार स्व० डा० ए. एन. उपाध्ये और स्व० डा० हीरा लाल जी एवं स्व. बा० छोटेलाल जी ने स्व० साहू जी के समक्ष एक योजना रखी कि जहा-जहां जो-जो प्राचीन हस्त लिखित पांडुलिपियां एव ग्रथागारों में प्राचीन साहित्य जीर्ण-शीर्ण या अव्यवस्थित दशा मे पड़ा हो, उसे एकत्रित कर एक केन्द्रीय पुस्तकालय मे वैज्ञानिक दृष्टि से सगृहीत एवं सुरक्षित किया जावे और महत्वपूर्ण पांडुलिपियों की माइक्रोफिल्मिग करा ली जावे जीर्ण-शीर्ण ग्रन्थों का रखरखाव वैज्ञानिक दृष्टि से किया जावे जिससे आगे आने वाले अनुसंधित्सुओं को साहित्यान्वेषण के लिए अकारण ही भटकना न पड़े तथा शोध की सुविधाएं सरलता से प्राप्त हो सकें।

स्व० साहू जी इस पुनीत साहित्यिक एवं सांस्कृतिक श्रेष्ठ कार्य मे तन-मन-धन से पूरा-पूरा सहयोग देने को तत्पर थे। एक बार जब उनसे भेंट हुई और मैंने उपर्युक्त योजना के सम्बन्ध मे उनके विचार और प्रगति जानना चाही तो उन्होंने बड़े पीड़ा भरे स्वर मे कहा था कि "वीष-

धरियों की चौधराहट का क्या होगा ?" कितनी मर्मान्तिक व्यथा थी उनके इन शब्दो मे ? वे प्राचीन जैन साहित्य को पूर्णतया सुरक्षित एवं प्रकाशित देखना चाहते थे।

मैं विगत अट्ठारह वर्षों से दिल्लीके जैन ग्रंथ भंडारों में स्थित प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों का सर्वेक्षण एवं विस्तृत केटालाग (सूची) का काम करता आ रहा हूं। जब इसके प्रकाशन की बाधा-व्यवधान की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया गया तो उन्होंने तुरन्त ही इसकी व्यवस्था करा दी और अब यह 'दिल्ली जिन-ग्रन्थ रत्नावली' के नाम से ज्ञानपीठ से प्रकाशित हो रही है। इसी तरह, (जैन आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर) नाम बृहत् ग्रन्थ के प्रकाशन मे भी उन्होंने अपार धन व्यय किया। जैन तीर्थ क्षेत्रों और मंदिरों का इतिहास एवं उनकी डायरेक्टरी तैयार कराने में भी साहू दम्पत्ति सदा ही तत्पर रहते थे।

निर्धन छात्रो के उच्च अध्ययन एवं वैज्ञानिक और तकनीकी प्रशिक्षण के लिए स्व० साहू जी ने अपनी परम पूज्या मातेश्वरी मूर्ति देवी के नाम से 'मूर्ति देवी छात्रवृत्ति फंड' की स्थापना की थी जिससे हजारो प्रतिभावान् छात्रो ने लाभ उठाया और आज देश और समाज की सर्वांगीण रूप से सेवा कर रहे है।

लिखने का तात्पर्य यह है कि साहू दम्पति बड़े उदार और उच्च चरित्र के धनी थे। लक्ष्मी की विपुलता एवं बहुलता के कारण प्राय: व्यक्ति मे अनेकों दुर्गुण पैदा हो जाते है पर स्व. साहू जी इसके सर्वथा अपवाद थे। वे बड़े मितभाषी एव उच्च विचारक थे। समाज सुधार और उत्थान एवं साहित्य के बहुमुखी विकास के लिए वे सदा ही प्रयत्नशील बने रहे। भ० महावीर के २५००वें निर्वाणोत्सव पर वे यद्यपि बहुत ही अस्वस्थ थे, फिर भी इस शुभ अवसर पर उन्होंने जैन एकता के लिए जो अथक परिश्रम किया वह इतिहास मे सदा स्वर्णाक्षरो में अंकित रहेगा।

जब पटना मे साहू जी को हृदय रोग का दौरा पड़ा तो सौ. रमा जी ने बड़ी दृढ़ता और पूर्ण विश्वास के साथ कहा था कि मेरे रहते उन्हें कुछ नही हो सकता और तुरन्त ही एक व्यक्ति को मुनिश्री विद्यानन्द जी के पास भेज कर उनका शुभाशीर्वाद मगाया और स्वयं हवाई जहाज द्वारा तुरन्त ही पटना पहुंची और अपनी सेवा-सुश्रुषा एवं उपचार से साहू जी को बचा लिया और अपने पातिव्रत्य एवं सतीत्व को सार्थक कर दिखाया, और कुछ समय बाद उन्हें अकेला छोड़ स्वयं स्वर्गवासिनी हो गई, रमाजी ऐसी श्रेष्ठ और सती महिला रत्न थीं। रमा जी के चले जाने पर साहू जी सर्वथा टूट गए थे। वे प्राय: उदास रहते थे फिर भी समाज सेवा और साहित्यिक कार्यों मे उनकी रुचि कम नही हो पाई थी। यद्यपि उनका वामांग चला गया था फिर भी वे धार्मिक, सामाजिक एवं साहित्यिक कार्यों में सदा ही सक्रिय और सजग बने रहे। इस तरह उन्होंने कभी भी शिथिलता नहीं आने दी! स्व. साहू जी जैसा सरल और सात्त्विक जीवन विरले ही लक्ष्मी-पति जी पाते है। वे पूज्य क्षुल्लक प. गणेशप्रसाद जी वर्णी के परम भक्त थे। वे नित्य नियम से पूजन करते थे। उनके उठ जाने से आज जैन समाज का ही नही अपितु संपूर्ण भारत राष्ट्र का जाज्वल्यमान नक्षत्र अस्त हो गया है जिसकी क्षतिपूर्ति निकट भविष्य मे होना असंभव प्रतीत होता है।

आज जब मै स्व० साहू जी को 'बीसवी सदी का भोज' लिख रहा हूं तो मेरे मष्तिस्क मे अचानक ही धारा नरेश महाराज भोज की पाठशाला की उस वाग्देवी की प्रतिमा का सहज पुण्य स्मरण हो रहा है जिसे महाराज भोज ने निर्मित और प्रतिष्ठित कराया था और वह आजकल लदन के इपीरियल म्यूजियम मे सुरक्षित है, जिसकी अनुकृतियां ज्ञानपीठ तैयार करा कर पुरस्कृत साहित्यकार को प्रतिवर्ष भेंट करती है। इस तरह स्व० साहू जी का वाग्देवी की प्रतिमा के माध्यम से महाराज भोज से सामञ्जस्य बैठाना कोई चाटुकारिता या कल्पना नही है, अपितु सहज ही हृदय मे घुणाक्षर न्याय से उत्पन्न यथार्थता है। 'बीसवीं सदी के इस भोज' को मैं धारा नरेश से किसी भी दृष्टि से कम नही समझता हूं।

परमप्रभु से प्रार्थना है कि उनकी आत्मा जहां कहीं भी हो, शान्ति और सद्गति प्राप्त करे। हम इस सदी के शोधार्थी और सरस्वती के सेवक उनके प्रति अपने हार्दिक श्रद्धा सुमन समर्पित करते हैं और प्रार्थना करते है कि उनके द्वारा निर्देशित पथ पर हमें चलते रहने की प्रेरणा और शक्ति मिलती रहे। □□□ श्रुत कुटीर

६८, कुन्तीमार्ग, विश्वासनगर, शाहदरा, दिल्ली-३२

उदारमना सदाशय व्यक्तित्व

☐ डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच

जैन समाज के ही नहीं, भारतीय संस्कृति एव राष्ट्रीय जीवन के अभ्युदय मे साहू-परिवार का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग-दान रहा है। स्व० शान्तिप्रसाद जी कभी किन्ही सीमित, संकुचित दायरो तथा सकीर्ण विचार-बीथियो मे न रम कर सदा उस राजमार्ग मे रहे जो राष्ट्रीयता एवं सांस्कृतिक गौरव-गरिमा के आदर्श के अनुरूप हो। इसलिए उनके व्यक्तित्व मे जिस उदारता, विशालता का परिचय मिलता है वह सहज व स्वाभाविक है। उनकी इस वृत्ति का परिचय इससे भी मिलता है कि वे सदा आशावादी तथा आदर्शवादी रहे है। व्यक्तिगत तथा सामाजिक संघर्षों में उनकी भूमिका उस नेता की भांति रही जो सदा अपनी सदाशयता से क्षुद्रता की अवहेलना कर उदारता को प्रशस्त करने वाला हो। यही कारण है कि जैन समाज ने उनको माना व सराहा और उनके नेतृत्व को सदा प्राप्त करते रहने की अभिलाषा प्रकट की। किन्तु समाज का दुर्दैव ! ऐसे श्रीमान, धीमान, निःस्वार्थ समाजसेवी का नेतृत्व अधिक समय तक नही मिल सका। नियति के कालचक्र ने सदा-सदा के लिए उनका अपहरण कर लिया।

यों तो स्व० साहू जी के कीर्तिमान को प्रकट करने के लिए एक भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन ही पर्याप्त है, जिसने न केवल सास्कृतिक प्रकाशनों का कीर्तिमान स्थापित किया, वरन् विलुप्त होने वाली ऐसी पाण्डुलिपियो को भी पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया। जो भारतीयता की अक्षुण्ण धरोहर है और जिनसे भारतीय भाषाओं का विशाल भण्डार समृद्ध हुआ है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी भाषा के साहित्य को अभिनव, सुरुचिपूर्ण तथा सांस्कृतिक स्तर के अनुरूप रम्य एव भव्य रूप मे प्रकाशित कर ज्ञानपीठ ने एक संस्था के रूप में जो कार्य किया है, कई संस्थाएं मिल कर भी वैसा कार्य सम्भवतः न कर पाती। साहित्य के क्षेत्र मे एक लाख का पुरस्कार प्रवर्तित कर, राष्ट्र के साहित्यकारों मे विशेष अभिरुचि का उन्नयन कर, एक ऐसे साहित्यिक व सांस्कृतिक वातावरण का निर्माण कर, दक्षिण तथा उत्तर, पूर्व एवं पश्चिम के क्षितिजों की दूरी समाप्त कर, सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य को ज्ञानपीठ (वस्तुतः ज्ञानपीठ) के मंच से प्रकाशमान किया है। इधर दक्षिण की भाषाओ के प्राचीन साहित्य को प्रकाशित करने की ज्ञानपीठ की अभिनव योजना ने यह भली भांति प्रकट कर दिया है कि प्राचीन साहित्य व अभिनव उत्कृष्ट साहित्य किसी क्षेत्र का व किसी भी भाषा का हो, चाहे वह पुराना हो, चाहे नया हो, उसमे साहित्यिक सर्जना व प्रतिभा का यदि कोई भी महत्वपूर्ण आयाम लक्षित होता है, तो वह ज्ञानपीठ स्तर के अनुरूप प्रकाशित हो सकती है। इस सस्था का निर्माण करने मे स्व० साहू जी अग्रणी रहे है और इसके संचालन का समस्त श्रेय स्व० रमादेवी तथा श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन को रहा है। यह कहने मे कोई संकोच नही है कि भारतीय संस्कृति की गौरव-गरिमा को प्रकाशित करने में भारतीय ज्ञानपीठ का विलक्षण स्थान रहा है। हिन्दी साहित्य तथा इतर भाषाओं के साहित्यकार इस संस्था से अपने को गौरवान्वित मानते रहे है।

इस छोटे से लेख मे स्व० साहू जी के उन शत-शत उपकारोंका स्मरण करना सम्भव नही है जो उन्होंने व्यक्तिगत रूप से तथा सामाजिक रूप से व्यक्ति तथा समाज के निर्माण के लिए किए थे। इन सबके अतिरिक्त मेरे मन की अन्तर्छबि में उनका वह सरल, सहृदय एव उज्ज्वल व्यक्तित्व बार-बार प्रतिबिम्बित लक्षित होता है जो अपने निर्णय मे उदारता व स्वतन्त्रता को प्रकट करने वाला है। जो भी एक बार उनके सम्पर्क मे पहुंचा है वह

(शेष पृष्ठ १८ पर)

पुण्यश्लोक प्रेरणाप्रद व्यक्तित्व

☐ डा० रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर

पुण्यश्लोक श्रद्धेय साहू शान्ति प्रसाद जी के दर्शन का प्रथम सुअवसर वाराणसी में प्राच्यविद्या सम्मेलन के शुभावसर पर जैन साहित्य संगोष्ठी के शुभ आयोजन के मध्य हुआ। इससे पहले समाज और साहित्य के क्षेत्र में उनके द्वारा की गयी सेवाओं की चर्चा अनेक श्रीमानों, धीमानों और समाजसेवियों के मुंह से सुनी थी, किन्तु साक्षात्कार का सुअवसर प्राप्त नहीं हुआ था। प्रथम दर्शन के समय उनकी सादगी, विनम्रता और समाज तथा धर्म-सेवा की उत्कट अभिलाषा को देखकर मेरा मन उनके प्रति श्रद्धा से अभिभूत हो गया। उस दिन के अपने भाषण में उन्होंने कहा था कि आगे कुछ वर्षों में भगवान महावीर के निर्वाण की २५००वीं पुण्यतिथि आ रही है, इस तिथि पर समाज को वृहद् आयोजन करना चाहिए तथा पूरे वर्ष स्थान-स्थान पर बड़े समारोह के साथ उत्सव किए जाना चाहिए। वह समय ऐसा था, जब समाज के अधिकांश व्यक्तियों की दृष्टि भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण दिवस की ओर नहीं थी, साहू सा. के उक्त वक्तव्य के बाद सबसे पहले समाज का ध्यान इस ओर गया और बाद में समाज ने जिस उत्साह और स्फूर्ति के साथ २५सौवां भगवान महावीर निर्वाण महोत्सव मनाया, वह किसी भी अन्य समाज के लिए स्पृहा की वस्तु हो सकता है। इसके मूल में श्रद्धेय साहू सा. की प्रेरणा और धर्मकार्य के प्रति श्रद्धा और तत्परता ही थी।

एक बार साहू सा. भारतीय ज्ञानपीठ के मंत्री श्री लक्ष्मीचन्द्र जी के साथ स्याद्वाद महाविद्यालय के भदैनी-घाट स्थित वाराणसी के जैन मंदिर के दर्शनार्थ आए हुए थे। आकर उन्होंने श्रद्धेय पंडित कैलाशचन्द्र जी के विषय में पूछा। किसी विद्यार्थी से ज्ञात हुआ कि साहू सा आए हुए हैं। एकाएक साहू सा. के आगमन की बात सुनकर कानों को विश्वास नहीं हुआ। तत्काल ही उनके दर्शनार्थ गया। अन्य विद्यार्थी के साथ उनसे बातचीत करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। अनौपचारिक रूप से पूज्य साहू जी ने प्रत्येक छात्र का जिस प्रकार परिचय प्राप्त किया तथा छात्रों की समस्याओं के निराकरण हेतु अनेक सुझाव दिए एवं विशेष रूप से कनिष्ठ छात्रों के प्रति जो स्नेह और आशीर्वाद की अभिव्यक्ति की, वह मेरे लिए तथा अन्य छात्रों के लिए अविस्मरणीय है। इतने बड़े व्यक्ति का समाज के छोटे छोटे बच्चों से मिलना तथा इस प्रकार आत्मीयता प्रदर्शित करना अन्यत्र दुर्लभ है।

भारतवर्षीय दि. जैन परिषद् के स्वर्ण जयन्ती अधिवेशन पर श्रद्धेय रतनलाल जी बिजनौर के साथ कोटा जाने तथा अधिवेशन में भाग लेने का सुअवसर प्राप्त हुआ। उक्त अधिवेशन के प्रमुख नायक स्वर्गीय साहू सा. ही थे। परिषद् के सभी समागत कार्यकर्त्ताओं का जब परिचय दिया गया और मेरे परिचय का जब क्रम आया तो बीच में ही उठकर श्रद्धेय बाबू रतनलाल जी ने स्नेहातिरेक के कारण उपस्थित जनसमुदाय के मध्य मेरा विशेष परिचय दिया, इसे सुनकर साहू सा. ने अपना स्नेह प्रदर्शित किया और मेरे शोध प्रबन्ध, पद्मचरित और उसमें प्रतिपादित भारतीय संस्कृति' के विषय में अनेक जिज्ञासायें की तथा उनका समाधान प्राप्त कर अपना संतोष प्रगट किया एवं उक्त ग्रंथ भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित कराने के लिए प्रेरित किया। परिषद् के सभी कार्यक्रमों में उन्होंने भाग लिया तथा निरन्तर अपना मार्ग-दर्शन देते रहे।

अपने से बड़े व्यक्तियों के प्रति साहू सा. के मन में असीम श्रद्धा थी। परिषद् ने जब अपने कार्यकर्त्ताओं का ताम्रपत्र प्रदान कर हार्दिक स्वागत किया, उस अवसर पर ताम्रपत्र प्रदान करने का कार्य सर्वप्रथम साहू जी ने सम्पन्न किया। सबसे पहले उन्होंने परिषद् के संस्थापक सुप्रसिद्ध स्वतंत्रता सेनानी बाबू रतनलाल जी के कर-कमलों में ताम्रपत्र भेंट किया, तत्पश्चात् अन्य व्यक्तियों को ताम्रपत्र भेंट करने हेतु बाबू रतनलाल जी से निवेदन किया। बाबू जी ने उनके निवेदन को स्वीकार किया, तत्पश्चात् सारे ताम्रपत्र बाबू रतनलाल जी के करकमलों द्वारा ही परिषद् के अन्य कार्यकर्त्ताओं को भेंट किए गए।

साहित्य और संस्कृति के समन्वय हेतु साहू जी सतत प्रयत्नशील रहे। भारतीय ज्ञानपीठ, स्याद्वाद महाविद्यालय,

वाराणसी, प्राकृत तथा अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली, साहु जैन कालेज, नजीबाबाद, मूर्ति देवी कन्या इण्टर कालिज, नजीबाबाद, मूर्तिदेवी सरस्वती इटर कालेज, नजीबाबाद, भारतवर्षीय दि. जैन परिषद्, दिगम्बर जैन महासमिति, मराकोद्धार समिति, दि जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी, वीर सेवा मंदिर, देहली, जैन विद्या तथा प्राकृत विभाग, मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर, दि. जैन अनाथ रक्षक सोसायटी दिल्ली, भा. दि. जैन विद्वत् परिषद्, समाज के प्रमुख तीर्थक्षेत्र तथा अन्याय सैकड़ों सामाजिक धार्मिक संस्थायें उनका वरद हस्त पाकर फली फूली और उनमे अपूर्व उत्साह का सचार हुआ।

प्राय धनी व्यक्तियो के विषय में कहा जाता है कि धन की वृद्धि के साथ-साथ उनकी लोभवृत्ति भी बढ़ती जाती है। माननीय साहू शान्ति प्रसाद जी इसके अपवाद थे। धन के साथ-साथ उनकी उदारता भी वृद्धिगत होती गयी। धनवत्ता और उदारता का मणिकाञ्चन सयोग उनके जीवन मे था। एक बार पूज्य पं. कैलाशचन्द्र जी से चर्चा करते समय उन्होंने कहा था कि अधिकाधिक धन कमाने और उसे अच्छे कामो मे व्यय करने का उन्हें व्यसन है। साहू जी ने समाज में मुक्तहस्त से दान दिया। उनकी उदारता का लाभ उठावर लोगो ने कुछ ऐसे स्थानो के लिए भी उनस धन प्राप्त कर लिया जहा धन की आवश्यकता नहीं थी। एक बार परम पूज्य १०५ क्षुल्लक गणेश प्रसाद जी वर्णी ने साहू साहब को एक श्लोक लिखकर दिया था, जिसका भाव यह था—

"हे वारिद ! तुम स्थल मे भी बरसते हो, जल मे भी बरसते हो, पहाड़ो पर भी बरसते हो, हिमशिलाओ पर भी बरसते हो। तुम्हें कहां बरसना चाहिए, इसका बोध नहीं।"

पूज्य वर्णी जी से प्रेरणा पाकर वे योग्य स्थान पर धन का सदुपयोग करने में सचेष्ट रहे। जीवन की सध्या में धन और भोग के प्रति उनके मन मे निरासक्ति की भावना उत्पन्न हो गई थी और उन्होंने हस्तिनापुर मे रह कर धर्म साधन करने की अपनी हार्दिक अभिलाषा व्यक्त की थी। काल दुरतिक्रम है, साहू जी की उक्त भावना उनके मन मे ही रह गई और असमय मे उन्होने अपना देहत्याग कर दिया। यद्यपि वे स्वर्गस्थ हो गए, किन्तु उनका यशस्वी जीवन युगों-युगो तक समाज को प्रेरणादायी रहेगा। जैन मन्दिर के पास, बिजनौर (उत्तर प्रदेश)

□□□

(पृष्ठ १३ का शेषांश)

उनकी सरलता से अभिभूत हुए बिना नही रहा है। दान देने वालो और धन खर्च करने वालों की समाज व देश मे कमी नहीं है, किन्तु सरस्वती व सरस्वती के वरद पुत्रो के पाद-पद्मों में कमलाकर लक्ष्मी को न्योछावर कर अपनी श्री-शोभा को सार्थक बनाने का गुण वास्तव मे स्व० शान्तिप्रसाद जी मे ही था।

उनमे एक गुण और था। वे सुनते सबकी थे पर निर्णय उनका अपना होता था। सभी सन्त महात्माओ के पास वे बिना किसी हिचक के पहुंच जाते थे। पूज्य वर्णी जी के अनन्य सस्कारो से प्रभावित होकर ही वे किसी भी प्रभाव को अपनी सुमति-निष्कर्ष पर कसे बिना ग्रहण करने के लिए तैयार नही होते थे। केवल सत्साहित्य से ही नहीं, विद्वज्जनो के प्रति उनके मन मे अगाध अनुराग व श्रद्धा का भाव था। वीतराग विज्ञान वाणी से ही उन्हें शान्ति का अनुभव होता था। अत। अन्तिम समय तक वे उसे एक सच्चे श्रोता की भांति श्रवण करने के लिए उत्सुक बने रहे। उन जैसी ज्ञान के प्रति ललक वास्तव मे श्रेष्ठिजनों मे लक्षित नही होती। लगता है कि जीवन का सार वे पहचान गए थे, वर्तमान परिस्थितियों तथा सघर्ष की भूमिकाओं को पार कर चुके थे, केवल शुद्ध ज्ञानामृत का पान करना ही अवशिष्ट रहा था, जिसे पान करने के लिए उनका उद्यम जागृत हो गया था। काश ! वे आज की परिस्थितियो मे होते। इस अध्यात्म युग की सरस धारा से उनका अनन्य सम्बन्ध प्रगाढ़ता को प्राप्त होना तो वह उनके लिए भी और हमारे लिए भी श्रेयस्कर होता। परन्तु काल पर किसी का वश नही। हम केवल भावना ही भा सकते है। और इसलिए यह भी कह सकते है कि भले ही आज हमारे बीच साहू शान्तिप्रसाद जी सदेह रूप से न हो, पर उनके अनगिनत लौकिक कार्य भली भांति पुकार कर यह कह रहे है कि वे अजर है, अमर है। □□□ २४३, शिक्षक कालोनी, नीमच (मध्यप्रदेश)

आधुनिक भामाशाह

विद्यावारिधि डा० महेन्द्र सागर प्रचंडिया, अलीगढ़

जिस प्रकार वाणी चरित्र की प्रतिध्वनि होती है, उसी प्रकार व्यक्ति के क्रिया-कलाप उसके व्यक्तित्व के परिचायक हुआ करते है। साहू जी मनसा, वाचा और कर्मणा शुद्ध साहू जी थे। साकार अनन्वय अलंकार।

दिन-दिनांक ठीक से स्मरण नहीं, परन्तु परेड ग्राउंड दिल्ली मे जैन मित्र मंडल के तत्वावधान मे आयोजित था। महावीर जयन्ती महोत्सव के अवसर पर श्री सत साहू जी उस विशाल सभा के सम्माननीय सभापति थे और अन्य अनेक वक्ताओं की भांति मुझे भी आमन्त्रित किया गया था। पैंतालीस मिनट उन्होंने मुझे पूरी तन्मयता के साथ सुना था और तब मुझे महसूस हुआ कि वे प्रवचन सुनकर आनन्दित हुए थे। उन्होने साधुवाद देते हुए मेरी पीठ पर अपना वरदहस्त रखा था, कदाचित् उनसे मेरा यह प्रथम निकटतम सम्पर्क था। वे धार्मिक थे और धर्म के मर्म को सामाजिक शैली मे व्यक्त करने की बेजोड क्षमता रखते थे।

विशाल भारत का औद्योगिक उत्कर्ष दशाब्दियों पर्यन्त कलकत्ता मे समलंकृत रहा और साहू जी का वहाँ अपना स्थान था। उनके द्वारा अनेक औद्योगिक प्रतिष्ठानो की स्थापना हुई। फलस्वरूप वे स्वयं बने और देश का बनने के निमित्त निमित्त बने। उन्होंने साहित्यिक क्षेत्र मे भी अद्वितीय उद्योग किया। भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन इस दृष्टि से प्रकाशन प्रतिष्ठानो मे उल्लेखनीय है। भारत का नोबुल पुरस्कार —भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार साहू जी की बेनजीर प्रेरणा है। भारतीय सामाजिक सांस्कृतिक तथा धार्मिक निर्माण योजनाओ की आधार शक्तियों मे साहू जी की सहयोगी भूमिका उल्लेखनीय रही है। तीर्थोद्धार, जिन मंदिरों की संरचनाएं, विद्या-केन्द्रों की स्थापना मानो साहू जी की भारतीय सांस्कृतिक-सम्पदा को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति का परिचायक है।

उनके द्वारा भारतीय जैन समाज गर्वित है और गौरवान्वित है जैनेतर समाज। राष्ट्रीय भावना कोई उनसे सीखता, वे विशुद्ध राष्ट्रवादी थे। वे मात्र मानव ही नहीं थे अपितु मानवता के सच्चे समर्थक भी थे। राष्ट्रीय संकटकाल मे उन्होने उदारतापूर्वक आर्थिक सहयोग देने वालो मे अपना स्थान सुरक्षित रखा। वे वस्तुत आधुनिक भामाशाह थे।

पच्चीससौवें भ. महावीर निर्वाण महोत्सव में उन्होने सम्पूर्ण भारतीय जैन बन्धुओं को एक संगठन मे व्यवस्थित किया। श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायों को एक-सूत्र में बांधने का श्रेय साहू जी को मिला था। वे साम्यवादी दृष्टिकोण के उन्नायक थे।

जैन परिवार के अगणित होनहार युवक-युवतियो ने उच्च शिक्षा प्राप्तकर समाज, समुदाय और देश प्रदेश को गौरवान्वित किया है। उनके द्वारा देश के अनेक साहित्यकार निराकुल हुए है। देश की पत्रकारिता के उन्नयन मे साहू जी का सहयोग सर्वथा उल्लेखनीय रहा है। इस प्रकार, साहू जी की सामाजिक, राष्ट्रीय तथा धार्मिक सेवाओ से सारा समुदाय और समाज उपकृत रहेगा।

आज शारीरिक रूप मे साहू जी चाहे हमारे बीच मे उठ गए हो किन्तु वे अपने काम काज मे, नीति नैपुण्य मे, धर्म-कर्म मे आज ही नहीं अनेक अब्दियो तक बैठे रहेंगे। उनकी सेवायें उनका शाश्वत स्मारक बन गई हैं। उनकी सामाजिक सेवाओं ने सन्मार्ग का माइलस्टोन स्थापित किया है। साहू जी साधारणत. असाधारण व्यक्तित्व के महापुरुष थे, महान थे। □□□

सरस्वती के परम उपासक

डा० कस्तूर चंद कासलीवाल, जयपुर

साहू शान्तिप्रसाद जी जैन देश और समाज के उन श्रेष्ठिरत्नो मे से थे जिनकी सेवायें सदा अविस्मरणीय रहेगी तथा जिनका नाम भविष्य मे उदाहरण के रूप मे लिया जाता रहेगा। साहू जी समाज के गौरव थे। उनके आश्रय मे समस्त जैन समाज निश्चिन्त था। वे एक महान व्यक्ति थे जिनके हृदय में समाज का दर्द छिपा हुआ था। इसलिए साहित्यिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक सभी गतिविधियों के विकास मे उनका वरद हस्त रहता था। समाज मे उनकी उपस्थिति ही कार्यकर्त्ताओ मे उत्साह पैदा करने के लिए पर्याप्त मानी जाती थी। साहू जी समस्त दि० जैन समाज के एकमात्र प्रतिनिधि थे, इसलिए जिस भी उत्सव, मेले एवं कार्यक्रम मे साहू जी सम्मिलित हो गये तो ऐसा माना जाता था कि मानो उसको पूरे समाज का ही जैसे समर्थन मिल गया हो।

साहू शान्तिप्रसाद जी ने समस्त जैन समाज पर ३०-४० वर्षों तक एकछत्र शासन किया। उन्होंने समाज को नई दिशा प्रदत्त की, कार्य करने की शक्ति दी तथा संकट के समय उसका जिस प्रकार साथ दिया वह सब इतिहास की आज अमूल्य धरोहर हो गयी है। उनके निधन से समाज ने वास्तव में अपना बहुमूल्य रत्न खो दिया है जिसकी पूर्ति निकट भविष्य मे सम्भव नही लगती। यदि सामाजिक इतिहास के पृष्ठों को खोलकर देखा जाए तो हमें मालूम पड़ेगा कि ऐसा उदार हृदय समाज सेवी व्यक्तित्व सैकड़ों वर्षों में नहीं हुआ।

साहू जी से मेरी प्रथम भेंट कलकत्ता महानगरी मे बेलगछिया मे आयोजित जैन साहित्य एव कला प्रदर्शनी में कोई २८-३० वर्ष पूर्व हुई थी। उस समय उन्होंने जिस तन्मयता से जैन ग्रन्थों मे रुचि ली थी तथा अपने भाषण में उनके महत्व पर प्रकाश डाला था, उससे मेरे मन पर गहरी छाप पड़ी थी। उसके पश्चात् वैशाली मे आयोजित एक वृहद् जैन प्रदर्शनी के अवसर पर उनसे भेंट हुई थी। देहली मे भी उन्हो ने प्रदर्शनी के आयोजन म पूरी रुचि ली थी तथा वहां प्रदर्शित प्रत्येक वस्तु का उन्होंने बारीकी से अध्ययन किया था। उन्होंने उस समय जयपुर के प्राचीन भक्तामर स्तोत्र की सचित्र पाण्डुलिपि को अपनी ओर से छपाने का प्रस्ताव रखा था, लेकिन जयपुर के मन्दिर के व्यवस्थापको ने उसे स्वीकार नही किया और वह बहुमूल्य ग्रन्थ प्रकाशित होने से रह गया।

जयपुर मे भगवान महावीर के २५सोवी निर्वाण महोत्सव की मीटिंग मे सम्मिलित होने के लिए वे कितनी ही बार आए। जयपुर मे उनका अन्तिम आगमन उनकी मृत्यु के कुछ ही समय पहिले हुआ था। वे भाद्रपद मास मे बापू नगर के पार्श्वनाथ जैन मण्डल द्वारा आयोजित युवा सम्मेलन मे कुछ समय के लिए आए थे और युवको को सामाजिक सेवा मे जुट जाने की प्रेरणा दे गए थे। वह सम्भवत: उनका अन्तिम सदेश था।

साहू जी को साहित्य से कितना प्यार था, उसके प्रकाशन मे उनकी कितनी रुचि थी, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण उनका भारतीय ज्ञानपीठ जैसे सस्था का सचालन है। उन्होंने सैकडो जैन ग्रन्थो के उद्धार का महान पुण्य अर्जन किया। वे जीवन भर जिनवाणी के प्रकाशन एव उसके प्रचार के प्रसार प्रति समर्पित रहे। वास्तव मे गत सैकड़ों वर्षो मे उन जैसा जिनवाणी का प्रचारक नही हुआ।

उन्होने भारतीय ज्ञानपीठ के माध्यम से ही साहित्य सेवा नही की, किन्तु अन्य प्रकाशन सस्थाओ को उन्होने खूब आर्थिक सहायता दी। वीर सेवा मन्दिर द्वारा प्रकाशित जैन लक्षणावली के प्रकाशन मे भी उनका पर्याप्त आर्थिक योगदान रहा। मैंने स्वय ने समस्त हिन्दी साहित्य के प्रकाशन के लिए जयपुर में श्री महावीर ग्रन्थ अकादमी की स्थापना की तथा उसकी योजना एवं

(शेष पृष्ठ २४ पर)

महान् कर्मयोगी की जीवन-साधना

□ पं० परमानन्द शास्त्री, दिल्ली

साहु शान्ति प्रसाद जी का जन्म नजीबाबाद के प्रतिष्ठित साहू घराने मे सन् १६१२ में हुआ था। इनके पितामह का नाम साहू सलेकचन्द और पिता का नाम दीवानचन्द था और माता का नाम मूर्ति देवी था। साहू सलेकचन्द अपने समय के श्रीसम्पन्न और प्रतिष्ठित व्यक्तित्व वाले पुरुष थे। उनके यश और कीर्ति की अच्छी ख्याति थी। एक बार जो उनके सम्पर्क में आ गया, वह उन से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। पिता दीवान चन्द सौम्य प्रकृति और शालीन स्वभाव के थे। समाज मे उनकी प्रतिष्ठा और सम्मान था और माता श्रीमती मूर्ति देवी अत्यन्त सरल स्वभावी और धार्मिक प्रकृति की महिला थीं। वे ऐसी सहृदया और लक्ष्मी स्वरूपा थीं कि उन्होंने दूसरों की चिन्ता को भी अपनी बना लिया था। वे एक सुयोग्य माता थीं। उन्होंने शान्ति प्रसाद को योग्य बनने के सभी साधन सुलभ कर दिए ताकि भविष्य मे वे अपनी चिन्ताओं को स्वयं वहन कर सकें।

शान्ति प्रसाद जैन की प्रारम्भिक शिक्षा नजीबाबाद में हुई। तत्पश्चात् उन्होंने बनारस विश्वविद्यालय और आगरा विश्वविद्यालय में अध्ययन किया। इन महाविद्यालयो में उनका समूचा विद्यार्थी जीवन प्रथम श्रेणी का रहा। साहू शांति प्रसाद ने मात्र ज्ञानार्जन की दृष्टि से ही अध्ययन नहीं किया, प्रत्युत अन्य दृष्टियों से भी। उनमे वे वे सभी गुण और सद्वृत्तियां थी, जो माता-पिता और अपने पूर्व पुरुषों के रूप मे उन्हे प्राप्त हुई थी। उन्होंने आगरा विश्वविद्यालय से बी. एस.-सी. की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। उनका विद्यार्थी जीवन अपने सहपाठियों से कुछ भिन्न था, हृदय कोमल और प्रकृति उदार थी। क्षयोपशम विशिष्ट था, अतएव जो भी अध्ययन किया, उसमे उनकी योग्यता की झलक स्पष्ट दिखाई देती थी। अध्ययनकाल में उद्योग और व्यवसाय की ओर उनका आकर्षण था।

शान्ति प्रसाद का विवाह डालमिया की सुपुत्री रमा जी के साथ सम्पन्न हुआ। रमारानी विदुषी, कर्तव्यपरायण, व्यवहार मे चतुर और परोपकारनिरत महिला थीं। वे साहू जी के कार्यों मे अपना सहयोग प्रदान करती थीं। भारतीय ज्ञानपीठ की स्थापना काल सन् १६४४ से ही वे उसकी अध्यक्ष थीं। उन्होंने अपने अन्तिम समय तक अपना मातृस्नेह दिया और अपनी प्रेरणा से उसे इस योग्य बनाया जिससे कि वह स्थायी सामाजिक-सांस्कृतिक महत्व के कार्यदायित्वों को उठा सके। इन दायित्वों के अन्तर्गत जहां एक ओर भारतीय विचार-दर्शन की उपेक्षित निधियों का अनुसधान, प्रकाशन और आधुनिक भारतीय भाषाओं मे मौलिक साहित्य सृजन के कार्य हैं। वहां दूसरी ओर भारतीय भाषाओं की सर्वोत्कृष्ट कृति पर एक लाख रुपये की पुरस्कार योजना, तथा प्राचीन स्थापत्य एवं कलादीर्घा की सयोजना भी है।

साहू जी मे औद्योगिक कार्यों को सम्पन्न करने की बहुत बड़ी रुचि और क्षमता थी। बुद्धि कुशाग्र थी, अतएव उन्होंने उद्योगों और व्यवसायों के सम्बन्ध मे अपनी गवेषणा और अध्ययन शुरू कर दिया। देश के उद्योगव्यवसायों मे अभिवृद्धि और संचालन प्रणाली मे नये से नये प्राविधिक रूपों का समावेश हो सके, इसके लिए उन्होने उन पद्धतियो का गंभीर अध्ययन किया तथा विविध क्षेत्रो मे गवेषणायें कराईं। साहू जी ने अपने उद्देश्यों की पूर्ति को दृष्टि-लक्ष्य मे रखते हुए आवश्यकता के अनुरूप महत्वपूर्ण स्थानो मे स्वयं परिभ्रमण किया। सबसे पहले सन् १६३६ मे डच ईस्ट इण्डीज गए। सन् १६४५ मे आस्ट्रेलिया तथा सन् १६५४ मे सोवियत रूस गए। ये तीनों यात्राएं उन्होंने भारतीय औद्योगिक प्रतिनिधि के रूप मे की थी, जो परिणाम की दृष्टि से

अत्यन्त महत्वपूर्ण मानी जाती हैं। उसके बाद उन्होंने ब्रिटेन, अमेरिका, जर्मनी तथा अन्य योरोपीय देशों में भी परिभ्रमण किया और उससे जो अनुभव प्राप्त किया, उन उपलब्धियों के समावेशन द्वारा साहू जैन उद्योग को अधिकाधिक समृद्ध बनाया। इसमे जहां साहू उद्योग मे विशिष्टता आई, वहां साहू जी का व्यक्तित्व उजागर हुआ। उनके व्यक्तित्व की सबसे बड़ी महत्ता विनम्रता थी। जिस तरह वे व्यापारादि में आगे बढ़े उसी तरह उनका व्यक्तित्व भी प्रतिभाशाली होता गया।

व्यक्तित्व

उनकी गणना भारत के महान औद्योगिक और प्रतिष्ठित परिवारों मे की जाने लगी। इतना ही नहीं किन्तु उनकी उदारता, सौजन्य और कर्तव्यनिष्ठा ने व्यक्तित्व की महत्ता मे चार चांद लगा दिये। जिस सहजता के साथ औद्योगिक और व्यवसायिक क्षेत्रो मे साहू जी ने जो सफलता प्राप्त की, वह उनकी स्वभावगत प्रतिभा, सूझ-बूझ, संगठन क्षमता और अध्यवसाय की सम्मिलित देन है। उनका प्रतिभाशाली व्यक्तित्व, कार्यदक्षता, विवेक पटुता, साहस और अध्यवसाय उनकी इस कार्य प्रणाली में सहायक थे। उद्योग धन्धों की स्थापना कुशल नेतृत्व के बिना नहीं हो सकती। देश मे अनेक उद्योगो के विकास मे उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

जहां उनमे भारतीय धर्म, दर्शन, संस्कृति, इतिहास और पुरातत्व के अध्ययन के प्रति आन्तरिक रुचि थी, उनके धार्मिक विचार काफी दृढ़ और गहरे थे। उनके आर्थिक एवं व्यावसायिक समस्याओ के सुलभ समाधान खोज निकालने की क्षमता भी थी।

साहू शान्ति प्रसाद जी साहू जैन उद्योगों के अधिष्ठाता थे और देश के महान् उद्योगपतियों की प्रथम श्रेणी में थे। उनके कुशल एव व्यापक निर्देशन के परिणामस्वरूप साहू जैन उद्योग वर्ग अत्यन्त सुनियोजित रूप मे संगठित है। उनमे कागज, चीनी, वनस्पति, सीमेंट, एसबेस्टस प्रोडक्ट्स, पाट निर्मितवस्त्र, भारी रसायन, नाइट्रोजन खाद, पावर अल्कोहल, प्लाईवुड, कोयले की खानें, लाइट रेलवे व इंजीनियरिंग वर्क्स आते है। हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी और गुजराती के दैनिक पत्र और सावधिक पत्र और पत्रिकाएं, तथा साहित्यिक, सांस्कृतिक और शोधपूर्ण प्रकाशन उनके महत्वपूर्ण कार्य हैं।

साहू जी विगत वर्षों मे देश की विभिन्न शीर्ष व्यवसाय संस्थाओं के अध्यक्ष रहे हैं। इनमें प्रमुख हैं फेडरेशन आफ इण्डियन चेम्बर्स आफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री, इण्डियन चेम्बर्स आफ कामर्स, इण्डियन शुगर मिल्स एसोसिएशन, बिहार चेम्बर्स आफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री, राजस्थान चेम्बर्स आफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री तथा ईस्टर्न यू. पी. चेम्बर्स आफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री।

चार वर्ष तक लगातार आप आल इण्डिया आर्गेनाइजेशन आफ इण्डस्ट्रियल एम्प्लायर्स के भी अध्यक्ष रहे और इसी अवधि मे जब भारतीय श्रम व्यवस्था सम्बन्धी नियम बने, तब आपने अपने उद्योग धन्धों का व्यावहारिक दृष्टिकोण उपस्थित किया।

सामाजिक जीवन

अपनी विशिष्ट प्रतिभा-सम्पन्नता तथा व्यापक अनुभव के कारण साहूजी देश के उद्योग एवं व्यवसाय वर्ग द्वारा अनेक अवसरों पर सम्मानित किए गए। स्वर्गीय पं० जवाहर लाल नेहरू ने देश की औद्योगिक प्रगति की वैज्ञानिक परिकल्पना को कार्यान्वित करने के लिए जो प्रथम राष्ट्रीय समिति गठित की, उसमे देश के तरुण औद्योगिक वर्ग का प्रतिनिधित्व करने के लिए आपको उसका सदस्य बनाया था।

इन सब कार्यों और व्यवसाय मे संलग्न होते हुए भी उन्हें जैन धर्म और संस्कृति से गहरा प्रेम था। वे जैन धर्म के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धालु और दयालु थे। जैन धर्म का महत्व उनकी रग-रग मे समाया हुआ था। उद्योगपति और धनी होते हुए भी उनमें अभिमान नहीं था। वे कभी दूसरों को नीचा दिखाने की दृष्टि से कोई कार्य नहीं करते थे। जहां उनका व्यक्तित्व महान था, वहां उनका कृतित्व भी कम महत्वपूर्ण नहीं था। वे श्रावक धर्म का यथाशक्ति पालन करते थे। उनके इस धर्मानुराग के कारण ही जैन समाज ने उन्हें श्रावकशिरोमणि की उपाधि से अलंकृत किया था।

साहू साहब ने अपने जीवन में जो धार्मिक, सांस्कृतिक

और लोक हितकारी ठोस कार्य सम्पन्न किए हैं। उन्हें देखते हुए ऐसा लगता है कि साहू जी ने जैन संस्कृति को ऊंचा उठाने के लिए विविध संस्थाओं का निर्माण और उनके संचालन के रूप में भारी योगदान दिया है और अपनी उदारता एवं सौजन्य से उनकी संचालन व्यवस्था में अर्थाभाव के कारण शिथिलता नहीं आने दी। उस समय जो भी संस्थाधिकारी उनके पास पहुंचा, वह कभी खाली हाथ नहीं लौटा। उन्होंने उनकी तत्काल अर्थपूर्ति की। वे समाज के धार्मिक एवं सांस्कृतिक उत्सवों और सामाजिक गोष्ठियों में रस लेने लगे। वे कई संस्थाओं के अध्यक्ष और मंत्री चुने गए। समाज में उनकी महती प्रतिष्ठा बढ़ी और उनके कृतित्व की महत्ता जैन समाज में छा गई। उन्होंने जैन तीर्थों की महती सेवा की और अपने व्यक्तित्व के अनुसार उनके समुद्धार में अपना योगदान दिया। उन्होंने तीर्थ क्षेत्र कमेटी को व्यवस्थित कराया। वे समाज संगठन की आवश्यकता को भी महसूस करते थे।

जब मध्यप्रदेश आदि में प्राचीन जैन कलात्मक मूर्तियों के तस्कर गिरोहों द्वारा पुरातात्त्विक बहुमूल्य सामग्री विदेशों में बेचकर अर्थार्जन किया जाने लगा तब इससे जैन समाज में क्षोभ बढ़ गया और समाज के धार्मिक पुरुषों और साहू जी को इससे बड़ा खेद और दुःख हुआ। परिणामस्वरूप उसके संरक्षण का भी विचार किया गया। साहू जी ने इस सम्बन्ध में यह निश्चय किया कि इसके लिए एक ट्रस्ट की स्थापना की जाय। अतएव उन्होंने सन् १९५१ में एक ट्रस्ट की स्थापना की, जिसका उद्देश्य सांस्कृतिक संस्थाओं को प्रोत्साहन देना, प्राचीन मन्दिरों और तीर्थों का जीर्णोद्धार करना, देश में सर्वांगीण संग्रहालय स्थापित करना और विद्यार्थियों को प्रारम्भिक श्रेणी से लेकर विश्वविद्यालय के स्तर तक शिक्षा कार्य में आर्थिक सहयोग प्रदान करना है।

इस ट्रस्ट द्वारा पिछले कुछ वर्षों में देश के विभिन्न शिक्षा केन्द्रों के ५,६०० विद्यार्थियों को सत्रह लाख तेईस हजार रुपये की सहायता दी गई और विदेशों में शिक्षा अर्जन करने वाले ७५ स्नातकों को दो लाख की सहायता राशि अतिरिक्त दी गई।

इसी ट्रस्ट द्वारा महावीर की जन्म स्थली वैशाली में (बिहार में) रिसर्च इंस्टिट्यूट आफ प्राकृत जैनालोजी और अहिंसा शोध संस्थान जिलिङग के निर्माण के लिए पांच लाख पचास हजार रुपये की राशि अनुदान स्वरूप दी गई। इस संस्था का संचालन बिहार सरकार की ओर से हो रहा है।

इसी ट्रस्ट द्वारा देवगढ़, पपौरा, आहार, बानपुर, पचराई, द्रोणगिरि, अयोध्या, खजुराहो और चित्तौड़गढ़ आदि स्थानों के मंदिरों और तीर्थ स्थानों का जीर्णोद्धार किया गया और देवगढ़ में संग्रहालय की भी स्थापना की गई।

दो लाख रुपयों का अनुदान मैसूर विश्वविद्यालय को प्राकृत परिशीलन पीठ की स्थापना के लिए प्रदान किया गया। स्वर्गीय डा० ए० एन० उपाध्ये ने पीठ पर सबसे पहले आसन ग्रहण किया।

इनके अतिरिक्त, दो इण्टरमीडिएट कालेज नजीबाबाद में खोले गए और चलाये जाते हैं। उनके द्वारा सम्पोषित अन्य संस्थाएं हैं: मूर्तिदेवी कन्या विद्यालय, नजीबाबाद, शान्ति प्रसाद जैन कालेज, सासाराम (बिहार) तथा रमारानी जैन बालिका विद्यालय, डेहरी ओन-सोन, बिहार; अशोक कुमार जैन हाई स्कूल, दरीहाट (बिहार); राजेन्द्र छात्र भवन, कलकत्ता; गोविन्द बल्लभ पंत छात्रभवन, कलकत्ता; श्री दिगम्बर जैन विद्यालय, कलकत्ता; श्री दिगम्बर बालिका विद्यालय, कलकत्ता; मारवाडी रिलीफ सोसायटी हस्पताल, कलकत्ता; अहिंसा प्रचार समिति, कलकत्ता; वीर सेवा मंदिर, दिल्ली; गणेश वर्णी संस्कृत महाविद्यालय, सागर; स्याद्वाद महाविद्यालय बनारस।

भारतीय ज्ञानपीठ के अतिरिक्त अन्य ट्रस्टों की भी उन्होंने स्थापना की है। इनमें प्रमुख हैं साहू जैन ट्रस्ट और साहू जैन चैरिटेबल सोसाइटी। भारतीय ज्ञानपीठ, एक महत्वपूर्ण साहित्य प्रकाशक संस्था है, जिसके द्वारा प्राकृत, संस्कृत अंग्रेजी, कन्नड़ आदि भाषाओं में विपुल साहित्य प्रकाशित किया जा रहा है। इसमें अन्य कई ग्रंथमालाएं हैं जिनमें हिन्दी साहित्य आदि का प्रकाशन होता है। इसकी सबसे बड़ी महत्ता विविध भाषाओं की सर्वोत्कृष्ट रचनाओं पर प्रतिवर्ष एक लाख रुपये का पुरस्कार वितरण है। अब तक १२ पुरस्कार दिये जा चुके हैं। माणिकचन्द्र

ग्रंथमाला से भी कई ग्रन्थ प्रकाशित किए गए हैं।

२५००वां निर्वाण महोत्सव

भगवान महावीर के २५०० वें निर्वाण महोत्सव मे साहू शान्ति प्रसाद जी ने कार्याध्यक्ष होकर जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया वह अद्वितीय है। आपने उसे गति प्रदान करते हुए भगवान महावीर और उनके सिद्धान्तो को घर-घर मे पहुंचाने का प्रयत्न किया है और धर्मचक्र द्वारा सारे भारतवर्ष में उनकी वाणी और चरित को पहुंचाने का अनुक्रम अनूठा था। दिल्ली मे जो उसका विराट जलूस निकला वह प्रदर्शनीय और आकर्षण की वस्तु था। इसका प्रमुख श्रेय साहूशान्ति प्रसाद जी को है दिल्ली जैन समाज और अखिल भारतीय जैन समाज को है। भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाधी के सौजन्य से सरकार से भी पूर्ण सहयोग मिला, इसके लिए सभी धन्यवाद के पात्र है।

दिगम्बर जैन समाज मे सगठन और एकता बनी रहे तथा समन्वय की भावना को बल मिले, इसके लिए साहू जी ने महासमिति का निर्माण किया। महासमिति की स्थापना द्वारा जो कार्य वे निष्पन्न करना चाहते थे, यद्यपि वे उसे पूरा नही कर पाए। तदपि अब समाज का कर्तव्य है कि वह अपने दायित्व को समझकर महासमिति के कार्य को आगे बढ़ाने का प्रयत्न करे।

ऊपर दिखलाए गए धार्मिक और सांस्कृतिक ठोस कार्यों मे साहू जी का जो सहयोग मिला, वह अनुकरणीय है। इन ठोस कार्यों मे द्रव्यविनिमय कर वे सच्चे अर्थों मे दानवीर है। विभिन्न कार्यक्रमो, योजनाओ मे उनका चिन्तन एवं नेतृत्व द्वारा जो विशिष्ट दिशादान साहू साहब ने दिया है वह चिरस्मरणीय रहेगा।

अन्तिम क्षणो मे साहू जी के परिणाम इतने निर्मल हो गए थे कि उन्होंने अपने पुत्र अशोक कुमार जैन से इच्छा व्यक्त की थी कि वह स्वस्थ होने के उपरान्त हस्तिनापुर मे मुनि श्री शान्तिसागर जी के निर्देश मे शेष जीवन व्यतीत करेंगे तथा महाराज श्री जब जैसा उचित समझेंगे, दे देंगे।

इससे स्पष्ट है कि साहू जी की धार्मिक भावना अन्तिम समय तक सजीव रही है। यद्यपि यहा उनका भौतिक शरीर अब नही है। किन्तु महत्वपूर्ण कार्यों से वे अमर है।

□□□

(पृष्ठ २० का शेषांश)

नियम जब साहू जी को भेजे और उनसे तरथा का संरक्षक बनने के लिए निवेदन किया तो उन्होंने साहित्य प्रकाशन की योजना की प्रशंसा करते हुए तत्काल उसका संरक्षक बनना स्वीकार कर लिया। इसलिए पता नही उन्होंने कितनी प्रकाशन संस्थाओं को जैन साहित्य के प्रचार प्रसार में योग दिया था।

जैन साहित्य एवं जैन समाज की सेवा के लिए उनके हृदय में गहरे भाव थे। भगवान महावीर की २५००वीं निर्वाण शताब्दी महोत्सव का जिस कुशलता एवं सजगता से सचालन किया तथा समस्त जैन समाज को एकसूत्र में बांधने का जो प्रशसनीय कार्य किया वह साहू जी जैसे व्यक्ति के लिए ही सम्भव था और वह सब उनकी वर्षों की साधना का फल था। स्वास्थ्य खराब होने एवं धर्मपत्नी श्रीमती रमा जी का वियोग होने पर भी उन्होंने जिस असाधारण साहस एवं सूझबूझ से काम लिया, सारे देश का एकबार ही नही, कितनी ही बार दौरा किया तथा गरीब से लेकर अमीर तक मे जन सेवा के भाव-भरे वह सब उनके महान् व्यक्तित्व का परिचायक है। जयपुर मे आयोजित एक सभा मे वे इतने द्रवीभूत हो गये कि सारी सभा के ही आसू बह निकले थे।

साहू जी पुरातत्व के प्रेमी थे प्राचीन मंदिरों के जीर्णोद्धार मे उन्होंने विशेष रुचि ली। दक्षिण भारत एव बुन्देलखण्ड के कितने ही मन्दिरों का उन्होंने जीर्णोद्धार करवा कर मन्दिरों की कला एव सम्पत्ति को नष्ट होने से बचा लिया।

साहू जी के कार्यों का वर्णन करने के लिए किसी एक बड़े ग्रन्थ की आवश्यकता है, जिसमें उनके जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर सांगोपांग वर्णन रहे। तभी जाकर हम उनके पूरे कार्यो सेसमाज को एवं आगे आने वाली पीढ़ी को परिचित करा सकेंगे।

□□□

यशस्वी सरस्वती पुत्र

□ श्रीमती जयवन्ती देवी जैन, नई दिल्ली

स जातो येन जातेन, याति वंशः समुन्नतिम् ।
परिवर्तिनि संसारे, मृतः कोऽवा न जायते ॥

यों तो ससार में हजारों जीव जन्म लेते हैं तथा मरण करते हैं लेकिन जीना उन्हीं का सफल है जो अपना जीवन समाज सेवा में लगा देते हैं तथा अपने कार्यों द्वारा मर-कर भी जीवित रहते है ।

साहू जी की जीवनी त्याग और परोपकार की जीती-जागती मिसाल है । साहू जी कहा करते थे कि देश के इन छोटे-छोटे बच्चों में महावीर, बुद्ध, गांधी और जवाहर विद्यमान है । इसलिए साहू जी ने देश के साधनहीन छात्रों की सहायता हेतु "साहू जैन ट्रस्ट" स्थापित किया । अब तक हजारो छात्र इस ट्रस्ट से लाभान्वित होकर तथा अपनी शिक्षा पूरी कर प्रतिष्ठित पदो पर आसीन है । मेधावी छात्रो को विदेशों म विद्याध्ययन हेतु आर्थिक सहायता देकर सैकड़ो छात्र इंजीनियर, डाक्टर बनकर माँ भारती की सेवा कर रहे हैं ।

एक बार डा० ए० एन० उपाध्ये ने श्री दि० जैन लाल मदिर मे आयोजित एक सभा मे ठीक ही कहा था कि "साहूजी ने विपुल धनराशि अर्जित करने में जितनी साव-धानी बरती है, उतनी ही सावधानी उसके सदुपयोग मे की है ।" साहूजी धन के सदुपयोग मे ज्ञान प्रचार को प्राथमिकता देते थे । इसीलिए उन्होंने देश की सैकड़ों शिक्षा संस्थाओं को विपुल धनराशि प्रदान की ।

श्री दि० जैन महिलाश्रम, दरियागज, दिल्ली भी उन्ही संस्थाओं में से एक है जो उनकी उदारता के लिए चिर ऋणी है ।

मातृभक्त : अपनी माता स्व० मूर्ति देवी की स्मृति जीवित रखने के लिए आपने 'मूर्ति देवी ग्रंथमाला' का शुभा-रम्भ किया । इस ग्रंथमाला के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रंथों से भगवान महावीर की देशना का घर-घर मे प्रचार हुआ है ।

धन्य है उस माँ को, जिसने ऐसे यशस्वी सरस्वती पुत्र को जन्म दिया ।

ज्ञान की भागीरथी को बहाने, और अज्ञान के अन्धकार को नष्ट करने के लिए साहू जी ने 'भारतीय ज्ञानपीठ' की स्थापना की । उनकी स्वनामधन्य पत्नी स्व० श्रीमती रमा जैन ने इस भारतीय ज्ञानपीठ की अध्यक्षा के रूप में साहूजी के यश को अमर किया । देश-विदेश का सम्पूर्ण वाङ्मय ज्ञानपीठ के द्वारा आदर एवं प्रतिष्ठा का पात्र बनाया ।

श्रेष्ठ श्रावक : प्रायः देखा जाता है कि विपुल धनराशि मनुष्य को मदांध बना देती है किन्तु साहू जी इसके अप-वाद थे । श्रावक के षट् कर्तव्यों के पालन मे उनकी रुचि थी । उनका विनम्र स्वभाव, निश्छल व्यवहार, गुरुभक्ति, स्वदार संतोष व्रत, समाज प्रेम एवं अभीक्ष्ण ज्ञानानुराग उनके यशःकाय को अमरत्व प्रदान करता है ।

अपनी प्रशंसा सुनकर साहू जी नतमस्तक हो जाते थे । महाराज विद्यानन्द जी की उपस्थिति में अपने ६०वें जन्म दिवस समारोह के अवसर पर अपनी प्रशंसा सुनकर साहूजी रोने लगे । उपस्थित समाज को सम्बोधित करते हुए वे बोले कि "जयन्ती तो उन महापुरुषों की मनाते है जिनका पुनः जन्म नहीं होगा । मुझे तो ससारचक्र में भ्रमण करना है । विद्यानन्द महाराज ने जो कुछ मेरे विषय मे कहा है, मैं उसके योग्य नही हूं ।" और गद्गद् कण्ठ होकर मंच पर बैठकर रोने लगे ।

उक्त घटना साहूजी की आन्तरिक महानता एवं नर-जन्म को सार्थक बनाने की तड़फन को व्यक्त करती है ।

तीर्थ भक्त : जिस प्रकार साहू जी मुनिभक्त थे उसी प्रकार तीर्थभक्त भी थे । तीर्थों की रक्षा करने, मन्दिरों का

(शेष पृष्ठ २८ पर)

अनुपम आदर्श जीवन

☐ डा० प्रेमचंद रांवका

स्व० साहू शान्तिप्रसाद जी जैन का स्मरण होते ही एक अनुपम आदर्श जीवन्त प्रतिमा हमारे सामने साकार हो उठती है। उनका सम्पूर्ण जीवन भारतीय साहित्य,संस्कृति, उद्योग एवं ज्ञान-विज्ञान को समर्पित जीवन था। उनकी अद्वितीय प्रतिभा लक्ष्मी एवं सरस्वती के सम्यक् उपयोग एवं सेवा मे संलग्न थी। भारतीय जन-जीवन के प्रमुख क्षेत्र मे धर्म. समाज, साहित्य, उद्योग और यत्किंचित राजनीति में भी उनका अपना प्रभाव एव योगदान था। वे वस्तुत. एक प्रेरणादायी दीपस्तम्भ थे। साहित्य एव संस्कृति के वे सच्चे उपासको मे से थे।

इसमे कोई अतिशयोक्ति नहीं कि स्व० साहू सा० और उनकी सहधर्मचारिणी स्व० रमा जी दोनों के कधो पर लक्ष्मी एवं सरस्वती को जोड़ने वाला विशाल सेतु आधारित था। भारतीय ज्ञानपीठ की स्थापना, उसके माध्यम से भारतीय साहित्य का प्रकाशन और इससे भी महनीय कार्य जो भारत सरकार भी नहीं कर सकी, प्रत्येक वर्ष भारत की विभिन्न भाषाओं के उच्चकोटि के सृजन पर एक लाख का पुरस्कार उनकी चिरस्थायी यशोगाथा है। लक्ष्मी एवं सरस्वती का ऐसा सुन्दर समवाय बिरला ही दृष्टिगोचर होता है।

स्व० साहूजी के जीवन की महत्वपूर्ण विशेषता उनकी धर्मपत्नी रमा जी की धर्मनिष्ठा है। रमा जी की उदात्त धर्म भाव भावना ने साहू जी को साहित्य एवं संस्कृति के प्रति अधिक रवानिष्ठ बनाया। लक्ष्मी का मोह और सग्रह साहूजी को अभीष्ट नही था, अपितु धन पर विजय प्राप्त कर उसका धर्म, समाज, सेवा, संस्कृति व साहित्य के संरक्षण, सम्पोषण एवं संवर्द्धन में सम्यक् उपयोग ही उनके अर्थोपार्जन का अभीष्ट था। वे उदार विचारों के थे, जिसका परिणाम आज भारतीय ज्ञानपीठ है। वस्तुतः धर्म और संस्कृति के क्षेत्र मे इस संस्था के माध्यम से साहू दम्पति ने जो कुछ किया वह सब स्वर्णाक्षरों में उल्लेखनीय है।

स्व० साहूजी के गहन अध्ययन का पता मुझे प्रत्यक्ष में उस समय देखने को मिला, जब सन् १९७२ में भारत वर्षीय दिगम्बर जैन परिषद का अधिवेशन कोटा (राज) मे आयोजित किया गया था। उन्ही दिनों हमे उनके साथ चम्बल नदी पार केशोराव पाटन के दि० जैन मन्दिर भी ले जाया गया। मन्दिर एव मूर्तिया बड़ी प्राचीन थी। हमे मन्दिर मे भू-गर्भ मे सुरक्षित प्रतिमाओ के भी दर्शन कराए गए। मन्दिर मे विराजमान सभी मूर्तिया प्राचीन है। श्री मुनिसुव्रत नाथ की मूर्ति, जो कृष्ण पाषाण की थी, अत्यधिक प्राचीन के स० १३वी शताब्दी के आसपास महमूद गजनवी के आक्रमण चिन्ह उस पर अंकित थे। साहू जी उस प्रतिमा की ओर काफी समय निहारते रहे। पास एक अन्य मूर्ति थी जिसको केवल साहूजी ही पहचान सके। उन्होने बताया कि वह मल्लिनाथ की प्रतिमा है। उन प्राचीन प्रतिमाओ को देखकर उन्होन जो चर्चा की, उससे उनकी गहन अध्ययन, रुचि एव मननशीलता का पता चला।

भारतीय ज्ञानपीठ के रूप मे साहू-दम्पत्ति का यश चिरस्थायी रहेगा। उनकी स्मृति को यह सस्थान सदा ताजा एवं शाश्वत बनाये रखेगा। उस दम्पत्ति का वह अनुपम जीवनादर्श समाज के धनी-मानी, सेठों, नेताओ, समाजसेवियो, उद्योग-पतियो के लिए निश्चित ही अनुकरणीय है। ऐसे धर्मनिष्ठ साहित्य, संस्कृति एव राष्ट्रसेवी दिवगत साहू-दम्पति को शतशत वन्दन! ☐☐☐

उन्हें श्रमण-दीक्षा की आकांक्षा थी !

□ श्री गणेश ललवानी

साहू शान्तिप्रसादजी के नाम से हम सभी न्यूनाधिक रूप में परिचित हैं। उनके निधन से भारत ने अपना एक ख्यातिमान उद्योगपति ही नहीं खोया, खो दिया एक सहृदय साहित्य एवं कलाप्रेमी को भी। भारतीय वाङ्मय के क्षेत्र में यह क्षति सहज ही पूर्ण होने वाली नहीं, क्योंकि भारतीय ज्ञानपीठ की प्रतिष्ठा से लेकर आज तक, अर्थात् १९४४ से अब तक, साहूजी ने भारतीय साहित्य और संस्कृति के विकास, प्रचार व प्रसारण में जो सहयोग दिया वह अनायास ही दृष्टिगत नहीं होता।

उत्तर प्रदेश के अन्तर्गत नजीबाबाद के प्रख्यात साहू परिवार में उनका जन्म हुआ। उनके पिता का नाम दीवानचन्द व मातुश्री का मूर्तिदेवी था। उनकी प्राथमिक शिक्षा नजीबाबाद में ही हुई। तदुपरान्त काशी विश्वविद्यालय एवं अन्ततः आगरा विश्वविद्यालय में। यहीं से उन्होंने प्रथम श्रेणी में बी० एस-सी० की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसी शताब्दी के तीसरे दशक में उन्होंने उद्योग एवं व्यवसाय के क्षेत्र में प्रवेश किया एवं सतत अध्यवसाय, परिश्रम और लगन के बल पर थोड़े ही दिनों में महती सफलता भी अर्जित की। इस क्षेत्र में वे परम्परागत प्रथा अनुसरण के पक्षपाती नहीं थे। वे थे विभिन्न पाश्चात्य देश व्यवसाय संचालन पद्धति में, जो दिन प्रतिदिन नए-नए प्रयोग कर रहे थे, उसके मूल्यांकन एवं प्रयोग के पक्षपाती। अतः उन्होंने आधुनिक प्रयोग पद्धति के विषय में विभिन्न ग्रन्थों का अध्ययन ही नहीं किया, बल्कि पूर्ण जानकारी के लिए पश्चिम यूरोप के अतिरिक्त सोवियत यूनियन, डच वेस्ट इण्डीज एवं आस्ट्रेलिया आदि देशों के उद्योगक्षेत्रों का निरीक्षण भी किया। विज्ञान के छात्र होते हुए भी उन्होंने अर्थशास्त्र के आधुनिकतम सिद्धान्तों का अध्ययन किया। तथ्य संग्रह में भी उनकी विशेष अभिरुचि थी। साथ ही कौन-सी स्थिति में कौन-सा सिद्धान्त ग्रहण करना इसकी सहजात प्रतिभा भी उनमें थी। अतः उनका व्यवसायी वर्ग में प्रमुख बनना स्वाभाविक ही था। जिस प्रकार वे 'फेडरेशन आफ इण्डियन चेम्बर आफ कामर्स' जैसी उच्च संस्थाओं के अध्यक्ष बने गए, उसी प्रकार उनके द्वारा सम्मानित भी हुए। वह भी एक बार नहीं अनेक बार। देश की औद्योगिक प्रगति को कार्यान्वित करने के लिए स्वर्गीय प० जवाहरलालजी ने जिस प्रथम राष्ट्रीय समिति का गठन किया, उसमें देश के तरुण औद्योगिक वर्ग का प्रतिनिधित्व करने के लिए साहू जी को ही चुना था। गत ४५ वर्षों से वे जिन उद्योगों से सम्बन्धित थे, वे थे कागज, चीनी, सिमेंट, वनस्पति, ऐसबेस्टस, पाट निर्मित वस्तुएँ, भारी रसायन, नाइट्रोजन खाद, पावर अल्कोहल, प्लाईबोर्ड, सायकिल कोयले की खानें, लाइट-रेलवे आदि के साथ-साथ हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी, गुजराती के दैनिक पत्र एवं पत्रिकाएँ।

यह एक पहलू थी साहूजी के व्यक्तित्व की; और दूसरी पहलू जिसने उन्हें हमारे सन्निकट कर दिया, वह थी भारतीय साहित्य एवं संस्कृति के प्रति सहज आन्तरिक अनुराग की। इसी अनुराग ने उन्हें भारतीय ज्ञानपीठ की स्थापना के लिये उत्प्रेरित किया था। अवश्य ही इस कार्य में उन्हें अपनी सहधर्मिणी रमाजी का पूर्ण सहयोग प्राप्त था। (खेद है कि रमाजी भी आज इस धरती पर नहीं रहीं। उनका देहान्त भी २२ जुलाई, १९७५ को हो गया) आज १९४४ की १८ फरवरी का वह दिन याद आ रहा है जिस दिन वाराणसी में आल इण्डिया ओरियन्टल कान्फ्रेन्स के अधिवेशन में साहूजी ने ज्ञानपीठ प्रतिष्ठा की उद्घोषणा की थी। इस कार्य के लिए उन्हें जिन्होंने प्रेरणा दी वे थे मुनि जिनविजयजी, पं० सुखलालजी, डा० हीरालालजी व डा० उपाध्ये। उन लोगों का लक्ष्य था प्राच्य विद्या की उपेक्षित धारा। जैन विद्या को

अमूल्य प्राचीन ग्रन्थराशि का उद्धार, संपादन व प्रकाशन। एतदर्थं वे लोग थे 'भारतीय ज्ञानपीठ' के स्थान पर जैन ज्ञानपीठ' नाम के प्रधान पक्षपाती। किन्तु, साहूजी विशेषत: रमाजी इससे सहमत नही हुई। इनका लक्ष्य था और अधिक व्यापक और अधिक विशाल।

भारतीय प्रकाशन के क्षेत्र में ज्ञानपीठ एक स्मरणीय नाम है। मूर्तिदेवी और लोकोदय दो ग्रन्थमालाओ के अतिरिक्त भारतीय ज्ञानपीठ 'माणिकचद ग्रन्थमाला' मे प्राचीन दुर्लभ साहित्य का पुनर्मुद्रण, 'रमा जैन तामिल एवं कन्नड ग्रंथमाला मे प्राचीन तामिल व कन्नड ग्रंथो का प्रकाशन रमा जैन सास्कृतिक ग्रंथमाला' मे विचारपरक शोधमूलक, साहित्य प्रकाशन आदि विभिन्न परिकल्पनाओ को अनवरत रूपायित किया जा रहा है। विगत भगवान महावीर की २५वीं निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष मे प्रकाशित महावीर सम्बन्धी ग्रंथों की संख्या भी कम नहीं है। १५०० चित्र सवलित तीन भागो मे प्रकाशित 'जैन कला एवं स्थापत्य का इतिहास' भी इसी साहित्य के अन्तर्गत है।

अपने व्यक्तिगत जीवन मे साहूजी जिस प्रकार निरभिमानी, हँसमुख व मिलनसार थे, उसी प्रकार वे थे धर्मनिष्ठ और चरित्र-सम्पन्न। धर्म एवं तीर्थक्षेत्र मे तो आप मुक्तहस्त से दान-देते ही थे, सामाजिक उत्थान व सगीन आर्थिक परिस्थितिवालो की सहायता भी अकृपण भाव से करते थे। शिक्षालय, प्रतिष्ठान, सराक जाति उन्नयन आदि कार्यों मे भी वे कम अर्थव्यय नहीं करते थे। वे मात्र औपचारिक अर्थ मे ही धार्मिक नही थे, धार्मिक संस्कार उनकी रगो मे इस प्रकार व्याप्त हो गया था कि मृत्यु के कुछ पूर्व उन्होने यह अभिमत व्यक्त किया था कि 'आरोग्य लाभ के बाद मैं हस्तिनापुर जाकर मुनिश्री शान्तिसागरजी से श्रमण दीक्षा ग्रहण करूँगा।' उनकी वह इच्छा अवश्य ही पूरी नही हुई, पर वह उन्हें उच्च लोक ले जाने मे अवश्य सहायक बनी होगी।

□□□

(पृष्ठ २५ का शेषांश)

जीर्णोद्धार कराने, पुरानी कलाकृतियो के सरक्षण आदि मे साहूजी ने विशाल धनराशि व्यय की। अपने जीवन क अन्तिम दिनों मे साहूजी अहिक्षत्र के जीर्णोद्धार तथा नवनिर्माण के मांगलिक कार्य मे व्यस्त रहे।

परम विवेकी : साहूजी की प्रत्येक क्रिया उनके प्रौढ़ विवेक की परिचायक थी। उनकी श्रद्धा एवं संतुलित विवेक समन्वित आचार-व्यवहार रत्नत्रय की सार्थकता को प्रकट करता है।

भगवान महावीर के २५००वें निर्वाणोत्सव पर दिगम्बर-श्वेताम्बर सभी को एक झण्डे के नीचे लाने तथा समाज की आपसी फूट को मिटाकर वात्सल्य भाव की अभिवृद्धि करने मे साहूजी ने एक युगपुरुष का कार्य किया है। ऐसे महापुरुष के बारे मे जितना भी लिखा जाय वह कम है।

असमय में ऐसी ज्योति का हमारे बीच से अदृश्य हो जाना राष्ट्र एव समाज की एक अपूरणीय क्षति है। जिस महापुरुष ने प्रचुर विभूति पाकर भी भरत के समान जल मे कमलवत् आदर्श प्रस्तुत किया है उन्हें मैं विनत श्रद्धा सुमन चढ़ाती हूं।

उनकी लगन और दृष्टि

□ मुनिश्री यशोविजयजी

जैन धर्म के प्रभावक श्री साहूजी को मैं परोक्ष रीति से जानता था किन्तु प्रत्यक्ष परिचय के बाद विशेष रूप से जानकारी मिली।

प्रशांत स्वभाव सुश्रावक श्री श्रेयासप्रसादजी जैन जो मेरे प्रति हार्दिक भाव रखते हैं, उनके कहने से साहूजी भगवान श्री महावीर के प्रगट होनेवाले चित्र सपुट की जानकारी और कुछ प्रस्ताव रजू करने के लिए बम्बई आये। पूर्व निश्चित समय पर वे श्री श्रेयासप्रसादजी के साथ मुझसे मिलने के लिये वालकेश्वर उपाश्रय मे आये। साथ थे मे श्री लक्ष्मीचन्दजी जैन और श्री अगरचन्दजी नाहटा भी। दो दिन मिले, घटो विविध विषयो पर चर्चा-वार्तालाप हुआ। चित्रों को देखकर, सपुट का कार्य देखकर बोले—'जैन कला मर गई है, ऐसा ही माना जाता था। लेकिन सचमुच आपने जैन कला जीवत कर दी है, आपने साधु होकर जो काम किया है, उससे साश्चर्य गौरव अनुभव करता हू।' निर्वाण महोत्सव के बारे मे भी विविध स्तर पर वार्तालाप हुआ था।

उन्होंने यह भी कहा कि दिगंबरीय चार-पांच चित्र-संपुट में सम्मिलित किये जायें, तो २५ हजार प्रतियां संपुट की छापनी पड़ेगी, विश्व के कोने-कोने मे जाने के लिए। भगवान महावीर के चित्र के प्रचार के बारे मे उनमें कितनी लगन थी, यह दिखाई पड़ता है।

उसी समय मेरे पास स्वनिर्मित हाथीदांत का भगवान का कमल था। वह देखकर वे बहुत ही प्रसन्न हुए और सामने से माग की, तो बड़े प्रेम से भेंट किया।

निर्वाण महोत्सव बड़े उत्साह से प्रभावपूर्ण ढंग से सम्पन्न हुआ। जैन धर्म और भगवान श्री महावीर की जानकारी सबको मिले, इसके लिए उनमें जो लगन देखी और अस्वस्थ होते हुए भी वे कार्य करते रहे तदर्थ साहूजी का शतशः धन्यवाद है। तदनतर सेठश्री कस्तूरभाई का नाम भी उल्लेखनीय है। दोनों की विशिष्ट दृष्टि, बुद्धि, शक्ति और प्रभाव से निर्वाण महोत्सव जय-जयकार रूप से अविस्मरणीय बन गया।

उनकी उपस्थिति मे तीर्थों का विवाद समाप्त हो जाता तो कितना सुन्दर हो जाता ?

अन्त मे, यही कामना है कि उनका परिवार उन्ही के मार्ग पर चले, साप्रदायिक दृष्टि से विमुक्त बनकर जैन धर्म और समाज सेवा करता रहे।

□□□

सामाजिक इतिहास का एक युगांत

□ श्री चन्दनमल

श्री साहू शान्तिप्रसाद जैन के २७ अक्तूबर, १९७१ को प्रात: ११ बजे दिल्ली मे देहावसान होने पर समस्त जैन समाज एवं देश, औद्योगिक, सांस्कृतिक साहित्यिक क्षेत्र शोकमग्न हो गए। श्री साहू जी को दिल का दौरा एक सप्ताह पूर्व पड़ा था और उन्हें तत्काल स्थानीय सर गंगाराम अस्पताल के नर्सिंग होम मे ले जाया गया था। तबियत काफी कुछ संभल गई थी, किन्तु फिर एक दो हलके दौरे और पड़ गये और उनका देहावसान हो गया।

उत्तर प्रदेश के अन्तर्गत नजीबाबाद के पुराने घरानों में साहू जैन घराना बहुत प्रतिष्ठित रहा है। श्री शान्तिप्रसादजी का जन्म इसी नगर और घराने में सन् १९१२ में हुआ था। उनके पितामह साहू सलेकचन्द जैन थे, पिताजी दीवानचन्दजी और माता श्रीमती मूर्तिदेवीजी थी।

आपकी प्रारम्भिक शिक्षा नजीबाबाद के शिक्षा केन्द्रों में हुई। हाई स्कूल करने के बाद आपने काशी विश्वविद्यालय मे प्रवेश किया। वहां से फिर आगरा विश्वविद्यालय में आ गये। आगरा विश्वविद्यालय से ही बी. एस-सी. परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। वस्तुत: आपका समूचा ही विद्यार्थी जीवन प्रथम श्रेणी का रहा और यह केवल अध्ययन और ज्ञानोपार्जन की दृष्टि से ही नहीं, वरन् अन्य दृष्टियों से भी। वे सभी सद्गुण और सद्वृत्तियां आप में विकसित हुईं, जो सफलता के शिखर तक पहुंचने के लिए आवश्यक है।

उद्योग के क्षेत्र मे आपने तीसरे दशक में पदार्पण किया था और प्रारम्भ से ही अपनी दृष्टि इस ओर केन्द्रित की कि न केवल देश के उद्योग, व्यवसाय का विकास और अभिवर्द्धन हो बल्कि सचालनप्रणालियों मे भी नये-से-नये प्राविधिक रूपों का समन्वयन हो। इसके लिए आपने स्वयं विभिन्न आधुनिक पद्धतियों का गम्भीर अध्ययन किया तथा विविध विषय क्षेत्रों में निरन्तर गवेषणाए कराईं। अर्थशास्त्र और वित्तीय सिद्धान्तों और पद्धतियोंका आपका बड़ा व्यापक और विशद् अध्ययन था, और प्रत्येक विषय से सम्बद्ध आंकड़ों एवं विवरण की जानकारी इस प्रकार हृदयगम थी कि वह देश-विदेश के आर्थिक मामलो के तथ्यों का पूरे परिप्रेक्ष्य मे देखकर सही निष्कर्ष निकालते थे और अपनी प्रतिभा से सबको चकित कर देते थे। विशेष रूप से, भारतीय उद्यम और भारतीय क्षमता के प्रति आप अपने औद्योगिक जीवन के प्रारम्भ मे ही अत्यन्त आस्थावान् रहे।

साहू साहब ने अपने इन उद्देश्यो की पूर्ति की दृष्टिलक्ष्य मे रखते हुए आवश्यकता के अनुरूप अन्यान्य देशों का भ्रमण-पर्यटन भी किया। सर्वप्रथम १९३६ मे वह डच-ईस्ट-इंडीज गये, फिर १९४५ में आस्ट्रेलिया और फिर १९५४ में सोवियत रूस। ये तीन यात्राए उन्होंने भारतीय औद्योगिक प्रतिनिधि के रूप मे की थी और परिणामो की दृष्टि सेवे अत्यन्त उल्लेखनीय मानी जाती है। ब्रिटेन, अमरीका, जर्मनी तथा अन्य कई योरोपीय देशों का भी आपने परिभ्रमण किया और अनुभवो के समावेशन द्वारा साहू जैन उद्योगो को अधिकाधिक समृद्ध किया।

सचमुच जिस सहजता के साथ उद्योग एवं व्यवसाय के क्षेत्र में साहू जी ने सफलता प्राप्त की, वह उनकी स्वभावगत प्रतिभा और सूझबूझ, सगठन क्षमता तथा अध्यवसाय और सहनशीलता को सम्मिलित देन है। पिछले लगभग ४५ वर्षों में आपने विभिन्न प्रकार और प्रकृति के उद्योग धन्धों की एक सुविस्तृत श्रेणी की स्थापना एवं सचालना करके देश के औद्योगिक विकास मे योगदान किया, व अनेक उद्योगो का नेतृत्व किया। इस श्रेणी के अन्तर्गत जहां एक ओर कागज, चीनी, वनस्पति, सीमेंट, एसबेस्ट्स प्रोडक्ट्स पाट निर्मित वस्तुएं, भारी रसायन, नाइट्रोजन खाद, पावर अल्कोहल, प्लाईवुड, साइकिल, कोयले की खानें, लाईट रेलवे इजीनियरिंग वर्क्स आते है, वहां दूसरी ओर

हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी, गुजराती के दैनिक पत्र और सावधिक पत्रिकाएं तथा महत्वपूर्ण सांस्कृतिक-साहित्यिक शोध एवं प्रकाशन के कार्य भी आते हैं।

विगत वर्षों से देश की विभिन्न शीर्ष व्यवसाय-संस्थाओं के आप अध्यक्ष रहे हैं। इनमे प्रमुख है: फेडरेशन आफ इंडियन चेम्बर आफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री, इण्डियन चेम्बर आफ कामर्स, इण्डियन शुगर मिल्स एसोसिएशन, इण्डियन पेपर मिल्स एसोसिएशन, बिहार चेम्बर आफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री, राजस्थान चेम्बर आफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री, ईस्टर्न यू० पी० चेम्बर आफ कामर्स एण्ड इडस्ट्री। चार वर्षों तक लगातार आप आल इण्डिया आर्गनाइजेशन आफ इण्डस्ट्रियल एम्पलायर्स के भी अध्यक्ष रहे और इसी अवधि मे भारतीय श्रमव्यवस्था सम्बन्धी नियम बनाते समय आपने उद्योग धन्धों का व्यावहारिक दृष्टिकोण उपस्थित किया।

अपनी विशिष्ट प्रतिभा सम्पन्नता तथा व्यापक अनुभव के कारण साहूजी देश के उद्योग एव व्यवसाय द्वारा अनेक अवसरों पर सम्मानित किए गए। स्वर्गीय पं० जवाहरलालजी ने देश की औद्योगिक प्रगति की वैज्ञानिक परिकल्पना को कार्यान्वित करने के लिए जो प्रथम राष्ट्रीय समिति गठित की थी, उसमे देश के तरुण औद्योगिक वर्ग का प्रतिनिधित्व करने के लिए आपको इसका सदस्य बनाया था।

साहू साहब की भारतीय धर्म-दर्शन और इतिहास तथा संस्कृति विषयो के अध्ययन में भी आंतरिक रुचि थी। भारतीय कला एव पुरातत्व के क्षेत्र मे भी वे साधिकार चर्चा किया करते थे। धार्मिक श्रद्धा मे वह अडिग थे। भारतीय भाषाओं एव साहित्य के विकास-उन्नयन की दिशा में आपका अति विशिष्ट योगदान रहा। आपके द्वारा सन् १९४४ मे भारतीय ज्ञानपीठ की संस्थापना एव अपनी सहधर्मिणी स्वर्गीया श्रीमती रमा जैन के साथ उसकी कार्य प्रवृत्तियां, विशेषकर उसके द्वारा प्रवर्तित भारतीय भाषाओं की सर्वश्रेष्ठ सृजनात्मक साहित्यिक कृति को प्रतिवर्ष एक लाख रुपये की पुरस्कार योजना की परिकल्पना और अब तक ११ पुरस्कारों के निर्णयों की कार्यविधि मे अनवरत रुचि एवं मार्गदर्शन, उनकी दूरदर्शिता एवं क्षमता के बहुप्रशंसित अमर प्रतीक हैं। ज्ञानपीठ के अतिरिक्त आपने साहू जैन ट्रस्ट, साहू जैन चैरीटेबल सोसायटी तथा अन्य अनेक शिक्षण संस्थाओं की भी संस्थापना की। वैशाली प्राकृत, जैन धर्म एवं अहिंसा शोध-संस्थान को तथा प्राचीन तीर्थों एवं मन्दिर आदि के जीर्णोद्धार में प्रचुर अर्थदान दिया है। आप अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी, बम्बई तथा अहिंसा प्रचार समिति, कलकत्ता अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद् एवं मारवाड़ी रिलीफ सोसायटी के अध्यक्ष रह चुके थे।

भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव के *कार्यक्रमों को सफल बनाने में आपका सर्वाधिक योगदान* रहा है। जैन समाज के चारों सम्प्रदायों की ओर से गठित भगवान महावीर २५००वां निर्वाण महोत्सव महासमिति के आप कार्याध्यक्ष थे। भारत की संपूर्ण दिगंबर जैन समाज की ओर से गठित आल इण्डिया दिगंबर भगवान महावीर २५००वां निर्वाण महोत्सव सोसायटी एवं बंगलाप्रदेश क्षेत्रीय समिति के अध्यक्ष के रूप मे आपने देश व्यापी सांस्कृतिक चेतना को जागृत किया। भारत सरकार द्वारा गठित राष्ट्रीय समिति और बिहार तथा बंगला की समितियों मे भी आपने महत्वपूर्ण पदों का दायित्व तन्मयता से सम्भाला। निर्वाण महोत्सव के बहुमुखी कार्यक्रमों को आपने चिन्तन, उत्साहपूर्ण नेतृत्व और मुखर श्रद्धा के प्रत्यक्ष प्रभाव से उपलब्धियों का जो वरदान दिया है, वह जैन समाज के इतिहास मे चिरस्मरणीय रहेगा।

समाज ने अपनी श्रद्धा स्वरूप आपको 'दानवीर', तथा 'श्रावक शिरोमणि' की उपाधियों से सम्मानित किया। अन्तिम क्षणों में साहूजी के परिणाम इतने निर्मल हो गए थे कि उन्होंने अपने पुत्र श्री अशोककुमार जैन से इच्छा व्यक्त की थी कि स्वस्थ होने के उपरान्त हस्तिनापुर मे मुनि श्री शान्तिसागरजी के निर्देशन मे शेष जीवन व्यतीत करेंगे। महाराज श्री जब जैसी दीक्षा उचित समझेंगे, दे देंगे।

श्री साहूजी के बड़े भाई श्री श्रेयांसप्रसाद जैन को, साहूजी के बड़े पुत्र श्री अशोककुमार जैन, मझले पुत्र श्री आलोकप्रसाद जैन एवं कनिष्ठ पुत्र श्री मनोज कुमार जैन को; उसकी पुत्री श्रीमती अलका जालान एव सारे परिवार को एवं समाज को जो मर्मान्तिक आघात पहुंचा है उसके प्रति समाज की सहज संवेदना उत्प्रेरित है। उनका देहान्त सामाजिक इतिहास का एक युगांत है। □□□

उनके नेतृत्व का फल

□ श्री मिश्रीलाल पाटनी

साहू शान्तिप्रसादजी का जन्म उत्तर प्रदेश के नजीबाबाद नगर मे सन् १९११ मे अग्रवाल जैन परिवार में हुआ। आपके पिताजी का नाम श्री साहू दीवानचन्दजी तथा माता का नाम श्रीमती मूर्तिदेवीजी था। आपने प्रारंभिक शिक्षा वहीं प्राप्त की थी। तत्पश्चात् उच्च शिक्षा प्राप्त करने हेतु काशी विश्वविद्यालय एवं आगरा विश्वविद्यालय में गये। वहां प्रत्येक विषय की शिक्षा प्राप्त की। प्रत्येक शिक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होते रहे।

प्राविधिक विषय क्षेत्र मे विदेशो मे गवेषणाएँ करके ब्रिटेन, अमेरिका जर्मनी, रूस आदि देशो में आपने परिभ्रमण कर वहा से औद्योगिक व्यवसायी कारखानो में जाकर वहां के कार्यों को दृष्टिगोचर कर मनन करते रहे। भारतीय औद्योगिक प्रतिनिधि के रूप मे आप सन् १९३६ मे डच इण्डस्ट्रीज, सन् १९४५ मे आस्ट्रेलिया, सन् १९५४ में सोवियत रूस गये। वहां से आने पर भारत मे आपने विभिन्न प्रकार के उद्योग-धन्धो के कारखाने निर्माण किये और कुशल नेतृत्व कर उनमे निरन्तर कार्य-वृद्धि करके वस्तुओ का उत्पादन कर वाणिज्य-व्यवसाय करने मे अग्रसर होते रहे। आपका विज्ञान अत्यन्त विशाल तथा व्यापक दृष्टि मे था। आपने कागज, चीनी, वनस्पति, सीमेन्ट, एसबेस्टाज निर्मित वस्तुएँ, भारी रसायन, कृषि उद्योग मे आनेवाला नाईट्रोजन खाद, पावर एलकोहल, प्लाईवुड, साइकिल, कोयले की खाने, लाईट रेल्वे, इंजीनियरिंग कारखाने, हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी भाषा मे दैनिक नवभारत टाइम्स व साप्ताहिक पत्र प्रकाशन, सास्कृतिक तथा साहित्यिक एवं धार्मिक पुस्तक प्रकाशन कार्य हेतु ज्ञानपीठ सस्था स्थापित की जो एक लाख रुपया उच्च विद्वानो को प्रतिवर्ष पुरस्कार भेंट रूप मे प्रदान करती हैं। आपकी विशिष्ट प्रतिभा तथा बहुत व्यापक अनुभवों के कारण आपको पं० जवाहरलाल नेहरू द्वारा गठित पहली राष्ट्रीय समिति मे देश के तरुण औद्योगिक वर्ग का प्रतिनिधित्व करने के लिए सदस्य मनोनीत किया गया। देश मे अनेक औद्योगिक सस्थाओं की व्यवस्था हेतु अध्यक्षपद पर रहकर, उत्तम व्यवस्था करके कार्य संचालन करते रहे, जिनमें से कुछ वरिष्ठ संस्थाओं के नाम उल्लेखित किये जाते है: भारतीय वाणिज्य उद्योग मण्डल संघ, इण्डियन चेम्बर आफ कामर्स, इण्डियन शुगर मिल्स एसोसिएशन, इण्डियन पेपर मिल्स एसोसिएशन, बिहार चेम्बर आफ कामर्स; एवं लगातार चार वर्ष तक आल इण्डिया आरगेनाइजेशन आफ इण्डस्ट्रियल एम्पलाईयर्स के भी अध्यक्ष रहे।

प्रतिवर्ष सैकड़ों इजीनियरिंग विद्यार्थी तथा वाणिज्य विद्यार्थी, पत्रकार संपादन कला शिक्षा एव अनेक शिक्षाओं के गरीब इच्छुक विद्यार्थियो के पठन-पाठन कार्य हेतु अपने उपार्जित द्रव्य मे से रुपये देकर सहयोग प्रदान करते रहे। साहू जैन सस्थानों के माध्यम से व्यावहारिक प्रशिक्षण, अनेक व्याधि, शारीरिक रक्षा, विवाह शादी खर्च हेतु निर्धन महानुभावों की माग पर अथवा स्वय दृष्टिगोचर होने पर उनको द्रव्य देकर उनकी सहायता करते रहते थे।

अनेक प्राचीन जैन तीर्थो के जैन मन्दिरों का जीर्णोद्धार करने हेतु लाखो रुपयो का दान देकर तीर्थ सुरक्षित कराये। भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी, बम्बई व अहिंसा प्रचार समिति, कलकत्ता के अध्यक्ष पद पर रहकर अनेक छात्रावासों की स्थापना अनेक स्थानों पर करके, कई लाख का दान देकर उन्हें सचालित कराया। वैशाली के स्नातकोत्तर प्राकृत जैन एवं अहिंसा शोध संस्थान की स्थापना के लिए आपने लाखो रुपये देकर मदद की। अनेक शिक्षण सस्थाओं को अनेक स्थानों पर

(शेष पृष्ठ ३४ पर)

आदर्श एवं अभूतपूर्व व्यक्तित्व

☐ श्री सुमत प्रकाश जैन, दिल्ली

वैसे तो परम श्रद्धेय, श्रावक-शिरोमणि, तीर्थभक्त, दानवीर स्वर्गीय साहू शान्तिप्रसादजी से मेरा परिचय काफी समय से था परन्तु ढाई वर्ष पूर्व तीन दिन तक लगातार उनके साथ रहकर कई तीर्थक्षेत्रों की यात्रा करने का जो सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ उनमे मैंने उनको नजदीक से देखा तथा उनके अभूतपूर्व व्यक्तित्व से बहुत ही प्रभावित हुआ। दिनांक ७-१०-१९७६ को प्रातः ९ बजे घर पर टेलीफोन की घण्टी बजी और मेरे अपना नाम बताने पर तुरन्त साहूजी से सम्पर्क स्थापित हो गया। साहू जी ने इच्छा व्यक्त की कि वह अगले दिन ही सुबह कार द्वारा श्री अहिच्छत्र पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र जाना चाहते है और वहाँ से श्री कम्पिला जी, शौरीपुर, बटेश्वर आदि अन्य तीर्थों पर भी जाने का विचार है। वे चाहते थे कि इस यात्रा मे उनके साथ मैं भी चलूं। मैंने उनको अपनी स्वीकृति दे दी। अगले दिन ८-१०-१९७६ को प्रात. १० बजे उन्होने शाहदरे से ही मुझे साथ लेकर अपनी कार मे बैठा लिया। वैसे तो उनके साथ एक कार और भी थी जिसमे उनका सचिव, रसोइया, चपरासी, नौकर आदि बैठे थे, परन्तु उन्होने मुझे अपनी कार मे अपने पास ही बैठाया। रास्ते मे श्री अहिच्छत्र तीर्थक्षेत्र तथा अन्य तीर्थों एवं अन्य सामाजिक, राष्ट्रीय आदि विषयों पर बातचीत होती रही। हम रामपुर, बरेली होते हुए चार बजे श्री अहिच्छत्र पार्श्वनाथ पहुंच गए। मेरे द्वारा रात को ही फोन द्वारा सूचना दे देने पर क्षेत्र कमेटी के बहुत से सदस्य रामपुर, मुरादाबाद और रेली से क्षेत्र पर पहले से ही पहुंच गये थे। साहू जी ने पहुंचते ही बड़ी विनय, श्रद्धा एवं भक्ति पूर्वक मन्दिरजी मे दर्शन किये और रात को ही साहूजी क्षेत्र पर ही धर्मशाला की कोठरी में ठहरे। उन्होंने वहा ठहरने मे होने वाली तकलीफ की तनिक भी परवाह नही की। शाम की आरती के बाद साहूजी ने वहाँ के मन्दिर जी को बड़े गौर से निरीक्षण किया तथा वहां सब बेदियो एवं उनमें विराजमान प्रतिमाओं को बड़े ध्यान से देखा। रात्रि को क्षेत्र के विषय में कमेटी के उपस्थित सदस्यों में विचार-विमर्श करने के बाद उन्होंने न केवल मन्दिर जी के जीर्णोद्धार बल्कि कुछ नवीनीकरण की योजना के लिए अपनी इच्छा व्यक्त की तथा उसको पूरा कराने के लिए आवश्यकतानुसार धनराशि की अपनी ओर से स्वीकृति भी तुरन्त दे दी। उनकी योजनानुसार कमेटी द्वारा वह कार्य कुछ ही दिनों बाद प्रारम्भ कर दिया गया। हमें बड़ा दु.ख है कि उनके जीवनकाल मे वह कार्य पूरा न हो सका। उनके निधन के बाद पूरे साहू परिवार ने उस योजना में पूरी रुचि ली तथा शेष कार्य को पूरा कराया। क्षेत्र पर दिनांक १३-४-७८ से १६-४-७८ तक होने वाली पंचकल्याणक प्रतिष्ठा पर भी आदरणीय साहू श्रेयांसप्रसाद, साहू अशोककुमार, साहू आलोकप्रकाश, साहू मनोजकुमार समेत समस्त साहू-परिवार ने बड़े उत्साह एवं श्रद्धापूर्वक भाग लिया, जिसके लिए हम समस्त साहू-परिवार के बहुत ही आभारी है। अगले दिन मैं पुनः साहूजी के साथ श्री कम्पिलाजी गया। रात को हम कम्पिलाजी मे ही ठहरे तथा रात को वहाँ की कमेटी के सदस्यो से साहूजी ने क्षेत्र की प्रगति के बारे में बातचीत की तथा उसके जीर्णोद्धार के लिए भी एक बड़ी राशि के लिए घोषणा की। अगले दिन १०-१०-१९७८ को प्रातः दर्शन-पूजन करने के बाद हम श्री कम्पिला जी से चलकर फीरोजाबाद, शौरीपुर, बटेश्वर (वहा पर दर्शन नही हो सके क्योंकि यमुना का पुल टूटा हुआ था, अतः कार मन्दिर तक नहीं जा सकी) आगरा, चौरासी, मथुरा होते हुए शाम को दिल्ली पहुंच गये। इन तीन दिनों में लगातार साहू जी के साथ रहते हुए मैंने उनमें एक अभूतपूर्व प्रतिभा को देखा। अभिमान एव अहकार नाम की कोई वस्तु उनके पास थी ही नही। उन्होंने मुझे जो प्यार-स्नेह-ममता दी वह आज के युग मे विरले ही दे पाते है। वे ख्यातिप्राप्त अन्तर्राष्ट्रीय उद्योगपति तो थे ही, साथ मे मैंने पाया कि वह बड़े सरल स्वभाव, निरभिमानी, समाजसेवी, धर्मनिष्ठ एव तुरन्त निर्णय लेने वाले व्यक्ति थे। इन सबके पीछे उनकी धर्मपत्नी श्रीमती रमा जैन उनकी प्रेरणा स्रोत रही हैं, क्योंकि रमाजी के

नाम का उल्लेख आते ही उनकी आंखें नम हो जाती थीं। समाज, वे जैन समाज एवं राष्ट्र का बहुकल्याण चाहते थे। इसके लिए उनके दिल मे बडी वेदना थी। वह चाहते थे कि जैन समाज के समस्त लोग एकजुट होकर समाज के उत्थान के लिए कार्य करें। इसके लिए वह जैन समाज के प्रत्येक सम्प्रदाय के साधुओं एवं प्रतिष्ठित व्यक्तियों से मिलते रहते थे तथा इसके लिए उन्होंने कई योजनायें भी बनाई थी। जैन तीर्थक्षेत्रो के जीर्णोद्धार कराने मे उन्होने विशेष रुचि ली। वह इनको राष्ट्र की धरोहर मानते थे और इस कार्य के लिए उन्होंने अपनी ओर से विपुल धन-राशि खर्च की। यह साहू शान्तिप्रसादजी की प्रेरणा एवं मार्ग दर्शन ही था कि भगवान महावीर का २५००वां निर्वाण महोत्सव राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बड़े उत्साह से व्यापक रूप मे मनाया गया, जिससे देश के कोने-कोने मे भगवान महावीर की वाणी फिर एक दफा गूंज उठी। भारतीय स्तर पर कोई भी ऐसी जैन संस्था नही थी जिसको साहूजी का सक्रिय योगदान न मिला हो और दूसरी प्रकार भारत का कोई भी ऐसा जैन तीर्थ क्षेत्र नहीं है जिसकी ओर साहूजी का ध्यान न गया हो तथा जिसके जीर्णोद्धार में साहूजी ने सक्रिय योगदान न दिया हो। उनकी तीर्थों के प्रति श्रद्धा, भक्ति, धार्मिक भावना तथा उनकी सरलता, सहृदयता, विवेक, बन्धुत्व की भावना, उच्च विचार, भ्रातृ-स्नेह एवं ममत्व की भावना, उनकी समाज एव राष्ट्र की सेवा, मिलन-सारिता, आतिथ्य-सत्कारिता, गुरुभक्ति, शैक्षणिक एवं साहित्यिक रुचि आदि अनेकों ऐसे गुण थे जो किसी बिरले व्यक्ति मे ही पाए जाते है। यात्रा से आने के बाद भी समय-समय पर मैं उनसे मिला और जब भी मिला उनके गुणों मे कुछ-न-कुछ वृद्धि ही पाई। दिनांक २७-१०-१९७९ को प्रकृति की क्रूर नियति ने उनको सदा-सदा के लिए हमसे छीन लिया। परन्तु वह सदैव हमारे मन मे रहेगे तथा उनका उच्च जीवन चरित्र सदैव मार्गदर्शन करता रहेगा और समाज मे ही नही अपितु समस्त राष्ट्र उनको सदैव याद करता रहेगा।

□□□

(पृष्ठ ३१ का शेषांश)

सस्थाओं को भारी दान देकर संचालित कराई। मूर्तिदेवी कन्या विद्यालय, मूर्तिदेवी सरस्वती इण्टर कालेज, साहू जैन कालेज नजीबाबाद नगर में संचालित कराए। एस. पी. जैन कालेज, सासाराम (बिहार) मे स्थापित कर सचालित कराया। तीन ट्रस्ट सस्थाएं, अपने-अपने क्षेत्र मे विशिष्ट संस्थाएं, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, साहू जैन चेरिटेबल सोमायटी व साहू जैन ट्रस्ट (जो अखिल भारतीय महत्व की सस्थायें है) भारी दान देकर संचालित की है जो प्रचलित है, कार्य परिणित है। तीर्थ क्षेत्र, पुरातत्व केन्द्र तत्वज्ञान की प्रतिष्ठापना, मुनि भक्ति, मुनि रक्षा, धार्मिक कार्यों पर सकटो के आने पर उनको दूर करने मे तन-मन-धन हर प्रकार से परिश्रम करके वरिष्ठ शासन अधिकारियो से मिलकर पैदा हुई विपदाओ को दूर करने को सदैव हर समय तत्पर रहकर आए हुए सकटो को दूर करते थे। इसी प्रकार, पहले सर सेठ हुकमचन्द जी इन्दौर की स्वाभाविक दृष्टि थी। उनके स्वर्गवास के पश्चात् यह स्थान श्री साहूजी के ग्रहण करने से जैन समाज के धार्मिक कार्यों पर संकट आने पर साहूजी के द्वारा वर्तमान काल मे दूर होते रहे हैं। हमें आशा कि अब उपरोक्त कार्यों मे उनके भ्राता साहू श्रेयांसप्रसादजी तथा उनके सुपुत्रगण श्री अशोककुमारजी, श्रीआलोकप्रसादजी भी अपने स्व० पिताजी के पदचिन्हों पर चलकर जैन समाज तथा जैन धर्म की रक्षा करते रहेंगे और अनेक धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों मे उपस्थित होकर यथायोग्य तन-मन धन से सहयोग प्रदान करते रहेंगे। देश के इतिहास में सदा ही साहू जी का कृतित्व वरिष्ठ तथा विशिष्ट माना जायेगा इसमें कोई संदेह नही।

आल इंडिया दिगम्बर भगवान महावीर २५००वा निर्वाण महोत्सव सोसायटी के अध्यक्ष तथा भगवान महावीर २५००वा निर्वाण महोत्सव राष्ट्रीय समिति के कार्याध्यक्ष रहकर सम्पूर्ण देश में भगवान महावीर परि-निर्वाण का जो व्यापक कार्यक्रम हुआ है और जो उस कार्य मे चेतना जाग्रत हुई है, वह श्री साहूजी की ही प्रेरणा, परिश्रम और लगन से संगठन होकर हुई है। यह श्री साहूजी के ही नेतृत्व एवं परिश्रम का श्रेय है।

□□□

जैनत्व के जीवन्त प्रतीक

☐ डा० राजेन्द्र कुमार बंसल, शहडोल

श्रद्धा सुमन समर्पित करने एव दूसरों के प्रेरणा स्रोत बनने की पवित्र भावना से व्यक्ति विशेष से सम्बन्धित विशेषांक निकालने की परम्परा रही है। किन्तु अब अह की तुष्टि एव व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से ऐसे व्यक्तियो के भी विशेषाक निकाले जाने लगे है जिनका व्यक्तित्व विवाद ग्रस्त एव समाज विच्छेदक बना है। फिर ऐसे विशेषाकों का औचित्य सिद्ध करने मे प्रायः घटनाएं अतिरंजित रूप मे वर्णित की जाती है जिससे व्यक्ति का व्यक्तित्व कृत्रिम एव बोझिल-सा लगने लगता है और वह सहज सरल प्रेरणा स्रोत नही बन पाता। बने भी क्या ? कुछ अन्दर वजन हो तो बने भी।

स्व० श्री शान्तिप्रसाद जी की पुण्य-स्मृति का विशेषाक इस नवीन प्रवृत्ति का अपवाद है और साहूजी का गतिशील, बहुमुखी एवं कर्मयोगी व्यक्तित्व यथार्थ मे दूसरो के लिए प्रेरणा-स्रोत एव पथप्रदर्शक बनेगा, इसमे दो मत नही हो सकते।

यह प्रश्न व्यक्ति के व्यक्तित्व के आधारभूत गुणो के प्रकाशन का है जो उसके जीवन दर्शन, चिंतन-मनन की दिशा एव कार्य-पद्धति आदि के सही मूल्यांकन पर निर्भर करता है। व्यक्ति के व्यक्तित्व के मूल्याकन का एक नजरिया और होता है। वह है व्यक्ति ने परिवार, समाज, राष्ट्र एवं धर्म-संस्कृति से जितना पाया है उसका वह निज के उपलब्ध साधनो की तुलना मे कितना और क्या ऋण चुका सका है ? और क्या वह अपने बहुमूल्य दायित्वो को पूर्ण कर सका है ?

वस्तुतः इन प्रश्नो के सन्दर्भ मे ही स्व० साहूजी का मूल्याकन किया जाना उनके व्यक्तित्व के प्रति सबसे बड़ी श्रद्धांजलि होगी। कुबेरपति परिवार का कृपापात्र बनने हेतु स्व० साहूजी की प्रशंसा करने से लौकिक लाभ तो सम्भव हो सकता है, किन्तु उससे उनके व्यक्तित्व का सही प्रकाशन नही हो सकता। जबकि विद्यमान पर्यावरण मे आवश्यकता इस बात की है कि उनके व्यक्तित्व का यथार्थ प्रकाशन किया जाये जिससे संस्कारविहीन युवा पीढ़ी, भ्रमित वृद्ध पीढ़ी एवं अर्थमद मे चूर मध्यवर्गीय धनिक पीढ़ी स्व० साहूजी से मार्गदर्शन पाकर कल्पना-लोक की उडान छोड जमीन पर चलने का साहस कर सकें।

दुर्भाग्य मे मेरा साहूजी से प्रत्यक्ष मे परिचय कभी नही हुआ। हां उनके अग्रज श्री साहू श्रेयांस प्रसादजी से अवश्य विगत वर्ष गुना मे सक्षिप्त परिचय हुआ था। उनकी सौजन्यता, सरलता, सहृदयता एव निश्छलता की बानगी से स्व० श्री साहूजी के प्रति मेरी जो धारणा थी, वह अवश्य पुष्ट हुई।

ऐसे भाग्यवान व्यक्ति अल्प संख्या मे ही होते है जिन्हे जीवन मे विपुल भौतिक साधन एव अवसर प्राप्त होते है। फिर ऐसे व्यक्ति तो बिरले ही होते है जो उन साधनो का सही एव सतुलित उपयोग जीवन की प्रत्येक विधा मे उन्मुक्त हृदय से निष्काम भावना से करते है। जब हम स्व० श्री साहूजी के जीवनदर्शन की ओर देखते है तो यह बात निर्विवाद रूप से स्वीकारना पडती है कि उन्होने अपने उग्र पुरुषार्थ से जो बाह्य वैभव पाया था, मिला था, उसका उपयोग उन्होने धर्म, संस्कृति, साहित्य, समाज एव राष्ट्र की सेवा मे सहज भाव से समर्पित कर दिया और इस प्रकार वे आधुनिक जैन जगत के वीर भामाशाह बन गये। मान-प्रतिष्ठा पाकर भी वे निरहंकारी बने रहे। जिस वैभव से उनके साथी, सहयोगी, मित्र एवं कृपापात्र चमत्कृत एवं अहंबुद्धिधारी बने, वही वैभव साहूजी को कर्तव्यविमुख नही कर सका। वे जल में कमलवत् बने रहे जीवनपर्यन्त निष्काम कर्मयोगी बने रहे और जिन वाणी, जिन शासन के गीत गाते रहे। सादा [illegible] और

को भी उपलब्ध हुई है, लेकिन किस काम की वह जो कर्तव्य पूर्ति का साधन बनकर मात्र ईर्ष्या एवं दिखावे तक ही सीमित रह जाये।

मानव जीवन में ऐसे संयोग भी बहुत बिरले मिलते हैं जहाँ लक्ष्मी के साथ भगवती सरस्वती का अपूर्व समागम एवं संगति हो। पश्चिम लक्ष्मी का दास बना पथभ्रष्ट हो रहा है जबकि पूर्व सरस्वती को भूलकर लक्ष्मीदास बनने की होड़ में सब कुछ छोड़ रहा है। ऐसे माहौल मे इन दोनों का सतुलित समन्वय करने का संयोग प्राप्त होना बिस्मयकारी ही कहा जायेगा। स्व० श्री साहूजी के अन्त-स्थल में दोनों देवियां विराजमान थी और किन्तु उनके मध्य कोई बैर या प्रतिस्पर्धा नहीं थी। सामान्य लक्ष्मी-पति के समान न तो वे अहंकारी, जिद्दी या सकुचित दृष्टि के ही थे और न सरस्वती के उपासक के रूप मे लौकिक व्यवहार शून्य या पलायनवादी वृत्ति के ही। वे तो बेजोड़ गतिवान कर्मयोगी थे जो जीवन भर आदर्शों एवं कला-संस्कृति की रक्षा करते रहे।

उनकी समदृष्टि थी। क्या छोटा और क्या बड़ा, सबके प्रति उनके हृदय में सम्मान था। अपने व्यस्त कार्य-क्रमों के मध्य भी वे पत्रोत्तर देने मे नही चूकते थे। समाज का पैसा रथ, गजरथ, मन्दिर एवं धर्मशालाओं जैसे अचल अनुत्पादक कार्यों मे प्रायः व्यय होता है। मानव सेवा के कार्यों में उसका उपयोग नही होता। अतः मैंने भगवान महावीर निर्वाणोत्सव के काल में साहूजी को पत्र दिनाक ८-११-७४ द्वारा सुझाव दिया कि इस अवसर पर गम्भीर रोगों की चिकित्सा हेतु अद्यावत साज-सज्जायुक्त चिकित्सालय मिशनरी भावना मे खोले जावें तो अच्छा है। साहूजी ने पत्रोत्तर बिना विलम्ब के दिनांक ४-१२-७४ को भेजा और लिखा—'आपने जो लिखा' सत्य है। दान की जो शैली समाज मे है वह धीरे-धीरे ही बदल सकती है और बहुत बदली भी है। आशा है आप जैसे सज्जनो के प्रयत्नों से और भी विशेष बदलेगी।" उनके पत्र को पाकर मैं स्तब्ध-सा रह गया। साहूजी मेरे विचारों से सहमत होंगे और मुझे पत्र का उत्तर मिलेगा, इसकी मैंने कल्पना भी नही की थी। आज के भौतिक-वादी युग में किस उद्योगपति के पास समय है जो पत्रोत्तर दे और फिर अपरिचित व्यक्ति के विचारों से अपनी सह मति व्यक्त कर प्रेरणा भी दे।

एक बात और जिसको मैं विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण समझता हूं बुराई के प्रतिकार एवं अच्छाई के ग्रहण हेतु खुले दिल और दिमाग की है। जब दिल और दिमाग की खिड़कियां बन्द हो जाती है तो व्यक्तित्व का विकास रुक जाता है। इससे व्यक्ति आग्रही एव रूढ़ हो जाता है। धार्मिक एवं मुक्त होने की बात तो बहुत दूर की है, स्व० श्री साहूजी सदैव सर्वांगीण विकास एव नित नूतन विचार ग्रहण करने में विश्वास एव प्रयत्नशील रहते थे। वे अना-ग्रही थे। सहज किन्तु तर्काधारित विवेक बुद्धि से जो भी उन्हें सत्य प्रतीत होता था, बिना सयोगी परिणामो की परवाह किए, उसे स्वीकार लेते थे, और समर्पित भाव से उसका अनुकरण भी करते थे।

जीवन पर्यन्त वह धर्म एवं सस्कृति के व्यवहार पक्ष के पोषण में सजग रहे। सतो के पूजक एवं विद्वानों के सम्मान तथा आश्रयदाता रहे। कला, सस्कृति एव साहित्य आदि की रक्षा, सुरक्षा, प्रकाशन एवं उद्धार मे उन्होंने निष्काम भाव से अपना वैभव समर्पित कर दिया। कही कुछ कमी नहीं रखी। किन्तु जैसे ही जीवन के उत्तरार्ध में उनकी दृष्टि आत्मा के वैभव की ओर आकर्षित की गई या हुई, उन्होने तत्काल बिना झिझक के अत्यन्त साहसी स्वरो मे उसे स्वीकार कर ग्रहण कर लिया। यह वह स्थिति होती है जहा व्यक्ति अपनी पिछली मान्यता एवं आचरण को, भले ही वह प्रत्यक्ष मे कितना ही अहित-कर क्यों न हो, छोड़ने का साहस नही कर पाता और एकांगी पक्ष पोषण करता रहता है। साहूजी की यह परिणति उनकी जिन्दादिली एव खिलाड़ी भावना का परिचय देती है। यही कारण है कि जीवन पर्यंत उन्होंने सार-तत्व को बटोरा, ग्रहण किया और अन्त मे उस बिन्दु को पा लिया जिसका मिलना अत्यन्त दुर्लभ होता है।

खड-खड एव नय पक्षों मे विभक्त जैन समाज के अस्तित्व पर अनेक प्रश्न चिह्न लगे थे। साहूजी ने इसके दर्द को अनुभव किया। भगवान महावीर निर्वाण महोत्सव के काल में इस दर्द की वेदना को कम करने का अवसर

(शेष पृष्ठ ३८ पर)

अंतस् को सालती स्मृति

□ डा० शोभनाथ पाठक, मेघनगर

श्री की समृद्धि और सरस्वती की पांडित्यपूर्ण प्रखरता का समष्टिपूर्ण संयोग बिरला ही देखने को मिलता है, किन्तु जहां लक्ष्मी का भरपूर वैभव उफन पड़ा हो, वहा सरस्वती की ज्ञान-गरिमा भी गुरुत्तर हो, उसे गौरवान्वित करने पर तुली हो, ऐसा प्रायः होता नही है। किन्तु स्व० साहू शान्ति प्रसादजी जैन में इन दोनो देवियो की कृपा समाहित थी। "सोने मे सुगध" की उक्ति को यथार्थता प्रदान करने वाला साहू शान्ति प्रसादजी जैन का अनूठा व्यक्तित्व एक कीर्तिमान स्थापित कर युग के लिए यह आदर्श प्रस्तुत करता है, कि इतनी असीम सम्पत्ति के बावजूद भी वे साहित्य, संस्कृति व धर्म के प्रति इतने अधिक आस्थावान् थे। स्व० रमारानी जैन भी विधाता की अनुपम देन थी जो स्व० साहू जी के साथ धर्मपत्नी की विशिष्टतम भूमिका निभाते हुए साहित्य व कला के क्षेत्र मे कीर्तिमान स्थापित कर चुकी है, जिसका अनुपम उदाहरण है ज्ञानपीठ पुरस्कार योजना का सूत्रपात्र।

सामाजिक सचार, सांस्कृतिक विकास, नैतिक निरवार व आध्यात्मिक उत्थान के प्रति सतत प्रयत्नशील उनकी धार्मिक भावना, राष्ट्रीय निष्ठा व साहित्यिक सृजन को प्रोत्साहित करने की प्रवृत्ति से मैं बेहद प्रभावित था। इतने धनवान् होते हुए भी साहूजी की धार्मिक प्रवृत्ति को जितना भी सराहा जाए थोड़ा है। सर्वगुण सम्पन्न व्यक्तित्व वाले साहूजी की सहृदयता को आकना आसान नहीं है।

श्रावक शिरोमणि साहूजी के इसी गुण से अभिभूत मैं भी आशान्वित रहा कि उनकी विशेष कृपा से मेरा पी-एच० डी० शोध-प्रबन्ध "भगवान महावीर कथा" ज्ञानपीठ से अथवा उनकी कृपा सम्बल से प्रकाशित हो भगवान महावीर के आदर्शों, उपदेशो को जन-जन तक पहुंचायेगा, किन्तु उन दोनो (स्व० रमाजी तथा साहू शान्ति प्रसाद जैन) के असामयिक निधन से मुझे गहरा आघात लगा जो सदैव ही मेरे अंतस को सालता रहता है।

जैन धर्म के उद्धारक, स्व० साहूजी का राष्ट्रव्यापी धार्मिक कार्य चिरस्मरणीय रहेगा जो विविध रूपो मे उनकी गरिमा को गाते नहीं अघाते। देश के कोने-कोने मे उन्होने जैन धर्म की ध्वजा को फहराया है।

"भगवान महावीर कथा" शोध प्रबन्ध लिखते समय स्व० साहूजी से संपर्क हुआ था। देश के कोने-कोने से भगवान महावीर विषयक शोध सामग्री एकत्रित करने मे जहा एलाचार्य मुनि विद्यानन्द जी का कृपा-सम्बल मुझे प्रोत्साहित करता रहा वहीं, मुझे स्व० साहूजी को ग्रथ के प्रति निष्ठा भी निखार ला रही थी। प्रबन्ध की प्रेरणा उपाध्याय विद्यानन्दजी मुनि ने दी तो साहित्यिक थाती का विशाल भण्डार प्राकृत शोध-संस्थान, वैशाली से मिला जिसे साहूजी ने बनवाया है।

"भगवान महावीर कथा" पी-एच० डी० प्रबन्ध लिखते समय साहूजी के सम्पर्क मे आने के पश्चात् मुझे उनकी विशालहृदयता, धर्मपरायणता तथा जैन संस्कृति के प्रति अपार निष्ठा की अनुभूति हुई, जिसे शब्दो मे व्यक्त करना सम्भव नही। प्रबन्ध लिखने मे प्रोत्साहन का जो उफान था, वह बड़ी तीव्रता के साथ गतिशील था कि भगवान महावीर पर यह देश का प्रथम पी-एच० डी० प्रबन्ध उपाधि के पश्चात् ज्ञानपीठ से प्रकाशित हो जायेगा। इसीलिए प्रबन्ध का कार्य मैं दिन-रात एक करके कठोर परिश्रम के साथ शीघ्र पूर्ण करने में लगा था। पावा, वैशाली, कपिलवस्तु कुशीनगर, लुम्बिनी, गोरखपुर कपिया, छपरा, सारनाथ, वाराणसी, हस्तिनापुर, दिल्ली आदि की यात्राएं कर मैंने महावीर विषयक विशेष सामग्री एकत्रित की। यह सब सामग्री उपाध्याय विद्यानंद जी मुनि को भी दिखाई व मेरठ चातुर्मास मे ७-८ दिनों तक उनके पास रहकर मार्ग दर्शन लेता रहा।

स्व० शान्तिप्रसाद जैन भी मेरे इस शोध ग्रंथ लिखने के उत्साह से प्रभावित थे, इसलिए मैं दूने उत्साह से कार्य करता रहा। अन्तत: २५००वें निर्वाणोत्सव के पावन अवसर पर "भगवान महावीर कथा" पर पी-एच० डी० की उपाधि मिल गई।

"भगवान महावीर कथा" शोध प्रबन्ध के प्रकाशन के लिए मैं अत्यधिक आशान्वित था कि यह साहूजी की कृपा से हो जायेगा। ज्ञानपीठ के मंत्री श्री लक्ष्मीचंदजी जैन से भी २-३ बार मिला तथा साहू आलोक प्रकाश जैन के घर पर स्वयं जाकर पाडुलिपि (प्रबन्ध की टंकित प्रति) उन्हें दे दी कि इसे प्रकाशित कराने की कृपा करें। किन्तु सर्वत्र निराशा ही मुझे मिली अर्थात् प्रबन्ध प्रकाशित न हो सका। तब श्रीमती रमारानी जैन व श्री साहू शान्तिप्रसाद जैन का अभाव मुझे अखरने लगा कि यदि वे होते तो ···।

"भगवान महावीर कथा" को अतत: स्वयं 'पाठक-प्रकाशन, से प्रकाशित कर द्वितीय संस्करण की परिष्कृत प्रति देश के कोने-कोने में पहुंचा रहा हू। "भगवान महावीर कथा" नेपाल, भूटान, सिक्किम व देश के सुदूर भागों मे पहुंच गई है। प्रथम संस्करण तो एक वर्ष मे ही समाप्त हो गया।

द्वितीय संस्करण भी संभवत: शीघ्र समाप्त हो जायेगा, किन्तु इस सफलता के बावजूद एक अजीब-सी कसक, कचोट हृदय को सालती है व टीस भरी हूक उठकर विह्वल कर देती है कि यदि साहूजी या रमाजी होती तो इस "महावीर कथा" को दुनिया के कोने-२ में पहुंचने में मुझे सफलता और अधिक मिलती। असीम संघर्षों से इसे इस मंजिल तक पहुंचाया है किन्तु साहू दम्पत्ति का कृपा संबल इसे कहां पहुंचा देता···।

आज साहू श्रेयासप्रसादजी का आशीर्वाद व प्रेरणाप्र पत्र भी मुझे मिलता है कि मैं 'महावीर जीवन-दर्शन" विषय पर डी० लिट० का विशाल ग्रंथ लिखकर भगवान महावीर विषयक विश्वस्तरीय सामग्री का इसमे समावेश करूं जिसके लिए मैंने कार्य प्रारम्भ कर दिया है।

क्या महावीर पर विश्वस्तरीय सामग्री एकत्रित करने के लिए साहूजी की स्मृति मे साहूट्रस्ट से सहयोग प्राप्त हो सकता है। साहित्यकार को उनकी कितनी कृपा मिलती थी इसे शब्दों मे आंकना सभव नही।

मेघनगर (म० प्र०)

□□□

(पृष्ठ ३६ का शेषांश)

उन्हें मिला। जुट गए तन-मन-धन से वे जैन एकता, संगठन एव महावीर के उपदेशो मे प्रचार-प्रसार मे। जैन समाज एव धर्म जो मन्दिर की गलियो एवं शास्त्रो के पन्नो मे विलुप्त था, अब राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय जगत की धरोहर एवं आकर्षण का विषय बन गया। जगत ने जाना महावीर को एवं उनके अनुयायिओ को। समाज एव संस्कृति कृत-कृत्य हो गई साहूजी के इस महान प्रयास से। दि० जैन महासमिति के गठन हेतु उन्होने क्या नहीं किया? उन्होने अश्रुपूरित नेत्रों सहित समाज से जैन एकता हेतु मार्मिक अपील तक की और जीवन का उत्सर्ग उसी प्रयास में कर दिया। महासमिति उनके जीवन का अन्तिम किन्तु महत्वपूर्ण स्मारक है जिसका व्यापक गठन, विकास एवं रक्षा करना प्रत्येक जैन का परम कर्तव्य है। यही उनके प्रति समाज की सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

वस्तुत: उनके सर्वांगीण व्यक्तित्व के आगे एक-एक गुणो से विभूषित अन्य अनेक व्यक्तित्व बौने से लगते है। निष्काम समाजसेवा, धर्म परायणता, कला, साहित्य एव संस्कृति प्रेम, कर्तव्य निष्ठा, सरलता, उदार एव परोपकार वृत्ति, व्यापक एवं उन्मुक्त दृष्टिकोण, मानव सम्मान, प्राप्त साधनों एव अवसरो का समुचित सन्तुलित उपयोग, गुण ग्राहकता तथा आत्म वैभव को पाने का निरन्तर सतत प्रयास, ये सब ऐसे गुण हैं जो स्व० श्री साहूजी को अमरत्व प्रदान करते है। बाह्य वैभव वो उनसे भी अधिक बहुतों को मिला था, मिला है और मिलेगा, किन्तु उक्त आत्मिक गुणों के सामने उनका क्या मूल्य? समग्र रूप से, मेरी दृष्टि में, वे सच्चे जैनत्व के जीवन्त प्रतीक थे, जो इस दृष्टि से सदैव जैन जगत के प्रेरणा स्रोत बने रहेंगे।

मैं० ओरियण्ट पेपर मिल्स,
शहडोल (म० प्र०)

□□□

समाज और राष्ट्र की सेवा के लिए समर्पित व्यक्तित्व

□ श्री सत्यंधर कुमार सेठी, उज्जैन

भारतीय साहित्य में मानव जीवन की मौलिकता का अंकन करने के लिए कहीं भी किसी भी तरह की मिशाल देखने को नहीं मिलती। इसलिए मानव जीव को अमोलिक जीवन माना है। इस जीवन से सम्बन्धित पौराणिक ग्रंथों में अनेक कथायें महान साधको द्वारा लिखी गई हैं जिनमें बतलाया गया है कि मानव ने अपने जीवन का निर्माण करके किस तरह मानवता प्राप्त की है और उसके बाद सत्य, अहिंसा और अनेकांत विचारधारा के आधार से अपने आपको देश, राष्ट्र और प्राणी सेवा के लिए समर्पित कर दिया है। तीर्थंकर जैसे महापुरुषो की पूर्व भव की जीवनियों मे भी ऐसे सकेत मिलते है जिनमे वे साधना के बल पर विश्व के समस्त प्राणियो की सेवा का व्रत लेते है। सेवा ही जीवन का एक महान व्रत है जिसका सम्बन्ध न राज्य शासन से है और न धन सम्पदा से और जिसका स्पष्ट उदाहरण भगवान महावीर का है। भगवान महावीर अपार वैभव और राज्य सम्पदा के बीच पैदा हुए, लेकिन उनके जीवन का लक्ष्य आत्मविश्वास के साथ निरन्तर प्राणी सेवा व राष्ट्र सेवा का रहा और वे इस संकल्प की पूर्ति मे लगे रहे और उन्होंने अपने इस महान मानव जीवन को सफल किया। ऐसे महापुरुष हमेशा से होते आये है और भविष्य में होते रहेंगे। इस युग मे भी अनेक सतों और विद्वानो ने भी जन्म लिया है जिनके द्वारा राष्ट्र के प्राणियो की अनन्त सेवाये हुई है जिनमे पं० टोडरमलजी, पं० सदासुख जी, प० बनारसीदासजी, प० गणेशप्रसादजी आदि के नाम उल्लेखनीय है।

इन विशिष्ट पुरुषो के स्वर्गवास के बाद भी इस भारत भूमि पर एक ऐसी विभूति ने जन्म लिया, जिसका जन्म जैन कुल मे व विशाल वैभव के बीच मे होते हुए भी उसने अपने जीवन की समस्त सेवायें राष्ट्र और समाज के विकास के लिए अर्पित कर दी। वह विभूति है श्री साहू शान्ति प्रसाद जैन, जिनके संबन्ध में हम गौरव के साथ लिख सकते हैं या कह सकते हैं कि इस महान व्यक्ति का महान जीवन किसी एक जाति विशेष व समाज विशेष के लिए नही रहा। साहूजी का जन्म कहां हुआ, कितने बड़े घराने में हुआ, वे कितने बड़े उद्योगपति थे इसमें मैं नहीं जाना चाहता। इन चीजों से किसी का व्यक्तित्व नहीं आंका जा सकता। महान वह है जो इन सबसे अपने आपको बचाकर देश व समाज की सेवाओं में अपने आपको अर्पित कर देता है। साहूजी के जीवन से सबधित अनेक लेख व ग्रथ प्रकाशित हुए है और होते रहेंगे, जिनमें उनके जीवन की झांकियां अनेकों मिलेंगी। लेकिन जहां तक मैं उनके सम्पर्क में आया हूं, मैंने उनके जीवन मे व कार्यों से यही अनुभव किया कि वे एक अलिप्त श्रावक की तरह अपने जीवन के निर्माण में जुटे रहते थे। मैंने हमेशा उनके हृदय मे उदारता और करुणा के दर्शन किए व चेहरे पर हमेशा शाति के भाव। न उनमें अभिमान की भावनाये थी और न किसी प्रकार की प्रतिष्ठा की भावनायें। उनमे हमेशा लघुता और मानव भावनाओ के दर्शन होते थे। वे सही रूप मे एक धार्मिक महापुरुष थे। उनके जीवन का लक्ष्य अनाथ, गरीब और अबलाओं की सेवा का था और साहित्य-प्रचार व इतिहास-प्रकाश का था, जिसके लिए आपने प्रचुर मात्रा मे धन का उपयोग किया।

गरीब छात्रों के लिए आपन दिल खोलकर छात्रवृत्ति फड खोले व असहाय अबलाओ को ऊचा उठाने के लिए सहायक फण्ड खोले, जिनसे आज भी इस वर्ग का अत्यधिक उत्थान हो रहा है। इसी तरह, आपने साहित्य और इतिहास के प्रचार के लिए ज्ञानपीठ जैसी महान् सस्था को जन्म दिया, जिसके द्वारा साहित्य जगत की आज भी सेवायें हो रही है। इस सस्थान द्वारा अलभ्य जैन ग्रन्थों का सरल और स्पष्ट भाषा मे प्रकाशन करके जो जैन साहित्य व इतिहास को प्रकाश मे लाने का प्रयत्न किया गया है वह जैन इतिहास मे हमेशा स्मरणीय रहेगा। जैन समाज के लिए साहूजी की यह एक ऐसी देन है जिसके लिए जैन समाज कृतज्ञ रहेगा। यह देन जैनों तक ही सीमित नही लेकिन भारतीय वाङ्मय के लिए भी सर्वोपरि देन है जो प्रतिवर्ष सर्वोपरि साहित्य के लेखक को एक लाख रुपये की राशि का पारितोषिक देती रही है।

यह एक बहुत बड़ा आदर्श है।

इसी तरह, भारत के समस्त तीर्थों को प्रकाश में लाने के लिए समाज के सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० बलभद्रजी साहू साहब ने प्रेरणायें दी जिससे प्रभावित होकर भारत के कोने-कोने मे जाकर पंडितजी ने जैन तीर्थ का इतिहास बटोरा और उसे वे प्रकाश मे लाये।

२५००वें निर्वाण महोत्सव के इस रूप में सफल होने का श्रेय भी माननीय साहू साहब को है जिन्होंने अपनी समस्त शक्तियां लगाकर राष्ट्रीय स्तर पर इसका आयोजन करवाया। भगवान महावीर के निर्वाण के बाद जैनो का यह पहला आयोजन है जो सार्वजनिक रूप से विश्व के कोने २ मे मनाया गया। इस आयोजन से सर्वसाधारण को यह समझने का अवसर मिला कि जैन धर्म के मूल सिद्धान्त अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकांत राष्ट्र के लिए कितने उपयोगी है।

साहूजी जितने धार्मिक और साहित्यिक प्रेमी थे उतने ही वे समाजसुधारक भी थे। वे सामाजिक रूढ़ियो के कट्टर विरोधी थे। वे हमेशा समाज को वर्तमान रूढ़ियों से मुक्त कराने के लिए प्रयास किया करते थे। उनको विवाह-शादियो के प्रदर्शन बिल्कुल पसन्द नही थे। वे चाहते थे कि अत्यन्त सादगी के साथ ये सम्पन्न हों। जहा तक मेरा अनुमान है, उन्होंने अपने बच्चो की शादियो मे किसी भी प्रकार का दिखावा व प्रदर्शन नही किया था। वे अ भारतवर्षीय दि० जैन परिषद की विचारधारा के पूर्ण समर्थक थे और उसके माध्यम से वे समाज को हमेशा सबोधित करते थे। साहूजी के विचारों मे यह भी विशेषता थी कि वे समन्वय विचारधारा के सबसे बडे व्यक्ति थे। परिषद् के सर्वेसर्वा होने पर भी महासभा और परिषद् को एक करने के लिए उन्होंने कई बार प्रयास किया। साहू जी चाहते थे कि हम संगठन को महत्ता दें जिससे हमारी शक्तियों का उपयोग अच्छाइयो में हो। साहूजी न कट्टर बीस पंथी थे और न तेरह पंथी थे। वे पंथ से ऊपर उठे हुए विचारों के थे। वे कभी भी वैचारिक सघर्ष में नही गए। वे सही रूप में अनेकांतवादी थे। इसीलिए वे भाषणों को महत्व नही देते थे। वे महत्व देते थे अहिंसा और अनेकांत विचारधारा को। साहूजी ने जीवन के अन्त तक एकता के लिए अथक प्रयास किया और इसको मूर्तरूप देने के लिए दि० जैन महासमिति जैसी विराट सस्था को जन्म दिया, जिसका स्थान भारत के कोने-२ मे वटवृक्ष की तरह साकार हो रहा है। यदि समाज ने साहूजी की इस भावना को साकार रूप दे डाला तो इस युग में उनके प्रति जैन समाज की यह सबसे बडी श्रद्धांजलि होगी।

साहूजी अनेक सस्थानो के सस्थापक, व्यवस्थापक व सचालक थे। समाज के कार्यकर्ताओं के प्रति उनका अगाध प्रेम था। उनको सम्मान देते थे और अपने मकान पर बड़ा भारी आतिथ्य करते थे। कई बार सस्थाओ के अधिवेशनो म मुझे उनके प्रत्यक्ष दर्शन करने के अवसर मिले है। वे मुझे देखते ही आगे बढकर गले लगाते थे और मेरी पीठ ठोका करते थे। उनमे समाज के कार्यकर्ताओं के प्रति जबर्दस्त आत्मीयता थी। ऐसा कभी अवसर नही आया जब पर्यूषणराजपर्व और दीपावली पर मुझे वे भूल जाते। उनमे वात्सल्य और समता का जबर्दस्त समन्वय था। ऐसे एक नही अनेकों उदाहरण है।

मैं यहां स्वर्गीया रमा रानीजी को भी नही भूल सकता। जिनकी सही प्रेरणाओं से ही साहूजी का जीवन महान् बना। रमाजी सही रूप मे आदर्श देवी थी।

इतने विशाल कुटम्ब के बीच रहते हुए भी उन्होने अपने कर्तव्य को निभाया व स्वयं अनेक सस्थाओं का संचालन किया।

मैं तो यही निवेदन करना चाहूगा कि जैन समाज साहूजी जैसे आदर्श पुरुषो के पदचिह्नों पर चलकर उनके स्वप्न को साकार करे और उनकी संगठन और एकता की भावना को मूर्त रूप दे जिससे कि स्वर्गीय आत्मा को शांति प्राप्त हो।

मैं भी उस महामानव के चरणों में सही रूप से श्रद्धा सुमन अर्पित करता हुआ भगवान महावीर से प्रार्थना करता हूं कि वे मुझे भी वह शक्ति प्रदान करें जिससे मैं उनके पदचिह्नों पर चल सकूं।

□□□

पुरातत्त्व के अमर प्रेमी

□ डा० सुरेन्द्र कुमार आर्य, उज्जैन

साहूजी अपने बहुविधि व्यक्तित्व के कारण चिर-स्मरणीय थे। वे एक सफल उद्योगपति, जागरूक विचारक और सामाजिक कार्यकर्ता के साथ-साथ धर्म, दर्शन, कला, राजनीति और साहित्य में भी विशेष रुचि रखते थे। भारत देश की प्राचीन सम्पदा व अतीत की गरिमा के प्रसंगों में आपका मन अधिक रमता था। उनका पुरातत्व में भी विशेष आकर्षण था और एक जागरूक पाठक की भांति हर उत्खनन और नई पुरातात्विक उपलब्धियों पर लेख, सस्मरण व रिपोर्ट पढा करते थे। मेरा उनसे कभी साक्षात्कार न हो सका, परन्तु पत्रों द्वारा सूचनाओं का आदान-प्रदान होता रहता था, और उसी पत्र-व्यवहार के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि प्रातःस्मरणीय श्री साहूजी पुरातत्व विषय मे अत्यधिक रुचि रखते थे।

उज्जैन के मालवा प्रान्तीय दिगम्बर जैन संग्रहालय, जयसिंह पुरा के विषय मे उनकी गहरी रुचि थी। यह सग्रहालय पंडित सत्यधरकुमार सेठी एवं श्री भूपेन्द्रकुमार सेठी के अथक प्रयासों से स्थापित किया गया था। इस सग्रहालय की मूर्तिशिल्प के कालक्रमानुसार व्यवस्था के लिए मैं सन् १९६८ से ही क्रियाशील था। डा० वि० भो० वाकणकर, श्री नारायण भाटी, श्री दीप चन्द जैन, श्री लालबहादुर तोमर के साथ मैंने समस्त ५१० प्रतिमाओं का क्रमांकीकरण, अभिलेखों की प्रतिलिपि एवं मूर्ति सौष्ठव का एक वृहत् केटलाग तैयार किया था। उस केटलाग को ज्ञानपीठ की ओर प्रकाशनार्थ भेजा गया। इसी बीच अखिल भारतीय ओरिएन्टल कान्फ्रेंस का उज्जैन अधिवेशन हो रहा था, अतः एक परिचय पुस्तिका इस सग्रहालय की प्रकाशित की जो समस्त कलाप्रेमी प्रबुद्ध पाठको को वितरित की गई। मैंने एक प्रति आदरणीय साहू जी के पास भेजी थी और उनका मंतव्य मांगा था। इस पर साहूजी ने एक विस्तृत पत्र दिया था कि परिचय पुस्तिका को पढ़कर उन्हे हर्ष हुआ व किन-किन स्थानों से कब-कब संग्रह किया गया है और जैन प्रतिमाओं पर शोध करने वालों को यहां किस प्रकार की सुविधा दी जाती है? क्या जैन धर्म के अतिरिक्त भी इस संग्रहालय मे अन्य प्रतिमाएं हैं? साथ ही ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित 'जैन आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर' डा० अमलानन्द घोष द्वारा संपादित होने वाला था। उसके लिए इस संग्रहालय की मूर्तियों का वर्गीकरण करके एक विस्तृत लेख भेजने को लिखा था। मैंने व पं० सत्यंधर कुमार जी ने संयुक्त रूप से एक लेख भेजा था जो उस ग्रन्थ के भाग-२ में अध्याय ३८ में पृष्ठ ५८७ से ५८८ तक छपा भी, और लगभग १५ चित्र मूर्तियो के भेजे।

संग्रहालय मे मालव प्रदेश के बदनावर, पचोर, जामनेर, ईसागढ, सुन्दरसी, मक्सी, आष्टा, इंदार आदि स्थानों से प्रतिमाएं एकत्र की गई थीं व उनका संग्रह कर यहां स्थापित करने का समय व महाकाल क्षेत्र की व कालियादह की शिवनृत्य व शिव पार्वती, सरस्वती आदि प्रतिमाओं का हवाला दिया था, तब साहूजी ने लिखा था कि यह जैन व जैनेतर ब्राह्मण शैवधर्म की प्रतिमाओं का एक भारतीय स्तर का संग्रहालय है तथा उसका विधिवत् आकलन होना चाहिए—इससे भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल पक्ष का सबल रूप विद्वानों के समक्ष आया है।

साहूजी की इच्छा थी कि यह संग्रहालय उज्जैन का एक प्रमुख आकर्षण केन्द्र बने और देश-विदेश के विद्वान् इस ओर आकर्षित हो। हमने उनकी इच्छानुसार एक सचित्र अलबम, मूर्ति विवरण, पहचान, लांछन, आयुध, यक्ष-यक्षिणी व पादपीठ के शिलालेखों के वाचन के साथ तैयार किया। न्यूमायर इरविन (आस्ट्रिया), बेनेट पिटर (लंदन), लोथार बांके (आस्ट्रिया) व क्रूजर (इगलैंड) ने इसका मूर्तिशिल्प देखा, फोटोग्राफ लिए व इसकी मूर्तियों का प्रकाशन किया। साहूजी ने पत्र मे लिखा था कि मालवा के जैन तीर्थों पर एक पुस्तक तैयार की जाय। उसी श्रृंखला में मैंने "मक्सी जैन तीर्थ : एक परिचय व इतिहास" पुस्तक लिखी जो हाल ही मे प्रकाशित हुई है। ऊन, ओंकारेश्वर, बड़वानी, बनेड़िया पर भी मैं लेखन कर रहा हूं। सभी के प्रेरणास्रोत आदरणीय साहूजी थे।

साहूजी का मत था कि प्राचीन मूर्तियो मे युगों की श्रद्धा समन्वित रही है। अतः यह हमारे लिए धरोहर है। राष्ट्र के लिए यह थाती है जिस पर युगों तक भारतीयो को गर्व होगा।

अन्त मे उनके प्रति श्रद्धांजली प्रस्तुत करता हूं।

विक्रम विश्वविद्याल, उज्जैन (मध्य प्रदेश)

□□□

महाप्रभावक श्रावक शिरोमणि

□ पण्डित सुमेरचन्द्र जैन, दिल्ली

उन्नीसवीं शताब्दी में जैनधर्म और जैन संस्कृति के अभ्युदय के लिए जिन तेजस्वी, असाधारण प्रतिभासपन्न, दानवीर महान आत्माओं ने जन्म लेकर लोक कल्याणकारी आश्चर्यजनक कार्य किए उनमे स्वनामधन्य सेठमाणिकचद्र जी जह्वेरी और जैन समाज के अनभिशिक्त सम्राट रावराजा सेठ हुकमचन्द जी थे। उनके पश्चात् सर्वतोमुखी प्रतिभा को लेकर भ० महावीर के शासन को और अहिंसात्मक संस्कृति के उत्थान के लिए जिन्होंने अथक परिश्रम किया उनका नाम काव्य प्रतिष्ठित महाप्रभावक श्रावक शिरोमणि साहू शांति प्रसाद जी है।

साहूजी की प्रतिभा चतुर्मुखी थी। उन्होने व्यापार, तीर्थभक्ति, जिनवाणी भक्ति समाज निर्माण का महान कार्य, धर्मोन्नति की तीव्र आकांक्षा और अध्यात्मज्ञान की पिपासा, इन सभी विषयो मे उन्होन महत्वपूर्ण कार्य किए जिन्हें हम युग-युग तक याद करते रहेंगे।

वे भारतीय माता क ऐसे दिव्य सपूत थे जो जीवन भर विविध प्रकार से जैन संस्कृति, अहिंसात्मक विचारधारा और भारतीय दिव्य विचारों के पोषण के लिए सतत प्रयत्नशील रहे।

भ० महावीर स्वामी के २५००वे निर्वाण महोत्सव पर उन्होने जो असाधारण कार्य किए, उन्हे देख हमे भिक्षुराज खारावेल (जो महापराक्रमी और शक्तिशाली नरेश था और जिसने दुर्दान्त शत्रु का परास्तकर कुमारी पर्वत पर खण्डगिरि मे धर्मोद्योतन का महान कार्य किया) की याद आ गई।

दिल्ली में भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण पर महोत्सव मे एक छोटी-सी पुस्तक जब साहूजी को दिखाई तो बोले कि "तुमने तो सभी की प्रशंसा लिख दी।"

वस्तुत: जिन्होंने निर्वाण महोत्सव पर क्रियात्मक सहयोग दिया इसमे उन्ही महानुभावो की प्रशसा है अन्य की नहीं। इस पुस्तक में उनके सम्बन्ध में लिखा था।

चतुर्विध सघ मे किसने कितना श्रद्धा का भाग अपने हृदय के विकसित पुष्पों से भरकर पुष्पांजलि २५०० वर्षों के पश्चात् वीर भगवान के चरणों में अर्पित की, इसका तो हम सभी मूल्यांकन नहीं कर सकते। परन्तु यह बात हम अवश्य जानते है कि उसमे उमग से भरकर कृतकारित अनुमोदना से और तन, मन, धन से सर्वत्र जागृति और प्रेरणा का स्रोत जिसके द्वारा हुआ, वे हे स्वनामधन्य लब्धप्रतिष्ठित जैन समाज के मुकुटमणि साहू शान्ति प्रसादजी है। वे समाज के ऐसे ज्योतिर्मान दैदीप्यमान रत्न है जो अस्वस्थ होने पर भी भ० महावीर निर्वाण महोत्सव के लिए सतत जागरूक रहे। समाज के मार्गदर्शक जैन समाज के सभी मुनिजनों, त्यागियों, व्रती विद्वानों और श्रावक वर्ग के प्रिय रहे। इस उत्सव की सफलता का श्रेय साहूजी की तीव्र लगन को है जिन्होंने अपनी निष्ठा और कर्तव्यशीलता से समाज के मन को मोह लिया और उत्सव मे चार चाद लगा दिए।

वैष्णव कुल मे जन्म लेने पर भी श्रीमती रमा रानी जी के मन मे जैन धर्म और जैन संस्कृति के प्रति बड़ी भक्ति थी। वे साहूजी को सतत धार्मिक कार्यों मे प्रोत्साहन दिया करती थी।

यद्यपि साहूजी का अन्तःकरण स्वतः जिन शासन की प्रभावना करने म सदैव उत्साहित रहता था परन्तु रमा जी का सहयोग सोने मे सुगन्धि की तरह चरितार्थ हुआ।

जैन संस्कृति और जैन धर्म के उत्थान मे सदैव जैन महिलाओ ने असाधारण शक्ति लगाकर आश्चर्यजनक कार्य किए है। प्राचीन काल म अनेक तपस्विनी, दान शीला, वीरप्रसवा, शूरवीर, तेजस्वी, शक्तिशाली, वीराङ्गना लेखिका, कवियित्री, प्रथक, बुद्धिमती नारी रत्न हुई जिन्होंने जिन शासन को उद्योग करने म भी प्रभावना अङ्ग

के पालन करने में महत्वपूर्ण अनूठे कार्य किए हैं। स्त्रियों की तेजस्वी शक्ति से ही समाज सच्चे अर्थों में उत्कर्ष को प्राप्त होकर सर्वांगीण उन्नति को प्राप्त हो सकती है।

श्रीमती रमारानीजी उन्हीं वीर महिलाओं के पदचिह्नों पर चलीं, जिन्होंने संस्कृति उत्थान के कार्य मे प्रभावशाली कार्य किया, जिससे जनता में अपने कर्तव्य के प्रति श्रद्धा बलवती हुई और उनका सबसे बड़ा कार्य यह हुआ कि वे साहूजी को दिल खोलकर उदारता के साथ धर्म, संस्कृति, साहित्य, जिनवाणी, तीर्थ और समाज निर्माण के कार्य में प्रोत्साहन देती रहीं जिससे जैन समाज के जीवन मे एक नई चेतना जागृत हुई और जिसका सुमधुर फल निकला।

साहूजी ने व्यापार के कार्य को खूब बढ़ाया। अनेक फैक्टरियों, व्यापारिक संस्थानो, विविध उद्योगो को इतने ऊंचे दर्जे पर ले जाना उनकी प्रतिभा का उत्कृष्ट नमूना था। जबकि आज के समय मे मालिक मजदूरों के संघर्ष निरन्तर चलते रहते है, हजारों कामगारों से काम लेना, उन्हें संतुष्ट करना और अपने वाणिज्य का सर्वतोमुखी विकास करना उनका व्यक्तिगत चमत्कार ही था।

सारे देश में जितने तीर्थ है, उनमें सबसे अधिक मध्य प्रदेश में जैन तीर्थ हैं। मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश के जिस इलाके को बुन्देलखण्ड कहते है, प्राचीन काल मे वहां अनेक सिंघई, सवाई सिंघई और श्रीमंत धनिक हुए जिन्होंने अपनी चंचला लक्ष्मी का सही उपयोग जिनेन्द्रदेव के मंदिरों के निर्माण मे लगाया। बहुत समय तक वे धर्म और संस्कृति के केन्द्र बने रहे। जब गांवों की ओर से शहरों की ओर ग्रामीण जनता का रुख हुआ तो वे तीर्थ उपेक्षित हो गए। फलस्वरूप उनका सौन्दर्य मलिन हो गया। धीरे-धीरे वे जीर्ण होकर अपने अस्तित्व को ही खतरे मे डालने लगे। उनका उद्यम करना सामान्य बात नही थी। साहूजी ने उनके दर्शन किए। उनके मन मे टीस हुई और उनके उद्धार का संकल्प उनके मन मे जागृत हुआ। अपने मुख्य इन्जीनियर को भिजवाकर उन तीर्थों का सर्वे किया गया और नये सिरे से एक सुयोग्य महानुभाव की देख-रेख मे लाखों रुपये व्यय करके उन तीर्थों का जीर्णोद्धार किया गया। इसी प्रकार अहिच्छत्र पार्श्वनाथ तीर्थ क्षेत्र की मुख्य वेदी के पास इतना स्थान नहीं था कि दस-पांच महाज सुविधापूर्वक बैठ सकें और परिक्रमा भली प्रकार लगा सकें। जब इस विषय की ओर साहूजी का ध्यान आकर्षित किया गया तो उन्होंने एक लाख रुपये से स्वयं अधिक रुपये लगाकर मनोज्ञतम वेदी और नये सिरे से भवन शिखर बनवाकर तीर्थ का उद्धारकर दिया। इसी प्रकार न मालूम कितने तीर्थों का जीर्णोद्धार उनके द्वारा हुआ। वे सच्चे अर्थों में तीर्थभक्त शिरोमणि थे।

इसी प्रकार जिनवाणी उद्धार के लिए उन्होंने भारतीय ज्ञानपीठ की स्थापना की जिसके द्वारा संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी और दक्षिण की भाषाओं के ग्रंथ सर्वाङ्ग सुन्दर रूप में नई सज्जा के साथ इस प्रकार प्रकाशित कराये जो पहले कभी नहीं हुए थे।

जो ग्रंथ प्रकाशित हुए वे आभ्यन्तर विषय की दृष्टि से और बाह्य सज्जा की दृष्टि से नयनाभिराम, अनुपम और अद्वितीय थे जिनकी सभी सरस्वती पाद सेवियों ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की और दूसरो के लिए उनका अनुकरण करने की प्रेरणा दी। इसी संस्था के द्वारा एक ऐसा महान कार्य हुआ जिससे देश की चौदह भाषाओं के सर्वोत्तम ग्रंथकार का सम्मान किया गया और प्रति वर्ष वाग्देवी सरस्वती की मूर्ति सहित एक लाख रुपये का सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार प्रदान किया गया, जिसके फलस्वरूप सभी भाषाओं के साहित्यकार विविध भाषारूपी मणियों को एक माला मे गूंथने और एक-दूसरे के निकट आकर आत्मीयता प्रकट करने लगे। इससे भारतीय संस्कृति का गौरव बढ़ा और साहू जी की दानशीलता, दिग्दिगान्त व्यापिनी हुई, यद्यपि उन्हें स्वयं अपनी प्रशंसा सुनने का रंचमात्र भी चाव न था। उन्हे काम मे विश्वास था।

समाज निर्माण के कार्य मे उनकी बड़ी रुचि थी। दिगम्बर जैन समाज में जो अनेक संस्थायें अपने-अपने क्षेत्र मे कार्य कर रही थी उनमे से कोई भी संस्था समस्त जैन समाज का प्रतिनिधित्व करने का दावा नही कर सकती थी। ऐसी परिस्थिति में भ० महावीर निर्वाण महोत्सव कैसे सफल हो, इस बात को ध्यान में रखकर दिगम्बर जैन भ० महावीर निर्वाण समिति बनाई गई जिसके माध्यम से वीर निर्वाण महोत्सव और धर्मचक्र प्रवर्तन का अत्यन्त

गौरवशाली कार्य सम्पन्न हुआ। साहूजी की आन्तरिक इच्छा थी कि समस्त जैन समाज एक झंडे के नीचे आए। उन्होंने इस कार्य में अथक परिश्रम किया और दिगम्बर जैन महासमिति का निर्माण किया गया।

महासमिति का दायित्व बहुत बड़ा है। उसके द्वारा अधिक काम हो, सभी की आन्तरिक प्रेरणा। इस बात मे है; इसके कार्यकर्ताओं का ध्यान एकांगी न हो; उनकी सर्वाङ्गीण दृष्टि हो। यद्यपि राजनैतिक अधिकार हम अलग से नहीं चाहते, पर इतना अवश्य चाहते हैं कि हमारी धार्मिक संस्कृति के विकास मे किसी प्रकार की बाधा न आए। समस्त जैन शिक्षण सस्थाओ मे धर्म शिक्षा दी जाए। तीर्थों की सुरक्षा हो। आसपास का वातावरण अहिंसात्मक बना रहे इसी प्रकार जैन समाज भारत के गाव-गाव में फैला है। हमारा उनका सम्पर्क टूट गया न तो। उन्हें केन्द्र से प्रकाश मिलता है और न उनकी कठिनाइयों और समस्याओं को हल करने की समस्या हम मिल बैठ कर सुलझाते है। इसलिए दूरी बढ़ती जाती है और आत्मीयता कम होती जाती है। अतः आवश्यक है कि प्रान्तो मे महासमिति के कार्यालय हो और कतिपय विद्वान् उपदेशक रक्खे जायें जो देश की धर्मप्राण जनता मे धार्मिक सस्कार जगावें, स्वाध्याय, श्रावको के कर्तव्य, धर्मशिक्षण देने की व्यवस्था आदि कार्यों मे रुचि जगावें। मिशनरी ढग से युवको को कार्य करने की प्रेरणा दें। साहूजी इस बात से अत्यधिक खिन्न थे कि नवयुवको मे उज्ज्वल संस्कार कम होते जाते है। उनमे किस प्रकार चरित्र निर्माण की सुरुचि जागृत हो, यह कार्य उत्तम शैली से दी गई धर्म शिक्षा से ही सम्भव है।

उनमे अपने कार्यकर्ताओ के प्रति बड़ा स्नेह था। वे श्री तनसुखराय स्मृति ग्रथ समिति के अध्यक्ष थे और मैं उसका संयोजक। उन्होने सारे लेख मंगवाकर एक-एक लेख देखा और उन्हें जो सुझाव देना था देते गए। तनसुख रायजी समाज के कर्मठ कार्यकर्ता थे जिन्होने विविध प्रकार से समाज की सेवा की। साहूजी के वे दाहिने हाथ थे। सैकड़ों कार्यकर्ता, या जिन्हे उनसे प्रोत्साहन मिलता, था उनके बिना अभाव का अनुभव करने लगे।

साहूजी मे आत्म-कल्याण की महती भावना जागी। वे कई बार मुनि श्री शान्ति सागर जी महाराज के पास दर्शनार्थ पहुंचे और दीक्षा ग्रहण करने की अभिलाषा प्रकट की। प्राचीन काल मे अमोघवर्ष जैसे प्रतापी राजा राज्यत्याग कर दीक्षा अंगीकार करते और स्वपर कल्याण में दत्तचित्त रहते थे। उनके द्वारा जैन शासन की महती प्रभावना होने वाली थी। साहूजी के मन मे भोगों से उदासी और आत्मोद्धार की तीव्र आकांक्षा बलवती हुई। वे जानते थे कि हमारे पूर्वज ऋषियो ने जो ज्ञाननिधि हमे सौंपी है, कुछ लोग उससे न तो स्वयं लाभ उठाते है और न दूसरों को उठाने देते है; क्यो न मै वीर शासन के सर्वोदय सिद्धान्तो का अधिक से अधिक प्रचार करू। वे अस्वस्थ हो गए। सर गगाराम हास्पिटल मे जब उन्हे देखने गया तो उनकी शारीरिक स्थिति अच्छी न थी। चिकित्सा चल रही थी। परन्तु दुर्भाग्य एव काल के क्रूर हाथो से समाज की अनुपम निधि लूट ली गई।

वे सच्चे अर्थों मे भामाशाह थे। उनकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। ऐसी दिव्य विभूतियां कभी-कभी अवतरित होती है जिनके मन मे यह भावना होती है :–

न तन सेवा न मन सेवा, न जीवन और धन सेवा।
मुझे है इष्ट जन सेवा, सदा सच्ची भुवन सेवा॥

हमे विश्वास है कि उनके पुत्र रत्न उनके पदचिह्नों पर चलेंगे।

पाडव नगर, पटपड़गज, दिल्ली

□□□

युग के भामाशाह

□ श्री लक्ष्मीचन्द्र 'सरोज', जावरा

युग के भामाशाह एक तुम, साहू शान्ति प्रसाद।
देश तथा समाज यह कह कर, तुम्हे करेगा याद ।।

नोबल पुरस्कार से कुछ कम, अर्थ भावमय नाद।
ज्ञानपीठ का पुरस्कार सच, मानवता का वाद ।।

सत्य रमापति सफल हुए तुम, कर निधि का उपयोग।
लक्ष्मी-सरस्वती का तुम में, था मणि-कांचन योग ।।

श्रीमानों औ विद्वानों के, केन्द्र-विन्दु तुम शान्ति।
सामाजिक औ धार्मिक मानव, केन्द्र-विन्दु तुम शान्ति ।।

जीवन के उत्थान-पतन में, रखा न हर्ष-विषाद।
एक मंच, ध्वज, प्रतीक, आगम, लेकर बने प्रसाद ।।

जनगण मन के माने अनुपम, अनभिषिक्त सम्राट्।
संसृति-जीवन-कृतित्व तेरा, था बहुमूल्य विराट ।।

व्यापारी विद्वान् नेक तुम, करके नहीं विवाद।
जिज्ञासू बन सत्य शोधते, करते धर्म-निनाद ।।

जैन धर्म जन धर्म बने औ, श्रमण संस्कृति-भाव।
भूले जग-जन ऋजुता न, भव-भ्रमण-संस्कृति-चाव।

लौकिक होकर सत्य अलौकिक, अनुपम अमित ललाम।
कार्य-संस्थाओं से रवि-शशि, सदृश अमर सुनाम ।।

तेरे जीवन की गाथा का, जो सुन ले सवाद।
निरभिमान हे परोपकारी ! पढ़ भूले अवसाद ।।

साहस-शौर्य बुद्धि-विद्या ले, अतिशय परम उदार।
अपने जीवन से सिखलाया, सुखद समाज-सुधार ।।

जैन जगत के अनुपम राजा, किए सहस्रों काम।
श्रद्धांजलि लो कहें सहस्रों, शत-शत बार प्रणाम ।।

मर कर भी तुम अमर हो गए, साहू शान्ति प्रसाद।
अपने यश-शरीर से जीवित, साहू शान्तिप्रसाद ।।

बजाज खाना, जावरा (म० प्र०)

सरस्वती के पुजारी

□ श्री बती रूपवती 'किरण', जबलपुर

सरस्वती का एकनिष्ठ अनन्य पुजारी अनायास सो गया, यह सुनकर मस्तिष्क में क्षण भर को यह प्रश्न कौंध गया कि आजीवन सक्रिय रहने वाले जागरूक व्यक्ति को निद्रा कैसे आ गई ? तत्क्षण तथ्य उजागर हो गया कि यह निद्रा नहीं चिर निद्रा है, जो अब कभी नही खुलेगी। सृष्टि का अटल नियम है। जो आता है, वह जाता है। जन्म के साथ ही प्राणी मरण की ओर पैर बढ़ा देता है, अनजाने ही। संसार ही परिवर्तनशील अस्थिर है तो उसमें आरूढ यात्री कैसे स्थिर रह सकता है ? यह अस्थिरता भी उस ज्वलंत सत्य को उद्घटित करती है, जो आज तक एक अबूझी पहेली बना हुआ है। संसार यात्रा का साथी शरीर नश्वर है। स्थिति समाप्त होते ही वह पिंड ब्रह्माण्ड में बिखर जाता है, परंतु आत्मा यथावत् है। शरीर के मिलने से वह न अधिक होता है, न बिछुडने से न्यूनता आती है। प्रत्यक्षतः अनेक शरीर जीर्ण होते तथा मृत्यु को प्राप्त होते देखे जाते हैं। उन शरीरों में श्रीमान् धीमान् आदि कोई भी संज्ञा धारण करने वाली आत्माएँ विद्यमान रही हों, किन्तु सभी शरीर कालधर्म से अछूते रह चिरस्थायी नहीं हुये। जो इस भेदविज्ञान को आत्मसात् कर लेता है, वह आत्मा इस आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाता है। वे ही पूज्य एवं अनुकरणीय हैं, परंतु मुक्त होने के पूर्व जो यात्री अपने मानव जीवन की लघुतम यात्रा शुभ भाव व शुभ कार्यों के द्वारा सफल कर लेते है, वे धन्य है। ऐसे भाग्यवानों में थे स्वनामधन्य श्रावक शिरोमणि साहू शांति प्रसाद जी।

साहूजी देश के जाने-माने महान् उद्योगपति थे ही, परंतु सभी क्षेत्रों में उनका अधिकार था। वे उन श्रीमानों में से नहीं थे जो अपनी आँखें व बुद्धि को गिरवी रखकर केवल कानों से ही कार्य लेते हैं। वे कार्य करने के पूर्व उसे भली प्रकार बुद्धि की कसौटी पर कसकर क्रियान्वित करते थे वे लक्ष्मीपति होकर भी आजीवन सरस्वती के पुजारी रहे। उन्हें दोनों का समान रूप से वरदान प्राप्त था। अतएव अपने जीवन में उन्होंने सामाजिक, धार्मिक आदि सभी क्षेत्रों को तन-मन-धन से अपूर्व सहयोग प्रदान किया। कोई भी क्षेत्र उनकी सेवाओं से अछूता न रह सका। उनके साथ उनकी सहधर्मिणी चतुर्मुखी प्रतिभाशालिनी रमा जी का व्यक्तित्व भी संपूर्णतः उन्ही में विलय हो एकाकार हो गया था। ऐसा मणि-काचन सयोग बिरले ही दंपतियों को प्राप्त होता है।

द्रव्याभाव के कारण विपन्न परिवारों की प्रतिभाएँ कुण्ठित हो विकसित हुये बिना ही नष्ट हो जाती हैं। यह व्यक्तिगत विनाश नही, अपितु समाज का पतन है। इससे मानवता का अपकर्ष होता है। ऐसा अनुभव करते हुये उन्होने छात्रवृत्तियां देने के लिये तत्काल ट्रस्ट स्थापित कर इस महत् अभाव की पूर्ति की, जिससे हजारों विद्यार्थी प्रशिक्षित हुये और हो रहे हैं। इच्छुक शिक्षितों को साहू उद्योगों में नियुक्त कर आजीविका की विभीषिका से भी विमुक्त कर दिया। यह था उनका समाज-प्रेम। इसीलिये वे समाज के प्राण स्वरूप थे। ज्ञान दान की महत्ता को उन्होने यथार्थत. आका था।

ज्ञानपीठ, काशी सस्थान की सस्थापना कर लुप्त हो रहे अनेक अनुपलब्ध प्राचीन ग्रंथों का एवं लोकोपकारी परिष्कृत मौलिक साहित्य का प्रकाशन कर वे सर्वसाधारण को सुलभ किये। जैन कुलोत्पन्न होने से जैन साहित्य, दर्शन के प्रति स्वभावतः आकर्षित थे ही; पर भारतीय भाषाएं भी उन्हे प्रिय थी। फलतः ज्ञानपीठ, काशी के माध्यम से साहित्यकारों को उनकी सर्वोच्च सृजनात्मक साहित्यिक कृति पर उनके सम्मानार्थ, विश्वविख्यात नोबल पुरस्कार की भाँति आपने भी प्रतीकात्मक एक लाख रुपये पुरस्कार स्वरूप देने की घोषणा कर, भारत मे नवीन परम्परा का सूत्रपात किया। इस योजना के अंतर्गत प्रतिवर्ष विविध भाषाभाषी सरस्वती-पुत्रो का सम्मान किया जा चुका है। इस योजना की आधारशिला इतनी सुदृढ है कि भविष्य में भी बिना किसी व्यवधान के सुचारुरूपेण साकार होती रहेगी।

ज्ञानपीठ की भाँति आपके द्वारा संस्थापित साहू जैन ट्रस्ट, साहू जैन चेरीटेबल सोसायटी आदि अनेक संस्थाएं हैं, जो आपके कुशल संचालन में कार्यरत रही। इनके द्वा

सामाजिक क्षेत्र में बहुप्रशंसित कार्य प्रगतिमान हैं। वैशाली प्राकृत जैन धर्म एवं अहिंसा शोध संस्थान भी आपके प्रचुर अनुदान से अभिभूत हुये हैं।

साहूजी ऊर्जस्वी विचारवान् व्यक्ति थे। उनकी भारतीय संस्कृति में भी अद्वितीय अभिरुचि थी। जैन धर्म के उपासक होने के नाते जैन तीर्थों के प्रति उनकी अगाध भक्ति थी। उस औघड़ दानी ने नवीन मंदिरो का निर्माण न कराकर, भारत के अधिकांश तीर्थों का जीर्णोद्धार कर उन दानियों के समक्ष आदर्श उपस्थित किया, जो यश-प्राप्ति हेतु यथेष्ट पात्रता पर ध्यान नही देते। बहुमुखी प्रतिभा के धनी साहूजी ने जो भी कदम उठाया, सोच समझकर विवेकपूर्वक उठाया। इसीलिये सभी कार्य ठोस हुये, सतही नही। उनकी कार्यक्षमता एवं सूझबूझ अनूठी थी।

भगवान महावीर के पच्चीससौवें निर्वाण महोत्सव के कार्यक्रमों को सफल बनाने के लिये आपने भारत भर की कई बार यात्रा कर समाज में जागरण का मंत्र फूंक अनोखी चेतना जगाई। आपके व्यक्तित्व से प्रभावित हो जैन समाज के चारो सम्प्रदायों की ओर से गठित भगवान महावीर पच्चीससौवा निर्वाण महोत्सव समिति ने आपको कार्याध्यक्ष मनोनीत किया। आपका सर्वोत्तम गुण यह था कि आपमे वृद्धो जैसा अनुभवपूर्ण गाम्भीर्य था तो तरुणों जैसा कार्य करने मे अदम्य उत्साह भी था। परिणामस्वरूप उन्होने अध्यक्ष पद की गरिमा महिमा का मूल्यांकन कर अपने उत्तरदायित्व का समुचित निर्वाह किया।

समाज ने जहाँ भी आपको आमंत्रित किया, वहाँ जाकर आपने अपनी बहुमूल्य सेवाएँ अर्पित की। किसी भी प्रांत या नगर का जैन समाज उनका सौहार्द्र पा परम आह्लादित हो अपना अहोभाग्य मानता था। आपकी उपस्थिति में समाज के वर्षों से अवरुद्ध कार्य अप्रत्याशित गति से अग्रसर होने लगते थे। यह अतिशयोक्ति न होगी कि आप वर्त्तमान युग मे समाज के प्रमुख कर्णधार थे। अनेक विवादग्रस्त विषय आपने निपटाये।

आप पूंजीपतियों मे अपने हँसमुख मिलनसार और क्षीर-नीर विवेकी स्वभाव के कारण अपवाद स्वरूप थे। आपने इस उक्ति को चरितार्थ कर दिया था कि जैसे पत्र-पुष्प-फलों से समृद्ध वृक्ष सहज ही झुक जाते हैं, उसी प्रकार भौतिक विभूति के साथ गुणसम्पन्नता से युक्त आप प्रकृततः विशेष नम्रीभूत थे। आपमे कुछ ऐसी विलक्षण सरलता थी कि अपरिचित व्यक्ति भी प्रथम मिलन में ही मुग्ध हुये बिना न रहते थे।

आज के कतिपय विद्वानों के कारण समाज मे जो विघटन चल रहा है, उससे वे अत्यंत व्यथित थे। अन्तिम समय तक खाई को पाटने मे लगे रहे। नैनवां काण्ड ने तो उनके मन-मस्तिष्क को झिंझोड़ कर रख दिया। जिनवाणी का अपमान एक जैन और वह भी पंडित सज्ञाधारी व्यक्ति के द्वारा हो तो वह और भी अधिक शोचनीय हो जाता है। यह ऐसी घटना थी, जिसने जैन जगत् में क्षोभ उत्पन्न कर हलचल मचा दी। उन्हें भी असह्य होना स्वाभाविक ही था। भाव विह्वल हो उन्होने अश्रुपूर्ण नयनो से कड़े शब्दो मे भर्त्सना की थी। माँ जिनवाणी का विसर्जन, दहन करने जैसे घृणित कुकर्म सुनकर किस धर्मप्रेमी कल्याणेच्छुक का हृदय न रो पड़ेगा? जिनवाणी का अनादर पंच परमेष्ठी का, किंवा स्वयं आत्मप्रभु का ही अनादर है।

इस समय उनकी नितान्त आवश्यकता थी। उनकी उपस्थिति कदाचित् समाज को एक सूत्र में बाँधने में समर्थ हो सकती थी। उनसे समाज को बहुत बहुत आशाएँ थी, पर क्रूर काल की गति अवरुद्ध करने की क्षमता किसमें है? उसने अत्यंत निर्ममता से असमय में ही समाज का कल्पवृक्ष, चिन्तामणिरत्न-सा पुरुष-पारस हमसे छीन लिया।

वे अपने जीवन में ही यशस्वी हुये। देश के कोने-कोने में उनकी यशपताका फहरा रही है। साहू शांति प्रसाद जी का जीवन समाज को आदर्शस्वरूप है। इसलिये नही कि वे समृद्धिशाली थे, प्रत्युत वे कर्त्तव्यनिष्ठ सरल हृदय लगनशील समाज के विनम्र सेवक थे। समाज सेवा का व्रत उन्होंने आजीवन निबाहा।

यह दुखद सत्य है कि समाज एक महान शुभचिंतक के नेतृत्व से सदैव के लिये वंचित हो गया। यद्यपि उनका पार्थिव शरीर हमारे बीच नही है, तथापि उनके महत्वपूर्ण कार्य उनके जीवंत स्मारक के रूप में सदैव रहेंगे एवं पद-पद पर युगो-युगों तक वे उनका स्मरण कराते रहेंगे।

साहूजी के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुये साहू परिवार के प्रति हार्दिक सवेदना व्यक्त करती हूँ। जैन जगत् को उनके उत्तराधिकारियों से भी आशा ही नहीं वरन् पूर्ण विश्वास है कि वे उनके द्वारा प्रारंभ किये गये रचनात्मक कार्यों को भविष्य में भी अविरत रखेंगे।

दानवीर श्रावक शिरोमणि

☐ श्रीमहेन्द्र कुमार जैन, दिल्ली

सरल स्वभावी, धर्मनिष्ठ, समाजसेवी, निरभिमानी, राष्ट्रसेवी, अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त उद्योगपति, दानवीर, श्रावक शिरोमणि, साहू शान्ति प्रसाद जैन का भारत की राजधानी दिल्ली मे गत वर्ष बृहस्पतिवार, दिनांक 27 अक्टूबर, 1977 को प्रातः 11 बजे देहावसान हुआ था। समाज सेवा, राष्ट्र सेवा, साहित्य व संस्कृति के क्षेत्र और शैक्षणिक, औद्योगिक एवं पत्रकारिता जगत् शोकाकुल हो उठा। सुहास्य, सौम्य मुद्रा में विकसित, सादगी, मिलनसारिता, सरलता, सौजन्य, आतिथ्यशीलता, गुरुभक्ति, लोकप्रियता, धर्मनिष्ठा एवं एकता के प्रतीक साहू शान्ति प्रसाद जैन के निधन से आधार-स्तम्भ टूट गया। इससे समाज को ही नही अपितु राष्ट्र को बडी क्षति पहुंची जिसकी पूर्ति होना सम्भव नही है। शुक्रवार, दिनांक 27 अक्टूबर, 1978 का दिवस उनकी प्रथम पुण्य तिथि का अवसर है। हम सबका कर्तव्य है कि हम उनका स्मरण करे, उनके द्वारा आलोकित मार्ग का अनुकरण करें, तथा पुण्य तिथि को उपकृत भाव से मनायें।

श्री शान्ति प्रसाद जी की प्रेरणा व मार्ग दर्शन से भगवान् महावीर का 2500 वां निर्वाण महोत्सव राष्ट्र व अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यापक सफलता से सम्पन्न हुआ। उनके सक्रिय प्रयत्न के कारण समग्र समाज मे इस महोत्सव वर्ष मे एकता स्थापित हुई।

उत्तर प्रदेश के अन्तर्गत नजीबाबाद के पुराने घरानो में साहू जैन घराना बहुत प्रतिष्ठित रहा है। शान्ति प्रसाद जी का जन्म इसी नगर और घराने मे सन् 1911 मे हुआ था। उनके पितामह साहू सलेखचन्द जैन, पिता श्री दीवानचन्द जी और माता मूर्तिदेवी जन-जन मे श्रद्धेय थे।

आपकी प्रारम्भिक शिक्षा नजीबाबाद शिक्षा केन्द्रों में हुई। हाई स्कूल करने के बाद आपने काशी विश्वविद्यालय में प्रवेश किया। वहां से फिर आगरा विश्वविद्यालय में आ गये। आगरा विश्वविद्यालय से बी०ए० प्रथम श्रेणी में पास किया। वस्तुतः आपका समूचा विद्यार्थी जीवन प्रथम श्रेणी का रहा और यह केवल अध्ययन और ज्ञानोपार्जन की दृष्टि से ही नही वरन् अन्य दृष्टियो से भी उल्लेखनीय था। उनमें वे सभी सद्गुण और सद्वृत्तिया विकसित हुई जो सफलता के शिखर तक पहुंचने के लिए आवश्यक है।

उद्योग के क्षेत्र मे आपने तीसरे दशक मे पदार्पण किया था और प्रारम्भ से ही अपनी दृष्टि इस ओर केन्द्रित की कि न केवल देश के उद्योग-व्यवसाय का विकास और अभिवर्द्धन हो, बल्कि संचालन प्रणालियों मे भी नये से नये प्राविधिक रूपों का क्रियान्वयन हो। इसके लिये आपने स्वयं विभिन्न आधुनिक पद्धतियों का गम्भीर अध्ययन किया तथा विविध विषय-क्षेत्रों में निरन्तर गवेषणाएं कराईं। अर्थ शास्त्र और वित्तीय सिद्धान्तों और पद्धतियो का आपका बडा व्यापक और विशेष अध्ययन था। प्रत्येक विषय से सम्बद्ध आंकड़ो एवं विवरण की जानकारी इस प्रकार हृदयंगम थी कि वह देश-विदेश के आर्थिक मामलों के तथ्यों को पूरे परिप्रेक्ष्य मे देख कर सही निष्कर्ष निकालते थे और अपनी प्रतिभा से सबको चकित कर देते थे। विशेष रूप से, भारतीय उद्यम और भारतीय क्षमता के प्रति आप अपने औद्योगिक जीवन के प्रारम्भ से ही अत्यन्त आस्थावान् रहे।

साहू साहब ने अपने इन उद्देश्यों की पूर्ति को लक्ष्य में रखते हुए आवश्यकता के अनुरूप अन्यान्य देशों का भ्रमण-पर्यटन भी किया। सर्व प्रथम 1935 में वे डच ईस्ट इण्डीज गए, फिर 1945 में आस्ट्रेलिया और 1954 में सोवियत रूस। ये तीनों यात्राएं उन्होंने भारतीय औद्योगिक प्रतिनिधि के रूप में की थीं और परिणामों की दृष्टि से वह अत्यन्त उल्लेखनीय मानी जाती हैं। ब्रिटेन, अमरीका,

जर्मनी तथा अन्य युरोपीय देशों का भी आपने परिभ्रमण किया और अनुभवों के समावेश द्वारा साहू जैन उद्योगो को अधिकाधिक समृद्ध किया।

सचमुच जिस सहजता के साथ उद्योग एवं व्यवसाय के क्षेत्र में साहू जी ने सफलता प्राप्त की, वह उनकी स्वाभावगत प्रतिभा और बूझबूझ, संगठन-क्षमता तथा अध्यवसाय और सहनशीलता की सम्मिलित देन है। पिछले लगभग 45 वर्षों में आपने विभिन्न प्रकार और प्रकृति के उद्योग-धन्धों को एक सुविस्तृत श्रेणी की स्थापना एवं संचालना करके देश के औद्योगिक विकास में योगदान किया व अनेक उद्योगो का नेतृत्व किया। इस श्रेणी के अन्तर्गत जहा एक ओर कागज, चीनी, वनस्पति, सीमेंट, एसबेस्टस प्रोडक्ट्स, पाट निर्मित वस्तुएं, भारी रसायन, नाइट्रोजन खाद, पावर अल्कोहल, प्लाइवुड, साइकिल निर्माण, कोयले की खानें, लाइट रेलवे व इन्जीनियरिग वर्क्स आते हैं, वहां दूसरी ओर हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी, गुजराती के दैनिक पत्र और सावधिक पत्रिकाएं तथा महत्वपूर्ण सास्कृतिक, साहित्यिक शोध एवं प्रकाशन के कार्य भी आते है।

विगत वर्षों मे देश की विभिन्न व्यवसाय-संस्थाओ के आप अध्यक्ष रहे है। इनमें प्रमुख है: फेडरेशन आफ इण्डियन चेम्बर आफ कामर्स, इण्डियन शुगर मिल्स एसोसिएशन, इण्डिया पेपर मिल्स एसोसिएशन, बिहार चेम्बर आफ कामर्स एवं इण्डस्ट्रीज, राजस्थान चेम्बर आफ कामर्स एवं इण्डस्ट्रीज, ईस्टर्न यू० पी० चेम्बर आफ कामर्स एड इन्डस्ट्रीज। चार वर्ष तक लगातार आप आल इण्डिया आर्गेनाइजेशन आफ इण्डस्ट्रियल एम्प्लायर्स के भी अध्यक्ष रहे और इसी अवधि में भारतीय श्रम व्यवसाय सम्बन्ध नियम बनते समय आपने उद्योग-धन्धो का व्यावहारिक दृष्टिकोण उपस्थित किया।

अपनी विशिष्ट प्रतिभा-सम्पन्नता तथा व्यापक अनुभव के कारण साहूजी देश के उद्योग एव व्यवसाय वर्ग द्वारा अनेक अवसरो पर सम्मानित किये गये। स्वर्गीय पं० जवाहरलाल नेहरू ने देश की औद्योगिक प्रगति की। वैज्ञानिक परिकल्पना को कार्यान्वित करने के लिये जो प्रथम समिति गठित की थी उसमे आप देश के तरुण औद्योगिक प्रतिनिधित्व रहे।

साहू साहब को भारतीय धर्म-दर्शन और इतिहास तथा सांस्कृतिक विषयों के अध्ययन मे भी आन्तरिक अभिरुचि थी। भारतीय कला एव पुरातत्व के क्षेत्र मे भी वे सर्वाधिक चर्चा किया करते थे। धार्मिक श्रद्धा मे वह अडिग थे। भारतीय भाषाओं एवं साहित्य के विकास-उन्नयन की दिशा मे आपका अति विशिष्ट योगदान रहा। आपके द्वारा सन् 1944 मे भारतीय ज्ञानपीठ की संस्थापना एवं अपनी सहधर्मिणी स्वर्गीया श्रीमती रमा जैन के साथ उसकी कार्य-प्रवृतिया, विशेषकर उसके द्वारा प्रवर्तित भारतीय भाषाओं की सर्वश्रेष्ठ सृजनात्मक साहित्यिक कृति पर प्रति वर्ष एक लाख रुपये की पुरस्कार योजना की परिकल्पना और तब तक 11 पुरस्कारों के निर्णयों की कार्यविधि मे अनवरत रुचि एवं मार्गदर्शन, उनकी दूरदर्शिता एवं क्षमता के बहु प्रशसित अमर प्रतीक हैं। ज्ञानपीठ के अतिरिक्त आपने साहू जैन ट्रस्ट, साहू जैन चैरिटेबल सोसायटी तथा अनेक शिक्षण संस्थाओ की भी स्थापना की। आप वैशाली प्राकृत जैन धर्म एवं अहिंसा शोध संस्थान, अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी, बम्बई, अहिंसा प्रचार समिति, कलकत्ता, अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद् एवं मारवाडी रिलीफ सोसायटी के अध्यक्ष रह चुके थे।

भगवान महावीर के 2500 वें निर्वाण महोत्सव के कार्यक्रमों को सफल बनाने में आपका सर्वाधिक योगदान रहा है। जैन समाज के चारो सम्प्रदायों की ओर से गठित भगवान महावीर 2500 वा निर्वाण महोत्सव महासमिति के आप कार्याध्यक्ष थे। भारत के सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज की ओर से गठित आल इण्डिया दिगम्बर भगवान महावीर 2500 वां निर्वाण महोत्सव सोसायटी एवं बंगाल प्रदेश क्षेत्रीय समिति के अध्यक्ष के रूप मे आपने देशव्यापी सास्कृतिक चेतना को जागृत किया। भारत सरकार द्वारा गठित राष्ट्रीय समिति और बिहार तथा बंगाल की समितियो मे भी आपने महत्वपूर्ण

(शेष पृष्ठ ५१ पर)

सरस्वती के परम उपासक

□ डा० कस्तूर चंद कासलीवाल, जयपुर

साहू शान्तिप्रसाद जी जैन देश एवं समाज के उन श्रेष्ठ रत्नों में से थे जिनकी सेवाएं सदा अविस्मरणीय रहेंगी तथा जिनका नाम भविष्य में उदाहरण के रूप में लिया जाता रहेगा। साहू जी समाज के गौरव थे। उनके आश्रय में समस्त जैन समाज निश्चिन्त था। वे एक महान् व्यक्ति थे जिनके हृदय में समाज का दर्द छिपा हुआ था। इसलिये साहित्यिक, सामाजिक एवं सास्कृतिक सभी गतिविधियों के विकास मे उनका वरद हस्त रहता था। समाज में उनकी उपस्थिति ही कार्यकर्ताओं मे उत्साह पैदा करने के लिये पर्याप्त मानी जाती थी। साहू जी समस्त दि० जैन समाज के एक मात्र प्रतिनिधि थे, इसलिये जिस भी उत्सव, मेले एवं कार्यक्रम में साहू जी सम्मिलित हो गये तो ऐसा माना जाता था कि मानो पूरे समाज का ही जैसे समर्थन मिल गया हो।

साहू शान्तिप्रसाद जी जैन ने समाज पर 30-40 वर्षों तक एक छत्र शासन किया। उन्होने समाज को नयी दिशा प्रदान की, कार्य करने की शक्ति दी तथा संकट के समय उसका जिस प्रकार साथ दिया वह सब इतिहास की आज अमूल्य धरोहर हो गयी है। उनके निधन से समाज ने वास्तव मे अपना बहुमूल्य रत्न खो दिया है जिसकी पूर्ति निकट भविष्य मे सम्भव नहीं लगती। यदि सामाजिक इतिहास के पृष्ठों को खोल कर देखा जाए तो हमे मालूम पडेगा कि ऐसा उदारहृदय समाजसेवी व्यक्ति गत सैकड़ों वर्षो मे नही हुआ।

साहू जी से मेरी प्रथम भेंट कलकत्ता महानगरी मे बेलगछिया मे आयोजित जैन साहित्य एवं कला प्रदर्शनी मे कोई 28 30 वर्ष पूर्व हुई थी। उस समय उन्होने जिस तन्मयता से जैन ग्रथो मे रुचि ली थी तथा अपने भाषण मे उनके महत्व पर प्रकाश डाला था, उससे मेरे मन पर गहरी छाप पडी थी। उसके पश्चात् देहली मे आयोजित एक बृहद् जैन प्रदर्शनी के अवसर पर उनसे भेंट हुई थी। देहली में भी उन्होंने प्रदर्शनी के आयोजन मे पूरी रुचि ली थी तथा वहा प्रदर्शित प्रत्येक वस्तु का उन्होने बारीकी से अध्ययन किया था। उन्होंने उस समय जयपुर के प्राचीन भक्तामर स्तोत्र की सचित्र पाण्डुलिपि को अपनी ओर से छापने का प्रस्ताव रखा था लेकिन जयपुर के मन्दिर के व्यवस्थापकों ने उसे स्वीकार नही किया और वह बहुमूल्य ग्रन्थ प्रकाशित होने से रह गया।

जयपुर में भगवान महावीर की 25 सौ वें निर्वाण महोत्सव की मीटिंग मे सम्मिलित होने के लिये वे कितनी ही बार आये। जयपुर मे उनका अन्तिम आगमन उनकी मृत्यु के कुछ ही समय पहिले हुआ था। वे भाद्रपद मास मे बापूनगर के पार्श्वनाथ जैन मण्डल द्वारा आयोजित युवा सम्मेलन मे कुछ समय के लिये आये थे और युवकों को सामाजिक सेवा मे जुट जाने की प्रेरणा दे गये थे। वह सम्भवतः उनका अन्तिम संदेश था।

साहू जी को साहित्य से कितना प्यार था, उनके प्रकाशन में उनकी कितनी रुचि थी, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण उनका भारतीय ज्ञानपीठ जैसे संस्था का संचालन है। उन्होने सैकडो जैन ग्रन्थो के उद्धार कर महान पुण्य अर्जन किया। वे जीवन भर जिनवाणी के प्रकाशन एवं उसके प्रचार-प्रसार में समर्पित रहे। वास्तव मे गत सैकडो वर्षों मे उन जैसा जिनवाणी का प्रचारक नही हुआ।

उन्होंने भारतीय ज्ञानपीठ के माध्यम से ही साहित्य सेवा नही की किन्तु अन्य प्रकाशन संस्थाओं को भी उन्होंने खूब आर्थिक सहायता दी है। वीर सेवा मन्दिर द्वारा प्रकाशित जैन लक्षणावली के प्रकाशन में भी उनका पर्याप्त आर्थिक योगदान रहा। मैंने स्वयं ने समस्त हिन्दी जैन साहित्य के प्रकाशन के लिये जयपुर में जब श्री महावीर

ग्रन्थ अकादमी की स्थापना की तथा उसकी योजना एवं नियम जब साहू जी को भेजे और उनसे संस्था का संरक्षक बनने के लिये निवेदन किया तो उन्होंने साहित्य प्रकाशन की योजना की प्रशंसा करते हुए तत्काल उसका संरक्षक बनना स्वीकार कर लिया। इसलिये पता नही उन्होंने कितनी प्रकाशन संस्थाओं को जैन साहित्य के प्रचार प्रसार मे योग दिया।

जैन साहित्य एवं जैन समाज की सेवा के लिये उनके हृदय में गहरे भाव थे। भगवान महावीर के 2500वे निर्वाण महोत्सव का जिस कुशलता एवं सजगता मे संचालन किया तथा समस्त जैन समाज को एकसूत्र मे बांधने का जो प्रशसनीय कार्य किया वह साहूजी जैसे व्यक्ति से ही सम्भव था और वह सब उनके वर्षों की साधना का फल था। स्वास्थ्य खराब होने एवं धर्मपत्नी श्रीमती रमा जी का वियोग होने पर भी उन्होने जिस असाधारण साहस एवं सूझबूझ से काम लिया, सारे देश का एक बार ही नहीं, कितनी ही बार दौरा किया तथा गरीब से लेकर अमीर तक जन सेवा के भाव-भरे, वह सब उनके महान् व्यक्तित्व का परिचायक है। जयपुर में आयोजित एक सभा मे वे इतने द्रवीभूत हो गये कि सारी सभा के ही आंसू बह निकले थे।

साहू जी पुरातत्व के प्रेमी थे। प्राचीन मन्दिरों के जीर्णोद्धार में उन्होंने विशेष रुचि ली। दक्षिण भारत एवं बुंदेलखण्ड के कितने ही मन्दिरो का उन्होने जीर्णोद्धार करवा कर मन्दिरों की कला एवं सम्पत्ति को नष्ट होने से बचा लिया।

साहू जी के कार्यों का वर्णन करने के लिये किसी एक बड़े ग्रन्थ की आवश्यकता है जिसमें उनके जन्म से लेकर मृत्यु पर्यंत उसके व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर सागोपाग वर्णन रहे। तभी जाकर हम उनके पूरे कार्यों से समाज को एवं आगे आने वाली पीढ़ी को परिचित करा सकेंगे।

□□□

(पृष्ठ ४६ का शेषांश)

पदों का दायित्व तन्मयता से सम्भाला। निर्वाण महोत्सव के बहुमुखी कार्यक्रमों को आपने चिन्तन, उत्साहपूर्ण नेतृत्व और मुखर श्रद्धा के प्रत्यक्ष प्रभाव से उपलब्धियों का जो वरदान दिया, वह जैन समाज के इतिहास मे अविस्मरणीय रहेगा।

दिगम्बर जैन समाज की उत्कट आकांक्षा के अनुरूप आपने अखिल भारतीय स्तर पर दिगम्बर जैन समाज के एक मंच 'दिगम्बर जैन महासमिति'' के गठन का निर्णय कर दिगम्बर जैन महासमिति की स्थापना की। उसके संस्थापक अध्यक्ष का दायित्व वहन किया तथा पगपग पर समाज का मार्ग दर्शन किया।

समाज ने अपनी श्रद्धा स्वरूप आपको 'दानवीर'' तथा ''श्रावकशिरोमणि'' की उपाधियो से सम्मानित किया। अन्तिम क्षणो मे साहूजी के परिणाम इतने निर्मल हो गये थे कि उन्होने अपने पुत्र श्री अशोककुमार जैन से इच्छा व्यक्त की थी कि वे स्वस्थ होने के उपरान्त हस्तिनापुर मे मुनिश्री शान्ति सागर जी महाराज के निर्देशन मे शेष जीवन व्यतीत करेंगे। महाराजश्री जब जैसी दीक्षा उचित समझेंगे दे देंगे। आज उनके वे शब्द हम फिर सुनने के लिए कितने आतुर है। हमे चाहिए कि हम उनकी इस पुण्य तिथि को साकार करने के लिये, उनके द्वारा निर्देशित कार्यक्रम को पूरा करने के लिये दिगम्बर जैन महासमिति को संगठित रूप दे, उसे सब प्रकार से समर्थ और क्रियाशील बनाये।

एफ 94, जवाहर पार्क वेस्ट
लक्ष्मीनगर, दिल्ली-110092

□□□

आधुनिक खारवेल

□ श्री बिशन चन्द जैन, शिकारपुर

श्री साहू शान्ति प्रसाद जी जैन से मेरा बहुत सुपरिचय था। जिस समय मैं सन् 1920 से लगभग 35 वर्ष तक बराबर "जैन मित्र मंडल देहली" का सभासद् व मंत्री रह कर हर प्रकार से देश-विदेशों में जैन धर्म प्रचार का कार्य कर रहा था व भा० दि० जैन परिषद आदि अन्य जैन संस्थाओं का भी सभासद और मंत्री रह कर धार्मिक और सामाजिक कार्य कर रहा था, उस समय रिटायर होने के बाद दिनांक 14 मई, 1959 को साहूजी के दफ्तर "साहू सीमेंट सरविसेज, नई देहली" में मुझे ओवरसियर के पद पर नियुक्त किया गया और दिनाक 5 नवम्बर, 1959 से मार्च, 1969 (10 वर्ष) तक साहू जी की ओर से म० प्र०, उ० प्र० और राजस्थान के कुछ प्राचीन दि० जैन तीर्थक्षेत्रों के मंदिरो के जीर्णोद्धार के कार्यों तथा "साहू जैन संग्रहालय" आदि के निर्माण कार्य को, नई देहली मे 6 सरदार पटेल रोड पर साहूजी की कोठी और नजीबाबाद मे साहूजी के भवन के निर्माण आदि के कार्यों को अपनी देखरेख में कराता रहा। इस कारण साहूजी के प्रति मेरी और अधिक जानकारी बढ़ गई, और उनसे मेरा बराबर पत्र-व्यवहार होता रहता था।

श्री साहू शान्ति प्रसाद जी जैन एक माने हुए नामी-गिरामी, भारतवर्ष की दि० जैन समाज के धार्मिक व्यक्ति थे। वे जैनियो के सरताज थे। उनका 66 वर्ष की आयु में ता० 22 अक्तूबर, 1977 (गुरुवार) को नई देहली मे इस नाशवान संसार से निधन हो गया। जिस समय उनके निधन के समाचार समाचार पत्रों (अखबारों) मे पढ़े गये, संसार के कोने-कोने मे शोक की लहरे फैल गई। हृदय को अत्यन्त दुःख हुआ और उनके प्रेम तथा उनके कार्यों की बराबर याद आती रही। स्थान-स्थानपर उनके निधन पर शोक सभायें होने लगी।

उनका जन्म सन 1911 ई० मे नजीबाबाद (बिजनौर) उ० प्र० मे एक ऐसे प्रतिष्ठित जैन परिवार मे हुआ था जो देश की भलाई और अपनी उदारता के लिये विख्यात था। वे श्री साहू दीवानचन्द जी जैन के तेजस्वी व होनहार पुत्र थे। उनकी माता का नाम श्रीमती मूर्ति देवी था। साहू शान्तिप्रसाद जी जैन ने नजीबाबाद मे अपनी शुरू की शिक्षा पूरी करने के बाद आगरा विश्वविद्यालय से बी० एस-सी० की परीक्षा प्रथमश्रेणी मे पास कर उन्होने साहित्यिक, धार्मिक आदि पुस्तकों का अध्ययन कर योग्यता प्राप्त की। उन्होने अपनी सूझ-बूझ से व्यापार मे उन्नति करने के विचार से विकसित देशों का दौरा किया। वहाँ जाकर उन्होंने भारत मे बिकने वाली चीजों तथा वहाँ की चीनी, कागज, वनस्पति, पटसन, रसायन, खाद, सीमेंट आदि की फैक्ट्रियों का भी अध्ययन किया। भारत मे आकर उन्होंने अपनी सूझबूझ से भारत के कुछ शहरो मे रोहतास इंडस्ट्रीज, जूट मिल्स, साहू केमिकल, रसायन खाद, श्री कृष्णा ज्ञान उदय, चीनी, अशोक सीमेंट, अशोक स्टील, दी जयपुर उद्योग लि०, बगाल कोट सीमेंट, कोलाईर्ज कम्पनी नाम की फैक्ट्रियो का निर्माण किया और उनके द्वारा चीजें तैयार करा-करा कर उनको मार्कीट मे पहुँचाया तथा इस प्रकार विपुल धन पैदा किया, जिससे वह उद्योगपति बड़े बने। यह कोई मामूली काम न था हर एक व्यक्ति के बूते का काम न था। इससे उन्होने अपने को और अपने परिवार को ऊँचा उठाते हुए अपना और अपने पुरखों का नाम संसार में रोशन किया।

खारवेल अपनी सूझ-बूझ से उन्नति करते-करते महाराजा खारवेल की पदवी प्राप्त कर गरीब परवर, दयालु कहलाये तथा अपनी 35 हजार सेना आदि की तकलीफो का ध्यान रखते हुये उनकी सहायता करते रहे और नवीन-नवीन मंदिरो के निर्माण कराने की अपेक्षा वे पुराने पुरखो के निर्माण कराये हुये प्राचीन मंदिरो के जीर्णो-

द्धार के कार्यों को कराने मे अधिक धर्म-पुण्य मानते थे। इससे पुरखो के बनाये हुये प्राचीन मंदिर व प्राचीन कला सैकड़ों हजारों वर्षों तक सुरक्षित रह सके और आने वाली पीढ़ी उनके दर्शन कर, ज्ञान प्राप्त कर जैन धर्म की उन्नति करती हुई उसे ऊंचा उठा सकी। इसी प्रकार, श्री साहू शांति प्रसाद जी जैन भी इन्ही विचारो के धार्मिक व्यक्ति थे। वे दानी, समाज सेवक, सच्चे प्रेमी, गरीब परवर, उदार हृदय, सब मतों के प्रति आदरभावी धर्मात्मा थे। उन्हे अपने धन का मान न था। बल्कि वे अपने हजारों की संख्या मे कर्मचारियो को प्रसन्न रखने का ध्यान रखते थे। साहू जी सुधारक विचारो के थे। रूढ़िवादी न थे। वे भा० वर्ष० दि० जैन परिषद के हामी (सहयोगी) थे। बहुत-सी जैन संस्थाओ के संरक्षक व अध्यक्ष थे। उन्होने नजीबाबाद मे साहू जैन कालेज, मूर्ति देवी सरस्वती इंटर कालेज और "मूर्ति देवी कन्या इंटर कालेज" की स्थापना की, जिससे उनका नाम अमर रहेगा। साहूजी भी महाराजा खारवेलकी भांति नवीन नवीन मंदिरो के निर्माण कराने की अपेक्षा प्राचीन दि० जैन तीर्थक्षेत्रो आदि के मंदिरो के जीर्णोद्धार के कार्यो के वास्ते दान देने मे अधिक धर्म व पुण्य मानते थे।

अनेक व्यक्ति प्राचीन मंदिरो के होते हुये भी उसी स्थानपर गजरथ की प्रथा को लेकर लाखो रुपया व्यय करके नवीन-नवीन मंदिरों का निर्माण कराते रहते है लेकिन म प्र. और उ० प्र० के प्राचीन क्षेत्रों आदि स्थानों में सैकडो प्राचीन जैन मंदिर खंडित पडे है और हजारो की संख्या मे प्राचीन मूर्तियाँ जंगलो आदि स्थानों में बिखरी पड़ी है तथा बहुत से शिला लेख जमीन मे दबे पड़े है। उनकी सुरक्षा का वहाँ की जैन समाज को कुछ भी ध्यान नही आता। साहूजी इन विचारो के नहीं थे। वह तो प्राचीन मंदिरों के जीर्णोद्धार और प्राचीन मूर्तियों की सुरक्षा कराने के पक्ष मे थे। इसका कारण इस प्रकार है कि म० प्र० और उ० प्र० के कुछ प्राचीन दि० जैन तीर्थक्षेत्रो के मंदिरो पर पुरातत्व विभाग की ओर से जो चौकीदार रहते थे उनका संतोषजनक इंतजाम न होने के कारण वहाँ के प्राचीन दि० जैन तीर्थ क्षेत्रो के मंदिरो से अर्थात् देवगढ़, दुधई, चाँदपुर, जहाजपुर नेमनाथ की बारात (उ० प्र०) और बूढ़ी चंदेरी, गोलाकोट (म० प्र०) के मंदिरो से बराबर मूर्तियाँ व मूर्तियो के सिर काट काट कर चोर ले जाते रहे।

इस घटना की सूचना सन् 1958 मे मिली। तब भारतवर्ष की जैन समाज में सर्वत्र क्षोभ फैल गया और यह भी मालूम हुआ कि एक वर्ग कुछ वर्षों से इन क्षेत्रो मे प्राप्त जिन मूर्तियो की सुन्दर कला के कारण उनके सिर काट-काट कर विदेशियों को बेचकर अच्छी धनराशि प्राप्त कर रहा है और उसने इस कार्य को अपना व्यापार बना लिया है। सन् 1959 ई० मे अखिल भारतीय जैन कनवेन्शन की गई जिसके द्वारा भारत, मध्य प्रदेश व उत्तर प्रदेश सरकारों से अनुरोध किया गया कि वे इन दुखद घटनाओं को रोकें तथा अपराधियों को दण्ड दें। कनवेन्शन के सभापति उद्योगपति साहू शांति प्रसाद जी जैन ने इस घटना को देखते हुये उपरोक्त प्रांतो के प्राचीन तीर्थक्षेत्रों के मंदिरों के जीर्णोद्धार के कार्यों के वास्ते तीन लाख (3,00,000) रुपए की धनराशि देने की घोषणा की, तथा जैन पुरातत्व कमेटी स्थापित की गई और यह निश्चय किया गया कि इस द्रव्य से श्री राजेन्द्र कुमार जैन की देखरेख में क्षेत्रों के जीर्णोद्धार का कार्य कराया जाये तथा मूर्तियों की सुरक्षा का भी प्रबन्ध किया जाये। अचानक गोलाकोट (खनियाधाना), म० प्र० के प्राचीन तीर्थक्षेत्र के मंदिर मे से एक व्यक्ति रामगोपाल सुनार एक प्राचीन सुन्दर मूर्ति का सिर काटता हुआ पकडा गया। उसके साथ दूसरा आदमी गोरधन भी था। दोनों को खनियाधाना की पुलिस ने गिरफ्तार किया और चोरी का पता लगाने के वास्ते दोनो अपराधियों को देहली लाई। रामगोपाल सुनार देहली मे धर्मपुरा मोहल्ला के एक मकान मे रहता था। पुलिस ने उसके मकान की तलाशी ली तो यह भी पता लगा कि रामगोपाल, शिवचरण बत्रा, सुन्दर नगर, नई देहली को मूर्तियां बेचता है। तब पुलिस ने शिवचरण बत्रा की सुन्दर नगर, नई देहली की फर्म पर छापा मारा। बत्रा की फर्म मे से पुलिस को कुछ मूर्तियां और कुछ मूर्तियो के सिर कटे हुये मिले। पुलिस ने शिवचरण बत्रा को भी गिरफ्तार कर लिया। तीनों अपराधियों के खिलाफ अदालतो मे मुकदमा चालू कर दिया गया। साहूजी

सहयोग से व जैन समाज की हर प्रकार की कोशिशों से झाँसी न्यायालय ने अपराधियो को सजा के आदेश दिये।

साहूजी ने म० प्र० व उ० प्र० के प्राचीन तीर्थक्षेत्रों के मंदिरों के जीर्णोद्धार के कार्यों को कार्यान्वित करने के वास्ते अपने दफ्तर "साहू सीमेंट सर्विसेज", नई देहली से दिनाक 5 नवम्बर, 1959 ई० को श्री आर० सी० पारिख ऐडीशनल चीफ इंजीनियर, श्री बिशनचंद जेन ओवरसियर तथा श्री उलाल (फोटोग्राफर टाईम्स आफ इंडिया नई देहली) से एक टेक्निकल पार्टी को प्राचीन क्षेत्रो का निरीक्षण और सर्वेक्षण करने के वास्ते ललितपुर भेजा। टेक्निकल पार्टी ने लगभग 1 ½ महीने मे बडी लगन के साथ रातदिन एक करके 51 प्राचीन क्षेत्रों का निरीक्षण और सर्वेक्षण किया। सब चीजो को नोट किया नक्शे बनाये, जीर्णोद्धार व नवीन साहू जैन संग्रहालय आदि कार्यो की लागत के तखमीने (Estimates) बनाये, हर क्षेत्र की मूर्तियों आदि के फोटो तैयार कराकर हर क्षेत्र के अलग-अलग एलबम तैयार करवाये तथा क्षेत्रों की रंगीन फिल्म तैयार करवाई जिनको साहूजी ने बहुत पसन्द किया। इन फिल्मो को नई देहली मे लाल मंदिर और पपोरा क्षेत्र आदि स्थानो पर दिखाया गया।

उपरोक्त क्षेत्रों का निरीक्षण और सर्वेक्षण करने में बडी-बड़ी कठिनाइयाँ उठानी पडी जबकि तमाम क्षेत्रो के मार्ग व क्षेत्र भयानक जंगलों, वनो, झाडियो, नदी-नालों, पहाडों, खूखार जानवरों, (शेर आदि जानवरो) और डाकुओं से घिरे हुये थे तथा घोडो पर जाने-आने के मार्ग बड़े ही खराब, भयानक और खतरनाक थे। ऐसे स्थानो पर जाना और आना कोई मामूली काम न था। मौत और जिन्दगी का सवाल था। कई बार देवगढ़, पचराई, थोवनजी और नैनागिर आदि क्षेत्रों पर खतरे की खबर मिलने पर पास के गांवो मे भागना पडा था। भगवान के नाम और णमकार मत्र के जाप के द्वारा सब कार्य सिद्ध हुये। उपरोक्त क्षेत्रो की सब रिपोर्टें साहूजी के सम्मुख रक्खी। उन्होने कुल क्षेत्रों मे से देवगढ, बानपुर (उ० प्र०), कन्धार हिल (चदेरी), पचराई (खनियाधाना), बोवनजी, द्रोणगिर (म० प्र०), पपोरा, आहार (टीकमगढ़) और चित्तौडगढ़ किले का दि० जैन मंदिर कुल 9 क्षेत्रों का जीर्णोद्धार, यात्रियों की सुविधा के लिये नवीन सड़कों व देवगढ़ में मूर्तियो की सुरक्षा के लिये एक नवीन साहू जैन संग्रहालय का निर्माण कराने की स्वीकृति दी। सब उपरोक्त क्षेत्रो का कार्य प्रोग्राम के मुताबिक श्री बिशनचंद जैन ओवरसियर की देखरेख में कराया गया। ये सब कार्य सन् 1960 से मार्च, सन् 1968 तक पूरे हुये। सब कार्यों में लगभग 4 लाख रुपये व्यय हुये।

साहूजी की यह भी योजना थी कि मूर्तियो की सुरक्षा के वास्ते एक-एक साहू जैन सग्रहालय ललितपुर, चन्देरी, खनियाधाना और खजुराहो मे भी निर्माण कराया जाये। लेकिन यह कार्य इस कारण से न हो सका कि इन क्षेत्रों के सरकारी अधिकारियों ने क्षेत्रों की जैन समाज को वहाँ की बिखरी हुई प्राचीन मूर्तियों को उठाने की इजाजत नहीं दी। इसके अतिरिक्त, साहूजी इसी प्रकार दूसरे दि० जैन मंदिरों के जीर्णोद्धार के कार्यों के वास्ते दान देते रहते थे। समय-समय पर अपनी मौजूदगी मे देहली के चांदनी चौक के लाल किले के सामने के प्राचीन जैन मंदिर (जो लाल मदिर या उर्दू के जैन मदिर के नाम से प्रसिद्ध है) उसके लिये, अहिक्षेत्र के जैन मंदिरों के लिये तथा अयोध्याजी के जैन मंदिर आदि के जीर्णोद्धार के लिये लाखों रुपये दान मे देते रहते थे जिससे वह पुण्य के भागी बने। साहूजी जैनियो के सरताज थे। उनमे बहुत से गुण थे। उनके गुणों का आदर करते हुये दिसम्बर, सन् 1970 मे श्रीमान साहू शांति प्रसाद जी जैन को देहली मे एक भव्य समारोह मे श्रावक-शिरोमणि की पदवी दी गई। साहूजी का जैसा नाम था वैसे ही उनमे गुण भी थे। वे शांतस्वभावी थे। जब कभी वह अपने नवीन भवन का निरीक्षण करते थे अकेले ही शांति के साथ करते थे और उसकी अच्छाई और बुराई को देखते थे।

जिस प्रकार अक्सर बड़े-बड़े धनवान् कानों के कच्चे होते है, साहूजी कानो के कच्चे न थे। वह तो सच्चे प्रेमी और उसूलों के पाबन्द थे। जो व्यक्ति उनसे किसी की बुराई या चुगली करता था वे उस चुगलखोर और शिकायत करने वाले की बातों का यक़ीन नहीं करते थे, जब

तैंक उन बातों की अच्छी तरह से छानबीन न कर लेते थे। छानबीन करने से जिसकी गलती होती थी उसके विरुद्ध उचित कार्यवाही करते थे। मुझे उनकी इस प्रकार की बातों का खूब अनुभव है। अक्सर झूठी चुगली करने वालों और शिकायत करने वालों को अपने स्वार्थवश नीचा देखना पड़ा। साहूजी मुनि श्री शांति सागरजी, मुनि श्री देशभूषण जी, मुनि श्री विद्यानन्द जी और मुनि श्री गणेशकीर्ति जी आदि साधुओं के सच्चे भक्त थे। वे विद्वानों, पंडितों और धार्मिक-सामाजिक कार्यकर्ताओं का भी आदर करते थे। भारतीय ज्ञानपीठ के द्वारा जैन धर्म के शास्त्र, पुस्तकें, क्षेत्रों के इतिहास व नक्शे और नवीन अच्छी-अच्छी पुस्तकें लिखवा-लिखवा कर प्रकाशित करा कर देश-विदेशो मे प्रचार कराते थे जिससे जैन धर्म की उन्नति होती थी। साहूजी सबसे अच्छी पुस्तक लिखने वाले विद्वान को ज्ञानपीठ द्वारा हर साल एक लाख रुपये का पुरस्कार दिया करते थे। साहू जैन सस्थाओ ने देश की जो सेवाये की है वे सर्वविदित हैं। साहूजी भारतीय राष्ट्र के सेवक व हमदर्द भी थे। भारत सरकार उनका आदर करती थी।

जिस समय सन 1965 ई० मे भारत और पाकिस्तान की लड़ाई छिडी उस समय देहली मे परेड के मैदान मे जैन समाज की ओर से श्री साहू शाति प्रसाद जैन का सभापतित्व मे एक आम सभा हुई। श्री साहूजी ने जैन समाज की ओर से भारत के प्रधान मंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री जी को रुपयो की एक थैली भेट की, और साहूजी की अपील पर बहुत-सी जैन समाज की स्त्रियो ने अपने-अपने जेवर उतार उतार कर भारत के प्रधान मत्री को भेंट किए। मुनि श्री देशभूषण जी महाराज ने भारत के प्रधान मत्री श्री लाल बहादुर शास्त्री जी के सिर पर हाथ रखकर उनको आशीर्वाद दिया। साहूजी भगवान महावीर 25सौवां निर्वाण महोत्सव सोसायटी के अध्यक्ष थे। उस समय उनकी कोशिशों से भारत की भूतपूर्व प्रधान मत्री श्रीमती इंदिरा गाधी ने भगवान महावीर के निर्वाण महोत्सव के उपलक्ष मे उपरोक्त सोसायटी व भारत की जैन समाज के धार्मिक कार्यो मे हर प्रकार की सहायता की। साहूजी को जैन धर्म को ऊंचा उठाने के प्रति बहुत लगन रहती थी। उन्होने भगवान महावीर के निर्वाण महोत्सव को सफल बनाने और हर प्रकार से जैन धर्म प्रसार के लिये अनेक कार्यो का प्रचार करते हुये एक कार्य यह भी किया कि उन्होंने भारतवर्ष की जैन समाज से अपील की कि हर घर में जितने व्यक्ति हो, हर व्यक्ति एक-एक पैसा प्रति दिन गुल्लक में डालकर जमा करे और इस धन को सोसायटी के पास भेजे। मैंने भी इस अपील के मुताबिक 312 रु० 50 पैसे जमाकर श्री सुकुमार चंद जैन महा मंत्री के पास मेरठ भेजे और इसी उपलक्ष में जीर्णोद्धार आदि कार्य कराये। इस प्रकार इस अपील से जैन समाज की ओर से हजारों की संख्या में धन राशि प्राप्त हुई। यह भी एक महान कार्य था। साहू जैन संस्थाओं ने देश की जो सेवायें की हैं वे सर्वविदित हैं। इससे साहू जी का नाम अमर रहेगा। वे भारत के प्रमुख उद्योगपति तथा भारतवर्षीय जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी के अध्यक्ष, तीर्थभक्त, श्रावक शिरोमणि, समाज सेवक, दानवीर साहू श्री शांति प्रसाद जी जैन की प्रेरणा से उनकी धर्मपत्नी तथा साहू जैन ट्रस्ट की अध्यक्षा श्रीमती रमा जैन जैसी महान् आत्माओं ने उपरोक्त तीर्थ स्थानों को प्रकाश मे लाने तथा उनका जीर्णोद्धार व मूर्तियो की सुरक्षा के लिये "साहू जैन संग्रहालय", यात्रियो आदि की सुविधा के लिये पहाड़ों वनो आदि की कटाई कराकर क्षेत्रो में आने-जाने के पक्के मार्गों का निर्माण कराकर जो महान कार्य कराया है वह सराहनीय है, जो सैकड़ों व हजारो वर्षो तक उनकी धवल कीर्ति को प्रकट करता रहेगा। आपके द्वारा अनेक संस्थायें स्थापित हैं। अनेक गरीब, अपाहिज व अन्य अनाथ आश्रम सहायता पा रहे है तथा अनेक विद्यार्थी छात्रवृत्ति प्राप्त कर अपना जीवन सफल बना रहे हैं एवं भारतीय ज्ञानपीठ के द्वारा जो जैन धर्म प्रचार आदि का कार्य हो रहा है वह सब आपके किए हुये बेमिसाल कार्य है। आप जैसे उदार हृदय महामानव संसार मे बिरले ही होते हैं।

साहू जी के निधन से भारत की जैन समाज का सरताज इस संसार से चला गया जिससे भारत की जैन समाज को बडी भारी क्षति हुई है और उनके चले जाने से, उनके स्थान की पूर्ति असंभव है। उनके निधन पर जितना भी शोक मनाया जाये थोड़ा है। लेकिन हृदय मे शाति लाने से ही सुख की प्राप्ति होती है।

मै सच्चे हृदय से उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करता हुआ श्रीजी से प्रार्थना करता हूँ कि स्वर्गीय की आत्मा को शाति प्राप्त हो।

□ □ □

रिटायर्ड ओवरसियर
भू० पू० मंत्री, जैन मित्र मंडल, देहली।
शिकारपुर (बुलन्दशहर) उ० प्र०

अहिंसा : विश्वधर्म

□ उपाध्याय मुनि श्री विद्यानन्द

'णाणी सिव परमेट्ठी सव्वण्हू विण्हू चउमुहो बुद्धो ।
अप्पोवि य परमप्पो कम्मविमुक्को य होइ फुडं ।।'

अहिंसा भगवान् महावीर की दिव्य ध्वनि है, चौबीस तीर्थकरों द्वारा उपदिष्ट सम्यग् धर्म है और स्याद्वाद सिद्धान्त को मानने वाले कोटि-कोटि जनों का धर्म है । हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि अहिंसा प्राणिमात्र का आत्मधर्म भी है । यह वस्तुस्वरूप होने से सभी को प्रिय है । ''वेरं मज्झं ण केणवि' कहने वाले तीर्थंकर विश्व के सम्पूर्ण जीवाजीव से निर्वैर थे । सब मानवों से, अशेष कीट-पतंगों से, विश्व के प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष अणुमहत् परमाणु पुद्गलों से असीम करुणामय अहिंसक व्यवहार करना अहिंसा-धर्म का प्रारम्भिक पाठ है । तीर्थंकरों और उनके अनुयायियों ने अहिंसा को चारित्ररूप देकर मानव जाति का महान् उपकार किया है । अपने अहिंसामूलक आचार द्वारा आर्यभूमि के कणकण को अपनी स्वेच्छया संचारशील चरणविभूति से निरन्तर पवित्र करने वाले जैनाचार्यों और मुनियों ने मानव को हिंसक पशुवृत्ति से ऊपर उठाकर मानवता की दयामयी मणिशिला पर प्रतिष्ठित किया है । अहिंसा, माता की गोद के समान, समस्त प्राणियों को अभय प्रदान करने वाली है । इस शब्द की मधुरता को चखकर प्राणियों के परस्पर वैरभाव का उपशम होता है । वैरभाव की निवृत्ति से हृदय में शान्ति की शीतल धारा प्रवाहित होती है । शान्ति की इस जलधार में अवगाहन करने वाला विश्व ही इस प्रकार अहिंसा परम्परा के संबंध से तत्वचिन्तापरिणामी मोक्ष के लिए मुख्य साधन है । अहिंसा के इस आत्मदर्शनमूलक धर्म का प्रभाव विश्व के सभी धर्मों पर छाया हुआ है । वैदिक धर्म, जिसमें यज्ञानुष्ठान विधि में हिंसा की जाती रही, अहिंसा धर्म के प्रभाव से वहां 'मा हिंस्या.' (हिंसा मत करो), 'निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव' (जो तत्वचिन्ता की ओर प्रवृत्त हो सकता है, और सब प्राणियों में वैर-रहित है, वह मोक्ष को प्राप्त होता है), 'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर त्यागः'' (अहिंसा की प्रतिष्ठा रखने से अहिंसक के पास वैर-त्याग की भावना का उदय होता है) इत्यादि जीवन सूत्र हिन्दू शास्त्रकार लिखने लगे । अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अक्रोध, ब्रह्मचर्य इत्यादि धर्म के दस लक्षणों में वैदिकों ने 'अहिंसा' को धर्म का स्वरूप माना । यह अहिंसाधर्म की महान् विजय थी । अहिंसा धर्म की प्रभावना के परिणामस्वरूप भारत में जैन धर्म के अनुयायियों की विशाल संख्या थी । अकबर के राज्यकाल में चार करोड़ जैन थे ।

ईसाई मिशनरियों द्वारा दुर्गम अगम आदिम क्षेत्रों, पर्वतीय प्रदेशों और पिछड़ी-उपेक्षित जातियों में घूम घमकर अस्पताल, स्कूल आदि बनाकर व्यक्त मानव सेवा भाव भी अहिंसा धर्म की ही प्रेरणा है ।

सम्यक् चारित्र ही धर्म है । यह कागज पर नहीं जीवन में अंकित करना होता है । जीवन में उतारे बिना कागज में रहा धर्म प्राणी को त्राण नहीं देता । धर्म की रक्षा जीवन को तन्मय बनाकर होती है धर्म रक्षा के लिए उसके पालने वालों की संख्या अधिकतम होनी चाहिए, क्योंकि 'न धर्मो धार्मिकैर्विना' (धार्मिकों के बिना धर्म किसमें स्थित होगा) । अतः विश्व के देशों में, प्रदेशों में, नगरों, गांवों और जातियों में धार्मिकता का शंख फूकने की परमावश्यकता है, ताकि उदार सर्वोदयी धर्म का विस्तृत रूप विश्वमंच पर पुनः अवतीर्ण हो और 'अत्ता चेव अहिंसा', (आत्मा ही अहिंसा है) के सन्देश के उद्घोषक तीर्थंकर वृषभदेव के, जिन्होंने लोकसंग्रह एवं लोक-कल्याण की भावना से संसार को दिव्य-ध्वनि का अमृतकलश पिलाया, उसी लोकधर्म और आत्मधर्म के अभ्युत्थान से हिंसा, वैर, कलह, शिथिलाचार आदि दुर्जात आधि-व्याधियों का शमन किया जा सके और विश्वशान्ति के धूमिलहुए चित्रों में भी नया रंग उमगाया जा सके ।

'चारित्तं खलु धम्मो' की गूंज में से उठने वाली अहिंसा की पदध्वनि को पहचानकर जनसाधारण सम्मान से विनत हो उठे, झूम उठे, इसके अनुरूप स्वयं को बनाना धर्मभावना के लिए प्रथम मंगलपाठ है । अशेष प्राणियों का हित-साधन करने वाले तीर्थंकरों के अहिंसा-धर्म को ही सर्वोदय-तीर्थ के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त

हुई थी। धर्म का यश-नाद गुंजरित करते हुए श्रमण मनीषियों ने *'सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव'* यह वाक्य धर्म के राजमार्ग पर संकेत-शिला के रूप मे उत्कीर्ण कर दिया है। वह मंगलमय धर्म पुनः विश्व में सर्वोदय तीर्थ के रूप में पहचाना जाए, इसमें श्रावकों, त्यागियों और अशेष धर्मानुरागियों को मन, वचन और कर्म से सहयोग करना चाहिए। एक अदम्य साहस लेकर, निष्ठा और संकल्पपूर्वक निर्वैर भाव द्वारा तप, त्याग, संयम, अपरिग्रह, शौच, आर्जव आदि उत्तम गुणों को राष्ट्र के वातावरण में अपने विशुद्ध आचरण से संक्रमित करने वाला जैन, भगवान महावीर का सच्चा संदेश-वाहक है। श्रावक और त्यागी, मुनि और आचार्य तथा समाज के शास्त्र धुरन्धर विद्वान इस ओर एक मन, एक प्राण से चेष्टावान होंगे तो यह दयामय धर्म विश्वमानव की झोली को शान्ति, अहिंसा, निर्वैर, अपरिग्रह, शील आदि रत्नराशि से भर देगा।

भारत धर्मभूमि है। अनादि काल से यहां के धर्म-कृषक अपने चरित्र के खेत मे धर्म के बीज बोते आये हैं। भारतीयो के चतुर्विध पुरुषार्थ में प्रथम पुरुषार्थ धर्म है। अहिंसा उसका प्रमुख स्तम्भ है। कहना होगा कि एक अहिंसा में ही अन्य सारे धर्म समाए हुए है। सारे भारत मे पुरातन धर्म स्तम्भ इसी धर्म के कीर्तिस्तम्भ के समान खड़े हुए धर्म का सन्देश सुना रहे है। साम्राज्य आये और गये, सम्राट् बने और बिगड़े, पर कोई अमरत्व प्राप्त न कर सका; किन्तु धर्म-स्तम्भों पर उत्कीर्ण ये धर्म-लेख अब तक खड़े है और उनमे अभिहित धर्म सदा रहेगा। जो आत्मा का धर्म है, वह आत्मा की तरह अमर है।

देवानांप्रिय अशोक के गिरनार अभिलेख से प्राप्त यह 'अविहिंसा' धर्म-सूत्र परस्पर, एक-दूसरे के सपीड़न को परास्त करने वाला है। यह परिभाषा उस धर्म के लिए सिद्ध हो सकती है, जिसमे पर-पीड़न को अधर्म माना गया है। जैन धर्म ही वह धर्म है जिसमे मन से भी परद्रोह-चिन्तन-पराङ्मुखता का विधान है।

प्रजापति ऋषभदेव ने इसी धर्म की प्रतिष्ठा लोक में स्थापित करते हुए इसके लौकिक तथा आत्मिक दो मार्ग—"कृषि करो या ऋषि बनो"—निर्धारित किये। प्रथम उन्होने छह प्रकार की विद्याओ का प्रसार किया जिससे लोक-जीवन समुन्नत बना और अन्त में श्रमण-वृत्ति धारण करते हुए पारमार्थिक श्रम-मार्ग की प्रतिष्ठा की। यह श्रमणत्व भी श्रम के महत्व को ही व्यक्त करता है।

उपलब्धियों के लिए श्रम करना आवश्यक है। मुनि सम्यक् श्रम करते हैं, अतः श्रमण संज्ञा से विभूषित होते हैं। बादलों से आच्छन्न सूर्य का प्रकाश पृथ्वी पर नहीं आता। जो मनुष्य होकर इसी भव में साध्य उत्तम फलों के लिए अपनी भुजाएं ऊपर नहीं उठाता, उसे उनसे वंचित रहना होगा। तप मनुष्य को सभी क्षेत्रों में समुन्नति देता है और उसे मनुज बनाता है, परन्तु तप से रहित को पतन का मार्ग देखना पड़ता है। 'तप' का विलोम शब्द 'पत' है जिसका अर्थ पतन है। अपने परिश्रम का परिणाम गुंजा और मणि दोनों में यदि मिल सकता है तो कौन बुद्धिमान मणि छोड़कर गुंजा ग्रहण करना चाहेगा ?

शरीर से मनुष्य होना अलग बात है और आचरण से मनुष्य होना अलग बात है। आज प्रायः से शरीर मनुष्य तो अति संख्या में हैं, इतने कि सरकार को उनके उदर-पूरण के लिए विदेशों से अन्न-याचना करनी पड़ती है, परन्तु उनमें आचारवान् मनुष्य बहुत अल्प संख्या में हैं। जब आचारवान् अधिक होंगे, तब राष्ट्र सर्वतोमुखी उन्नति करेगा। गणपूरकों ने कभी विजय प्राप्त नही की।

आज विश्वत्राण के लिए वृषभदेव का उपदेश सर्वाधिक सशक्त है। वीतराग परमदेव को अपना मार्गदर्शक स्वीकारने से युद्ध, हिंसा, भय, सीमोल्लंघन, परपीड़न इत्यादि विश्व को संत्रस्त करने वाली आकुलताओं का प्रशमन सहज हो जाएगा। भगवान महावीर का लगभग ढाई हजार वर्ष पुराना वह स्वर, जिसका समाघोष उन्होने विश्वमानव के लिए किया था, आज भी उतना ही प्राणवन्त है, जितना उनके अपने समय में था। वह समाघोष है 'मित्ती मे सव्व भूदेसु'—मैं सम्पूर्ण विश्व का मित्र हूं, मेरा कोई वैरी नही है। यह घोषणा पुनः जन-जन के हृदय-पटल पर उत्कीर्ण करने योग्य है। स्मरण रखिए कि यह वीर-शासन की वीर-वाणी है, महावीर का सिंहनाद है, परन्तु नितान्त उत्पीड़न-रहित तथा विश्व को शान्ति प्रदान करने वाला।

□□□

जैन साधु की चर्या

□ डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच

स्वसंवेद्य समरसानन्द की सहज अनुभूति से समुल्लसित स्वरूप की साधना में रत स्वात्मा का अवलोकन करने वाले श्रमण निर्ग्रन्थ सहज लिंग से आत्माराम में विचरण करने वाले परमार्थ में जैन साधु कहे गये है। जो केवल व्यवहार मे विमूढ है, जिन्हे शुद्धात्मा के स्वरूप का परिचय नही है, केवल साधुता का वेश ही धारण किए हुए है, वे परमार्थ से जैन साधु नही है। जैन साधु ही उस शुद्धात्म-चर्या मे तल्लीन रहते है, जिस परम तत्व तथा सत्य के साक्षात्कार के लिए विश्व में तरह तरह के नाम-रूपों तथा बाह्य क्रियाओ एव मतो को अपनाकर अपनी-अपनी मान्यताओं तथा पक्षो का पोषण कर रहे है। परन्तु वास्तव में जैन साधु सभी प्रकार के मत-मान्यताओ, पक्षो तथा आचार-विचारगत परिग्रहो से रिक्त यथार्थतः साधुता का पालन करता है। पालन करता है - यह कहना भी भाषा की असमर्थता है। जैन साधु तो अपनी चर्या में अपने गुण पर्याय रूप परिणमते हुए अपने आप का अवलोकन करते है। उस दशा में केवल विज्ञान घन स्वभाव अपने पूर्ण उज्ज्वल स्वरूप का, चैतन्य का पूर्ण प्रकाश एकत्व रूप से उदित होता है, उस समय कोई द्वैत भासित नही होता है, अनादि काल की अज्ञान दशा विघट जाती है और स्वतत्त्व का उदय हो जाता है। यही ज्ञानियो का प्रभात है। अज्ञान-अन्धकार से प्रकाश में योगियो की चर्या है।

'*तमसो मा ज्योतिर्गमय*" का सहज सन्देश जैन साधुओ की चर्या से सहज प्रकट होता है। जिस अनात्म दशा मे ससार के तथाकथित विद्वान, वैज्ञानिक तथा अन्वेषणकर्ता प्रत्येक समय सोते रहते है, उससे भिन्न आत्मस्थिति मे ज्ञानी साधु प्रत्येक समय में जाग्रत रहते है - यहाँ तक कि जिस घोर अन्धकार से व्याप्त रात्रि मे चर-अचर सभी जीव सोते रहते है, उस समय मे भी ज्ञानी अपने ज्ञान मे जागते रहते हैं। ज्ञान-चेतना के समक्ष काम वासनाओ, पर-भावो, विभावो तथा परसमय के मिथ्या भाव टिक ही नही पाते है। केवल ज्ञान चेतना का विलास ही उत्तम मुनियो की चर्या है जो स्थायी एवं सहज आनन्द की जननी है, जिसे एक बार उपलब्ध हो जाने के अनन्तर कुछ प्राप्तव्य एवं करणीय नही रह जाता है। वास्तव में जैन साधु की चर्या सच्ची शान्ति एव आनन्द में निहित है। जब शुद्ध के लक्ष्य से प्रेरित अनन्तविकल्पी ज्ञान एक शुद्धात्मनिष्ठ होकर ज्ञानस्वभाव-तन्मय होकर परिणमित होता है तब सच्चे सुख की किरण उद्भासित हुए बिना नही रहती, क्योकि साधु चर्या ही धर्म है और धर्म मे अविनाभाव रूप से सच्चा सुख विलसित होता है। अतः धर्म परिणत आत्मा नियम से आनन्द का भोग करता है। सच्चा आनन्द ही उसका जीवन है। यही साधु-चर्या का प्रत्यक्ष परिणाम है। साधु की चर्या का आदि बिन्दु क्या है? सतत सहज भेद विज्ञान का उच्छलन। जिसे आत्म अनात्म का भेद-विज्ञान नही है, वास्तव में वह जैन साधु होने का भी पात्र नही है, क्योकि उक्त दशा तथा स्थिति हेतु उसका लक्ष्य स्थिर नही हो सकता।

भेद विज्ञान

जो आत्म-दर्शन करना चाहता है, उसे भेद-विज्ञान करना ही पडता है। यह मोक्षमार्ग की आवश्यक भूमिका है, क्योकि सत् असत् की पहचान के बिना वस्तु-स्वरूप का निर्णय नही हो सकता। वास्तव में एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ कोई सम्बन्ध नही है। सभी वस्तुएं स्वतन्त्र व स्वाधीन है। वस्तु की असलियत का ख्याल आते ही आनंद की धारा उमड पड़ती है, क्योकि परमार्थ में प्रत्येक वस्तु अपने मे प्रतिष्ठित है। ज्ञान ज्ञान मे है और क्रोधादिक क्रोधादिक मे ही है। दोनो का स्वभाव भिन्न होने से दोनो ही भिन्न हैं। इन दोनों में आधार-आधेयत्व भी अपने-अपने में ही है।[1] किन्तु दर्शनमोह के वश में होकर हम अनादि काल से यह मानते चले आ रहे है कि रागादिक भाव चैतन्य करता है। उपयोग तो चैतन्य का परि

---

१ "तदप्रभवे चैक ज्ञानमेवैकस्मिन् ज्ञान एव प्रतिष्ठित विभावयतो न पराधाराधेयत्व प्रतिभाति। ततो ज्ञानमेव ज्ञाने एव क्रोधादय एव क्रोधादिष्वेवेति साधु सिद्ध भेदविज्ञानम्।"—समयसार, गा० १८१ की आत्मख्याति टीका।

णमन होने से ज्ञानस्वरूप है और क्रोधादि भावकर्म, द्रव्य-कर्म एवं नोकर्म सभी पुद्गल द्रव्य के परिणाम होने से जड़ हैं। इनकी आज तक वास्तविक पहचान नहीं हुई। इसीलिये संसार में भटक रहे हैं। काललब्धि के वश गुरु के सम्यक् उपदेश के निमित्त से मिथ्यात्वादि प्रकृतियों के उपशम, क्षय या क्षयोपशम से सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होते ही स्व-पर भेद-विज्ञान प्रकट हो जाता है और तभी आत्मा अपने स्वरूप को पहचान लेती है। स्वात्मतत्त्व की रुचि को प्राप्त हुआ जीव ही संयोगी दशा में भी पर-द्रव्य से भिन्न निज तत्त्व की प्रतीति कर सकता है।

जैसे दो जुडी हुई वस्तुओं को अलग-अलग करने के लिए मिस्त्री सन्धि के स्थान पर छैनी मार कर या करोंत चलाकर कुशलता के साथ उन दोनों को पृथक् पृथक् कर देता है, वैसे ही सम्यक्त्व के सम्मुख संसारी जीव ज्ञान-रूपी करोत के अभ्यास से कुशलता के साथ लक्षण भेद का ज्ञान होने से जीव और अजीव को भिन्न-भिन्न कर जानता है। रागादिक भावों की भिन्नता के साथ ही चैतन्य रस से निर्भर ज्ञायक आत्मा तत्काल ऐसा प्रकाशित हो जाता है, जैसे कि खान में से निकला हुआ सोना सोलह बानी ताव पर चढ़कर अपने उज्ज्वल स्वरूप में चमचमाने लगता है।

भेद-विज्ञान करोत की तीक्ष्ण धारा के समान कहा गया है। जैसे करोत लकड़ी के टुकडे-टुकड़े कर डालती है, उसी प्रकार भेद-विज्ञान भी ज्ञान और रागादि विकार इन दोनों को अपनी अन्तर्दृष्टि रूपी तीक्ष्ण आरे के द्वारा परस्पर में या पूर्ण रूप से पृथक् पृथक् करके, यह निर्मल भेद-विज्ञान, जो स्वयं शुद्ध चैतन्य का ठोस पिण्ड है, पर के संयोग से रहित निज स्वरूप में लीन हो जाता है। अतः स्वरूपलीनता के अनुपम सुख को प्राप्त करो।[1] इस भेद-विज्ञान से ज्ञानभाव और राग की सूक्ष्म अन्तःसंधि स्पष्ट रूप से प्रतिभासित हो जाती है और निजात्मा में प्रतीत होने वाली ज्ञान और रागादि भावों की एकता दूर हो जाती है। भेद-विज्ञान का माहात्म्य यह है कि यदि जीव निरन्तर उसका अभ्यास करता रहे, कभी भेद-विज्ञान की धारा न टूटे तो भेद-विज्ञान के बल से ध्रुव, शुद्ध आत्मा का अनुभव करता हुआ प्रवृत होता है। इतना ही नहीं, प्रकाशमान अपनी आत्मा को परद्रव्य से उत्पन्न विकारी परिणति को भी दूर कर शुद्ध रूप में स्वयं को प्राप्त कर लेता है।[2] यह सुनिश्चित है कि भेद-विज्ञान से ही निज शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है।

वास्तव में भेद-विज्ञान में निमित्त निमित्त रूप में, उपादान उपादान रूप में, साधन साधन रूप में और साध्य साध्य रूप में, जो जैसा हो वैसा ही उद्भासित होने लगता है। जब तक जीव को हेय-उपादेय का बोध नहीं होता है, तब तक यह हेय को त्यागकर उपादेय को ग्रहण नहीं करता। भेद-विज्ञान होने पर सभी राग-रंगों की हेयता का बोध हो जाता है, इसलिए जीव उन सबको छोड़कर निज शुद्धात्म-स्वभाव का आलम्बन लेता है। यही भेद-विज्ञान की उपयोगिता है।

पाच महाव्रत, समिति, इन्द्रियनिरोध, लोच, छह आव-श्यक, अचेलस, अस्नान, भूमिशयन, अदन्तधावन, खडे होकर भोजन तथा एक बार आहार, ये श्रमण के अट्ठाइस मूल गुण जिनवरों ने कहे हैं।[3] यथार्थ में सभी प्रकार के व्यापारों से मुक्त सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तथा सम्यक् तप में अनुरक्त निर्ग्रन्थ एवं निर्मोह साधु होते हैं।[4]

---

१. चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतोः कृत्वा विभागं द्वयो-
रन्तर्दारुणदारणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च।
भेदज्ञानमुदेति निर्मलमिदं मोदध्वमध्यासिताः
शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना सन्तो द्वितीयच्युताः॥
समयसारकलश, श्लो० १२६

२. यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन
ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते।
तदयमुदयदात्मारामात्मानमात्मा
परपरणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति॥ वही, १२७.

३. प्रवचनसार, गा० २०८-२०९.

४. वावारविप्पमुक्का चउविहाराहणासयारत्ता।
णिग्गंथा णिम्मोहा साहू एदेरिसा होंति॥
—नियमसार, गा० ७५

उत्तम सविकचलित अखण्ड अद्वैत परम चिद्रूप के श्रद्धान, ज्ञान तथा अनुष्ठान रूप स्वभावरत्नत्रय मे अनुरत होते है।

ज्ञानी साधु का ज्ञानरूप परिणमन करना, यह अन्तरंग चर्या है। किन्तु बाहर मे ज्ञान-ध्यान एव अध्ययन मे में लीन रहना, स्व-समय में स्थिर होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का पालन करना और रत्नत्रय की आराधना के लिए अन्तरंग तथा बाहर सभी प्रकार के परिग्रहों से मुक्त होकर महाव्रतों एवं मूलगुणो का पालन करना आर्ष श्रमण मार्ग है। ऐसे ही साधु वीतरागी गुरु कहे जाते हैं। वीतरागता की पूर्ण उपलब्धि ही उनका चरम लक्ष्य होता है। वे स्वयं वीतरागता के एक शिखर होते है। इसलिए उस शिखर पर अधिरोहण करने की की इच्छा से नैतिकता को अपनी व्यवहार-बुद्धि से धर्म मानने वाला श्रावक उनसे वीतरागी-मार्ग को शिक्षा व उपदेश प्राप्त करता है। उनके वीतराग-चारित्र मे चौबीसो घटे आनन्द की धारा प्रवाहित होती रहती है। उनके यम, नियम, व्रत, उपदेश आदि सभी एक-रस धारा से आप्यायित होते रहते है। वहां शान्ति व आनन्द के सिवाय, ध्यान व अध्ययन के अतिरिक्त जगत का कोई व्यापार नही चलता। अतः साधु सब प्रकार से नग्न होकर—तन से, मन से, विकारो से—यथार्थ मे त्यागी होता है। जो केवल वस्त्र को साधुत्व के लिए बाधक समझता है, वह साधु चर्या के योग्य नही हो पाता, क्योंकि आत्मचर्या मे वस्त्र बाधक नही हैं, किन्तु वस्त्र का परिग्रह बाधक है। जो वस्त्र का परिग्रह किए हुए है, वह उसकी आसक्ति से परे नही हो सकता। अतः तृणमात्र भी धारण करना अपरिग्रह महाव्रत से बाहर है। पूर्ण अपरिग्रही तिल, तुष मात्र भी परिग्रहण नही कर सकता। केवल बाहर वसनों को ओढना ही परिग्रह नही है किन्तु आहार मे आसक्ति रखना, अमुक वस्तु मे स्वाद लेना, ससार के विषयों के प्रति रुचि या चाह होना, अपने नाम व यश की कामना करना, मेरा कोई अभिनन्दन या स्वागत करे, ऐसा विकल्प होना, किसी के अच्छे बुरे की अभिलाषा करना, सभी परिग्रह कोटि में है। अतः सच्चा त्याग अंतरंग का माना गया है। किन्तु बाहरी साधनो को देखकर अंतरंग के परिग्रह का अनुमान किया जाता है। इस कारण अंतरंग त्याग के साथ बहिरंग त्याग का भी उपदेश दिया गया है। इस प्रकार साधु की चर्या वही है जिसमें अंतरंग तथा बहिरग दोनों प्रकार के परिग्रह का किसी प्रकार ग्रहण नहीं होता। सभी प्रकार से स्वावलम्बी जीवन की चर्या का नाम साधुचर्या है, जिसमे सम्पूर्ण स्वतन्त्रता का सागर लहराता रहता है और जिस आत्मनिष्ठ साधना मे साधक अपने साध्य की पूर्णता को उपलब्ध होता है। अतः बाहरी जीवन की प्रत्येक क्रिया में उसे अपनी आत्म-चर्या का आनन्द रस का ही स्वाद संवेदित होता रहता है। अतः बाहरी क्रियाओं में जैन साधु को क्लेश एव पीड़ा का अनुभव न होकर आनन्द रस का उच्छलन ही होता है। जैनागमों मे जैन यतियों, मुनियों तथा साधुओं की चर्या का यही रहस्य उद्घाटित किया गया है कि वे आत्मज्ञान से भीतर-बाहर प्रकाशित होते हुए आत्म-चर्या मे निरत रहते है, लौकिक किंवा व्यावहारिक जगत के ढंग से परे रहते है एवं अद्वैत की समरसी भूमिका को अलौकित करते रहते है। □□□

२४३, शिक्षक कालोनी, नीमच मध्य प्रदेश

'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागज, नई दिल्ली
मुद्रक-प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त श्री ओमप्रकाश जैन
प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक
राष्ट्रिकता—भारतीय
पता—२१, दरियागंज, नई दिल्ली-२
सम्पादक—श्री गोकुलप्रसाद जैन
राष्ट्रिकता—भारतीय
पता—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागज, नई दिल्ली-२
स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

मैं, ओमप्रकाश जैन, एतद्द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी पूर्ण जानकारी एव विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है। —ओमप्रकाश जैन, प्रकाशक

भरत और भारत

□ श्री गणेश प्रसाद जैन, वाराणसी

"भरत" नाम के कई महापुरुष इस पुण्य-भूमि 'भारत-देश' मे हुए है। किन्तु जिस महामानव 'भरत' के नाम पर इस देश का नाम 'भारत' प्रख्यात हुआ, वह 'भरत' प्राग्-ऐतिहासिक-काल में हुआ है। वह जैन धर्म के प्रवर्तक, आदि-तीर्थंकर श्री ऋषभदेव के एक सौ पुत्रों में ज्येष्ठ थे। वह चक्रवर्ती, महान् प्रतापी, महापराक्रमी महायोगी, महातपस्वी और ब्रह्मज्ञानी थे। अद्वैतानुभूति अत्यन्त तीव्र होने से प्राचीन वैदिक ग्रन्थों में जड-भरत के नाम से उनका कथन है। 'ऋग्वेद' आदि में जिन 'भरतों' का बारम्बार उल्लेख है, वे उक्त भरत के ही वंशज हैं।

"भारत" देश के जनक "भरत" के सम्बन्ध में प्राच्य और पाश्चात्य विद्वानों को भ्रम हुआ है, और देश के नाम का सम्बन्ध अर्वाचीन चंद्रवंशीय दुष्यन्त-पुत्र 'भरत' के नाम से जोड़कर इतिहास की पाठ्य-पुस्तकों मे पाठ्य-रूप प्रचलित कर दिया गया है, जिसके कारण एक गलत परम्परा का विकास हो रहा है।

अनेक विद्वानों ने अपनी शोधस्वरूप उक्त भ्रांति का निराकरण करते हुए, ठोस प्राचीन-साहित्यिक प्रमाणो से सिद्ध कर दिया है कि—"दुष्यन्त-पुत्र चंद्रवंशीय था। इस 'भरत' से १५०० वर्षों (पन्द्रह सौ वर्षों) के पूर्व से (इस) देश का नाम 'भारत' संसार में प्रख्यात हो चुका था।"

'प्राग्-ऐतिहासिककाल' से ही इस भारत देश की भूमि पर 'भरत' अथवा 'भारत' नाम की एक जाति बसती थी। उस भारत अथवा भरत जाति का सम्राट् (चक्रवर्ती) 'भरत' 'सूर्यवंशीय' था और उसी भरत के नाम पर इस भूमि का नामकरण भारत हुआ है। 'ऋग्वेदादि' प्राचीनतम साहित्य इसी "भरत-जाति" की स्मृति मे ग्रथित हैं।

आदि सम्राट् (चक्रवर्ती) भरत का वंश इक्ष्वाकुवंश, सूर्य्य-वंश, सूर्य्य-कुल आदि उपाधियों से विभूषित, प्रख्यात तथा इस देश का मूल निवासी है। अयोध्यापति, "सुदास", जिसका वेदों मे 'सुहास' व भरत नाम भी मिलता है, सूर्यवंशी और इस 'प्राग्-कालिक' भरत का वंशज है। इसी 'सुदास' का युद्ध चंद्रवंशीय राजा 'पुरु', जिसकी राजधानी 'प्रयाग' (झूसी) में थी, हुआ था। इस युद्ध का वर्णन "देवासुर-संग्राम" अथवा "देवराज-युद्ध" के नाम से वैदिक ग्रन्थों में वर्णित है।

ऐल या चंद्रवंश—महाराजा 'इक्ष्वाकु' के समय के लगभग ही 'मध्य-प्रदेश' का एक प्रतापी राजा था, जो मानव वंश का नही था, उसका नाम 'पुरुरवा' ऐल था। उसकी राजधानी प्रतिष्ठान अथवा 'प्रतिष्ठानपुर' प्रयाग के सामने झूसी के पास थी। वहाँ आज भी 'पहिन' नाम का एक गाँव है। उसे ही 'प्रतिष्ठान' का ठीक स्थान माना गया है।

'पुरुरवा' की रानी 'उर्वसी' अप्सरा थी। उसका वंश 'चंद्र अथवा ऐल' कहलाता था। 'ऐल वंश' ने शीघ्र ही बड़ी उन्नति की और दूर-दूर के प्रदेशो तक अपना राज्य स्थापित किया था। 'प्रतिष्ठान' वाले मुख्य वंश मे 'पुरुरवा' का पौत्र 'नहुष' हुआ और नहुष का 'ययाति'। (सूर्य वंश में भी नहुष-पुत्र ययाति हुआ है।) 'ययाति' के भ्राता ने नीचे की ओर गंगा के तट पर 'वाराणसी' राज्य की स्थापना की। बाद में उसके वंशज राजा 'काश' के नाम पर वह 'काशी-राज' कहा जाने लगा।

चंद्रवंशीय 'ययाति' के पाँच पुत्र—१. यदु, २. तुर्वस, ३. द्रुह्यु, ४. अनु और ५. पुरु थे। 'पुरु' के पास प्रतिष्ठान का राज्य था। उसके वंशज पौरव कहलाए। महाभारत के उद्योग-पर्व (१४६।३) मे वर्णित है कि—"सम: प्रजापति: पूर्वं कुरूणां वंशवर्धन:।" इस वाक्य से स्पष्ट है कि—"कौरव-वंश" का प्रणेता 'सोम' का ५वां पु

भारतं वर्षं भरतात् सुमतिस्तवभूत् ।" (अग्नि पुराण अ० १०७।११,१२)। श्री ऋषभदेव ने रानी मरुदेवी के गर्भ से जन्म लिया, और उनके पुत्र श्री 'भरत हुए; उन्हीं के नाम पर इस वर्ष (देश) का नाम भारतवर्ष कहलाकर प्रख्यात हुआ है।

'भरत' महाराज के पुत्र "सुमति" थे। "वर्षोऽयं भारतो नाम यत्रेयं भारती प्रजा, भरणाच्च प्रजानां वैमनुर्भरत उच्यते, निरुक्त-वचनाच्चैव वर्ष तद्भारतं स्मृतम् ॥" (वा० पु० ४५।१७६)। यह देश भारतवर्ष है और यहाँ की प्रजा भारती है। प्रजा का भरण-पोषण करने मे 'मनु' को 'भरत' कहा गया है। निरुक्त के अनुसार, उस भरत का जो देश है, वही भारतवर्ष है। मत्स्य-पुराण मे भी यही श्लोक है (११४।५)। ब्रह्माण्डपुराण एव लिंगपुराण (१।४७।२४) का भी यही अभिमत है।

इस भू-खण्ड का नाम भारतवर्ष पड़ने से पूर्व अजनाभ-वर्ष और हिमवर्ष प्रचलित था। (भा० ५।७।३ तथा विष्णु-पुराण २।१।१८)। आदिमानव का यही अजनाभ-वर्ष मे जन्म हुआ था और उसी से विश्व मे मानव-सभ्यता का विस्तार भी हुआ। 'मनु' भगवान ने कहा है कि "एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्व स्व चरित्र शिक्षेरन् (पृथिव्या) सर्वमानवाः ॥"

महाभारतयुद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व 'धृतराष्ट्र' ने संजय से भारतवर्ष के सम्बन्ध मे जिज्ञासा की। संजय ने पृथु, इक्ष्वाकु, ययाति, अंबरीष, मान्धाता, नहुष, शिवि, ऋषभ, मुचकुन्द, पुरुरवा नृग, कुशिक, गाधि, सोमाक और दिलीप आदि कतिपय महान् राजाओ का नाम गिनाकर कहा—"सर्वेषामेवराजेन्द्र प्रिय भारत भारतम्।" हे राजराजेन्द्र भारत (धृतराष्ट्र), इन सब लोगो को भारत देश अत्यधिक प्रिय था। ये सभी लोग देश भक्त हो गए हैं।

महाराजा 'पृथु' ने पर्वत श्रेणियां काट-काटकर भूमि को समतल किया (समथल किया)। उसे मनुष्यो के आवास योग्य बनाया और कृषि, वाणिज्य एव पशु पालन का प्रचलन किया। (विष्णु पु० १।१३।८२, ८३,८४)। महामानव श्री ऋषभदेव ने मानवों को सभ्य-सुसंस्कृत बनाया, प्रजा को गृहस्थाश्रम में नियमित किया। (भा० ५।४।१४)। इन्हीं श्री ऋषभदेव के पुत्र महाराजा 'भरत' थे जिन्हें जन्म देकर यह देश धन्य हो गया। उनके ज्ञाति के रूप यह 'अजनाभवर्ष' और हिमवर्ष से भारतवर्ष कहलाने लगा और अब इसी नाम से प्रख्यात है।

श्रीमद्भागवत् के मंत्र (५।१४।४२) मे महाप्रतापी महाराजा भरत के सम्बन्ध में वर्णित है कि—"जैसे गरुड़ से कोई भी पक्षी होड़ नहीं कर सकता, वैसे ही राजर्षि भरत के पथ का अनुसरण भी अन्य कोई राजा नहीं कर सकते।

महाराजा 'भरत' का वंशानुक्रम "स्वायंभुव मनु" के पुत्र महाराजा 'प्रियव्रत' से सभी पुराणों मे कथित है—प्रियव्रत के आग्निध्र, आग्निध्र के नाभि, नाभि के ऋषभ और ऋषभ के पुत्र 'भरत' महाराज थे।

प्रियव्रतो नाम सुतो मनोः स्वयंभुवस्य च,
तस्याग्निध्रस्ततोनाभिर्ऋषभस्य सुतस्ततः।
अवतीर्णं पुत्रशत तस्यासदिब्रह्मपारगम्,
तेषा वै भरतो ज्येष्ठो नारायणपरायण: ॥
विख्यात वर्ष मेतन् नाम्ना भारतमुत्तमम् ॥
(भा० स्क० ५, अ० ४)

अर्थात्—उक्त वंशावली मे भरत हुए और उन्हीं के नाम पर यह देश भारत के नाम से विख्यात हुआ है।

इक्ष्वाकुः प्रथमप्रधानमुग्रादित्यवशस्ततः तस्मादेव च सोमवंश इति यस्त्वन्ये कुरुग्रादयः। (जैन हरिवंश-पुराण, पर्व १३, श्लोक ३२) अर्थात् सबसे प्रथम इक्ष्वाकु-वंश चला, उसके बाद सूर्य, चन्द्र, कुरु, उग्र आदि वंश प्रचलित हुए। इसी सर्वप्रधान प्रथम इक्ष्वाकुवंश मे भरत हुए है। पुराणो के अनुसार 'इक्ष्वाकु' के एक सौ पुत्र थे। उनसे ही सम्पूर्ण आर्य-वंश की परम्परा चली है। श्री ऋषभदेव जी को भी एक सौ पुत्र थे। 'इक्ष्वाकु' वंश के नामकरण का कारण जैन ग्रंथ मे निम्न प्रकार से है—

"आकनाच्चतदिक्षूणं रस सग्रहरोगुणाम्। इक्ष्वाकुः इत्यभूद्देवो जगतामभिसम्मतः ॥" अर्थात् श्री ऋषभदेव की प्रथम पारणा के समय राजा श्रेयास ने उन्हे 'इक्षु रस' दिया था, तभी से इस वंश को इक्ष्वाकु-वंश कहा जाने लगा। 'इक्षु' का उल्लेख अथर्ववेद (१।३४) तथा ऋग्वेद मे है।

पं० श्री भगवतदत्त जी ने अपनी रचना 'भारतवर्ष का इतिहास' में राजा 'सुदास' की वंशावली प्रथम 'मनु'

(श्री नाभि) से दी है। ६३वीं पीढ़ी में श्री रामचन्द्र जी है। राजा 'सुदास' ५२वी पीढ़ी मे है। ५३वीं में कल्माषपाद, ५४वी मे सूर्यकर्मा ५५वी मे अमरण्य, ५६वीं मे निघ्न, ५७वी मे रघु, ५८वी मे अनमित्र, ५९वी में दिलीप, ६०वी मे रघु (द्वितीय), ६१वी मे अज, ६२वी मे दशरथ और ६३वीं मे श्रीराम है।

द्वितीय रघु ६०वी पीढ़ी से रघुवश की उत्पत्ति लिखा है। इस तालिका से यह सिद्ध होता है कि "श्रीरामचन्द्र जी से ११ पीढ़ी पूर्व 'सुदास', अर्थात् 'भरत-जाति' का अस्तित्व था। इसके पूर्व से ही देश का नाम 'भारत' प्रचलित था।"

प्रो० इन्द्र एम० ए० २० मार्च सन् १९४९ के हिन्दुस्तान (समाचार-पत्र) मे लिखते है कि 'भारत' नाम वैदिक काल मे 'भरत जाति' के द्वारा, जो हमारी पूर्वतम जाति है, रक्खा गया है। उन्ही लोगों ने देश बसाया, सभ्यता संस्कृति प्रदान की और नामकरण भी किया। पौराणिक साहित्य मे 'भारत' शब्द का प्रयोग 'आर्यावर्त' की तरह सीमित प्रदेश के लिए नही किया गया है, अपितु समूचे देश के लिए हुआ है। 'भरत' जाति की चर्चा विशेषत. ऋग्वेद, यजुर्वेद और ब्राह्मण-ग्रथो मे है।

श्री ब्रह्मदत्त जी शर्मा ने २५ सितम्बर, सन् १९४९ के हिन्दुस्तान पत्र मे लिखा है कि वास्तविक स्थिति यह है कि "इस देश का अत्यन्त प्राचीन नाम "भारत" था, जिसका वर्णन ऋग्वेद के तृतीय मण्डल एवं १०वें मण्डल के ७५वे सूक्त मे हुआ है। साथ ही, भारत की मुख्य-मुख्य नदियो के नाम भी लिखे है। अनन्तर यजुर्वेद और अथर्ववेद मे 'भारत' के मुख्य-मुख्य प्रान्तों का भी निर्देश मिलता है। लेख के अन्तिम भाग मे लिखा है कि "वेदों से लेकर दूसरी शताब्दी तक निःसन्देह, एवं बारहवी शताब्दी तक विकल्प रूप मे, इस देश का अन्य देशों मे भारत एवं भारतवर्ष नाम प्रसिद्ध था।"

प्रो० राजबली पाण्डेय ने अपनी रचना "भारतीय इतिहास का परिचय" (पृ० १, द्वितीय सस्करण मे) लिखा है कि "जिस देश मे हम बसते है, उसका प्राचीन नाम भारतवर्ष है। जान पड़ता है कि 'भरत' के वंशजो की प्राचीन भरत जाति ने ही यह नाम देश को दिया है। राजनीति, धर्मनीति, विद्यानीति और संस्कृति आदि मे भरत जाति आर्यो मे अग्रणी थी। उसके विस्तार और प्रभाव से सारा देश भारतवर्ष अथवा भरतो का देश कहलाया। यहाँ तक कि देश की विद्या और कुल का नाम भी 'भारती' पड़ा।

प० जयचन्द विद्यालंकार ने अपने ग्रन्थ "भारतीय इतिहास की रूपरेखा" (प्र. सं. प्र. जि. पृ. १४६) मे लिखा है कि ऐसा सोचने का प्रलोभन होता है कि "हमारे देश का नाम भारतवर्ष उसी भरत' (शकुन्तला-दुष्यन्त-पुत्र) से हुआ है, किन्तु वह नाम (भरत) एक और प्राचीन राजा ऋषभ पुत्र 'भरत' के नाम से बतलाया जाता है और वह भरत या तो कल्पित है या प्रागैतिहासिक।

विद्यालकार जी ग्रन्थ मे यह भी लिखते है कि "दुष्यन्त-पुत्र 'भरत' चद्रवंशियो के सिरमौर्य हुए है। इनके पूर्वज चद्रवंशीय थे। ये चद्रवशीय लोग भारत मे बहुत थोड़े समय पूर्व ही बाहर से आये थे। इनका सबसे प्रथम राजा जो भारत आया, 'पुरुरवा' था। यद्यपि वह बड़ा प्रतापी और वीर था, किन्तु उसको यहाँ विशेष सफलता नही मिली, इसलिए वह अपने देश लौट गया। परन्तु उसकी संतान यहाँ ही बसी रह गई। शनैः-शनैः ये लोग अपनी शक्ति बढ़ाते और अपने राज्य का विस्तार करते रहे। उस समय इस कुल का नाम 'ऐल' था।

इस 'पुरुरवा' के पूर्व यहाँ 'आर्य' रहते थे। उन्ही लोगों का इस देश पर एकछत्र राज्य था। इन्ही सूर्यवंशियो से ऐलों का अनेक बार युद्ध हुआ, परन्तु इन युद्धो मे सदा विजय सूर्यवंशियो की ही होती रही। इसी वश के महाप्रतापी राजा 'पुरु' का घनघोर युद्ध सूर्यवंशियो से दाशराज-युद्ध' के नाम से हुआ, जिसमे ६६००० सैनिक एव सेनाध्यक्ष मारे गए। अन्त मे विजय सूर्यवंशियो की ही हुई। इसी 'पुरु' की ३१वी पीढ़ी मे दुष्यन्त-पुत्र भरत हुए है, अर्थात् अनुमानतः पुरु के १५०० वर्षों बाद ही शकुन्तला-दुष्यन्त पुत्र भरत जन्मा था।

प. जयचन्द विद्यालकार के उपरोक्त कथन से सिद्ध है कि दुष्यन्त-शकुन्तला-पुत्र भरत की १५वी पीढ़ी, अर्थात् लगभग १५०० वर्षो पूर्व मे ही इस भारतवर्ष की भूमि पर दो वशो का अस्तित्व था —भरत वश (सूर्यवंश) और

(शेष पृष्ठ ६९ पर)

बिहार के बिहारी : अप्रतिहत अर्हन्त

☐ श्री लक्ष्मीचन्द्र 'सरोज' एम० ए०, जावरा

[जैसे ८४ लाख योनियों में मनुष्य योनि सर्वश्रेष्ठ है वैसे ही मनुष्यों मे सर्वश्रेष्ठ अर्हन्त है। अर्हन् जैन और बौद्ध धर्मावलम्बियो के परम आराध्यदेव है। अर्ह पूजाया धातु से शतृ प्रत्यय होकर अर्हत शब्द बना, इसके प्रथम सम्बोधन मे अर्हन शब्द बना, जिसका अर्थ पूजनीय है और यह उसकी पूज्यता का ही प्रभाव है कि उसे वैदिक, जैन और बौद्ध तीनो सस्कृतियो ने अपनाया। विचार के बिन्दु से अर्हन्त शब्द का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। वराहमिहिर सहिता, योगवाशिष्ठ, वायुपुराण, भागवत, पद्मपुराण और विष्णुपुराण, शिवपुराण मे इस शब्द का उल्लेख है। अप्रतिहत अर्हन्त का यहाँ जैन-बौद्ध दृष्टि से सक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत है।]

बिहार प्रदेश का नाम बिहार क्यों पड़ा? प्रस्तुत प्रश्न का सुस्पष्ट उत्तर यह कि बिहार मे अर्हन्तों का बहुत बिहार (आगमन-गमन) हुआ, अतएव अपने आराध्य देवताओं की पुनीत स्मृति लिए कृतज्ञ भक्त-जनो ने अपने प्रदेश का नाम बिहार रख लिया। अरहन्तो के निवास के लिए यहा अनेक बिहार (आवास) बने, इसलिए इस प्रदेश की सज्ञा बिहार हो गई। यह बात अतीव स्वस्थ हृदय और सतुलित मस्तिष्क से इतिहास और पुराण के परिप्रेक्ष्य मे आज भी निस्सकोच कही जा सकती है।

जिन दो भगवन्तो-अर्हन्तों की दिव्य और भव्य स्मृति बिहार अपने अन्तर मे आज भी सजोए है, उनके नाम भगवान महावीर और महात्मा गौतम बुद्ध है। इन दोनो अर्हन्तो का बिहार से काफी घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। चूकि भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा मे महात्मा गौतम बुद्ध भी अर्द्धयुग वर्ष तक जैन श्रमण साधु रहे, अतएव यह स्वाभाविक था कि उनके आचार-विचार, धर्म देशना पर जैन सस्कृति की भी क्षीण छाया पड़ी, अनेक जैन पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग भी बौद्ध वाङ्मय मे हुआ, उदाहरण के लिए अरहन्त, आस्रव, गन्धकुटी, यम-नियम, सम्यक् विचिकित्सा, अदत्तादान आदि पर्याप्त होगे।

"बुद्ध शरण गच्छामि, धम्म शरण गच्छामि, सघ शरण गच्छामि" पर णमोकार मन्त्र के मागलिक पाठ की प्रस्तुत पक्तियोंकी क्षीण छाया पड़ी—अरहन्ते शरण पव्वज्जामि, सिद्धे शरण पव्वज्जामि, साहू शरणं पव्वज्जामि, केवलि पण्णत्तं धम्म शरणं पव्वज्जामि। चूकि एक धर्म, एक दर्शन, एक सस्कृति, एक समाज, एक साहित्य अपने पड़ोसी धर्म, दर्शन, सस्कृति, समाज और साहित्य से प्रभावित हुए बिना रह ही नही सकता है, अतएव तीनो भारतीय भारतीय संस्कृतियां वैदिक, जैन और बौद्ध परस्पर प्रभावित हुई। विशेषतया महावीर और बुद्ध के व्यक्तित्व और कृतित्व में, उनकी जीवन साधना मे अनेक समानताओं को दृष्टि-पथ मे रखकर कुछ ऐतिहासिक विद्वान दोनो को पृथक् नही अपृथक् भी समझने लगे थे, पर कालान्तर मे उनकी धारणा निर्मूल सिद्ध हुई।

जैन और बौद्ध तथा वैदिक संस्कृति मे अर्हन्त शब्द की काफी चर्चा हुई है। जैन जनो का णमोकार-मन्त्र ही 'णमो अरहन्ताणं' (अरहन्तो को नमस्कार हो) से आरम्भ होता है और बौद्धों के धम्मपद ग्रन्थ मे बाल-ब्राह्मण वग्ग की भाति अरहन्त वग्ग भी है। तीर्थंकर अर्हन्त जिनेन्द्र के सदृश गौतम बुद्ध को भी अमर-कोष और पञ्चतन्त्र सस्कृत ग्रथो मे 'जिन' जितेन्द्रिय, सर्वज्ञ, शास्ता कहा गया पर इतने पर भी अर्हन्त विषयक जैन और बौद्ध दृष्टिकोण मे उतना ही अन्तर बना रहा, जितना अन्तर महावीर और गौतम बुद्ध में रहा।

अरहन्त : जैन दृष्टि

सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हत्परमेश्वरः॥

विचार के इस बिन्दु से जैन अर्हन्त परमेश्वर सर्वज्ञ, वीतराग त्रैलोक्यपूजित यथा स्थितार्थवादी होते है। दूसरे शब्दों मे, जैन अर्हन्त वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी होते है। गुणस्थानो की दृष्टि से साधु-उपाध्याय-आचार्य से आगे बढकर तेरहवें गुणस्थान मे पहुंचकर जीवनमुक्त सदृश अर्हन्त होते है। वे समवशरण या धर्म-सभा में आसीन होकर पुरुष और स्त्री, पशु और पक्षी, राजा और रंक, देव और राक्षस सभी को समान रूप से दिव्य देशना देते है। वे व्यक्तियो और पदार्थो की समस्त अवस्थाये वैसे ही सुस्पष्टतया देखते और लखते है जैसे हम हाथ पर रखे आँवले को या दोपहर मे हाथ की रेखाओ को देखते है।

जैसे साधु के २८, उपाध्याय के २५ और आचार्य के ३६ गुण होते है वैसे ही अर्हन्त के ४६ गुण होते है—३४ अतिशय, ८ प्रातिहार्य और ४ अनन्त चतुष्टय। ३४ अतिशयो मे से १० अतिशय जन्म के १० केवल ज्ञान के, और १४ देवकृत अतिशय है। अतिशय का अर्थ आज की भाषा मे 'असाधारणता' करना उचित होगा।

अर्हन्त शरीर मे सुन्दर-सुगन्धित होते है। वे स्वेद-मल मूत्र रहित होते है। वे हित-मित-प्रियभाषी, अतुलित बली, श्वेतरुधिर, १००८ लक्षण समचतुरस्र सस्थान वज्र वृषभनाराच सहनन वाले होते है। जिस स्थान मे अर्हन्त होते है वहा से सौ योजन तक सुकाल होता है। वे आकाश मे गमन करते है। उनका मुख चारों ओर दिखता है। अदया का अभाव और उपसर्ग (उपद्रव)का भी अभाव होता है। वे सर्वसाधारण सदृश ग्रास वाला आहार नही लेते है। वे समस्त विद्याओ के स्वामी होते है, उनके न नख-केश बढते है और न नेत्रों की पलकें झपकती है तथा न शरीर की छाया पड़ती है। वे एक ही चिर-युवा होते है जो जन्म-जरा मरण से सुदूर होते है।

अर्हन्त की भाषा अर्द्धमागधी होती है। उनके प्रभाव से सभी जीव मित्र सदृश रहते है। दशो दिशाओ के साथ आकाश निर्मल होता है। छहो ऋतुओ के फल-फूल-धान्य एक समय फलते है। एक योजन तक पृथ्वी दर्पण की तरह स्वच्छ होती है। जब अर्हन्त विहार करते है तब उनके चरणो के नीचे देवता सीधे स्वर्णकमल रखते है। आकाश में जय-ध्वनि होती है, सुगन्धित जल की वृष्टि होती है, पवनकुमार देवभूमि को निष्कण्टक करते है सभी प्राणी मुदित होते है। अर्हन्त के आगे धर्म चक्र चलता है और छत्र-चमर-ध्वजा-घण कलश जैसे दर्पण आठ मगल द्रव्य साथ-साथ रहते हैं।

अशोक वृक्ष, रत्नमय सिंहासन, तीन छत्र, भामण्डल, निरक्षरी दिव्य ध्वनि, पुष्प वृष्टि, ६४ चवर ढालन, दुन्दुभि वाद्यनाद, प्रतिहार्य सहित अर्हन्त होते है। वे अनन्त दर्शन ज्ञान-सुख-वीर्य सम्पन्न होते है। वे जन्म-जरा, तृषा, क्षुधा, विस्मय, अरति, खेद, रोग, शोक, मद, मोह, भय, निन्द्रा, चिन्ता, स्वेद, राग, द्वेष, मरण रहित होते है। वे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, घातिया कर्मों का नाश कर चुकते है। वे जीवन्मुक्त नियमतः मुक्तिश्री के निकट भविष्य मे अधिकारी होते है। क्षपकश्रेणी आरूढ जीवात्मा निश्चय से अरहन्त होते है। अर्हन्त एक से अधिक एक साथ हो सकते है पर तीर्थकर नही, इसलिए उनके पाँच कल्याणक होना भी अनिवार्य नहीं है। जो सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन करते है, तीर्थकर प्रकृति का बन्ध करते है वे ही तीर्थकर होते हैं। तीर्थकर या अर्हन्त भी नितान्त निष्काम, निरीह भाव से धर्मचक्र का प्रवर्तन करते है। सस्कृत के एक सुकवि के शब्दो मे उनकी वाणी का साराश यह है

आस्रवोभवहेतुस्यात् सवरा मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टिरन्यदस्याः प्रपचनम्॥

अर्थात् आस्रव ससार का और सवर मोक्ष का कारण है। इतनी ही अर्हन्त की दृष्टि है। शेष सभी इसी का विस्तार है। अर्हन्त, अरहन्त, आरहन्त, अरुहन्त, अरुहा शब्द का अर्थ उनकी वास्तविक व्युत्पत्ति की दृष्टि से समकक्ष ही है। अरहन्त शब्द के भिन्न-भिन्न भाषाओ मे निम्न-लिखित रूप है, जिसका भाषा विज्ञान साक्षी है।—

भाषा	रूप	भाषा	रूप
सस्कृत	अर्हन	तमिल	अरुह
प्राकृत	अरिहन्त	अपभ्रंश	अलहतु, अलिहो
पालि	अरिहत	कन्नड़	अरहन्त, अरुहन्त
मागधी	अलहत, अलिहत		

अमरकोष मे जहां "सर्वज्ञो वीतरागो अर्हन् केवली तीर्थंकृज्जिनः" कहा गया वहा नाममाला मे "सर्वज्ञो वीतरागोऽर्हन् केवली धर्मचक्रभृत" कहा गया। भर्तृहरि ने शृङ्गारशतक मे "स्याद्वादिक: आर्हत:" कहा तो ऋग्वेद मे "अर्हन विभर्षि सायकानि" कहा गया।

अर्हन्त : बौद्ध दृष्टि

जिसका मार्ग समाप्त हो चुका है, जो शोकरहित **और सर्वथा विमुक्त है,** सब ग्रंथियों से छूट चुका है, उसके लिए कोई सन्ताप नही है। स्मृतिवान लोग उद्योग करते है, वे गृह में रमण नहीं करते है। जिस प्रकार हंस जलाशय का परित्याग कर चले जाते है उसी प्रकार वे (अर्हन्त) लोग भी गृहों को त्याग देते है। जो वस्तुओं का संचय नही करते है, जिन्हें शून्यतास्वरूप निमित्तरहित मोक्ष दिखाई पडता है, उनकी गति उसी प्रकार कठिनाई से जानने योग्य है जिस प्रकार कठिनाई से जानने जानने योग्य है जिस प्रकार आकाश मे पक्षियो की गति कठिनाई से जानने योग्य होती है। जिनके चित्त के मैल क्षीण हो गये है, जो आहार मे अनासक्त है, जिसे शून्यतास्वरूप निमित्तरहित मोक्ष दिखाई देता है, उसकी गति उसी प्रकार कठिनाई से जानने योग्य है जिस प्रकार आकाश में पक्षियों की गति कठिनाई से जानने योग्य है। जिस प्रकार सारथी के द्वारा घोड़ो का दमन किया जाता है उसी प्रकार जिसकी इन्द्रिया शात हो गई है ऐसे अभिमानरहित आस्रवविहीन मनुष्य (अर्हन्त) को देवता भी चाह करते हैं।

पठवी समो न विरुज्झति इन्द्र खीलूपमोतदिसुब्बतो।
रहदो अपेत कद्दमो संसारी न भवंति तादिनो॥

जो पृथ्वी के समान क्षुब्ध नही होता, जो इन्द्र के समान व्रत मे दृढ है, जो जलाशय के समान कीचड से शून्य है, उसके लिए संसार नही होता है। जो मनुष्य यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति से विमुक्त और उपशान्त हो गया है, ऐसे मनुष्य का मन शान्त हो जाता है, उसकी वाणी और कर्म शान्त होते है। जो मनुष्य अध श्रद्धा से रहित है, जो अकृत निर्वाण को जानने वाला है, जो अवकाश रहित है, जिसने तृष्णा का परित्याग कर दिया, वही उत्तम पुरुष है। जहाँ अर्हन्त विचरण करते है, वह चाहे ग्राम हो या अरण्य, नीचा स्थान हो या ऊँचा, वह भूमि रमणीक है। उन रमणीय अरण्यो मे, जहाँ साधारण लोग रमण नही करते है, वहाँ कामनाओं के पीछे नही भटकने वाले वीतराग जन रमण करेगे। ऐसी विविध बातें धम्मपद मे अर्हन्त के विषय कही गई हैं। अर्हन्त के विषय मे उल्लेखनीय है कि जिसने अपने को जीत लिया। वह युद्ध मे जीतने वालो से बढकर है और धर्म का एक पदश्रेष्ठ है जिसे सुनकर शान्ति प्राप्त हो जाती है। "खीणसव अरहन" अर्थात् अरहन्त आस्रव से क्षीण होते है। "नत्थि जागरतो भयं" अर्थात् जागने वाले को भय नही है। "बुद्धो तपति तेजसा" बुद्ध तेज से प्रकाशित है।

तथागत अरहंत है, सम्यक् सम्बुद्ध है। वे दो अन्त अष्टांगिक मध्यम मार्ग, चार आर्य सत्य के सन्देशवाहक है। अर्हन्त से आशय मुक्त पुरुष का है। अर्हन्त शास्ता भिक्षुओ के लिए उपदेश देते है - भिक्षुओ, बहुजन के हित के लिए, बहुजन के सुख के लिए, लोक पर दया करने के लिए, देवताओ और मनुष्यो के प्रयोजन के लिए, सुख के लिए विचरण करो। आरम्भ, मध्य और अन्त सभी अवस्थाओ में कल्याणकारक धर्म का उसके शब्दो और भावों सहित उपदेश करके सर्वांश मे परिशुद्ध परिपूर्ण ब्रह्मचर्य का प्रकाश करो। अर्हन्त धर्म को सुआख्यान कहते है। दुख के क्षय के हेतु ब्रह्मचर्य पालने को कहते है। उद्योगी हो, आलसी न बनो, सुचरित धर्म का आचरण करो, यह प्रेरणा देते है। धर्मचारी पुरुष इस लोक व परलोक मे सुख से सोता है। प्रव्रजित होने पर नाम-गोत्र से विलग सभी श्रमण होते है। जन्म से न कोई ब्राह्मण होता है न अब्राह्मण, कर्म से ही कोई ब्राह्मण या अब्राह्मण होता है। बुद्ध अरहंत शाश्वतवाद-उच्छेदवाद दोनों से परे है। उनके उपदेश का सार यह है—

सब्ब पापस्स अकरणं कुसलस्स उपसंपदा।
सचित्त परियोदपनं एतं बुद्धानुसासनं॥

अर्थात् समस्त पापो का त्याग करना, समस्त पुण्य कर्मों का संचय करना, अपने चित्त को निर्मल, पवित्र रखना, यही बुद्ध का अनुशासन है। बुद्ध-अरहन्त आठ अनुल्लंघनीय नियमो स्वीकृति पर भिक्षुणी संघ की स्थापना करते है। वे मन-वचन-काय के दुश्चरित को पाप अकुशल धर्म अक्रिया कहते है। वे स्वधर्म मे पर धर्मानुयायी

को दीक्षित कर भी उनसे पूर्व व्यवहार छोड़ने को नही कहते है। मैत्री, करुणा, मुदिता की भावना को जीवन के विकास के लिए आवश्यक मानते हैं। वे पाँच काम गुण आर्य विनय मे जंजीर मानते है और पाच नीवरण कर्म आर्य विनय में आवरण मानते है। वे बुद्ध (परमतत्वज्ञ), धर्म (परमतत्व), सघ (परमतत्वरक्षक समुदाय) की शरण अतीव आवश्यक मानते है। प्राणातिपात विमरण—अहिंसा, अादिन्नादान विरमण—अचोरी, काम मिथ्याचार विमरण-अव्यभिचार, मृषावाद विमरण—झूठ त्याग, सुरा मेरय मद्य प्रमाद स्थान विरमण - नशा त्याग का परामर्श देते है। वे निरुपाधिशेष सम्यक् सम्बुद्ध होते है। वे तीर्थों के निर्माता स्तूपों के आधार होत है। प्रबुद्ध पाठक अनुभव करेंगे कि अर्हन्त विषयक जैन और बौद्ध दृष्टि म काफी समानता तथा कम असमानता है। अर्हन्त शोक रहित नियुक्त गृह त्यागी अपरिग्रही अनाशक्त जितेन्द्रिय यथार्थ-विद होते है, वे तृष्णा और प्रमाद के परित्यागी होकर जागृत लोक हितैषी होते है। उनकी अनुभव मूलक देशना है। जो राग में अनुरक्त है वे तृष्णा के स्रोत मे जा पड़ते है जिस प्रकार मकड़ी अपने स्वयं के बनाये जाल मे फस जाती है, पर निस्पृह धैर्यशाली लोग इसे काटकर सब दुखो को छोड़कर संसार से विरक्त होते है। जब मनुष्य आलसी बन जाता है, ज्यादा खाने वाला निद्रालु हो जाता है करवट बदल-बदलकर सोता है तब खा-पीकर मोटे बने हुए सुअर के समान वह मूर्ख बार-बार जन्म लेता है। गीता की दृष्टि से "जातस्य ध्रुवं मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च" अनुभव करता है। शंकराचार्य के शब्दो मे "पुनरपि जननं, जननी जठरे शयन, पुनरपि मरण भुगतता है। यह सूर्य सत्य हृदयगम कर यदि हम चिरकाल से ८४ लाख योनियों मे भटकते हुए जन्म-मरण से तिलतुषमात्र भी भयभीत हुए हों तो अर्हन्त जैसा आचरण करे, उनके द्वारा उपदेशित मार्ग पर चल-कर अर्हन्त बनने उतना परिश्रम करें, जितना भी शक्य-सम्भव हो।

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के उत्तराधिकारी, सर्वधर्म-समभाव के इच्छुक विनोबा भावे के शब्दो में कहे —"अर्हन् इदं दयसे विश्वं अभवम् (ऋग्वेद)—हे अर्हन् ! तुम इस तुच्छ दुनिया पर दया करते हो। अर्हन् और दया दोनो ही जैनों के प्यारे शब्द है। सामुदायिक मासाहार निवृत्त का सबसे पहला श्रेय शायद जैनो को ही है। बाद मे बौद्ध, वैष्णव, ब्राह्मण आदि ने उसको स्वीकार किया। बुद्ध की शिक्षाओ का धम्मपद मे समायोजन है और वे सहज भाव से सभी स्वीकार कर सकते है। भगवान बुद्ध की जो इज्जत ब्रह्मदेश और तिब्बत मे है वह हमारे लिए बहुत बड़ी बात है। बोद्ध धर्म मे करुणा पर जोर है और जैनो मे क्या खाना-क्या-न-खाना पर।

बुद्ध का धर्म करुणामूलक परन्तु वैराग्यप्रधान है। उनका क्षेत्र मानवता है। जैनो का धर्म भी करुणामूलक है, तो सही। पर उसका क्षेत्र मानव नहीं समूचा जीव जगत है, उसमें न विह्वलता है, न खलबली, उसमे है तटस्थता।

आचार्य कुन्दकुन्द ने अरहन्त को पुण्य का फल कहा। उन्हें त्रेसठ शलाका का पुरुषों में शीर्षस्थ माना। अनेक बौद्ध विद्वानों ने अर्हन्त की भक्ति विषयक बाते लिखी। उपनिषद और गीता की शिक्षाओ मे अर्हन्त का यह कथन मध्य कड़ी के समान आज भी पठनीय, मननीय, चिन्तनीय, गृहणीय है—जो समभाव से बरतता है, जो शान्त, दमन-शील, संयमी, ब्रह्मचारी है, जिसने दण्डत्याग करके सब भूतो को अभय दिया है वह ब्राह्मण है, वह श्रमण है, वह वह भिक्षु है।

बजाजखाना, जावरा (म० प्र०)

□□□

(पृष्ठ ६५ का शेषांश)

ऐल वंश (चंद्रवंश)।

श्री बलदेवजी उपाध्याय ने अपनी सर्जना 'पुराण-विमर्श' (पृ० ३३३) मे लिखा है कि प्राचीन निरुक्ति के अनुसार स्वायंभुव मनु के पुत्र थे प्रियव्रत, जिनके पुत्र थे नाभि। नाभि के पुत्र थे ऋषभ, उनके शतपुत्रों मे ज्येष्ठ भरत थे। उन्होंने पिता से सिंहासन प्राप्त किया और इन्हीं राजा भरत' के नाम पर यह प्रदेश 'अजनाभ' से परिवर्तित होकर भारतवर्ष कहलाने लगा। जो लोग दुष्यन्त-पुत्र 'भरत' के नाम पर यह नामकरण मानते है, वे परम्परा विरोधी होने से अप्रमाण है।

उपरोक्त उद्धरणों सिद्ध है कि "इस देश का नाम जिस 'भरत के नाम पर भारतवर्ष पड़ा और प्रख्यात हुआ, वह दुष्यन्त-शकुन्तला पुत्र 'भरत' (चंद्रवंशीय) से हजारों वर्ष पूर्व सूर्य-वंश म हुआ। जिन सूर्य वंशोयो का प्राचीन-साहित्य म उल्लेख मिलता है, वे इसी ऋषभ पुत्र 'भरत' की सन्तान है, और 'भरत-वंश' क नाम से प्रसिद्ध है।

बसन्ती कटरा (ठठेरी बाजार), वाराणसी

□□□

ब्रह्म जिनदास और उनकी हिन्दी-साहित्य को देन

☐ डा० प्रेमचन्द रांवका, जयपुर

महाकवि ब्रह्म जिनदास १५वीं शताब्दी के सम्कृत-हिन्दी वाङ्मय के उद्भट विद्वान् एवं कवि थे। इन्होने संस्कृत एवं हिन्दी भाषा के माध्यम से मां भारती की अनुपम सेवा की। संस्कृत-भाषा मे छोटे-बडे १३ काव्यों एवं हिन्दी भाषा ६० से भी अधिक लघु वृहत् काव्यों के प्रणयन से मां भारती के भण्डार को भरकर अपना अमूल्य योग दिया।

अन्य प्राचीन कवियों की भांति 'ब्रह्म जिनदास' ने भी अपनी किसी कृति की प्रशस्ति मे अपना परिचय नही दिया है। केवल जम्बूस्वामी चरित्र एव हरिवश पुराण की प्रशस्तियों मे भट्टारक सकलकीर्ति को अपना अग्रज भ्राता एव गुरु बताया है। सकल 'कीर्तिनुरास' मे भट्टा० सकलकीर्ति का परिचय दिया गया है।[1] उसीके अनुसार ब्रह्म जिनदास के पिता कर्णसिंह एवं माता शोभा अणहिल-पुर पट्टण के निवासी हूंबडवंशीय थे। समृद्ध परिवार था। पर इस समृद्धि के प्रति ब्रह्म जिनदास का कोई लगाव न था। ये अपने अग्रज भ्राता भट्टा० सकलकीर्ति के समान प्रारम्भ से ही गृहस्थ एवं संसार से विरक्त रहे। उनके साथ-साथ तीर्थयात्रा, आत्म-साधना एवं साहित्य-सृजन मे रत रहने लगे। इनके बाल्यकाल, शिक्षा-दीक्षा, गृहस्थ-जीवन आदि का कहीं कुछ विवरण नहीं मिलता। परन्तु प्रारम्भ से ही सकलकीर्ति के संघ का आश्रय आत्म-साधना की उत्कट लगन और सर्वत्र अपनी रचनाओं मे अपने नाम के पूर्व 'ब्रह्म' एवं 'ब्रह्मचारी' शब्द का प्रयोग ये सिद्ध करते है कि ब्रह्म जिनदास बाल ब्रह्मचारी थे। जिनेश्वर का भक्त होने के कारण अपने का 'जिनदास' कहा है।

इनके जन्म एवं निधन के सम्बन्ध मे भी अन्त: साक्ष्य एवं बहिसक्ष्यि के आधार पर अभी तक कोई निश्चित' जानकारी नही मिली है। प० परमानन्दजी शास्त्री एव डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल ने इनका जन्म समय क्रमश वि० सं० १४४३ एव वि० स० १४४५ के बाद का माना है। सवत् १४८१ मे भट्टा० सकलकीर्ति न ब्रह्म जिनदास के आग्रह से 'मूलाचार प्रदीप' जैसे उच्चकोटि के आचार-शास्त्र की रचना की।[4] उस समय ब्रह्म जिनदास की आयु कम से कम २०-२५ वर्ष की तो अवश्य होनी चाहिए। इस दृष्टि से 'ब्रह्म जिनदास' का जन्म वि० स० १४६० या इससे पूर्व का होना चाहिए।

ब्रह्म जिनदास ने अपनी केवल दो रचनाओ मे ही रचनाकाल दिया है, अन्यत्र किसी मे नहीं। एक 'राम रास' का रचनाकाल स०१५०८ एव दूसरे 'हरिवंश पुराण

१. राजस्थान के जैन सन्त : डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, पृ० २३।

२. श्री सकलकीरति गुरु प्रणमीनि,
मुनि भुवनकीरति भवतार।
ब्रह्म जिणदास कहे निरमनो, रास कियो मेसार ॥
— आदिपुराण रास

३. भ्रातास्ति तस्य प्रथितः पृथिव्यां सद्ब्रह्मचारी जिनदास नामा। —जम्बू स्वामी चरित्र ॥२८,

४. राजस्थान के जैन सन्त : व्यक्तित्व एवं कृतित्व : डा० कासलीवाल, पृ० २३।

५. संवत चौदह सो इक्यासी भला, श्रावण मास महंतरे।
पूर्णिमा दिवसे पूरण किया, मूलाचार महतरे ॥
भ्राताँ अनुग्रह थकी, कीधा ग्रथ महत रे ॥
—मूलाचार प्रदीप, भट्टा० सकलकीर्तिकृत ॥

६. सर ब्रह्मचारी गुरुपूर्वकोऽस्य,
भ्राता गुणज्ञोस्ति विशुद्धचित्तः।
जिनेशभक्तो जिनदास नामा,
कामारिजेता विदितो धरिम् ॥२९॥ हरिवशपुराण

रास' का रचनाकाल सं० १५२० है।[1] इनके अतिरिक्त स्वयं कवि ने अन्यत्र किसी भी काल-सवत् का उल्लेख नही किया है। परन्तु 'पद्मा' नामके कवि ने अपने 'वर्द्धमान रास' की रचना मे 'ब्रह्म जिनदास' की सहायता का उल्लेख किया है। इस रास का रचनाकाल सं० १५१६ दिया गया है।[2] इसी प्रकार, गजबासौदा (म०प्र०) के बूढ़ेपुरा के जैन मन्दिर मे ब्रह्म जिनदास के उपदेश से प्रतिष्ठित स० १५१६ की मूर्ति प्राप्त हुई है।[3] इन सबसे कवि का समय वि० स० १४६० से वि० स० १५२० तो सुनिश्चित है। मूर्ति का लेख इस प्रकार है—

"स० १५१६ माघ सुदी ५ श्री मूलसघे भ० सकलकीतिदेव: तच्छिष्य ब्रह्मश्रीजिनदासस्य उपदेशात् ब्र० मल्लिदास जोगडा पोरवाड साहु नाऊ भार्या नेइ भ्राता घणा भार्या हर्षी नित्यं प्रणमति।"

इससे प्रतीत होता है कि ब्रह्म जिनदास प्रतिष्ठाचार्य भी थे। वैसे भट्टा० सकलकीर्ति के सान्निध्य मे उन्होने कई प्रतिष्ठाओ म भाग लिया। इनके समय मे भट्टा० सकलकीर्ति द्वारा प्रतिष्ठित अनेको प्रतिमाए उदयपुर, डूगरपुर आदि स्थानो मे मिलती है और अपने समय के श्रावको को जिनालयो के निर्माण एव जीर्णोद्धार की प्रेरणा दी।

ब्रह्म जिनदास ने अपने सभी काव्यो के प्रारम्भ एव अत मे अपने गुरु भट्टा० सकलकीर्ति एवं भट्टा० भुवनकीर्ति का बडी ही आदर-भावना से गुण-गान किया है। इनके अतिरिक्त अन्य किसी गुरु का उल्लेख नहीं मिलता। अपने इन दोनों गुरुओं के प्रति ब्रह्म जिनदास की प्रगाढ़ भक्ति एव असीम श्रद्धा थी। अपने उद्धार के लिए कवि ने अनेक स्थानों पर अपने गुरु से अपनी दीक्षा की याचना की है। 'गुरु जयमाल' नामक १४ पद्यों की लघु-रचना में गुरु का स्तवन किया गया है।

ब्रह्म जिनदास एक साथ विद्वान, संत एवं कवि तीनों ही थे। उनका अधिकाश समय आत्म-साधना के अतिरिक्त अध्ययन एव अध्यापन मे व्यतीत होता था। उन्होने अपने शिष्यों को हिन्दी एव संस्कृत का ज्ञान कराकर उनमे धर्म एव साहित्य के प्रति रुचि जागृत की और साहित्य-सृजन की प्रेरणा दी। उनके सन्तत्व, विद्वत्ता एवं कवित्व से उनके सम-सामयिक विद्वान्, श्रावक-श्राविकाए एवं शिष्य-गण प्रभावित हुए। उनकी रचनाओं की भिन्न-भिन्न कालों एव स्थानो पर की गई प्रतिलिपिया इस तथ्य की साक्षी है।

जहा तक उनके शिष्य-सम्प्रदाय का सम्बन्ध है, हमे अभी तक उनके छ. शिष्यो की[4] जानकारी मिली है। उनके हरिवंश पुराण की प्रशस्ति मे मनोहर, मल्लिदास एव गुणदास इन तीन शिष्यो का तथा परमहंस रास मे नेमिदास का तथा एक अन्य कृति मे शान्तिदास का उल्लेख मिलता है। रामसीता रास के कर्ता गुण-कीर्ति भी इन्ही के शिष्य थे।[5] चारुदत्त रास मे डा० मल्लिदास एव नेमिदास का उल्लेख है।

महाकवि ब्रह्म जिनदास अपने गुरु एव अग्रज भट्टा०

१. संवत पन्नर अठोतरा, मागसिर मास विसाल।
शुक्ल पक्ष चउदिसि दिनो, रास कियो गुणमाल॥
—रामरास, ॥६॥

सवत पनर वीसोतरे, वैशाख मास वीशाल।
सुकल पक्ष चोदसि दिनें, रास कियो गुणमाल॥
— हरिवशरास, ॥६॥

२. वर्द्धमान रास : पदमा कवि—आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर।

३. अनेकान्त : प० परमानन्द शास्त्री, वर्ष २४, किरण ५, पृ० २२७।

४. श्री सकलकीरति पाय प्रणमीने,
मुनि भुवन कीर्ति गुरु चग।
चारुदत्त गुण वखाणवुं,
ब्रह्म जिणदास भणे मन रग ॥१॥ चारुदत्त रास।

५. शीष्य मनोहर रूवड़ा, ब्रह्म मल्लिदास गुणदास।
पढ़ो पढावो बहु भावसूं, जिम होय सौख्य निवास॥
॥४॥ रामरास।

ब्रह्म जिनदास शिष्य निरमला, नेमिदास सुविचार॥
— परमहंस रास

६. राजस्थान के जैन सन्त :
डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, पृ० १८६॥

सकलकीर्ति के सदृश साहित्य-सृजन में अग्रणी रहे। विविध विधाओं मे रचित इनका विशाल साहित्य इन्हें सरस्वती का वरद पुत्र सिद्ध करता है। प्राकृत, सस्कृत, गुजराती एवं राजस्थानी आदि भाषाओं पर इनका अपना अधिकार था तथापि लोकभाषा मरु गुर्जर से इनका विशेष अनुराग था। संस्कृत केवल विद्वानों के बोधगम्य थी। अतः जन सामान्य की दृष्टि से इन्होंने अपने समय की प्रचलित लोकभाषा मे (जिसमें कबीर एव मीरा का साहित्य मिलता है) अपना ८० प्रतिशत साहित्य रचा।[४] यही नही, पद्मपुराण, हरिवंश पुराण एव जम्बू स्वामी चरित्र जैसे विशाल ग्रथो का प्रणयन, संस्कृत मे करने के पश्चात् पुनः उसी विशाल रूप से हिन्दी मे भी किया गया। देश भाषा में काव्य-रचना का कारण कवि ने "आदि पुराण रास" के प्रारम्भ मे उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है।[१] पं० परमानन्द शास्त्री ने जैन सि० भा० मे कवि की ४८ रचनाओं का उल्लेख किया है।[२] डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल ने इनकी सस्कृत की १२ एवं हिन्दी की ५५ कृतियो का उल्लेख किया है एव विशिष्ट कृतियो का सक्षिप्त परिचय देकर इन्हे 'रास शिरोमणि' सिद्ध किया है।[३] मुझे अपने अनुसधान मे अभी तक इस कवि की कुल ८०{ कृतियो की उपलब्धि हुई है, जिनमे ६७ हिन्दी की व शेष सस्कृत की है। विषय-वस्तु की दृष्टि से हिन्दी-कृतियो का वर्गीकरण निम्न प्रकार है :—

पुराण काव्य परक— १. आदि पुराण रास, २. रामरास पद्मपुराण रास ३. हरिवश पुराण रास

चरित्र काव्य परक— ४. अजित जिनेश्वर रास, ५. हनुमंत रास, ६. जीवंधर रास, ७. जंबूस्वामी रास, ८ यशोधर रास, ९ अम्बिकानो रास, १० सुकुमाल स्वामी रास, ११. गौतम स्वामी रास, १२. श्रेणिक रास, १३. धन्मकुमार रास, १४. भविष्यदत्त रास, १५. श्रीपाल रास, १६ नागकुमार रास, १७. सुदर्शन रास, १८. भद्रबाहु रास, १९. चारुदत्त रास (णमोकार रास), २०. नागश्री रास (रात्रिभोजन रास) २१ रोहिणी रास।

आख्यान परक काव्य— २२ समकित अष्टांग कथा रास, २३ सासर वामा को रास, २४ होली रास, २५. महायक्ष विद्याधर कथा।

दानकथा काव्य २६ लुब्धदत्त विनयवती कथा, २७. सुकात साह की कथा २८. धनपाल कथा रास।

व्रतकथा काव्य— २९. सोलह कारण रास, ३०. दशलक्षण कथा रास, ३१. अक्षय दशमी रास, ३२. निर्दोष सप्तमी रास, ३३. मौड सप्तमी रास, ३४ चन्दन षष्ठी कथा रास, ३५. आकाश पचमी कथा रास, ३६. पुष्पांजलि रास, ३७ रविव्रत कथा, ३८. अनन्त व्रत रास।

पूजाकथा काव्य— ३९. पुरन्दर विधान कथा, ४०. ज्येष्ठ जिनवर पूजा कथा, ४१. मालिणी पूजा कथा, ४२. मेढूकनी पूजा कथा।

रूपक काव्य— ४३. परमहस रास। **ये सब प्रबन्धात्मक काव्य हैं। निम्नलिखित प्रगीतात्मक हैं :—**

सिद्धान्तपरक काव्य: - ४४. समकित मिथ्यात रास ४५.

---

१. भवीयण आवइं सुणउ आज रास कहू मनोहर।
आदि पुराण जोरकरी, कवित्त करूं मनोहर ॥१॥
बाल गोपाल जिम पढ़इ सुणइ, जाणे बहुभेद।
जिन सासण गुण निरमला, मिथ्या मतछेद ॥२॥
कठिण नालीए ने दीजि माला हाथ, ते स्वाद न जाणे।
छोल्या केल्या दाख देजे, ते गुण बहु माने ॥३॥
तीम ए आदि पुराण सार, देस भषा बखाणु।
प्रकट गुण जीम वोस्तरे, जिन सासण वखाणु ॥४॥
रतन माणिक हीरा जगा जोति, पारखे अजाण न जाणे।
तीम जिण सासण भेद गुण, भोला किम वरवाणि ॥५॥
तीह कारणि ए रास-चंग, करु गुणवत।
भवीयण मन संतोष यग, रीझे जयवंत ॥६॥
—आदि पुराण रास

२. जैन सिद्धान्तभास्कर, आरा (बिहार)
भाग-२५, किरण-१, पृष्ठ २६।

३. राजस्थान के जैन सन्त :
व्यक्तित्व एव कृतित्व, पृ०-२४१२५।

४. संस्कृत सास्त्र जोरकरी, सुगमि कीयो गुणमाल।
बाल बोध अति रूवडो, प्रकट करे गुण विसाल ॥
—व० भ० रास

५. संस्कृत सलोक बंधए, कीधु हणमंत एासता।
विस्तार से कथा जाणवीए, पद्मपुराण मझारिस ॥
भवीयणनण संशोधवाए, राम की इमि चंगतु।
अंजणा गुण बहुवरणकाए, हनुमन्त सहित उतंगतु ॥
—हनुमन्त रास

अठावीस मूलगुण रास, ४६. बारह व्रत गीत ४७. चौदह गुण स्थान रास, ४८. प्रतिमा ग्यारह का रास।

उपदेश परक काव्य—४६ निजमनि संबोधन, ५०. जीवडा गीत, ५१. चूनडी गीता, ५२. धर्मतरु गीत, ५३. शरीर सकल गीत।

स्तुतिपरक काव्य—५४. आदिनाथ स्तवन, ५५. तीन चोवसी विनती, ५६. ज्येष्ठ जिनवर लहान, ५७. जिनवर पूजा होली, ५८. पच परमेष्ठी गुण वर्णन, ५६ गिरिनारि धवल, ६०. गुरु जयमाल, ६१. जिनवाणी गुणमाला, ६२. पूजा गीत, ६३. गौरी भास, ६४. मिथ्यादुक्कड वीनती।

स्फुट काव्य—६५. चौरासी न्याति माला, ६६ बंक चूल रास, ६७. धर्मपरीक्षा रास, ६८. कर्मविपाकन द्वादशा कथा, ६६. प्रेमा चक्रवर्ती।

काव्य-रूप की दृष्टि से ये रचनाएं प्रबन्ध काव्य के महाकाव्य, और खण्ड काव्य तथा गीति काव्य के अंतर्गत भी विभक्त की जा सकती हैं। पुराण एवं चरित काव्य महाकाव्य की सीमा मे परिगणनीय है तो आख्यानपरक काव्य खण्डकाव्य की सीमा को पहुंचते है। शेष रचनाएं मुक्तक या प्रगीतिकाव्य की विधा मे समाविष्ट हो सकती हैं। इन विशाल रचनाओ के धनी महाकवि ब्रह्म जिनदास बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न थे। जैन सिद्धान्त के गहन अध्ययन के साथ-साथ भक्तिपरक साहित्य के निर्माण मे उनकी विशिष्ट रुचि थी। साहित्य की विविध विधाओं—पुराण, काव्य, चरित, कथा, स्तवन, पूजा आदि के रूप मे मा-भारती के भण्डार को पूर्ण करने मे इस महाकवि ने कोई कसर नही छोड़ी। इन सबके माध्यम से आत्मोत्थान कवि का एकमात्र प्रतिपाद्य लक्ष्य था। कवि की रचनायें किसी एक स्थान पर उपलब्ध नही होती। ईडर, बासवाड़ा, सागवाड़ा, गलियाकोट, डूगरपुर उदयपुर और ऋषभदेव आदि गुजरात एवं राजस्थान के सीमावर्ती प्रदेशो मे कवि के मुख्यत. विहार एव साधना स्थल रहे। अत. इन प्रदेशो के जैन शास्त्र भण्डारोंमे कवि का साहित्य विशेष रूप से उपलब्ध होता है। वैसे जयपुर, अजमेर, प्रतापगढ, दिल्ली आदि स्थानों के जैन शास्त्रागारो में भी उक्त साहित्य की अनेकों प्रतियां मिल जाती है। इससे कवि की प्रसिद्धि एव उसके साहित्य की लोकप्रियता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

ब्रह्म जिनदास उन विरले सौभाग्यशाली सन्त महा कवियों में थे, जिन्हें अपने समय में ही प्रसिद्धि मिल जाती है। उन्होंने अपने काव्यों की रचना के लिए अपने समय की लोक प्रचलित हिन्दी-भाषा को माध्यम चुना। इससे जन-सामान्य को बौद्धिक खुराक मिली। सम-सामयिक लोगों ने उनकी प्रतिभा को पहिचाना। उनके समय में ही उनके ग्रन्थों की प्रतिलिपियों की यत्र-तत्र स्वाध्याय हेतु मांग होने लगी। उनकी काव्य-रचना जन-जीवन के निकट थी। उपलब्ध पांडुलिपियों की प्रशस्तियां यह तथ्य उजागर करती हैं कि कवि के लोकवाणी में प्रथमानुयोग काव्यों के प्रणयन में भूत प्रेरक शिष्यगण, श्रावक-श्राविकाए एवं विद्वान थे। कालान्तर मे भी उन काव्यों की समय-समय पर प्रतिलिपियां की गई और भिन्न-भिन्न जिनालयो में उन्हे स्वाध्यायार्थ विराजमान किया गया।

इस स्वनामधन्य महाकवि ने अपनी ६० से भी अधिक कृतियों से हिन्दी वाङ्मय को समृद्ध किया। हिन्दी साहित्य के आदिकाल मे ४० से भी अधिक रास-काव्यों का प्रणयन ब्रह्म जिनदास की अपनी देन है। उनका प्रत्येक रास-काव्य प्रबन्ध काव्य की सीमा को पहुंचता है। सं०१५०८ में रचित अकेला 'राम-रासो'—राजस्थानी भाषा की प्रथम जैन रामायण जिसका उल्लेख हिन्दी के फादर कामिल तथा बुल्के ने 'रामकथा परम्परा' मे किया है। जो गो० तुलसीदास के रामचरित मानस से सवा-सौ वर्ष पूर्व का है, किसी भी दृष्टि से मानस से कम महत्व नही रखता। यह राम-रासो लगभग ६५०० शब्द प्रमाण है। इसमे कोई अत्युक्ति नही कि समूचे हिन्दी साहित्य के इतिहास मे ब्रह्म जिनदास अपनी सानी नही रखते।

अपनी उत्कट आत्म-साधना के साथ गुरु-भक्ति, तीर्थाटन, नियमित स्वाध्याय, प्रतिष्ठाओं का सचालन और फिर उच्चकोटि का विशाल साहित्य-सृजन, ये सब कार्य ब्रह्म जिनदास जैसे बहुमुखी व्यक्तित्व की ही अनुपम देन है। वे अप्रतिम प्रतिभाओं के धनी थे, जिनमे एक साथ अद्भुत विद्वता, उच्च कोटि के साधुत्व, अपने आराध्य के प्रति प्रगाढ भक्ति के साथ-साथ अनुपम कवित्वशक्ति और अविचलित आत्म-साधना के सभी गुण विद्यमान हैं। इसीलिए उनका साहित्य प्राणि-मात्र के इह लौकिक एवं पारलौकिक जीवन का अभ्युदयकारक होने से पूर्णतः सत्य शिव और सुन्दर से ओत-प्रोत है। वस्तुतः ब्रह्म जिनदास की हिन्दी साहित्य को उल्लेखनीय देन है। वे अपने युग के प्रतिनिधि कवि है। भक्तिकालीन सत साहित्य में वे सर्वोपरि गणनीय हैं। भाव, भाषा, वस्तु-विधान आदि सभी दृष्टियों से उनका काव्य-सृजन उल्लेखनीय है। हिन्दी वाङ्मय की अतुलनीय सेवा की दृष्टि से हिन्दी साहित्य-संसार सदा सर्वदा महाकवि ब्रह्म जिनदास का कृतज्ञ रहेगा।

राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, मनोहरपुर (जयपुर)

जैन देवकुल में यक्षी चक्रेश्वरी

□ डा० मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी, वाराणसी

हिन्दू एव बौद्ध धर्मों के समान ही जैन धर्म भी भारत का एक प्रमुख धर्म रहा है। जैन धर्म का अस्तित्व लगभग आठवीं शती ई० पू० में २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय में स्वीकार किया जाता है। कुछ विद्वान् सिन्धु सभ्यता (लगभग ३००० ई० पू०) मे जैन धर्म का अस्तित्व — प्रतिपादित करते है, जिसे निर्णायक प्रमाणों के अभाव में स्वीकार नहीं किया जा सकता। जैन देवकुल म २४ तीर्थंकरों (या जिनो) को सर्वोच्च महत्ता प्रदान की गई। इन्हें देवाधिदेव कहा गया। जैन देवकुल के अन्य सभी देवताओं को किसी न किसी रूप में जिनो से उनके सहायक के रूप मे संबद्ध किया गया। छठी से दसवी शती ई० के मध्य तान्त्रिक प्रभाव के फलस्वरूप सभी धर्मों में नवीन देवताओं को सम्मिलित कर देवकुल का विस्तार किया गया। जैन देवकुल में वृद्धि की यह प्रक्रिया छठी शती ई० में प्रारम्भ हुई और तेरहवी-चौदहवी शती ई० तक चलती रही। छठी शती ई० मे जिनो के साथ उपासक देवताओं के रूप में यक्ष-यक्षी युगलों को सश्लिष्ट किया गया, जिनकी उपासना से मनुष्य अपनी भौतिक आकांक्षाओं की पूर्ति कर सकता था। उल्लेखनीय है कि वीतरागी जिनों की उपासना से सासारिक सुख-समृद्धि की प्राप्ति संभव नही थी।

आठवी-नवी शती ई० में, श्वेताम्बर एव दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में प्रत्येक जिन के साथ एक स्वतन्त्र लाक्षणिक स्वरूपों का निर्धारण दसवी-ग्यारवी शती ई० यक्ष यक्षी युगल की कल्पना की गई। इन यक्ष-यक्षी युगलो मे स्वतन्त्र में हुआ। यक्ष यक्षी युगल जिनों के चतुर्विध सघ के शासन एव रक्षक देव होते है। जैन मान्यता के अनुसार केवल ज्ञान प्राप्त होने के बाद सभी जिनो ने अपना प्रथम उपदेश देवनिर्मित सभा (समवसरण) मे दिया था और उसी सभा मे इन्द्र ने प्रत्येक जिन के साथ एक यक्ष-यक्षी युगल को शासनदेवता के रूप मे नियुक्त किया था। जैन ग्रंथ हरिवंश पुराण (८वी शती) के ६६वें सर्ग में स्पष्ट उल्लेख है कि २४ जिनो के निकट रहकर उनकी सेवा करने वाले शासन देवता सज्जनो का हित और शुभ कार्यों की विघ्नकारी शक्तियो, ग्रह, नाग, भूत, पिशाच, राक्षस— को शान्त करते है। यक्ष-यक्षी युगलों को जिन मूर्तियो के सिंहासन या सामान्य पीठिका के दाहने और बायें छोरो पर निरूपित किया गया है। लगभग नवी शती ई० से यक्ष एवं यक्षी की स्वतन्त्र मूर्तियाँ प्राप्त होने लगती है।

चक्रेश्वरी (या अप्रतिचक्रा) प्रथम जिन आदिनाथ (या ऋषभनाथ) की यक्षी है। चक्रेश्वरी जैन देवकुल की चार सर्वाधिक लोकप्रिय यक्षियों मे एक है। अन्य यक्षिया अंबिका, पद्मावती और सिद्धायिका है, जो क्रमशः २२वें, २३वें एवं २४वें तीर्थंकरो नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एव महावीर की यक्षिया है। जैन चक्रेश्वरी के स्वरूप पर विष्णु की शक्ति वैष्णवी (या चक्रेश्वरी) का स्पष्ट परिलक्षित होता है। जैन लाक्षणिक ग्रथो मे यह प्रभाव देवी के गरुड़वाहन एवं भुजा मे चक्र के प्रदर्शन के सन्दर्भ मे देखा जा सकता है।[१]

परन्तु मूर्त अंकनो मे यह प्रभाव गरुड़वाहन और भुजाओ मे चक्र के अतिरिक्त, शख और गदा के प्रदर्शन के सन्दर्भ मे भी प्राप्त होता है। हिन्दू देवी वैष्णवी के प्रभाव का स्पष्ट सकेत कुभारिया (गुजरात) के महावीर जैन मन्दिर की छत पर उत्कीर्ण चक्रेश्वरी की मूर्ति मे देखा जा सकता है। मूर्ति लेख मे जैन यक्षी को 'वैष्णवी' देवी कहा गया है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण, रूपमण्डन एव देवपुराण जैसे ब्राह्मण ग्रथो मे किरीटमुकुट से शोभित गरुडवाहन वैष्णवी की भुजाओ मे शख, चक्र, गदा एव पद्म के प्रदर्शन का निर्देश दिया गया है।

इसी प्रसग में यह उल्लेख आवश्यक है कि हिन्दू प्रभाव

केवल जैन यक्षी चक्रेश्वरी के निरूपण तक ही सीमित नहीं रहा है। २४ यक्ष एवं यक्षियों की सूची में से अधिकांश के नामों एवं लाक्षणिक विशेषताओं को जैनों ने हिन्दू और कुछ उदाहरणों में बौद्ध देवों से ग्रहण किया था। हिन्दू देवकुल विष्णु, शिव, ब्रह्मा, इन्द्र, स्कन्द, कार्तिकेय, काली, गौरी, सरस्वती, चामुण्डा और बौद्ध देवकुल की तारा, वज्रशृंखला, वज्रतारा एवं वज्रांकुशी के नामों और लाक्षणिक विशेषताओं को जैन धर्म में ग्रहण किया गया। जैन देवकुल के गरुड़, वरुण, कुमार यक्षों, और अम्बिका, पद्मावती, ब्रह्माणी यक्षियों के नाम हिन्दू देवकुल से ग्रहण किये गए, पर उनकी लाक्षणिक विशेषताएं स्वतन्त्र थीं। दूसरी ओर ब्रह्मा, ईश्वर, गोमुख, भृकुटि, षण्मुख, यक्षेन्द्र, पाताल, धरणेन्द्र, कुबेर यक्षों और चक्रेश्वरी, विजया, निर्वाणी, काली, महाकाली, तारा, वज्रशृंखला यक्षियों के नामों एवं लाक्षणिक विशेषताओं दोनों को हिन्दू देवकुल से ग्रहण किया गया था। यक्ष-यक्षियों के अतिरिक्त जैन देवकुल के राम, कृष्ण, बलराम, महाविद्या, सरस्वती, लक्ष्मी, गणेश, नैगमेषिन्, भैरव एवं क्षेत्रपाल आदि देवों को भी हिन्दू देवकुल से ही ग्रहण किया गया था।

प्रतिमाशास्त्रीय ग्रंथों में चक्रेश्वरी

श्वेताम्बर परम्परा में चक्रेश्वरी का अष्टभुज और दिगम्बर परम्परा में चतुर्भुज एवं द्वादशभुज निरूपित किया गया है। दोनों ही परम्पराओं में गरुड़वाहन चक्रेश्वरी के करों में चक्र एवं वज्र के प्रदर्शन के सन्दर्भ में समानता प्राप्त होती है। श्वेताम्बर ग्रन्थ निर्वाणकलिका (१०वीं शती) के अनुसार यक्षी दक्षिण भुजाओं में वरदमुद्रा, बाण, चक्र, पाश और वाम में धनुष, वज्र, चक्र, अंकुश धारण करती है।

" ··अप्रतिचक्राभिधाना यक्षिणी

हेमवर्णां गरुड़वाहनामष्टभुजां।
वरदबाणचक्रपाशयुक्तदक्षिणकरां
धनुर्वज्रचक्रांकुशवामहस्तां चेति ।।"

--निर्वाणकलिका : १८।१।

दिगम्बर ग्रंथ प्रतिष्ठासारसंग्रह (१२वीं शती) में चक्रेश्वरी का चतुर्भुज एवं द्वादशभुज स्वरूपों में ध्यान किया गया है। चतुर्भुजा यक्षी की दो भुजाओं में चक्र और अन्य दो में फल एवं वरदमुद्रा के प्रदर्शन का विधान है। द्वादशभुज यक्षी की आठ भुजाओं में चक्र, दो में वज्र एवं अन्य दो में फल एवं वरदमुद्रा प्रदर्शित होगी।

वामे चक्रेश्वरी देवी स्थाप्यद्वादशसद्भुजा।
धत्ते हस्तद्वये वज्रे चक्राणी च तथाष्टसु ।।
एकेन बीजपूरं तु वरदा कमलासना।
चतुर्भुजाथवाचक्रं द्वयोर्गरुडवाहनं ।।

—प्रतिष्ठासारसंग्रह : ५, १५-१६।

तांत्रिक ग्रंथों में चक्रेश्वरी के भयावह स्वरूप का उल्लेख है। ऐसे स्वरूप में तीन नेत्रों एवं भयंकर दर्शनवाली यक्षी चक्र, पद्म, फल एवं वज्र से युक्त है। दक्षिण भारतीय श्वेताम्बर परम्परा में गरुडवाहना चक्रेश्वरी को द्वादशभुज बताया गया है, जबकि दिगम्बर परम्परा में यक्षी षोडशभुज है। भुजाओं के आयुधों के सन्दर्भ में उत्तर भारतीय परम्परा का ही अनुकरण किया गया है।

मूर्त अंकनों में चक्रेश्वरी

मूर्त अंकनों में किरीटमुकुट से शोभित चक्रेश्वरी को सदैव मानव रूप में उत्कीर्ण गरुड़ पर आरूढ़ प्रदर्शित किया गया है। यक्षी की भुजाओं में चक्र के साथ ही गदा और शंख का नियमित चित्रण हुआ है। केवल उड़ीसा से प्राप्त चक्रेश्वरी मूर्तियों में गदा और शंख के स्थान पर खड्ग, खेटक एवं वज्र का प्रदर्शन प्राप्त होता है। यक्षी की एक भुजा से सामान्यतः वरदमुद्रा (या अभयमुद्रा) प्रदर्शित है। देवी अधिकांशतः एक पैर नीचे लटकाकर ललित मुद्रा में आसीन है। तीर्थंकर ऋषभनाथ की मूर्तियों के सिंहासन छोरों पर चक्रेश्वरी का अंकन जहाँ आठवीं शती ई० में ही प्रारम्भ हो गया, वहीं यक्षी की स्वतन्त्र मूर्तियां नवीं शती ई० में बनीं। श्वेताम्बर स्थलों पर परम्परा के विपरीत चक्रेश्वरी का केवल चतुर्भुज स्वरूप में निरूपण ही लोकप्रिय रहा है। पर दिगम्बर स्थलों पर चक्रेश्वरी की द्विभुज से विंशतिभुज मूर्तियां बनीं। चक्रेश्वरी की मूर्तियों के विकास की दृष्टि से दिगम्बर स्थलों की मूर्तियां महत्वपूर्ण रही है। राजस्थान एवं गुजरात से श्वेताम्बर और अन्य क्षेत्रों से दिगम्बर परम्परा की मूर्तियां प्राप्त होती हैं। दक्षिण भारत की मूर्तियों में गरुड़वाहन का

चित्रण बहुत नियमित नहीं रहा है। साथ ही, भुजाओं में शंख और गदा का प्रदर्शन भी दुर्लभ रहा है। इस क्षेत्र में यक्षी की भुजाओं में चक्र, वज्र एवं पद्म के प्रदर्शन में नियमितता प्राप्त होती है।

चक्रेश्वरी की प्राचीनतम स्वतन्त्र मूर्ति उत्तर प्रदेश के ललितपुर जिले में स्थित देवगढ़ (दिगम्बर) के मंदिर १२ की भित्ति से प्राप्त होती है। ८६२ ई० मे निर्मित मन्दिर सं० १२ (शान्तिनाथ मन्दिर) की भित्तिपर जैन देवकुल की सभी २४ यक्षियों का अंकन प्राप्त होता है, जो २४ यक्षियों के सामूहिक चित्रण का प्रारम्भिकतम उदाहरण है। त्रिभग मे खड़ी चतुर्भुज चक्रेश्वरी की सभी भुजाओं मे चक्र है। गरुड़वाहन दाहिने पार्श्व मे नमस्कार मुद्रा में खड़ा है। मूर्तिलेख मे यक्षी का नाम 'चक्रेश्वरी' उत्कीर्ण है। यक्षी के निरूपण में जैन देवकुल की पांचवी महाविद्या अप्रतिचक्रा के स्वरूप का अनुकरण किया गया है, जिसकी सभी भुजाओं में चक्र के प्रदर्शन का विधान रहा है। महाविद्या की धारणा यक्षी चक्रेश्वरी की अपेक्षा प्राचीन रही है।

प्रारम्भिक दसवी शती की दो अष्टभुज मूर्तिया मध्यप्रदेश के विदिशा जिले मे स्थित ग्यारसपुर के माला-देवी मन्दिर के शिखर पर उत्कीर्ण है। इनमे यक्षी के अवशिष्ट करो मे छल्ला, वज्र, चक्र, चक्र, चक्र और शंख प्रदर्शित है। दसवी शती की एक दशभुजा चक्रेश्वरी मूर्ति पुरातात्विक संग्रहालय, मथुरा (क्रमांक-०० डी-६) मे सुरक्षित है। पद्मासन पर समभग मे खड़ी यक्षी की नौ सुरक्षित भुजाओं मे चक्र स्थित है। दो सेविकाओं से सेवित देवी के शीर्षभाग मे लघु जिन आकृति उत्कीर्ण है। दिगबर स्थल खजुराहो (छतरपुर, मध्य प्रदेश) से यक्षी की दसवी से बारहवी शती के मध्य चार से दस भुजाओं वाली कई मूर्तिया मिली है। यहा की चतुर्भुज मूर्तियों मे गदा, चक्र, शंख और अभयमुद्रा (या पद्म) प्रदर्शित है। घण्टई मन्दिर (१०वी शती) के प्रवेश द्वार पर चक्रेश्वरी की अष्टभुज मूर्ति निरूपित है। यक्षी के हाथों मे फल, घण्ट, चक्र, चक्र, चक्र, चक्र, धनुष एवं कलश है। पार्श्वनाथ मन्दिर (८५४ ई०) के प्रवेश द्वार की मूर्ति मे दशभुजा यक्षी वरद, खड्ग, गदा, चक्र, पद्म, चक्र, धनुष, फलक, गदा और शख से युक्त है।

देवगढ़ मे चक्रेश्वरी का चतुर्भुज स्वरूप सर्वाधिक लोकप्रिय रहा है। पर यक्षी को षड्भुज, अष्टभुज, दशभुज एवं विंशतिभुज स्वरूपों में भी अभिव्यक्त किया गया। उल्लेखनीय है कि नवी (८६२ ई०) से बारहवी शती के मध्य की चक्रेश्वरी की सर्वाधिक स्वतन्त्र मूर्तियां देवगढ़ से ही प्राप्त हुई है। अधिकांश उदाहरणों में किरीटमुकुट से अलंकृत गरुड़वाहन यक्षी के हाथो में चक्र, शंख एवं गदा है। बहुभुजी मूर्तियों मे चक्र, शख, गदा के अतिरिक्त खेटक, खड्ग, परशु एवं वज्र का प्रदर्शन लोकप्रिय रहा है। चतुर्भुज यक्षी की द्विभंग मे खड़ी एक मूर्ति मन्दिर १२ के अर्धमण्डप के स्तम्भ पर उत्कीर्ण है। यक्षी के करो में वरदमुद्रा, गदा, शख एवं चक्र प्रदर्शित है। षट्भुज चक्रेश्वरी की एक मूर्ति (११वी शती ई०) मंदिर १२ की दक्षिणी चहारदीवारी पर उत्कीर्ण है। यक्षी वरदमुद्रा, खड्ग, चक्र, चक्र, गदा एवं शंख से युक्त है। अष्टभुज चक्रेश्वरी की तीन मूर्तिया है। ग्यारहवी शती की एक मूर्ति मन्दिर सं० १ के मानस्तम्भ पर उत्कीर्ण है, जिसमे यक्षी की भुजाओं मे वरदमुद्रा, गदा, बाण, छल्ला, छल्ला, वज्र, चाप एवं शख है। मंदिर १४ की बारहवी शती ई० की एक मूर्ति मे तीन हाथो मे चक्र और शेष मे दण्ड, खड्ग, अभयमुद्रा, परशु एवं शख प्रदर्शित है।

दशभुजा यक्षी की एक मूर्ति मन्दिर ११ के समक्ष के मानस्तम्भ (१०५९ ई०) पर उत्कीर्ण है। यक्षी वरद-मुद्रा, बाण, गदा, खड्ग चक्र, चक्र, खेटक, वज्र, धनुष एवं शख से युक्त है। विंशतिभुज चक्रेश्वरी की ग्यारहवी शती की तीन मूर्तिया प्राप्त होती है, जिनमे से दो स्थानीय साहू जैन संग्रहालय मे सुरक्षित है। साहू जैन संग्रहालय की एक विशिष्ट मूर्ति मे चक्रेश्वरी के साथ दो उपासको, चामरधारिणी सेविकाओं, पद्म धारण करने वाली पुरुष आकृतियो, उड्डीयमान मालाधरों एवं ऊपर की ओर जैन यक्षी पद्मावती और सरस्वती को भी आमूर्तित किया गया है। चक्रेश्वरी की केवल सात ही भुजाएं सुरक्षित हैं, जिनमे चार मे चक्र और अन्य में वरदाक्ष, खेटक और शख प्रदर्शित है। संग्रहालय की दूसरी मूर्ति मे चामरधारिणी सेविकाओं एवं उड्डीयमान मालाधरों से युक्त चक्रेश्वरी

की सभी भुजाए सुरक्षित है। देवी की छह भुजाओं मे चक्र एवं अन्य में श्रृंखला से युक्त घण्ट, खेटक, वज्र, खड्ग, तूणीर, मुद्गर, गदा, व्याख्यानमुद्रा—अक्षमाला, परशु दण्ड, शंख, धनुष, सर्प एवं शूल प्रदर्शित है। देवी के शीर्षभाग मे तीन जिन मूर्तियाँ निरूपित है। बहुभुजी चक्रेश्वरी की ग्यारहवी शती की एक मनोज्ञमूर्ति मध्य प्रदेश के गोलकोट नामक स्थल से प्राप्त होती है।

उडीसा की खण्डगिरि पहाडी (पुरी जिला) की नवमुनि गुफा में ग्यारहवी शती की दसभुजा चक्रेश्वरी की एक मूर्ति है। जटामुकुट से शोभित गरुड़वाहना यक्षी योगासन मुद्रा मे दोनो पैर मोड़कर बैठी है। चक्रेश्वरी के सात हाथो मे चक्र, दो मे खेटक, अक्षमाला एव एक हाथ योगमुद्रा मे गोद मे स्थित है। उड़ीसा की खण्डगिरि पहाड़ी की बारभुजी गुफा मे द्वादशभुज चक्रेश्वरी की एक मूर्ति है। गरुडवाहना देवी की छह दक्षिणभुजाओं मे वरद-मुद्रा, वज्र, चक्र, चक्र, अक्षमाला एवं खड्ग है, और तीन वामभुजाओं मे खेटक, एव सनाल पद्म हैं और तीन भुजाएं खण्डित है।

पश्चिम भारत के किसी स्थल से प्राप्त लगभग दसवी शती की एक अष्टभुज मूर्ति राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली (क्रमाक ६७-१५२) मे सुरक्षित है। गरुड़वाहना यक्षी की ऊपर की छह भुजाओं म चक्र और अन्य दो मे वरद-मुद्रा एवं फल प्रदर्शित है। कुभारिया (बनासकाठा, गुजरात) के शातिनाथ एवं महावीर मन्दिरो (११वी शती) की छतों पर उत्कीर्ण ऋषभनाथ के जीवन दृश्यो मे भी चतुर्भुज चक्रेश्वरी निरूपित है। शान्तिनाथ मन्दिर के उदाहरण म यक्षी वरदमुद्रा, चक्र, चक्र एव शंख से युक्त है। महावीर मन्दिर के उदाहरण मे "वैष्णवी देवी" के नाम से सम्बोधित यक्षी क करो में वरदमुद्रा, गदा, सनालपद्म एवं शंख प्रदर्शित है। गुजरात एव राजस्थान के श्वेताम्बर स्थलो की चक्रेश्वरी मूर्ति क सन्दर्भ में एक प्रमुख बात यह है कि इन स्थलो पर यक्षी चक्रेश्वरी और पांचवी महाविद्या अप्रतिचक्रा के निरूपण मे अत्यधिक समानता प्राप्त होती है। इस कारण कभी-कभी यह निश्चित करना कठिन हो जाता है कि मूर्ति यक्षी की है या महाविद्या की। यद्यपि लाक्षणिक ग्रंथों में दोनो के लिए स्वतन्त्र विशेषताए वर्णित है, पर मूर्त अभिव्यक्तियो में उनका निर्वाह नही किया गया।

दक्षिण भारत में यक्षी का चतुर्भुज, षट्भुज, अष्टभुज एवं द्वादशभुज स्वरूपों मे निरूपण हुआ है। ग्यारहवीं बारहवी शती की एक चतुर्भुज मूर्ति कर्नाटक की कम्बड़ पहाड़ी स्थित शातिनाथ बस्ती के नवरग स मिली है। गरुड़वाहना यक्षी ने अभयमुद्रा, चक्र, चक्र एव पद्म धारण किया है। होयसलकालीन एक षट्भुज मूर्ति कर्नाटक के जिननाथपुर स्थित जैन मन्दिर की दक्षिणी भित्ति पर है। यक्षी के करो मे वरमुद्रा, वज्र, चक्र, चक्र, वज्र एवं पद्म प्रदर्शित हैं। बम्बई के सेण्ट जावियर कालेज के इण्डियन हिस्टारिकल रिसर्च इन्स्टीट्यूट सग्रहालय में सुरक्षित ऋषभमूर्ति मे चक्रेश्वरी द्वादशभुज है। त्रिभंग मे खड़ी यक्षी की आठ भुजाओं मे चक्र, दो मे वज्र एवं एक मे पद्म प्रदर्शित है। एक भुजा खण्डित है। द्वादशभुज चक्रेश्वरी की एक अन्य मूर्ति एलोरा (महाराष्ट्र) की गुफा ३० मे देखी जा सकती है। गरुड़वाहना चक्रेश्वरी के पाच अवशिष्ट दक्षिण करो मे पद्म, चक्र, शंख, चक्र एवं गदा प्रदर्शित है। यक्षी की केवल एक ही वामभुजा सुरक्षित है, जिसमे खड्ग स्थित है।

□□□

डी-५१/१६४बी, सूरजकुण्ड, वाराणसी-२२१००१(उ० प्र०)

सन्दर्भ सूची

१. शाह, यू॰ पी॰—आइकानोग्राफी आफ चक्रेश्वरी, दि यक्षी आफ ऋषभनाथ, जर्नल आफ दि ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट आफ बड़ौदा, ख० २०, अ०३, मार्च १६७१, पृ० २८०-३११।

२. 'तिवारी' मारुतिनन्दन प्रसाद, 'दि आइकानोग्राफी आफ दि जैन यक्षी चक्रेश्वरी', श्रमण (वाराणसी), वर्ष २७, अं० १०, अगस्त १६७५, पृ० २४-३३।

३. शर्मा, बृजेन्द्रनाथ—'अनपब्लिश्ड जैन ब्रोन्जेज इन दि नेशनल म्यूजियम', जर्नल आफ दि ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, ख० १६, अं० ३, मार्च १६७०, पृ० २७५-७६।

४. गुप्ता, एस० पी० तथा शर्मा, बी० एन०—"गधावल, और जैन मूर्तियां," अनेकांत, खं० १६, अक १-२, अप्रैल-जून १६६६, पृ० १३०।

५. मित्रा, देबला—'शासन देवीज इन दि खण्डगिरि केव्स', जर्नल आफ दि एशियाटिक सोसायटी, ख० १, अं०२, १६५६, पृ० १२७-३३।

भानपुरा संग्रहालय की जैन यक्ष-यक्षिणी प्रतिमाएँ

□ श्री रवीन्द्र भारद्वाज, एम. ए., उज्जैन

मंदसौर जिले की भानपुरा तहसील अपने अन्दर प्राचीन शिल्प वैभव को समेटे हुए है।

परमारो से राज्य मे जिन छोटे-छोटे और आंचलिक महत्त्व के कलाकेन्द्रो का विकास हुआ, उनमे मोड़ी एव हिंग्लाजगढ़ का विशिष्ट स्थान है। मोड़ी तो भानपुरा से १२ कि० मी० पश्चिम मे स्थित था और हिंग्लाजगढ़ २२ कि० मी० की दूरी पर उत्तर पश्चिम मे। यहाँ पश्चिमी मालवा शैली विकसित एव परिष्कृत हुई[1]।

परमार काल मे शैव एव वैष्णव सम्प्रदायो के अतिरिक्त यहाँ जैन धर्म का भी व्यापक प्रसार हुआ। इस क्षेत्र के परमार कालीन सधारा[2], केथुली[3], कंवला[4] और नीमथूर[5] के जैन मन्दिर इसके प्रमाण है।

परमारो के समय की प्राचीनतम अभिलिखित जैन यक्षिणी अच्युता की प्रतिमा सवत् १०७५ (१०१८ ई०) यही हिंग्लाजगढ़ से प्राप्त हुई है।[6]

भानपुरा पुरातत्त्व सग्रहालय मे यहा की जैन-मूर्ति-शिल्प धरोहर सुरक्षित है। पुरातत्त्व सग्राहलय मे हिंग्लाजगढ की यक्ष-यक्षिणी प्रतिमाएं परमारकाल की कला का पूर्ण प्रतिनिधित्व करती है।

इनमे प्रमुख है परमारकालीन गोमेध यक्ष एव अम्बिका की मूर्ति, जो कि भद्रपीठ पर आसनस्थ है। इस प्रतिमा का आकार—ऊचाई ८२ से० मी०, चौड़ाई ४६ से० मी० तथा मोटाई ८ से० मी० है। गोमेध यक्ष तथा अम्बिका क्रमश. वाम तथा सव्यललितासन मे है। प्रतिमा का प्रभामण्डल आम्रवृक्ष का तथा नीचे इनका वाहन सिह का अकन है। प्रतिमा के ऊपर आसनक मुद्रा मे पार्श्वनाथ (?) तथा दोनों ओर स्थानक तीर्थंकर है। प्रतिमा के पार्श्व मे चँवरधारी पुरुष का अकन है। प्रतिमा के निचले भाग में सात अश्वारोही दर्शाये गये हैं।

एक अन्य अम्बिका की प्रतिमा हिंग्लाजगढ़ से प्राप्त हुई है। यह भानपुरा सग्रहालय की शिल्प कृतियों में से एक है।

इस क्षेत्र की आंचलिक शिल्प विशेषता यह रही है कि प्रतिमाएँ लघु स्तम्भो से निर्मित रथिका मे बनाई गई है। अम्बिका की प्रतिमा भी रथिका मे स्थित है जो कि लघु-स्तम्भो के द्वारा निर्मित है। ऊपर कलात्मक चैत्य अलकरण है।

किरीट मुकुटधारिणी अम्बिका सव्यललितासन मे आसनस्थ है। दाहिना हस्त आम्रलुम्बि युक्त तथा वाम शिशु को सहारा दिये है। अन्य ब्राह्मण प्रतिमाओ के सदृश ही अम्बिका की मुखाकृति गोलाई लिए सौम्य मुद्रा मे है। उभरी हुई ठुड्डी तथा पलको के अकन मे नुकीलापन है। प्रतिमा के ओठ, वक्षस्थल तथा कटिप्रदेश के अकन मे सुरुचिपूर्ण मृदुता, लावण्य और मांसलता है। उन्नत और कठिन पयोधर पर कुचबन्धों का आलेखन किया गया है। प्रतिमा का अलकरण दृष्टव्य है—किरीट मुकुट, कुण्डल, ग्रैवेयक, स्तन पर मणिमाला, स्तनों के मध्य झूलता हिक्कासूत्र, स्कन्धमाला, केयूर, कटिसूत्र तथा मेखला और पैर नूपुरो से अलकृत है। प्रतिमा के ऊपरी भाग मे 'आसनक तीर्थंकर' प्रतिमा है। आम्र वृक्ष का प्रभामण्डल और नीचे अम्बिका का वाहन सिंह का अंकन है। यह प्रतिमा लाल सिकताश्म की बनी है।

इस प्रकार, भानपुरा क्षेत्र परमारकालीन जैन शिल्प की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। □□□

पुरातत्त्व विभाग, विक्रम
विश्वविद्यालय, उज्जैन (म० प्र०)

---

१. श्री गर्ग, आर. एस.—मोड़ी-मण्डल का शिल्प वैभव-(प्रोग्रेसिव रिपोर्ट आफ आर्केलाजिकल सर्वे, वेस्टर्न सर्किल—वर्ष १६२०)।

२. PRAS. WC,. P. ८८-६१

३. वही, पृ० ६२

४. वही, पृ० ८३

५ भारद्वाज, रवीन्द्र, भानपुरा का अप्रकाशित जैन शिल्प, वीरवाणी, वर्ष ३१, अक ६, पृ० १४६।

६. श्रीगर्ग—मोड़ी-मण्डल का शिल्पवैभव—टंकितप्रति-प्रकाशनाधीन।

रामगुप्त और जैन धर्म

☐ डा० सोहनकृष्ण पुरोहित, जोधपुर

गुप्तवंशी नरेशों के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त का उत्तराधिकारी उसका द्वितीय पुत्र द्वितीय चन्द्रगुप्त बना[1]। परन्तु विशाखदत्त द्वारा रचित 'देवी चन्द्रगुप्तम्'[2] नाटक के उपलब्ध अंशो, बाण के 'हर्षचरित'[3] राजशेखर की 'काव्यमीमांसा'[4] तथा एक मुस्लिम कृति मजमल-उत तवारीख[5] आदि साहित्यिक साधनो एव राष्ट्रकूटों के सजन[6], केम्बे तथा सांगली दानपत्रो के सम्मिलित साक्ष्यो से संकेतित है कि समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त उत्तराधिकारी बना, जिसके अनुज द्वितीय चन्द्रगुप्त ने उसे मारकर सिंहासन पर अधिकार कर लिया था। उपर्युक्त साक्ष्यानुसार रामगुप्त एक कायर एव कुल के लिए कलक तुल्य था। शक नरेश द्वारा घेर लिए जाने पर उसने अपनी पत्नी ध्रुव देवी को शकाधिपति को देना स्वीकार कर लिया था। लेकिन द्वितीय चन्द्रगुप्त ने शकाधिपति को धोखे से मारकर सम्राज्ञी और साम्राज्य का सम्मान बढ़ाया। बाद मे अवसर पाकर रामगुप्त की भी हत्या करके सिंहासन पर अधिकार और ध्रुव देवी से विवाह कर लिया। ये घटनाएं ऐतिहासिक है अथवा नही, इस विषय पर करीब पिछले पचास वर्षों से बड़ा विवाद चला आ रहा है। परन्तु पिछले कुछ वर्षों मे रामगुप्त की मुद्राएं और अभिलेख प्रकाश मे आ जाने से उसकी ऐतिहासिकता प्रमाणित हो गई है।

रामगुप्त की मुद्राएं विदिशा, एरिकिणप्रदेश (पूर्वी-मालवा) से प्राप्त हुई है[7]। डा० के० डी० वाजपेयी[8] ने इन मुद्राओ को चार प्रकारों मे विभाजित किया है, जो इस प्रकार हैं—सिंह, गरुड़, गरुड़ध्वज और बार्डर लिजेण्ड। इन मुद्राओ पर गरुड़ध्वज का अंकन उसे गुप्तवंशीय नरेश प्रमाणित करता है। उसके अभिलेख विदिशा के निकट दुर्जनपुर ग्राम से प्राप्त हुए है। ये जैन मूर्ति अभिलेख हैं जिनकी स्थापना रामगुप्त ने करवाई थी। प्रथम[9] एवं तृतीय अभिलेख[10] के अनुसार, रामगुप्त ने चेलुक्षमण नामक आचार्य के उपदेशानुसार चन्द्रप्रभ नामक अर्हत की प्रतिमा स्थापित करवाई थी। द्वितीय लेख[11] के अनुसार, उसने पुष्पदन्त नामक अर्हत की मूर्ति का निर्माण कराया था।

हमार मान्यता है कि गुप्तवंशीय नरेश होने के कारण उसने मुद्राओ पर गरुड का अंकन जारी रखा।[12] लेकिन वास्तव मे रामगुप्त का झुकाव जैन धर्म की ओर था जिसका प्रमण उसके जैन प्रतिमालेख है। विशाखदत्त उसे कायर कहकर पुकारता है। लेकिन हम विशादत्त के विचारो से सहमत नही है। हमारी धारणा है कि शकाधिपति ने जब रामगुप्त पर आक्रमण किया, उस समय उसने (रामगुप्त ने) कायरता के कारण ध्रुवदेवी को देना स्वीकार किया था। अपितु रामगुप्त एक कट्टर जैन धर्मावलम्बी कट्टर नरेश था। इसलिए उसने सोचा कि यदि शकाधिपति से युद्ध किया जायेगा तो युद्ध मे सैकड़ों व्यक्ति मारे जायेगे।

---

१. भीतरी स्तम्भ लेख।
२. गुप्त, परमेश्वरीलाल—गुप्त साम्राज्य, पृ० १२३-१३०
३. वही, पृ० १३८।   ४. वही।
५ इलियट, डाउसन—हिस्टरी आफ इण्डिया एज टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियन्स, १, पृ० ११०।
६. ए० इ० ४, पृ० २५७, ए० इ० १७, पृ० २४८।
७ ज० न्यू० सो० इ० १२, पृ० १०३, १३, पृ० १२८
८. जर्नल आफ इण्डियन हिस्टरी, ४२, पृ० ३८६।
९. प्रथम पक्ति - भगवतोऽर्हत.। चन्द्रप्रभस्य प्रतिमेय कारिता।
   द्वितीय पंक्ति—महाराजाधिराज, श्री रामगुप्तेन, उपदेशात् पाणिपा—
   तृतीय पक्ति—त्रिक चन्द्रक्षमाचार्य क्षमण श्रमण-प्रशिष्याचार्य—
   चतुर्थ पक्ति—सर्प्पसेनलक्षमणशिष्यस्य गोलक्या-न्त्यासत्पुत्रस्य चेलुक्षमणस्येति।
१०. प्रथम पक्ति—भगवतोऽर्हत: (चन्द्रप्रभ) स्य प्रतिमेय कारिता महा(राजा) धिराराज
   द्वितीय पक्ति—श्री (रामगुप्ते)न उ(पदेशात्) (पा) णि (पात्रि)···
   तृतीय पंक्ति   चतुर्थ पंक्ति ··
११. (१) भगवतोऽर्हत:। पुष्पदन्तस्य प्रतिमेयं कारिता।
   (२) महाराजाधिराज श्री रामगुप्ते उपदेशात् पाणिपात्रिक।
   (३) चन्द्रक्षम (णा) चार्य्य-(क्षमण)-श्रमण प्रशि (ष्यस्य)
   (४) ······
१२. ज० न्यू० सो० इ० २३, पृ० ३३१-४३।

फुलान की अप्रकाशित जैन प्रतिमाएं

□ डा० सुरेन्द्र कुमार आर्य, उज्जैन

उज्जैन से ३२ किलो मीटर पश्चिम दिशा में नागदा-इंदौर बस मार्ग पर फुलान ग्राम स्थित है। यह उज्जैन जिले की बड़नगर तहसील में आता है। यहां पर विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन व मध्य प्रदेश राज्य-पुरातत्व विभाग के संयुक्त तत्वावधान में पुरातात्विक सर्वेक्षण किया गया है। यह सर्वेक्षण दंगवाड़ा-उत्खनन वर्ष १९७९ के कार्य का ही एक अंग था। डा० वि० श्री वाकणकर के मार्गदर्शन में यह सर्वेक्षण किया गया था: नरसिंगा ग्राम से २ कि० मी० पूर्व की ओर फुलान ग्राम स्थित है। यहा पर मौर्यकाल, शकयुग व गुप्तकाल के अवशेष मिलते है और टीले पर बसा हुआ जो प्राचीन ग्राम का स्थान है, वह अब उजाड़ है। इस टीले पर सर्वेक्षण के दौरान तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व की ताम्र आहत मुद्राएं मिली है। साथ ही जीवदामन व रुद्रदायन की व ताम्र मुद्राएं मिली है। यह एक सम्पन्न स्थल था जहां पर मौर्ययुग से शक काल तक पर्याप्त जनावास था। यही पर जैन प्रतिमाए मिली है जिनका विवरण निम्नलिखित है :

ग्राम को घेरता हुआ एक भेरू है, नाला उसके किनारे पर परमार काल की एक तीर्थंकर प्रतिमा मिली है जिसका शीर्ष भग्न है। प्रतिमा पद्मासन में है और आकार ६ फुट ऊंचा व ४ फुट ५ इंच चौड़ा है। पादपीठ पर संवत ११७८ का शिलालेख है। लेख की ४ पंक्तियां हैं पर इतना भग्न है कि केवल संवत ११७८ ही पढ़ा जा सकता है। पादपीठ पर शेर बना हुआ है। अतः शेर-वाहन वाली यह महावीर प्रतिमा हो सकती है।

एक अन्य खंडित प्रतिमा हनुमान मन्दिर के पास ओटले पर रखी हुई है जो पार्श्वनाथ की खड्गासन में है और निश्चय ही १०वी शताब्दी के शिल्प में निर्मित है।

तीसरी प्रतिमा माताजी के ओटले (चबूतरे) पर जड़ी हुई है। इसमें जैन देवी पद्मावती गरुड़वाहन पर आसीन है व ऊपर तीर्थंकर प्रतिमा पद्मासन में है। देवगण यक्ष, किन्नर व वाद्यवृन्द हर्ष से पुष्प वर्षा कर रहे हैं।

चौथी व पांचवी तीर्थंकर प्रतिमायें भग्न है व केवल पादपीठ ही शेष है। एक अन्य प्रतिमा पर चरणचिह्न ही शेष है और सब भग्न है। फुलानग्राम में यह जैन प्रतिमायें स्पष्ट करती है कि यहा पर परमार काल में कोई विशाल देवालय रहा होगा।

२२, भक्त नगर, दशहरा मैदान,
उज्जैन-४५६००१

□□□

(पृष्ठ ७९ का शेषांश)

जबकि जैनधर्मानुसार अहिंसा को परमधर्म माना गया है इसलिए रामगुप्त ने हिंसा से बचने हेतु अथवा यू कहिए कि जैन धर्म के सिद्धान्तों की रक्षा हेतु अपनी पत्नी ध्रुव देवी को शकाधिपति को देना स्वीकार किया था। अतः हमे रामगुप्त को एक कायर नरेश नही अपितु कट्टर जैन धर्मावलम्बी नरेश के रूप मे स्वीकार करना चाहिए। रामगुप्त के जैन होने की पुष्टि का सूक्ष्म संकेत राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष के संजन ताम्रपत्र मे भी मिलता है। इसमे जैन धर्मावलम्बी अमोघवर्ष ने रामगुप्त की आलोचना न करके उसके स्थान पर द्वितीय चन्द्रगुप्त के प्रति घृणा प्रकट की है।[13] यहां हम डा० उदयनारायण राय के मत से पूर्णतया सहमत है कि जिस प्रकार उत्तरकाल मे बुद्धगुप्त, बालादित्य एव वज्र आदि नरेशों ने बौद्धधर्म का अनुसरण किया उसी भांति पूर्वकाल मे समुद्रगुप्त के उत्तराधिकारी रामगुप्त ने जैनधर्म का अवलम्बन कर लिया था।[14]

इतिहास विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर (राज०)

□□□

१३. गुप्त, पूर्वो० पृ० ४९। १४. राम, उदयनारायण—गुप्त सम्राट् और उनका काल, पृ० १७८।

अठावीस मूलगुण रास, ४६. बारह व्रत गीत ४७. चौदह गुण स्थान रास, ४८. प्रतिमा ग्यारह का रास।

उपदेश परक काव्य—४६ निजमनि संबोधन, ५०. जीवड़ा गीत, ५१. चूनड़ी गीता, ५२. धर्मतरु गीत, ५३. शरीर सकल गीत।

स्तुतिपरक काव्य—५४. आदिनाथ स्तवन, ५५. तीन चौबसी विनती, ५६. ज्येष्ठ जिनवर लहान, ५७. जिनवर पूजा होली, ५८. पंच परमेष्ठी गुण वर्णन, ५६. गिरिनारि धवल, ६०. गुरु जयमाल, ६१. जिनवाणी गुणमाला, ६२. पूजा गीत, ६३. गौरी भास, ६४. मिथ्यादुक्कड वीनती।

स्फुट काव्य—६५. चौरासी न्याति माला, ६६. बंक चूल रास, ६७. धर्मपरीक्षा रास, ६८. कर्मविपाकेन द्वादशा कथा, ६६. प्रेमा चक्रवर्ती।

काव्य-रूप की दृष्टि से ये रचनाएं प्रबन्ध काव्य के महाकाव्य, और खण्ड काव्य तथा गीति काव्य के अंतर्गत भी विभक्त की जा सकती हैं। पुराण एवं चरित काव्य महाकाव्य की सीमा मे परिगणनीय है तो आख्यानपरक काव्य खण्डकाव्य की सीमा को पहुंचते है। शेष रचनाएं मुक्तक या प्रगीतिकाव्य की विधा मे समाविष्ट हो सकती हैं। इन विशाल रचनाओ के धनी महाकवि ब्रह्म जिनदास बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न थे। जैन सिद्धान्त के गहन अध्ययन के साथ-साथ भक्तिपरक साहित्य के निर्माण मे उनकी विशिष्ट रुचि थी। साहित्य की विविध विधाओं—पुराण, काव्य, चरित, कथा, स्तवन, पूजा आदि के रूप मे मा-भारती के भण्डार को पूर्ण करने मे इस महाकवि ने कोई कसर नहीं छोड़ी। इन सबके माध्यम से आत्मोत्थान कवि का एकमात्र प्रतिपाद्य लक्ष्य था। कवि की रचनाये किसी एक स्थान पर उपलब्ध नही होती। ईडर, बासवाड़ा, सागवाड़ा, गलियाकोट, डूंगरपुर उदयपुर और ऋषभदेव आदि गुजरात एवं राजस्थान के सीमावर्ती प्रदेशो मे कवि के मुख्यतः विहार एव साधना स्थल रहे। अत. इन प्रदेशों के जैन शास्त्र भण्डारोंमे कवि का साहित्य विशेष रूप से उपलब्ध होता है। वैसे जयपुर, अजमेर, प्रतापगढ, दिल्ली आदि स्थानो के जैन शास्त्रागारों मे भी उक्त साहित्य की अनेकों प्रतिया मिल जाती है। इसमे कवि की प्रसिद्धि एव उसके साहित्य की लोकप्रियता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

ब्रह्म जिनदास उन विरले सौभाग्यशाली सन्त महा कवियों में थे, जिन्हे अपने समय मे ही प्रसिद्धि मिल जाती है। उन्होंने अपने काव्यों की रचना के लिए अपने समय की लोक प्रचलित हिन्दी-भाषा को माध्यम चुना। इससे जन-सामान्य को बौद्धिक खुराक मिली। सम-सामयिक लोगों ने उनकी प्रतिभा को पहिचाना। उनके समय मे ही उनके ग्रन्थों की प्रतिलिपियों की यत्र-तत्र स्वाध्याय हेतु मांग होने लगी। उनकी काव्य-रचना जन-जीवन के निकट थी। उपलब्ध पाडुलिपियों की प्रशस्तियां यह तथ्य उजागर करती हैं कि कवि के लोकवाणी मे प्रथमानुयोग काव्यों के प्रणयन मे मूल प्रेरक शिष्यगण, श्रावक-श्राविकाए एवं विद्वान थे। कालान्तर मे भी उन काव्यों की समय-समय पर प्रतिलिपिया की गईं और भिन्न-भिन्न जिनालयों में उन्हें स्वाध्यायार्थ विराजमान किया गया।

इस स्वनामधन्य महाकवि ने अपनी ६० से भी अधिक कृतियों से हिन्दी वांङ्मय को समृद्ध किया। हिन्दी साहित्य के आदिकाल मे ४० से भी अधिक रास-काव्यों का प्रणयन ब्रह्म जिनदास की अपनी देन है। उनका प्रत्येक रास-काव्य प्रबन्ध काव्य की सीमा को पहुचता है। सं०१५०८ में रचित अकेला 'राम-रासो'—राजस्थानी भाषा की प्रथम जैन रामायण जिसका उल्लेख हिन्दी के फादर कामिल तथा बुल्के ने 'रामकथा परम्परा' मे किया है। जो गो० तुलसीदास के रामचरित मानस से सवा-सौ वर्ष पूर्व का है, किसी भी दृष्टि से मानस से कम महत्व नही रखता। यह राम-रासो लगभग ६५०० शब्द प्रमाण है। इसमे कोई अत्युक्ति नही कि समूचे हिन्दी साहित्य के इतिहास मे ब्रह्म जिनदास अपनी सानी नही रखते।

अपनी उत्कट आत्म-साधना के साथ गुरु-भक्ति, तीर्थाटन, नियमित स्वाध्याय, प्रतिष्ठाओ का सचालन और फिर उच्चकोटि का विशाल साहित्य-सृजन, ये सब कार्य ब्रह्म जिनदास जैसे बहुमुखी व्यक्तित्व की ही अनुपम देन है। वे अप्रतिम प्रतिभाओं के धनी थे, जिनमे एक साथ अद्भुत विद्वत्ता, उच्च कोटि के साधुत्व, अपने आराध्य के प्रति प्रगाढ भक्ति के साथ-साथ अनुपम कवित्वशक्ति और अविचलित आत्म-साधना के सभी गुण विद्यमान हैं। इसीलिए उनका साहित्य प्राणि-मात्र के इह लौकिक एवं पारलौकिक जीवन का अभ्युदयकारक होने से पूर्णतः सत्य शिव और सुन्दर से ओत-प्रोत है। वस्तुतः ब्रह्म जिनदास की हिन्दी साहित्य को उल्लेखनीय देन है। वे अपने युग के प्रतिनिधि कवि है। भक्तिकालीन सत साहित्य में वे सर्वोपरि गणनीय हैं। भाव, भाषा, वस्तु-विधान आदि सभी दृष्टियों से उनका काव्य-सृजन उल्लेखनीय है। हिन्दी वाङ्मय की अतुलनीय सेवा की दृष्टि से हिन्दी साहित्य-संसार सदा सर्वदा महाकवि ब्रह्म जिनदास का कृतज्ञ रहेगा।

राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, मनोहरपुर (जयपुर)

जैन देवकुल में यक्षी चक्रेश्वरी

□ डा० मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी, वाराणसी

हिन्दू एव बौद्ध धर्मों के समान ही जैन धर्म भी भारत का एक प्रमुख धर्म रहा है। जैन धर्म का अस्तित्व लगभग आठवी शती ई० पू० में २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय में स्वीकार किया जाता है। कुछ विद्वान् सिन्धु सभ्यता (लगभग ३००० ई० पू०) मे जैन धर्म का अस्तित्व—प्रतिपादित करते हैं, जिसे निर्णायक प्रमाणों के अभाव मे स्वीकार नही किया जा सकता। जैन देवकुल म २४ तीर्थंकरों (या जिनो) को सर्वोच्च महत्ता प्रदान की गई। इन्हें देवाधिदेव कहा गया। जैन देवकुल के अन्य सभी देवताओं को किसी न किसी रूप मे जिनो से उनके सहायक के रूप मे संबद्ध किया गया। छठी से दसवी शती ई० के मध्य तांत्रिक प्रभाव के फलस्वरूप सभी धर्मों में नवीन देवताओं को सम्मिलित कर देवकुल का विस्तार किया गया। जैन देवकुल में वृद्धि की यह प्रक्रिया छठी शती ई० में प्रारम्भ हुई और तेरहवी-चौदहवी शती ई० तक चलती रही। छठी शती ई० मे जिनों के साथ उपासक देवताओं के रूप में यक्ष-यक्षी युगलों को सश्लिष्ट किया गया, जिनकी उपासना से मनुष्य अपनी भौतिक आकांक्षाओं की पूर्ति कर सकता था। उल्लेखनीय है कि वीतरागी जिनों की उपासना से सांसारिक सुख-समृद्धि की प्राप्ति संभव नहीं थी।

आठवीं-नवीं शती ई० में, श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों मे प्रत्येक जिन के साथ एक स्वतन्त्र लाक्षणिक स्वरूपों का निर्धारण दसवी-ग्यारवी शती ई० यक्ष-यक्षी युगल की कल्पना की गई। इन यक्ष-यक्षी युगलों मे स्वतन्त्र में हुआ। यक्ष यक्षी युगल जिनो के चतुर्विध सघ के शासन एव रक्षक देव होते हैं। जैन मान्यता के अनुसार केवल ज्ञान प्राप्त होने के बाद सभी जिनो ने अपना प्रथम उपदेश देवनिर्मित सभा (समवसरण) में दिया था और उसी सभा में इन्द्र ने प्रत्येक जिन के साथ एक यक्ष-यक्षी युगल को शासनदेवता के रूप मे नियुक्त किया था। जैन ग्रंथ हरिवंश पुराण (८वीं शती) के ६६वें सर्ग मे स्पष्ट उल्लेख है कि २४ जिनो के निकट रहकर उनकी सेवा करने वाले शासन देवता सज्जनों का हित और शुभ कार्यों की विघ्नकारी शक्तियो, ग्रह, नाग, भूत, पिशाच, राक्षस—को शान्त करते हैं। यक्ष-यक्षी युगलों को जिन मूर्तियो के सिंहासन या सामान्य पीठिका के दाहने और बायें छोरो पर निरूपित किया गया है। लगभग नवी शती ई० से यक्ष एवं यक्षी की स्वतन्त्र मूर्तियां प्राप्त होने लगती है।

चक्रेश्वरी (या अप्रतिचक्रा) प्रथम जिन आदिनाथ (या ऋषभनाथ) की यक्षी है। चक्रेश्वरी जैन देवकुल की चार सर्वाधिक लोकप्रिय यक्षियो में एक है। अन्य यक्षियां अंबिका, पदमावती और सिद्धायिका है, जो क्रमशः २२वें, २३वें एव २४वें तीर्थंकरो नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर की यक्षिया है। जैन चक्रेश्वरी के स्वरूप पर विष्णु की शक्ति वैष्णवी (या चक्रेश्वरी) का स्पष्ट परिलक्षित होता है। जैन लाक्षणिक ग्रंथो मे यह प्रभाव देवी के गरुड़वाहन एवं भुजा मे चक्र के प्रदर्शन के सन्दर्भ मे देखा जा सकता है।[१]

परन्तु मूर्त अंकनों मे यह प्रभाव गरुड़वाहन और भुजाओं मे चक्र के अतिरिक्त, शंख और गदा के प्रदर्शन के सन्दर्भ मे भी प्राप्त होता है। हिन्दू देवी वैष्णवी के प्रभाव का स्पष्ट सकेत कुंभारिया (गुजरात) के महावीर जैन मन्दिर की छत पर उत्कीर्ण चक्रेश्वरी की मूर्ति मे देखा जा सकता है। मूर्ति लेख मे जैन यक्षी को 'वैष्णवी' देवी कहा गया है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण, रूपमण्डन एव देवपुराण जैसे ब्राह्मण ग्रथो मे किरीटमुकुट से शोभित गरुड़वाहन वैष्णवी की भुजाओं मे शख, चक्र, गदा एव पद्म के प्रदर्शन का निर्देश दिया गया है।

इसी प्रसग में यह उल्लेख आवश्यक है कि हिन्दू प्रभाव

केवल जैन यक्षी चक्रेश्वरी के निरूपण तक ही सीमित नहीं रहा है। २४ यक्ष एवं यक्षियों की सूची में से अधिकांश के नामों एवं लाक्षणिक विशेषताओं को जैनों ने हिन्दू और कुछ उदाहरणों में बौद्ध देवों से ग्रहण किया था। हिन्दू देवकुल विष्णु, शिव, ब्रह्मा, इन्द्र, स्कन्द, कार्तिकेय, काली, गौरी, सरस्वती, चामुण्डा और बौद्ध देवकुल की तारा, वज्रशृंखला, वज्रतारा एवं वज्रांकुशी के नामों और लाक्षणिक विशेषताओं को जैन धर्म में ग्रहण किया गया। जैन देवकुल के गरुड़, वरुण, कुमार यक्षों, और अम्बिका, पद्मावती, ब्रह्माणी यक्षियों के नाम हिन्दू देवकुल से ग्रहण किये गए, पर उनकी लाक्षणिक विशेषताएं स्वतन्त्र थीं। दूसरी ओर ब्रह्मा, ईश्वर, गोमुख, भृकुटि, षण्मुख, यक्षेन्द्र, पाताल, धरणेन्द्र, कुबेर यक्षों और चक्रेश्वरी, विजया, निर्वाणी, काली, महाकाली, तारा, वज्रशृंखला यक्षियों के नामों एवं लाक्षणिक विशेषताओं दोनों को हिन्दू देवकुल से ग्रहण किया गया था। यक्ष-यक्षियों के अतिरिक्त जैन देवकुल के राम, कृष्ण, बलराम, महाविद्या, सरस्वती, लक्ष्मी, गणेश, नैगमेषिन्, भैरव एवं क्षेत्रपाल आदि देवों को भी हिन्दू देवकुल से ही ग्रहण किया गया था।

प्रतिमाशास्त्रीय ग्रंथों में चक्रेश्वरी

श्वेताम्बर परम्परा में चक्रेश्वरी को अष्टभुज और दिगम्बर परम्परा में चतुर्भुज एवं द्वादशभुज निरूपित किया गया है। दोनों ही परम्पराओं में गरुड़वाहन चक्रेश्वरी के करों में चक्र एवं वज्र के प्रदर्शन के सन्दर्भ में समानता प्राप्त होती है। श्वेताम्बर ग्रन्थ निर्वाणकलिका (१०वीं शती) के अनुसार यक्षी दक्षिण भुजाओं में वरदमुद्रा, बाण, चक्र, पाश और वाम में धनुष, वज्र, चक्र, अंकुश धारण करती है।

"···अप्रतिचक्राभिधानां यक्षिणीं

हेमवर्णां गरुड़वाहनामष्टभुजां।

वरदबाणचक्रपाशयुक्तदक्षिणकरां

धनुर्वज्रचक्रांकुशवामहस्तां चेति ।।"

--निर्वाणकलिका : १८।१।

दिगम्बर ग्रंथ प्रतिष्ठासारसंग्रह (१२वीं शती) में चक्रेश्वरी का चतुर्भुज एवं द्वादशभुज स्वरूपों में ध्यान किया गया है। चतुर्भुजा यक्षी की दो भुजाओं में चक्र और अन्य दो में फल एवं वरदमुद्रा के प्रदर्शन का विधान है। द्वादशभुज यक्षी की आठ भुजाओं में चक्र, दो में वज्र एवं अन्य दो में फल एवं वरदमुद्रा प्रदर्शित होगी।

वामे चक्रेश्वरी देवी स्थाप्यद्वादशसद्भुजा।
धत्ते हस्तद्वये वज्रे चक्राणी च तथाष्टसु ।।
एकेन बीजपूरं तु वरदा कमलासना।
चतुर्भुजाथवाचक्रं द्वयोर्गरुडवाहनं ।।
—प्रतिष्ठासारसंग्रह : ५, १५-१६।

तांत्रिक ग्रंथों में चक्रेश्वरी के भयावह स्वरूप का उल्लेख है। ऐसे स्वरूप में तीन नेत्रों एवं भयंकर दर्शनवाली यक्षी चक्र, पद्म, फल एवं वज्र से युक्त है। दक्षिण भारतीय श्वेताम्बर परम्परा में गरुडवाहना चक्रेश्वरी को द्वादशभुज बताया गया है, जबकि दिगम्बर परम्परा में यक्षी षोडशभुज है। भुजाओं के आयुधों के सन्दर्भ में उत्तर भारतीय परम्परा का ही अनुकरण किया गया है।

मूर्त अंकनों में चक्रेश्वरी

मूर्त अंकनों में किरीटमुकुट से शोभित चक्रेश्वरी को सदैव मानव रूप में उत्कीर्ण गरुड़ पर आरूढ़ प्रदर्शित किया गया है। यक्षी की भुजाओं में चक्र के साथ ही गदा और शंख का नियमित चित्रण हुआ है। केवल उड़ीसा से प्राप्त चक्रेश्वरी मूर्तियों में गदा और शंख के स्थान पर खड्ग, खेटक एवं वज्र का प्रदर्शन प्राप्त होता है। यक्षी की एक भुजा से सामान्यतः वरदमुद्रा (या अभयमुद्रा) प्रदर्शित है। देवी अधिकांशतः एक पैर नीचे लटकाकर ललित मुद्रा में आसीन है। तीर्थंकर ऋषभनाथ की मूर्तियों के सिंहासन छोरों पर चक्रेश्वरी का अंकन जहाँ आठवीं शती ई० में ही प्रारम्भ हो गया, वहीं यक्षी की स्वतन्त्र मूर्तियां नवीं शती ई० में बनीं। श्वेताम्बर स्थलों पर परम्परा के विपरीत चक्रेश्वरी का केवल चतुर्भुज स्वरूप में निरूपण ही लोकप्रिय रहा है। पर दिगम्बर स्थलों पर चक्रेश्वरी की द्विभुज से विंशतिभुज मूर्तियां बनीं। चक्रेश्वरी की मूर्तियों के विकास की दृष्टि से दिगम्बर स्थलों की मूर्तियां महत्वपूर्ण रही हैं। राजस्थान एवं गुजरात से श्वेताम्बर और अन्य क्षेत्रों से दिगम्बर परम्परा की मूर्तियां प्राप्त होती हैं। दक्षिण भारत की मूर्तियों में गरुड़वाहन का

चित्रण बहुत नियमित नहीं रहा है। साथ ही, भुजाओं में शख और गदा का प्रदर्शन भी दुर्लभ रहा है। इस क्षेत्र में यक्षी की भुजाओं में चक्र, वज्र एव पद्म के प्रदर्शन में नियमितता प्राप्त होती है।

चक्रेश्वरी की प्राचीनतम स्वतन्त्र मूर्ति उत्तर प्रदेश के ललितपुर जिले में स्थित देवगढ़ (दिगम्बर) के मंदिर १२ की भित्ति से प्राप्त होती है। ८६२ ई० मे निर्मित मन्दिर स० १२ (शान्तिनाथ मन्दिर) की भित्तिपर जैन देवकुल की सभी २४ यक्षियों का अंकन प्राप्त होता है, जो २४ यक्षियों के सामूहिक चित्रण का प्रारम्भिकतम उदाहरण है। त्रिभग में खड़ी चतुर्भुज चक्रेश्वरी की सभी भुजाओं मे चक्र है। गरुड़वाहन दाहिने पार्श्व में नमस्कार मुद्रा में खड़ा है। मूर्तिलेख मे यक्षी का नाम 'चक्रेश्वरी' उत्कीर्ण है। यक्षी के निरूपण में जैन देवकुल की पांचवी महाविद्या अप्रतिचक्रा के स्वरूप का अनुकरण किया गया है, जिसकी सभी भुजाओं में चक्र के प्रदर्शन का विधान रहा है। महाविद्या की धारणा यक्षी चक्रेश्वरी की अपेक्षा प्राचीन रही है।

प्रारम्भिक दसवी शती की दो अष्टभुज मूर्तिया मध्यप्रदेश के विदिशा जिले मे स्थित ग्यारसपुर के माला-देवी मन्दिर के शिखर पर उत्कीर्ण है। इनमे यक्षी के अवशिष्ट करो मे छल्ला, वज्र, चक्र, चक्र, चक्र और शंख प्रदर्शित है। दसवी शती की एक दशभुजा चक्रेश्वरी मूर्ति पुरातात्विक संग्रहालय, मथुरा (क्रमाक-०० डी-६) मे सुरक्षित है। पद्मासन पर समभग मे खड़ी यक्षी की नौ सुरक्षित भुजाओं मे चक्र स्थित है। दो सेविकाओ से सेवित देवी के शीर्षभाग मे लघु जिन आकृति उत्कीर्ण है। दिगबर स्थल खजुराहो (छतरपुर, मध्य प्रदेश) से यक्षी की दसवी से बारहवी शती के मध्य चार से दस भुजाओं वाली कई मूर्तिया मिली है। यहा की चतुर्भुज मूर्तियों मे गदा, चक्र, शंख और अभयमुद्रा (या पद्म) प्रदर्शित है। घण्टई मन्दिर (१०वी शती) के प्रवेश द्वार पर चक्रेश्वरी की अष्टभुज मूर्ति निरूपित है। यक्षी के हाथों मे फल, घण्ट, चक्र, चक्र, चक्र, चक्र, धनुष एवं कलश है। पार्श्वनाथ मन्दिर (८५४ ई०) के प्रवेश द्वार की मूर्ति मे दशभुजा यक्षी वरद, खड्ग, गदा, चक्र, पद्म, चक्र, धनुष, फलक, गदा और शख से युक्त है।

देवगढ़ में चक्रेश्वरी का चतुर्भुज स्वरूप सर्वाधिक लोकप्रिय रहा है। पर यक्षी को षड्भुज, अष्टभुज, दशभुज एवं विंशतिभुज स्वरूपों मे भी अभिव्यक्त किया गया। *उल्लेखनीय है कि नवीं (८६२ ई०) से बारहवी शती के* मध्य की चक्रेश्वरी की सर्वाधिक स्वतन्त्र मूर्तिया देवगढ़ से ही प्राप्त हुई हैं। अधिकांश उदाहरणों मे किरीटमुकुट से अलंकृत गरुड़वाहन यक्षी के हाथों में चक्र, शख एव गदा है। बहुभुजी मूर्तियो मे चक्र, शख, गदा के अतिरिक्त खेटक, खड्ग, परशु एवं वज्र का प्रदर्शन लोकप्रिय रहा है। चतुर्भुज यक्षी की द्विभग मे खड़ी एक मूर्ति मन्दिर १२ के अर्धमण्डप के स्तम्भ पर उत्कीर्ण है। यक्षी के करो मे वरदमुद्रा, गदा, शंख एव चक्र प्रदर्शित है। षट्भुज चक्रेश्वरी की एक मूर्ति (११वी शती ई०) मंदिर १२ की दक्षिणी चहारदीवारी पर उत्कीर्ण है। यक्षी वरदमुद्रा, खड्ग, चक्र, चक्र, गदा एवं शंख से युक्त है। अष्टभुज चक्रेश्वरी की तीन मूर्तियां है। ग्यारहवी शती की एक मूर्ति मन्दिर स० १ के मानस्तम्भ पर उत्कीर्ण है, जिसमे यक्षी की भुजाओ मे वरदमुद्रा, गदा, वाण, छल्ला, छल्ला, वज्र, चाप एवं शख है मंदिर १४ की बारहवी शती ई० की एक मूर्ति मे तीन हाथो मे चक्र और शेष मे दण्ड, खड्ग, अभयमुद्रा, परशु एव शख प्रदर्शित है।

दशभुजा यक्षी की एक मूर्ति मन्दिर ११ के समक्ष के मानस्तम्भ (१०५९ ई०) पर उत्कीर्ण है। यक्षी वरद-मुद्रा, वाण, गदा, खड्ग चक्र, चक्र, खेटक, वज्र, धनुष एव शख से युक्त है। विंशतिभुज चक्रेश्वरी की ग्यारहवी शती की तीन मूर्तिया प्राप्त होती है, जिनमें से दो स्थानीय साहू जैन संग्रहालय मे सुरक्षित है। साहू जैन संग्रहालय की एक विशिष्ट मूर्ति मे चक्रेश्वरी के साथ दो उपासको, चामरधारिणी सेविकाओ, पद्म धारण करने वाली पुरुष आकृतियो, उड्डीयमान मालाधरो एवं ऊपर की ओर जैन यक्षी पद्मावती और सरस्वती को भी आमूर्तित किया गया है। चक्रेश्वरी की केवल सात ही भुजाए सुरक्षित है, जिनमें चार मे चक्र और अन्य में वरदाक्ष, खेटक और शख प्रदर्शित है। संग्रहालय की दूसरी मूर्ति मे चामरधारिणी सेविकाओं एवं उड्डीयमान मालाधरों से युक्त चक्रेश्वरी

की सभी भुजाएं सुरक्षित है। देवी की छह भुजाओं में चक्र एव अन्य में शृंखला से युक्त घण्ट, खेटक, वज्र, खड्ग, तूणीर, मुद्गर, गदा, व्याख्यानमुद्रा—अक्षमाला, परशु दण्ड, शख, धनुष, सर्प एवं शूल प्रदर्शित है। देवी के शीर्षभाग में तीन जिन मूर्तियां निरूपित है। बहुभुजी चक्रेश्वरी की ग्यारहवीं शती की एक मनोज्ञमूर्ति मध्य प्रदेश के गोलकोट नामक स्थल से प्राप्त होती है।

उड़ीसा की खण्डगिरि पहाड़ी (पुरी जिला) की नवमुनि गुफा में ग्यारहवी शती की दसभुजा चक्रेश्वरी की एक मूर्ति है। जटामुकुट से शोभित गरुड़वाहना यक्षी योगासन मुद्रा मे दोनो पैर मोड़कर बैठी है। चक्रेश्वरी के सात हाथो मे चक्र, दो मे खेटक, अक्षमाला एव एक हाथ योगमुद्रा मे गोद मे स्थित है। उड़ीसा की खण्डगिरि पहाडी की वारभुजी गुफा मे द्वादशभुज चक्रेश्वरी की एक मूर्ति है। गरुड़वाहना देवी की छह दक्षिणभुजाओ मे वरद-मुद्रा, वज्र, चक्र, चक्र, अक्षमाला एवं खड्ग है, और तीन वामभुजाओ मे खेटक, एव सनाल पद्म है और तीन भुजाएं खण्डित है।

पश्चिम भारत के किसी स्थल से प्राप्त लगभग दसवी शती की एक अष्टभुज मूर्ति राष्ट्रीय सग्रहालय, दिल्ली (क्रमाक ६७-१५२) मे सुरक्षित है। गरुड़वाहना यक्षी की ऊपर की छह भुजाओ म चक्र और अन्य दो मे वरद-मुद्रा एव फल प्रदर्शित है। कुभारिया (बनासकाठा, गुजरात) के शातिनाथ एवं महावीर मन्दिरो (११वी शती) की छतो पर उत्कीर्ण ऋषभनाथ के जीवन दृश्यो मे भी चतुर्भुज चक्रेश्वरी निरूपित है। शान्तिनाथ मन्दिर के उदाहरण म यक्षी वरदमुद्रा, चक्र, चक्र एव शख से युक्त है। महावीर मन्दिर के उदाहरण मे "वैष्णवी देवी" के नाम से सम्बोधित यक्षी के करो में वरदमुद्रा, गदा, सनालपद्म एवं शंख प्रदर्शित है। गुजरात एव राजस्थान के श्वेताम्बर स्थलो की चक्रेश्वरी मूर्ति के सन्दर्भ में एक प्रमुख बात यह है कि इन स्थलो पर यक्षी चक्रेश्वरी और पाचवी महाविद्या अप्रतिचक्रा के निरूपण मे अत्यधिक समानता प्राप्त होती है। इस कारण कभी-कभी यह निश्चित करना कठिन हो जाता है कि मूर्ति यक्षी की है या महाविद्या की। यद्यपि लाक्षणिक ग्रथों मे दोनो के लिए स्वतन्त्र विशेषताएं वर्णित है, पर मूर्त अभिव्यक्तियो में उनका निर्वाह नही किया गया।

दक्षिण भारत में यक्षी का चतुर्भुज, षट्भुज, अष्टभुज एवं द्वादशभुज स्वरूपो मे निरूपण हुआ है। ग्यारहवी-बारहवीं शती की एक चतुर्भुज मूर्ति कर्नाटक की कम्बद् पहाड़ी स्थित शातिनाथ बस्ती के नवरग से मिली है। गरुड़वाहना यक्षी ने अभयमुद्रा, चक्र, चक्र एव पद्म धारण किया है। होयसलकालीन एक षट्भुज मूर्ति कर्नाटक के जिननाथपुर स्थित जैन मन्दिर की दक्षिणी भित्ति पर है। यक्षी के करो मे वरमुद्रा, वज्र, चक्र, चक्र, वज्र एवं पद्म प्रदर्शित हैं। बम्बई के सेण्ट जावियर कालेज के इण्डियन हिस्टारिकल रिसर्च इन्स्टीट्यूट सग्रहालय में सुरक्षित ऋषभमूर्ति मे चक्रेश्वरी द्वादशभुज है। त्रिभंग मे खड़ी यक्षी की आठ भुजाओं मे चक्र, दो मे वज्र एव एक मे पद्म प्रदर्शित हैं। एक भुजा खण्डित है। द्वादशभुज चक्रेश्वरी की एक अन्य मूर्ति एलोरा (महाराष्ट्र) की गुफा ३० में देखी जा सकती है। गरुड़वाहना चक्रेश्वरी के पाच अवशिष्ट दक्षिण करो में पद्म, चक्र, शंख, चक्र एव गदा प्रदर्शित है। यक्षी की केवल एक ही वामभुजा सुरक्षित है, जिसमे खड्ग स्थित है।

□□□

डो-५१/१६४बी, सूरजकुण्ड, वाराणसी-२२१००१(उ० प्र०)

सन्दर्भ सूची

१. शाह, यू० पी०—आइकानोग्राफी आफ चक्रेश्वरी, दि यक्षी आफ ऋषभनाथ, जर्नल आफ दि ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट आफ बड़ोदा, ख० २०, अ०३, मार्च १९७१, पृ० २८०-३११।

२. 'तिवारी' मारुतिनन्दन प्रसाद, 'दि आइकानोग्राफी आफ दि जैन यक्षी चक्रेश्वरी', श्रमण (वाराणसी), वर्ष २७, अ० १०, अगस्त १९७५, पृ० २४-३३।

३. शर्मा, बृजेन्द्रनाथ—'अनपब्लिश्ड जैन ब्रोन्जेज इन दि नेशनल म्यूजियम', जर्नल आफ दि ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ोदा, ख० १९, अं० ३, मार्च १९७०, पृ० २७५-७६।

४. गुप्ता, एस० पी० तथा शर्मा, बी० एन०—"गधावल, और जैन मूर्तियां," अनेकांत, खं० १९, अंक १-२, अप्रैल-जून १९६६, पृ० १३०।

५. मित्रा, देबला—'शासन देवीज इन दि खण्डगिरि केव्स', जर्नल आफ दि एशियाटिक सोसायटी, ख० १, अं०२, १९५९, पृ० १२७-३३।

भानपुरा संग्रहालय की जैन यक्ष-यक्षिणी प्रतिमाएँ

□ श्री रवीन्द्र भारद्वाज, एम. ए., उज्जैन

मंदसौर जिले की भानपुरा तहसील अपने अन्दर प्राचीन शिल्प वैभव को समेटे हुए है।

परमारों से राज्य में जिन छोटे-छोटे और आंचलिक महत्त्व के कलाकेन्द्रों का विकास हुआ, उनमें मोड़ी एवं हिंग्लाजगढ़ का विशिष्ट स्थान है। मोड़ी तो भानपुरा से १२ कि० मी० पश्चिम में स्थित था और हिंग्लाजगढ़ २२ कि० मी० की दूरी पर उत्तर पश्चिम में। यहाँ पश्चिमी मालवा शैली विकसित एवं परिष्कृत हुई[1]।

परमार काल में शैव एवं वैष्णव सम्प्रदायों के अतिरिक्त यहाँ जैन धर्म का भी व्यापक प्रसार हुआ। इस क्षेत्र के परमार कालीन सधारा[2], केथुली[3], कँवला[4] और नीमथूर[5] के जैन मन्दिर इसके प्रमाण हैं।

परमारों के समय की प्राचीनतम अभिलिखित जैन यक्षिणी अच्युता की प्रतिमा संवत् १०७५ (१०१८ ई०) यहीं हिंग्लाजगढ़ से प्राप्त हुई है।[6]

भानपुरा पुरातत्त्व संग्रहालय में यहां की जैन-मूर्ति-शिल्प धरोहर सुरक्षित है। पुरातत्त्व संग्रहालय में हिंग्लाजगढ़ की यक्ष-यक्षिणी प्रतिमाएँ परमारकाल की कला का पूर्ण प्रतिनिधित्व करती हैं।

इनमें प्रमुख है परमारकालीन गोमेध यक्ष एवं अम्बिका की मूर्ति, जो कि भद्रपीठ पर आसनस्थ है। इस प्रतिमा का आकार—ऊंचाई ८२ से० मी०, चौड़ाई ४६ से० मी० तथा मोटाई ८ से० मी० है। गोमेध यक्ष तथा अम्बिका क्रमशः वाम तथा सव्यललितासन में हैं। प्रतिमा का प्रभामण्डल आम्रवृक्ष का तथा नीचे इनका वाहन सिंह का अंकन है। प्रतिमा के ऊपर आसनक मुद्रा में पार्श्वनाथ (?) तथा दोनों ओर स्थानक तीर्थंकर हैं। प्रतिमा के पार्श्व में चॅवरधारी पुरुष का अंकन है। प्रतिमा के निचले भाग में सात अश्वारोही दर्शाये गये हैं।

एक अन्य अम्बिका की प्रतिमा हिंग्लाजगढ़ से प्राप्त हुई है। यह भानपुरा संग्रहालय की शिल्प कृतियों में से एक है।

इस क्षेत्र की आंचलिक शिल्प विशेषता यह रही है कि प्रतिमाएँ लघु स्तम्भों से निर्मित रथिका में बनाई गई हैं। अम्बिका की प्रतिमा भी रथिका में स्थित है जो कि लघु-स्तम्भों के द्वारा निर्मित है। ऊपर कलात्मक चैत्य अलंकरण है।

किरीट मुकुटधारिणी अम्बिका सव्यललितासन में आसनक है। दाहिना हस्त आम्रलुम्बि युक्त तथा वाम शिशु को सहारा दिये है। अन्य ब्राह्मण प्रतिमाओं के सदृश ही अम्बिका की मुखाकृति गोलाई लिए सौम्य मुद्रा में है। उभरी हुई ठुड्डी तथा पलकों के अंकन में नुकीलापन है। प्रतिमा के ओठ, वक्षस्थल तथा कटिप्रदेश के अंकन में सुरुचिपूर्ण मृदुता, लावण्य और मांसलता है। उन्नत और कठिन पयोधर पर कुचबन्धों का आलेखन किया गया है। प्रतिमा का अलंकरण दृष्टव्य है—किरीट मुकुट, कुण्डल, ग्रैवेयक, स्तन पर मणिमाला, स्तनों के मध्य झूलता हिक्कासूत्र, स्कन्धमाला, केयूर, कटिसूत्र तथा मेखला और पैर नूपुरों से अलंकृत हैं। प्रतिमा के ऊपरी भाग में 'आसनक तीर्थंकर' प्रतिमा है। आम्र वृक्ष का प्रभामण्डल और नीचे अम्बिका का वाहन सिंह का अंकन है। यह प्रतिमा लाल सिकताश्म की बनी है।

इस प्रकार, भानपुरा क्षेत्र परमारकालीन जैन शिल्प की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। □□□

पुरातत्त्व विभाग, विक्रम
विश्वविद्यालय, उज्जैन (म० प्र०)

१. श्री गर्ग, आर. एस.—मोड़ी-मण्डल का शिल्प वैभव-(प्रोग्रेसिव रिपोर्ट आफ आर्केलाजिकल सर्वे, वेस्टर्न सर्किल—वर्ष १९२०)।
२. PRAS. WC,. P. ८८-९१
३. वही, पृ० ९२
४. वही, पृ० ८३
५ भारद्वाज, रवीन्द्र, भानपुरा का अप्रकाशित जैन शिल्प, वीरवाणी, वर्ष ३१, अंक ६, पृ० १४६।
६. श्रीगर्ग—मोड़ी-मण्डल का शिल्पवैभव—टंकितप्रति-प्रकाशनाधीन।

रामगुप्त और जैन धर्म

□ डा० सोहनकृष्ण पुरोहित, जोधपुर

गुप्तवंशी नरेशों के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त का उत्तराधिकारी उसका द्वितीय पुत्र द्वितीय चन्द्रगुप्त बना[1]। परन्तु विशाखदत्त द्वारा रचित 'देवी चन्द्रगुप्तम्'[2] नाटक के उपलब्ध अंशो, बाण के 'हर्षचरित'[3] राजशेखर की 'काव्यमीमांसा'[4] तथा एक मुस्लिम कृति मजमल-उत तवारीख[5] आदि साहित्यिक साधनों एवं राष्ट्रकूटों के संजन[6], केम्बे तथा सांगली दानपत्रो के सम्मिलित साक्ष्यो से संकेतित है कि समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त उत्तराधिकारी बना, जिसके अनुज द्वितीय चन्द्रगुप्त ने उसे मारकर सिंहासन पर अधिकार कर लिया था। उपर्युक्त साक्ष्यानुसार रामगुप्त एक कायर एवं कुल के लिए कलंक तुल्य था। शक नरेश द्वारा घेर लिए जाने पर उसने अपनी पत्नी ध्रुव देवी का शकाधिपति को देना स्वीकार कर लिया था। लेकिन द्वितीय चन्द्रगुप्त ने शकाधिपति को धोखे से मारकर सम्राज्ञी और साम्राज्य का सम्मान बढाया। बाद मे अवसर पाकर रामगुप्त की भी हत्या करके सिंहासन पर अधिकार और ध्रुव देवी से विवाह कर लिया। ये घटनाएं ऐतिहासिक हैं अथवा नही, इस विषय पर करीब पिछले पचास वर्षों से बडा विवाद चला आ रहा है। परन्तु पिछले कुछ वर्षों मे रामगुप्त की मुद्राएं और अभिलेख प्रकाश मे आ जाने से उसकी ऐतिहासिकता प्रमाणित हो गई है।

रामगुप्त की मुद्राएं विदिशा, एरिकिणप्रदेश (पूर्वी-मालवा) से प्राप्त हुई है[7]। डा० के० डी० बाजपेयी[8] ने इन मुद्राओं को चार प्रकारो मे विभाजित किया है, जो इस प्रकार हैं— सिंह, गरुड, गरुड़ध्वज और बार्डर लिजेण्ड। इन मुद्राओ पर गरुड़ध्वज का अंकन उसे गुप्तवंशीय नरेश प्रमाणित करता है। उसके अभिलेख विदिशा के निकट दुर्जनपुर ग्राम से प्राप्त हुए है। ये जैन मूर्ति अभिलेख है जिनकी स्थापना रामगुप्त ने करवाई थी। प्रथम[9] एवं तृतीय अभिलेख[10] के अनुसार, रामगुप्त ने चेलुक्षमण नामक आचार्य के उपदेशानुसार चन्द्रप्रभ नामक अर्हत की प्रतिमा स्थापित करवाई थी। द्वितीय लेख[11] के अनुसार, उसने पुष्पदन्त नामक अर्हत की मूर्ति का निर्माण कराया था।

हमारा मान्यता है कि गुप्तवंशीय नरेश होने के कारण उसने मुद्राओ पर गरुड का अंकन जारी रखा।[12] लेकिन वास्तव मे रामगुप्त का झुकाव जैन धर्म की ओर था जिसका प्रमाण उसके जैन प्रतिमालेख है। विशाखदत्त उसे कायर कहकर पुकारता है। लेकिन हम विशादत्त के विचारो से सहमत नही है। हमारी धारणा है कि शकाधिपति ने जब रामगुप्त पर आक्रमण किया, उस समय उसने (रामगुप्त ने) कायरता के कारण ध्रुवदेवी को देना स्वीकार किया था। अपितु रामगुप्त एक कट्टर जैन धर्मावलम्बी कट्टर नरेश था। इसलिए उसने सोचा कि यदि शकाधिपति से युद्ध किया जायेगा तो युद्ध मे सैकड़ों व्यक्ति मारे जायेगे।

---

१. भीतरी स्तम्भ लेख।

२. गुप्त, परमेश्वरीलाल—गुप्त साम्राज्य, पृ० १२३-१३०

३. वही, पृ० १३८। ४. वही।

५ इलियट, डाउसन—हिस्टरी आफ इण्डिया एज टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियन्स, १, पृ० ११०।

६. ए० इ० ४, पृ० २५७, ए० इ० १७, पृ० २४८।

७ ज० न्यू० सो० इ० १२, पृ० १०३, १३, पृ० १२८

८. जर्नल आफ इण्डियन हिस्टरी, ४२, पृ० ३८६।

९. प्रथम पक्ति—भगवतोऽर्हतः। चन्द्रप्रभस्य प्रतिमेय कारिता।
द्वितीय पंक्ति—महाराजाधिराज, श्री रामगुप्तेन, उपदेशात् पाणिया—
तृतीय पक्ति—त्रिक चन्द्रक्षमाचार्य क्षमण-श्रमण-प्रशिष्याचार्य—
चतुर्थ पक्ति—सर्प्पसेनलक्ष्मणशिष्यस्य गोलक्या-न्त्यासत्पुत्रस्य चेलुक्षमणस्येति।

१०. प्रथम पक्ति—भगवतोऽर्हतः (चन्द्रप्रभ) स्य प्रतिमेय कारिता महा(राजा) धिराराज —
द्वितीय पक्ति—श्री (रामगुप्ते)न उ(पदेशात्) (पा) णि (पात्रि)...
तृतीय पंक्ति चतुर्थ पंक्ति ..

११. (१) भगवतोऽर्हतः। पुष्पदन्तस्य प्रतिमेयं कारिता।
(२) महाराजाधिराज श्री रामगुप्ते उपदेशात् पाणिपात्रिक।
(३) चन्द्रक्षम (णा) चार्य्य-(क्षमण)-श्रमण प्रशि (ष्यस्य)
(४) ......

१२. ज० न्यू० सो० इ० २३, पृ० ३११-४३।

फुलान की अप्रकाशित जैन प्रतिमाएं

□ डा० सुरेन्द्र कुमार आर्य, उज्जैन

उज्जैन से ३२ किलो मीटर पश्चिम दिशा में नागदा-इंदौर बस मार्ग पर फुलान ग्राम स्थित है। यह उज्जैन जिले की बड़नगर तहसील में आता है। यहां पर विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन व मध्य प्रदेश राज्य-पुरातत्व विभाग के संयुक्त तत्वावधान में पुरातात्विक सर्वेक्षण किया गया है। यह सर्वेक्षण दंगवाड़ा-उत्खनन वर्ष १९७९ के कार्य का ही एक अंग था। डा० वि० श्री वाकणकर के मार्गदर्शन में यह सर्वेक्षण किया गया था: नरसिंगा ग्राम से २ कि० मी० पूर्व की ओर फुलान ग्राम स्थित है। यहां पर मौर्यकाल, शकयुग व गुप्तकाल के अवशेष मिलते हैं और टीले पर बसा हुआ जो प्राचीन ग्राम का स्थान है, वह अब उजाड़ है। इस टीले पर सर्वेक्षण के दौरान तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व की ताम्र आहत मुद्राएं मिली है। साथ ही जीवदामन व रुद्रदायन की व ताम्र मुद्राएं मिली है। यह एक सम्पन्न स्थल था जहां पर मौर्ययुग से शक काल तक पर्याप्त जनावास था। यही पर जैन प्रतिमाएं मिली है जिनका विवरण निम्नलिखित है:

ग्राम को घेरता हुआ एक भेरू है, नाला उसके किनारे पर परमार काल की एक तीर्थंकर प्रतिमा मिली है जिसका शीर्ष भग्न है। प्रतिमा पद्मासन मे है और आकार ६ फुट ऊंचा व ४ फुट ५ इंच चौड़ा है। पादपीठ पर संवत ११७८ का शिलालेख है। लेख की ४ पंक्तियां हैं पर इतना भग्न है कि केवल संवत ११७८ ही पढ़ा जा सकता है। पादपीठ पर शेर बना हुआ है। अतः शेर-वाहन वाली यह महावीर प्रतिमा हो सकती है।

एक अन्य खंडित प्रतिमा हनुमान मन्दिर के पास ओटले पर रखी हुई है जो पार्श्वनाथ की खड्गासन में है और निश्चय ही १०वीं शताब्दी के शिल्प में निर्मित है।

तीसरी प्रतिमा माताजी के ओटले (चबूतरे) पर जड़ी हुई है। इसमे जैन देवी पद्मावती गरुड़वाहन पर आसीन है व ऊपर तीर्थंकर प्रतिमा पद्मासन में है। देवगण, यक्ष, किन्नर व वाद्यवृन्द हर्ष से पुष्प वर्षा कर रहे हैं।

चौथी व पाचवी तीर्थंकर प्रतिमाये भग्न है व केवल पादपीठ ही शेष है। एक अन्य प्रतिमा पर चरणचिह्न ही शेष है और सब भग्न है। फुलानग्राम में यह जैन प्रतिमायें स्पष्ट करती है कि यहा पर परमार काल में कोई विशाल देवालय रहा होगा।

२२, भक्त नगर, दशहरा मैदान,
उज्जैन-४५६००१

□□□

(पृष्ठ ७९ का शेषांश)

जबकि जैनधर्मानुसार अहिंसा को परमधर्म माना गया है इसलिए रामगुप्त ने हिंसा से बचने हेतु अथवा यू कहिए कि जैन धर्म के सिद्धान्तों की रक्षा हेतु अपनी पत्नी ध्रुव देवी को शकाधिपति को देना स्वीकार किया था। अत: हमे रामगुप्त को एक कायर नरेश नही अपितु कट्टर जैन धर्मावलम्बी नरेश के रूप मे स्वीकार करना चाहिए। रामगुप्त के जैन होने की पुष्टि का सूक्ष्म संकेत राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष के सजन ताम्रपत्र मे भी मिलता है। इसमे जैन धर्मावलम्बी अमोघवर्ष ने रामगुप्त की आलोचना न करके उसके स्थान पर द्वितीय चन्द्रगुप्त के प्रति घृणा प्रकट की है।[13] यहां हम डा० उदयनारायण राय के मत से पूर्णतया सहमत है कि जिस प्रकार उत्तरकाल मे बुद्धगुप्त, बालादित्य एवं वज्र आदि नरेशो ने बौद्धधर्म का अनुसरण किया उसी भाति पूर्वकाल में समुद्रगुप्त के उत्तराधिकारी रामगुप्त ने जैनधर्म का अवलम्बन कर लिया था।[14]

इतिहास विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर (राज०)

□□□

१३. गुप्त, पूर्वो० पृ० ४६।

१४. राम, उदयनारायण—गुप्त सम्राट् और उनका काल, पृ० १७८।

श्रमण संस्कृति की प्राचीनता : पुरातत्व और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में

☐ डा० प्रेमचन्द जैन, एम ए., पी-एच डी. जैन, दर्शनाचार्य, जयपुर

किसी धर्म की श्रेष्ठता उसकी प्राचीनता अथवा अर्वाचीनता पर अनिवार्यतः निर्भर नही होती, किन्तु यदि कोई धार्मिक परम्परा प्राचीन होने के साथ-साथ सुदीर्घ काल पर्यन्त सजीव, सक्रिय, प्रेरक एवं प्रगतिवान् बनी रहती है और लोक की उन्नति, नैतिक वृद्धि तथा सास्कृतिक समृद्धि मे प्रबल प्रेरक एव सहायक सिद्ध हुई होती है तो उसकी वह प्राचीनता जितनी अधिक होती है वह उतनी ही अधिक उस धर्म के स्थायी महत्त्व एव उसमे निहित सर्वकालीन एव सार्वभौमिक तत्वो की सूचक होती है। इसके अतिरिक्त किसी भी सस्कृति के उद्भव एवं विकास का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने तथा उसकी देनो का उचित मूल्यांकन करने के लिए भी उसकी आधारभूत धार्मिक परम्परा की प्राचीनता का अन्वेषण आवश्यक हो जाता है।

प्रश्न किया जा सकता है कि जैन संस्कृति की प्राचीनता मे शका करने की अथवा उसे अत्यन्त प्राचीन सिद्ध करने की आवश्यकता ही क्यो हुई ? स्वयं जैनो की परम्परा अनुश्रुति तो सुदूर अतीत मे, जब से भी वह मिलनी प्रारम्भ होती है निर्विवाद एव सहजरूप मे उसे सर्वप्राचीन संस्कृति मानती ही चली आती है और बौद्ध अनुश्रुतिया ही नही ब्राह्मणीय अनुश्रुतिया भी अत्यन्त प्राचीन काल से जैन धर्म की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करती चली आती हैं। अतएव जैन संस्कृति की प्राचीनता सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नही है किन्तु आधुनिक प्राच्यविदो एवं इतिहासकारों ने जब भारतीय इतिहास, समाज, धर्म, संस्कृति, साहित्य, कला आदि का अध्ययन प्रारम्भ किया तो उन्होंने उस आधुनिक ऐतिहासिक पद्धति को अपनाया जिसमें वर्तमान को स्थिर मानकर प्रत्येक वस्तु के इतिहास को पीछे की ओर उसके उद्गम स्थान या उदयकाल तक खोजते चला जाता है। जो तथ्य प्रमाणसिद्ध होते जाते है और अतीत में जितनी दूर तक निश्चित रूप से ले जाते प्रतीत होते है वही उनका अथवा उनकी ऐतिहासिकता का आदिकाल निश्चित कर दिया जाता है। अब जैन-संस्कृति की आपेक्षिक प्राचीनता के कतिपय प्रमुख प्रमाण प्रस्तुत किये जाते है।

"मोहनजोदड़ो और हड़प्पा" के अवशेषों से पुरातत्त्ववेत्ताओं ने यह सिद्ध कर दिया है कि आर्यों के कथित भारत आगमन के पूर्व यहा एक समृद्ध सस्कृति और सभ्यता थी। उस संस्कृति के मानने वाले मानव सुसभ्य, सुसस्कृत और कलाविद् ही नहीं थे अपितु आत्मविद्या के भी प्रकाण्ड पण्डित थे। पुरातत्वविदो के अनुसार जो अवशेष मिले है उनका सीधा सम्बन्ध जैन सस्कृति से है।

मैक्समूलर, मैकडानल तथा अन्य पाश्चात्य विद्वानों की गवेषणाओ ने यह तो सर्वसम्मत रूप से प्रमाणित कर दिया है कि किसी युग मे उत्तरी क्षेत्रो से बहुत बड़ी संख्या मे आर्य लोग भारतवर्ष मे आये। उनकी अपनी एक व्यवस्थित सभ्यता थी।

वैदिक-साहित्य से भी यह तथ्य प्रगट होता है कि वैदिक आर्य-गण लघु एशिया और मध्य एशिया देशों से होते हुए त्रेता युग के आदि मे इलावर्त और उत्तर पश्चिम के द्वार से पजाब मे आये। उस समय के पूर्व से ही द्रविड़ लोग गधार से विदेह तक तथा पाचाल से दक्षिण मध्यदेश तक अनेक वर्गों मे विभक्त होकर निवास कर रहे थे। इनकी सभ्यता पूर्ण विकसित थी। इनका लौकिक जीवन भी पूर्णतः सुव्यवस्थित था। कृषि, पशुपालन, वाणिज्य एवं शिल्प कला इनके जीवन के मुख्य साधन थे।

जहाजों द्वारा समुद्री भागो से लघु एशिया तथा उत्तर-पूर्वी अफ्रीका के देशो के साथ व्यापार करते थे।

डा० कीथ ने अपनी पुस्तक मे लिखा है कि "ऋग्वेद मे जिस धर्म का उल्लेख है वह आर्यो का नही किन्तु भारत के आदिवासियों का अनुमानतः द्राविड़ों का है।" ये स्पष्ट रूप से भारत के प्राचीन निवासी है। यहा के निवासियो मे इनकी प्रधानता है[1]।

डा० रेगोजिन (वैदिक इण्डिया), मार्टिनर व्हीलर (एन्सियेन्ट इण्डिया), गिलबर्ट (स्टेटरम्युर), डा० पी० एल० भार्गव (इण्डिया इन वैदिक एज), राहुल साकृत्यायन (ऋग्वैदिक आर्य), डा० सतीशचन्द्र काला (सिन्धु सभ्यता), कामरेड एम० ए० डागे (आदि साम्यवाद से दासता तक) और डा० एस० के० चाटुर्ज्या (भारत में आर्य और अनार्य) आदि विद्वानो ने दास और दस्यु आदि को भारत का मूल निवासी माना है। ये लोग वैदिक आर्यों के आगमन के समय सिन्धु की उपत्यकाओं, सहायक नदियों की घाटियो में निवास करते थे।

आर्यों के आगमन से पूर्व यहा एक समुन्नत सस्कृति और सभ्यता विद्यमान थी।[2] वह सस्कृति अहिसा, सत्य, त्याग और अध्यात्म पर आधारित थी।[3] शक्तिशाली होने के कारण वैदिक आर्यों को उनसे अत्यधिक क्षति उठानी पड़ी। वैदिक साहित्य मे देव और दानवो का जो युद्ध वर्णन आया है, हमारी दृष्टि से यह युद्ध असुर और वैदिक आर्यो का है। यह सघर्ष ३०० वर्षो तक चलता रहा।[4]

ऋग्वेद के मन्त्रो मे भी आर्यो और अनार्यो (मूल निवासियो) का सघर्ष प्रगट होता है। मन्त्र १।१-४।७-८ मे पृथ्वी को 'दास' लोगो की श्मशान-भूमि कहा गया है। मन्त्र २।६।७ मे इन्द्र को 'पुरन्दर' और कृष्ण योनिदासों की सेनाओ को नष्ट करने वाला कहा गया है। मन्त्र १।४।८ मे 'गृह' नामक अनार्य राजा के एक सौ पुत्रो को 'ऋजिश्ला' द्वारा भेदन करने का वर्णन तब आया है जब कि कृष्णवर्ण वाले 'दासो' पर उसने चढ़ाई की थी।

ऋग्वेद मे अनेक स्थानो पर वर्णन किया गया है कि पर्वत निवासी 'दास' के द्वारा सेनापति शम्बर के पुरो और दुर्गो का ध्वंस किया गया, जिनकी संख्या ६० (१। १३०।७), ६६ (२।१६।६) और १०० (२।१४।६) कही गयी है।

ऋग्वेद मे ही एक स्थान पर इन्द्र के लिए की गयी आर्यो की स्तुति मे परिस्थितियो को संक्षेप में इस प्रकार कहा गया है कि "हमे सब ओर से 'दस्यु' घेरे हुए हैं, वे यज्ञ कर्म नही करने देते (अकर्मन्) हैं। न किसी को मानते है (अमन्तु)। उनके व्रत हमसे भिन्न है (अन्य-व्रत)। वे मनुष्य जैसा व्यवहार नही करते (अमानुषः)। हे शत्रुनाशन् ! तू उनका वध कर और दासो का नाश कर।[5] महाभारत के अनुसार भारत मे असुर राजाओ की एक लम्बी परम्परा रही है;[6] और वे सभी राजागण व्रत पारायण, बहुश्रुत और लोकेश्वर थे।[7]

विष्णु पुराण के अनुसार, असुर लोग आर्हत धर्म के मानने वाले थे। उनको मायामोह नामक किसी व्यक्ति विशेष ने आर्हत धर्म मे दीक्षित किया था।[8] वे ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद मे विश्वास नही रखते थे।[9] वे यज्ञ और पशुबलि मे भी विश्वास नही रखते थे।[10] अहिंसा धर्म में उनका पूर्ण विश्वास था।[11] वे श्राद्ध और कर्म-काण्ड का विरोध करते थे।[12] मायामोह ने अनेकान्तवाद का भी निरूपण किया था।[13] ऋग्वेद मे असुरों को वैदिक

१ The Religion and Philosophy of Veda and Upnishada, pp 9-10.

२ The religion of Ahinsa : by Prof. A. Chakaravarti, p. 17.

३. महाभारत, शान्तिपर्व, २२७।१३

४. अथ देवासुरं युद्धमभूत वर्षशतत्रयम्।
—मत्स्यपुराण २४।३७

५. ऋग्वेद, १०।२२।८

६. महाभारत, शान्तिपर्व २२७।४६।५४

७. महाभारत, शान्तिपर्व २२७।५६।६०

८. अर्हतेत महाधर्मं मायामोहिन ते यतः।
प्रोक्तास्तमाश्रिता धर्ममार्हतास्तेन ते भवन् ॥
—विष्णुपुराण ३।१८।१२

९. विष्णुपुराण ३।१८।१४

१०. विष्णुपुराण ३।१८।२७

११. विष्णुपुराण ३।१८।२५

१२. विष्णुपुराण ३।१८।२८-२६

१३. विष्णुपुराण ३।१८।८-११

आर्यों का शत्रु कहा है।[१४]

दैनिक जीवन मे भी वे लोग प्रगति के पथ पर थे। उनके आवास, ग्राम और नगर व्यवस्थित थे और वे हाथी घोड़ो की सवारी भी करते थे। उनके पास आवागमन के साधन भी थे।[१५] यहा तक कि उनमे भक्ति और पुनर्जन्म के विचारों मे विश्वास था।[१६]

जैन संस्कृति पुरातत्त्व परिपेक्ष्य में

सिन्धु-घाटी के उत्खनन में जिस संस्कृति और सभ्यता का रूप हमारे सामने आया है वह निश्चित ही प्राग्वैदिक कालीन है। मूर्ति पूजा आदि कुछ ऐसे तथ्य है जिनसे यह कहा जा सकता है कि सिन्धु-घाटी सभ्यता वैदिक विरोधी सभ्यता थी। वह उपर्युक्त द्रविड़ अथवा विद्याधर जाति की सभ्यता से सम्बद्ध रही होगी। यह जाति ऋषभ (बैल) को पूज्य मानती थी, जिसे कालान्तर मे ऋषभदेव तीर्थङ्कर के चिह्न के रूप मे स्वीकार किया गया है।[१७]

श्री रामप्रसाद चन्दा ने अपने एक लेख मे लिखा है कि मोहनजोदड़ो से प्राप्त एक लाल पाषाण की मूर्ति, जिसे पुजारी की मूर्ति समझ लिया गया है, मुझे एक योगी की मूर्ति प्रतीत होती है। वह मुझे इस निष्कर्ष पर पहुचने के लिए प्रेरित करती है कि सिन्धु घाटी मे उस समय योगाभ्यास होता था और योगी की मुद्रा मे मूर्तिया पूजी जाती थी। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा से प्राप्त मोहरें, जिन पर मनुष्य रूप मे देवो की आकृति अकित है, मेरे इस निष्कर्ष को और भी पुष्ट करती है।

सिन्धुघाटी से प्राप्त मोहरो पर बैठी अवस्था मे अंकित मूर्तियां ही योग की मुद्रा मे नही है, किन्तु खड़ी अवस्था मे अकित मूर्तियां भी योग की कायोत्सर्ग मुद्रा को बतलाती है।

मथुरा म्यूजियम मे दूसरी शती की कायोत्सर्ग मे स्थित ऋषभदेव जिन की एक मूर्ति है। इस मूर्ति की शैली सिन्धु से प्राप्त मोहरों पर अकित खड़ी हुई देव मूर्तियों की शैली से बिल्कुल मिलती है।[१८]

सर जान मार्शल के अनुसार, मोहनजोदडो से प्राप्त कुछ मूर्तिया योगियों की मूर्तियां प्रतीत होती है। इन मूर्तियों मे से एक, योगासन स्थित त्रिमुख योगी की प्रतिमा विशेषतः उल्लेखनीय है। इस मूर्ति के सम्मुख हाथी, व्याघ्र, महिष, मृग आदि पशु स्थित है। कुछ विद्वानो के मतानुसार यह पशुपति शिव की मूर्ति है।[१९] अन्य विद्वानो के अनुसार यह मूर्ति किसी पहुचे हुए योगी की मूर्ति है।[२०] इस त्रिमुख मूर्ति के अवलोकन से अर्हत अतिशयों मे अभिज्ञ कोई भी विद्वान् यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि यह समवशरण स्थित चतुर्मुख तीर्थङ्कर का ही कोई शिल्प चित्रण है जिसका एक मुख उसकी बनावट के कारण अदृश्य हो गया है।[२१] अस्तु आर्यों के आगमन से पूर्व यहाँ एक समुन्नत संस्कृति एवं सभ्यता विद्यमान थी जो अहिंसा, सत्य एवं त्याग पर आधारित थी।

इस प्रकार, पुरातत्त्व की दृष्टि से भी श्रमण संस्कृति की प्राचीनता सिद्ध होती जा रही है। भारतीय पुरातत्त्व का इतिहास मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा से प्रारम्भ होता है। यद्यपि इन स्थानो से प्राप्त मुद्राओं की लिपि—सिन्धु लिपि का प्रामाणिक वाचन नहीं हो सका है और इसी कारण सिन्धु-सभ्यता के निर्माताओं की जाति अथवा नृवंश के सम्बन्ध मे निर्विवाद रूप से कहना सम्भव नही, तथापि सिन्धु घाटी के अवशेषों मे उपलब्ध कतिपय प्रतीको को श्रमण संस्कृति से सम्बद्ध माना जा सकता है।

---

१४ ऋग्वेद १।२३।१७८।२-३

१५. Mohan Jo dro and the Indus Civilization (1931) Vol 1 pp 93-95.

१६. Ancient India (An Ancient Histdry of India, Part-1).

१७. देखिए प्राचीन परम्परा और इतिवृत्त : लेखक भागचन्द्र जैन (भास्कर)—महावीर जयन्ती स्मारिका, १९७४, पृ० २-१४।

१८. प० कैलाशचन्द्र शास्त्री का लेख "श्रमण परम्परा की प्राचीनता", अनेकान्त वर्ष २८, कि० १, पृ ११३-११४

१९ Mohan Jo-dro and the Indus Civilization (1931) Vol-1 pp. 42-3.

२०. Ahinsa in Indian Culture, Dr. Nathmal Tantia.

२१. मुनि श्री नगराज जी : वीर (श्रमण अंक), वीर निर्वाण स० २४९०, पृ० ४६।

वैदिक एवं पौराणिक साहित्य में जैन संस्कृति के तत्व :

वेद तथा अनेक पार्श्ववर्ती ग्रन्थो मे अर्हन्, व्रात्य, श्रमण, वातरशना, केशी, ऋषभ और वृषभ, पार्श्व, अरिष्टनेमि, महावीर आदि संज्ञायें जैन संस्कृति की प्रागैतिहासिकता को सिद्ध करती है। रामायण, महाभारत व पुराणों में भी उपरोक्त संज्ञाएं आयी है।

अर्हन्

जैन धर्म मे पाँच अवस्थाओ से सम्पन्न आत्मा सर्वोत्कृष्ट एवं पूज्य मानी गई है। इनमे अरहन्त सर्व प्रथम है। अरहन्त किसी व्यक्ति विशेष का नाम नही है, वह तो आध्यात्मिक गुणो के विकास से प्राप्त होने वाला महान् मंगलमय पद है।

जैनागम मे अरहन्त का स्वरूप निम्न प्रकार बताया गया है—जिन्होंने चार घातिया कर्मो का नाश कर दिया है, जो अनन्त दर्शन सुख ज्ञान और वीर्य के धारक है, जो उत्तम देह में विराजमान है और जिनकी आत्मा शुद्ध है वे अर्हत् है।

णट्ठचदुघाइकम्मो दंसणसुहणाण वीरियमईओ।
सुहदेहत्थो अप्पा सुद्धो अरि हो विचिंतिज्जो॥

द्रव्य संग्रह ५०

श्री गणेश प्रसाद ने लिखा है कि 'द्रविड़' अपने इष्ट देव को अर्हन्, जिन, परमेष्ठी एव ईश्वर के नाम से अभिहित करते थे। जीवन शुद्धि के लिए अहिंसा एव संयम और तपो मार्ग के अनुयायी थे। इतना ही नही, ये सांसारिक अभ्युदय से विरक्त हो त्यागी, भिक्षाचारी एवं अरण्यवासी बन चुके थे। अर्हन्, जिनपरमेष्ठी एव ईश्वर का निर्विकार आदर्श ही इनके जीवन का परम आदर्श था। साधु दिगम्बर होते थे, केश बड़े-बड़े रखते थे, अधिकतर केवल वायु के आधार पर जीवन यापन करते हुए निरन्तर आत्म चिन्तनशील रहते थे। ये लोग तपस्या एवं श्रम के साथ साधना कर 'मृत्यु' पर विजय प्राप्त कर लेते थे।[२२]

धवला टीका मे अरहन्त का अर्थ करते हुए लिखा है कि—

अरिहननादरिहंता,.........रजोहननाद्वा अरिहन्ता, अतिशय पूजार्हत्वाद्वा अरिहन्ता।[२३]

अर्थात् अरिहन्त वे है जिन्होंने कर्म शत्रुओं का अथवा कर्ममल का नाश कर दिया है तथा जो अतिशय पूजा के योग्य है :

जरवाहिजम्ममरणं च उगइगमणं च पुण्णपावं च।
हतूण दोषकम्मे हुउणाणमयं च अरहंतो॥[२४]

अर्थात् जिन्होंने जरा, व्याधि, जन्म, मरण, चतुर्गतिगमन, पुण्य, पाप—इन दोषो तथा कर्मो का नाश कर दिया है और जो ज्ञानमय हो गये है वे अरहन्त है।

अरहन्त की इन्ही विशेषताओ को पंचाध्यायी मे इस प्रकार बताया गया है—

दिव्यौदारिकदेहस्था धौतघातिचतुष्टयः।
ज्ञानदृग्वीर्यसौख्याढ्यः सोऽर्हन् धर्मोपदेशकः॥[२५]

अरहन्त शब्द के विभिन्न भाषाओ मे निम्न प्रकार के रूप रहे है—

संस्कृत	अर्हत्
प्राकृत	अरहन्त तथा अरिहंत
पालि	अरहन्त
जैन शौरसेनी	अरूह
मागधी	अलहंत तथा अलिहन्त
अपभ्रंश	अलहतु तथा अलिहतु
तमिल	अरूह
कन्नड़	अरूहत, अरूह

अरहन्त शब्द प्राकृत है। इसका संस्कृत रूप है 'अर्हत्'। 'अर्ह पूजायाम्' अर्थात् पूजार्थक 'अर्ह' धातु से 'अर्हः प्रशंसायाम्' पाणिनि-सूत्र से प्रशंसा अर्थ मे शतृ प्रत्यय होकर 'अर्हत्' शब्द बनता है। प्रथमा के एक वचन मे 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' पाणिनि सूत्र से 'नुम्' का आगम होकर 'अर्हन्' पद बनता है। सम्बोधन एक वचन मे भी 'अर्हन्' पद बनता है। प्राकृत भाषा मे 'शतृ' प्रत्यय के स्थान पर 'न्त' प्रत्यय होकर 'अर्हन्त' रूप बनता

२२. भारत के आदिवासी और उनकी संस्कृति (लेख—श्री गणेशप्रसाद) महावीर जयन्ती स्मारिका, सन् १९७३, पृ. २-६६।

२३. धवला टीका प्रथम पुस्तक, पृ० ४२-४४

२४. बोधपाहुड, ३०

२५ पंचाध्यायी २।६०७

है। साथ में प्राकृत व्याकरण के 'ई: श्री ह्री कीत क्लान्त-क्लेशमभास्वप्नस्पर्शहर्षार्हगषु (प्राकृत प्रकाश ३.६२), सूत्र के अनुसार र् ह् के मध्य ईकार का आगम होकर 'अरिहत' तथा प्राकृत की परम्परा के अनुसार अकार का आगम होकर 'अरहत' रूप प्राकृत भाषा मे बनता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने प्राकृत भाषा मे इसका एक रूप 'अरूह' भी प्रयोग किया है—'अरूहा सिद्धायरिया' (मोक्ष पाहुड़ ६।१०४) सम्भवतः इस शब्द पर तमिल का प्रभाव रहा हो।

वैदिक, पौराणिक एवं बौद्ध वाङ्मय में अर्हत् शब्द का प्रयोग

विनोबा भावे ने अपने एक लेख मे ऋग्वेद के एक मंत्र का उद्धरण देते हुए जैन संस्कृति की प्राचीनता सिद्ध की है। वे कहते हैं कि ऋग्वेद मे भगवान् की प्रार्थना मे कहा गया है कि 'अर्हत् इदं दयसे विश्वम्भ्वम्'[२६], अर्थात् हे अर्हन्, तुम इस तुच्छ दुनिया पर दया करते हो। इसमे अर्हत् और दया दोनो जैनो के प्यारे शब्द हैं। मेरी तो मान्यता है कि जितनी वैदिक संस्कृति प्राचीन है शायद उतनी ही जैन संस्कृति प्राचीन है।[२७] ऋग्वेद का उपरोक्त मंत्र इस प्रकार है :—

अर्हत् विभर्षि सायकानि,
धन्वार्हन्निष्कं यजत विश्वरूपमं।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमम्बं,
न वा ओ जीवो रूद्र त्वदन्यदस्ति॥

प्रतिष्ठातिलक के लेखक नेमिचन्द्र ऋग्वेद के उपर्युक्त मन्त्र से अत्यन्त प्रभावित प्रतीत होते है। उन्होने इस मंत्र को आधार बनाकर निम्न प्रकार से वर्णन किया है—

अर्हत् बिभर्षि मोहारिविध्वंसिनयसायकान्।
अनेकान्त द्योतिनिर्बाधप्रमाणोदार धनु च॥
ततस्त्वमेव सेव्यासि युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
दृष्टेष्टाविरोधिनेष्टा स्यु. सर्वथैकान्तवादिन:॥
अर्हन्निष्कमिव त्वमात्मं बहिरन्तर्मलक्षयम्।
विश्वरूपं च विश्वार्थं वेदितं लभसे सदा॥
अर्हन्निदं च दयसे विश्वमभ्यंतराश्रयम्।
नृसुरासुरसंघात मोक्षमार्गोपदेशनात्॥
ब्रह्मासुरमयो वान्यो देश रुद्रस्त्वदस्ति।

ऋग्वेद मे अनेक स्थानो पर अर्हत् शब्द का प्रयोग मिलता है—

'अर्हत् देवान् यक्षि मानुषत् पूर्वो अद्य।'[२८]
"अर्हन्तो ये सुदानवो नरो असामि शवस।"[२९]
"अर्हन्ता चित्पुरोदधे क्षेव देवावर्वते।"[३०]
इमस्तोमं अर्हते जातवेदसे रथमिव संमहेमामनीषया।[३१]
ईडितो अग्ने मनमानो अर्हन्देवान्यक्षि मानुषात्पूर्वो अद्य।[३२]

इन उल्लेखो से ऐसा प्रतीत होता है कि जैन धर्म के मानने वाले अर्हन्त को अपना उपास्य देव मानते थे।

वराहमिहिरसंहिता, योगवासिष्ठ, ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य मे भी अर्हत् मत का उल्लेख मिलता है—

दिग्वासास्तरूणो रूपवांश्च कार्योर्हतादेव:।[३३]
वेदान्तर्हत सांख्य सौगत गुर्वक्षादिसूक्तादृशो।[३४]
शरीरपरिमाणो हि जीव इत्याहर्ताममन्यते।[३५]

इस आर्हत परम्परा की पुष्टि वायुपुराण[३६], श्रीमद्-भागवत[३७], पद्मपुराण[३८], विष्णुपुराण[३९], स्कन्दपुराण[४०],

---

२६. अर्हत् विभर्षि सायिकानि
धन्वार्हन्निष्कं यजत विश्वरूपम्।
अर्हन्निद दयसे विश्वमम्बं
न वा ओ जीवो रुद्र त्वदन्यदस्ति॥
—ऋग्वेद २।४।१०।३३

२७. विनोबा भावे—श्रमण संस्कृति, पृ० ५७

२८. ऋग्वेद २।५।२२।४।१

२९. ऋग्वेद ४।३।६।५२।५ (५।४।५२)

३०. ऋग्वेद ३।८६।५ (५।६।८६)

३१. ऋग्वेद १।१५।६४

३२. ऋग्वेद २।११।३

३३ वराहमिहिर संहिता ४५।५८

३४. बाल्मीकि योगवासिष्ठ ६।१७३।३४

३५. ब्रह्म सूत्र शांकरभाष्य २।२।३३

३६. ब्रह्म शैव, वैष्णवं च सौर शाक्त तथा आर्हतम्।
—वायुपुराण १०४।१६

३७. श्रीमद् भागवत ५।३।२०

३८. पद्मपुराण १३।३५०

३९. विष्णुपुराण १७-१८वा अध्याय।

४०. स्कन्द पुराण ३६-३७-३८

शिवपुराण[४१], मत्स्य पुराण[४२], देवी भागवत[४३] आदि पुराणो से भी होती है। इनमे जैन धर्मों की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे अनेक आख्यान उपलब्ध होते है।

अर्हतैतं महाधर्मं मायारोहेन ते यतः ।
प्रोक्तास्तमाश्रिता धर्ममार्हतास्तेन तेऽभवन् ।।[४४]

विष्णुपुराण के इस उल्लेखानुसार, जो लोग आर्हत धर्म को मानने वाले थे उनको मायामोह नामक किसी व्यक्ति विशेष ने आर्हत धर्म मे दीक्षित किया था। उसी मायामोह नामक व्यक्ति ने अनेकान्त वाद का निरूपण किया था।[४५] वे ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद मे श्रद्धा नही रखते थे।[४६] वे यज्ञ और पशु बलि मे भी विश्वास नही रखते थे।[४७] अहिंसा धर्म मे उनका पूर्ण विश्वास था।[४८] वे श्राद्ध और कर्मकाण्ड के विरोधी थे।[४९]

गतद्धिनो विसोकस्स विप्पमुत्तस्स सब्बधि ।
सब्बगन्धपहीनस्स परिलाहो न विज्जति ।।

— धम्मपद अरहन्तवग्गो ९०

अर्थात् अरहन्त वह है जिसने अपनी जीवन यात्रा समाप्त कर ली है, जो शोक रहित है, जो ससार से मुक्त है, जिसने सब प्रकार के परिग्रहों को छोड़ दिया है और जो कष्ट रहित है।

ऐसा अरहन्त जहाँ कहाँ भी विहार करता है वह भूमि रमणीय है —

यत्थारहन्तो विहरन्ति भूमि रामणेय्येक ।

बुद्ध ने कहा था "भिक्षुओ, प्राचीनकाल में जो भी अरहन्त तथा बुद्ध हुए थे उनके भी ऐसे ही दो मुख्य अनुयायी थे जैसे मेरे अनुयायी सारिपुत्त और मोग्गलायन है।"[५०]

व्रात्य :

व्रात्य शब्द का मूल व्रत है। व्रत का अर्थ धार्मिक सकल्प और जो संकल्पो को करता है, कुशल है वह व्रात्य है।[५१] डा० हैवर प्रस्तुत शब्द का विश्लेषण करते है— व्रात्य का अर्थ व्रतों से दीक्षित है अर्थात् जिसने आत्मानुशासन की दृष्टि से स्वेच्छापूर्वक व्रत स्वीकार किये हो, वह व्रात्य है।[५२]

व्रात्य शब्द अर्वाचीन काल मे आचार और सस्कारों से हीन मानवो के लिए व्यवहृत होता रहा है। अभिधान चिन्तामणि कोश मे आचार्य हेमचन्द्र ने भी यही अर्थ किया है।[५३] मनुस्मृतिकार लिखते है—क्षत्रिय, वैश्य और ब्राह्मण योग्य अवस्था प्राप्त करने पर भी असस्कृत हैं क्योकि वे व्रात्य है और वे आर्यों के द्वारा गर्हणीय है।[५४] उन्होने आगे लिखा है—जो ब्राह्मण, सतति, उपनयन और व्रतो से रहित हो उस गुरु मंत्र से परिभ्रष्ट व्यक्ति को व्रात्य नाम से निर्दिष्ट किया गया है।[५५] ताण्डय ब्राह्मण मे एक स्तोत्र है जिसका पाठ करने से अशुद्ध व्रात्य भी शुद्ध और सुसस्कृत होकर यज्ञ आदि करने का अधिकारी हो जाता है।[५६] इस पर भाष्य करते हुए सायण ने

४१. शिवपुराण ५।४-५
४२. मत्स्यपुराण २४।४३-४९
४३. देवी भागवत ४।१३।५४-५७
४४. विष्णु पुराण ३।१८।१२
४५. विष्णुपुराण ३।१८।८-११
४६. विष्णुपुराण ३।१८।१३-१४
४७. विष्णुपुराण ३।१८।२७
४८. विष्णुपुराण ३।१८।२५
४९. विष्णुपुराण ३।१८।२८-२९
५०. सयुक्त निकाय ५।१६४ गौतमबुद्ध पृ० १४७
५१. व्रियते यद् तदव्रतम्, व्रते साधु कुशले वा इति व्रात्यः।
५२. Vratya as initiated in Vratas Hence Vratya means a person who has volmitanly accepted the moral code of Vows for his own spiritual discipline—by Dr. Hebar.
५३. व्रात्यः संस्कारवर्जितः। व्रतैः साधु कालो व्रात्यः। तत्र भवो व्रात्यः प्रायश्चितार्हः सस्कारोऽत्र उपनयनं तेन वर्जितः। —अभिधान चिन्तामणि कोष ३।५१८
५४ अत उर्ध्वं त्रयोऽप्येते, यथा कालमसस्कृताः।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः ।।
—मनुस्मृति १।५१८
५५ द्विजातयः सवर्णासु जनयन्त्यव्रतांस्तु तान।
तान सावित्री-परिभ्रष्टान् व्रात्यानिति विनिर्दिशेत्।
—मनुस्मृति १०।२०
५६. हीना व एते। हीयन्ते ये व्रात्या प्रवसन्ति। षोडशो वा एतत् स्तोमः समाप्तुमर्हति। —ताण्डय ब्राह्मण

भी व्रात्य का अर्थ आचारहीन किया है।[५७]

उपर्युक्त सभी अर्वाचीन उल्लेखों मे व्रात्य का अर्थ आचारहीन बताया गया है। जब कि इनसे पूर्ववर्ती ग्रन्थों में इसके विपरीत विद्वत्तम, महाधिकारी पुण्यशील, विश्व सम्मान्य आदि विशेषण प्रयुक्त हुए है।[५८] व्रात्यकाण्ड की भूमिका मे सायण ने लिखा है—इसमे व्रात्य की स्तुति की गई है। उपनयन आदि से हीन मानव व्रात्य कहलाता है। ऐसे मानव को वैदिक कृत्यो के लिए अनधिकारी और सामान्यत: पतित माना जाता है। परन्तु कोई व्रात्य ऐसा हो जो विद्वान् और तपस्वी हो, ब्राह्मण उससे भले ही द्वेष करे, परन्तु वह सर्वपूज्य होगा और देवाधिदेव परमात्मा के तुल्य होगा।[५९] यह तो स्पष्ट है कि अथर्ववेद के व्रात्य काण्ड का सम्बन्ध किसी ब्राह्मणेत्तर परम्परा से है। व्रात्य ने अपने पर्यटन मे प्रजापति को भी प्रेरणा दी थी।[६०] उस प्रजापति ने अपने मे सुवर्ण आत्मा को देखा।[६१]

प्रश्न हो सकता है कि व्रात्य कौन है, जिसने प्रजापति को प्रेरणा दी? डा० सम्पूर्णानन्द व्रात्य का अर्थ परमात्मा करते है।[६२] और बलदेव उपाध्याय भी इसी अर्थ को स्वीकार करते है।[६३] किन्तु व्रात्य काण्ड का परिशीलन करने पर प्रस्तुत कथन युक्तियुक्त प्रतीत नही होता। व्रात्य काण्ड मे जो वर्णन है वह परमात्मा का नही अपितु किसी देहधारी का है। मुनि देवेन्द्र शास्त्री की मान्यता है कि उस व्यक्ति का नाम भगवान ऋषभदेव है, क्योंकि ऋषभदेव एक वर्ष तक तपस्या मे स्थिर रहे थे। एक वर्ष तक निराहार रहने पर भी उनके शरीर की पुष्टि और दीप्ति कम नही हुई थी।

'व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापति समेरयत्" इस सूत्र मे "आसीदीयमान' शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ होता है—पर्यटन करता हुआ। यह शब्द श्रमण सस्कृति के सन्त की ओर निर्देश करता है। इसके अतिरिक्त भी व्रात्य को अनेक जगह घूमने वाला साधु भी कहा गया है। श्रमण संस्कृति का साधु भी आदिकाल से ही घुमक्कड रहा है। घूमना उसके जीवन की प्रधान दिनचर्या रही है। वह पूर्व[६४] पश्चिम[६५] उत्तर[६६] और दक्षिण आदि सभी दिशाओ मे अप्रतिबद्ध रूप से परिभ्रमण करता है। जैनागम साहित्य मे अनेक स्थलो पर उसे अप्रतिबन्धविहारी कहा है। वर्षावास के समय को छोडकर शेष आठ मास तक वह एक ग्राम से दूसरे ग्राम, एक नगर से दूसरे नगर विचरता रहता है।[६७] भ्रमण करना उसके लिए प्रशस्त माना गया है।

व्रात्य लोग व्रतो को मानते थे, अर्हन्तो की उपासना करते थे और प्राकृत भाषा बोलते थे। उनके साधु ब्राह्मण सूत्रो के अनुसार ब्राह्मण और क्षत्रिय थे।[६८] व्रात्यकाण्ड मे पूर्व ब्रह्मचारी को व्रात्य कहा गया है।[६९]

निष्कर्ष यह है कि प्राचीनकाल मे व्रात्य शब्द का प्रयोग श्रमण सस्कृति के अनुयायी श्रमणो के लिए होता रहा है। अथर्ववेद के व्रात्य-काण्ड मे रूपक की भाषा मे ऋषभदेव का ही जीवन वर्णन किया गया है। ऋषभदेव

---

५७. व्रात्यान् व्रात्यता आचारहीनता प्राप्य प्रवसन्त: प्रवास कुर्वत:। —ताण्डय ब्राह्मण सायण महाभाष्य

५८. काचिद् विद्वत्तमं महाधिकार, पुण्यशील विश्वसमान्यं। ब्राह्मण विशिष्ट व्रात्यमनुलक्ष्य वचनमिति मंतव्यम्।। —अथर्ववेद १५।१।१।१ सायण भाष्य

५९. अथर्ववेद १५।१।१।१

६०. व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समेरयत्। —अथर्ववेद

६१. स: प्रजापति: सुवर्णमात्मन्नपश्यन्। —अथर्ववेद १५।१।१।३

६२. डा० सम्पूर्णानन्द—अथर्ववेदीय व्रात्यकाण्ड, पृ० १

६३. वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० २२६

६४. स उदतिष्ठन् स प्राचीदिशमनुव्यचजत्। —अथर्ववेद १५।१।२।१

६५. स उदतिष्ठत् स: प्रतीचीदिशमनुव्यचलत्। —अथर्ववेद १५।१।२।१५

६६. स उदतिष्ठत् स उदीचीदिशमनुव्यचलत्। अथर्ववेद

६७. दशवैकालिक चूलिका—२ गा० ११।

६८. विहार चरिया इसिण पसत्था। —दशवैकालिक चूलिका २ गा० ५

६९. वैदिक इण्डेक्स, दूसरी जिल्द १९५८, पृ० ३४३, मेकडानल और कीथ।

७०. वैदिक कोष, वाराणसेय हिन्दू विश्वविद्यालय, १९६३, सूर्यकान्त।

के प्रति वैदिक ऋषि प्रारम्भ से ही निष्ठावान् रहे है और उन्हे वे देवाधिदेव के रूप में मानते रहे है।[७१]

श्रमण

"श्रमण" शब्द की रचना "श्रम" धातु (श्रमु तपसि खेदे च) मे ल्युट् प्रत्यय जोड कर हुई है। आचार्य हरिभद्र सूरि का कथन है—"श्राम्यतीति श्रमणः तपस्यतीत्यर्थः"[७२] अर्थात् जो तप करता है वह श्रमण है। इस प्रकार श्रमण का अर्थ हुआ तपस्वी या परिव्राजक।

श्रमण शब्द का अर्थ अत्यन्त व्यापक है। विभिन्न भाषाओ मे उपलब्ध श्रमण शब्द के विविध रूप (समण, शमण, सवण, श्रवण, श्रमण, सरमनाइ, श्रमणेर आदि) श्रमण शब्द की व्यापकता सिद्ध करते है।[७३] मिश्र, सुमेर, असुर, बाबुल, यूनान, रोम, चीन, मध्य एशिया, प्राचीन अमेरिका, अरब, इसराइल आदि प्राचीन देशो मे भी श्रमण संस्कृति किसी न किसी रूप मे विद्यमान थी, यह अनेक ऐतिहासिक एव पुरातात्त्विक साक्ष्यो से सिद्ध हो चुका है।

ऋग्वेद मे श्रमण[७४] शब्द तथा वातरशना: मुनय: (वायु जिनकी मेखला है, ऐसे नग्न मुनि) का उल्लेख हुआ है।[७५] बृहदारण्यक उपनिषद् मे श्रमण के साथ साथ 'तापस' शब्द का पृथक् प्रयोग हुआ है।[७६] इससे स्पष्ट है कि प्राचीनकाल से ही तापस ब्राह्मण एव श्रमण भिन्न माने जाते थे। तैत्तिरीय आरण्यक मे तो ऋग्वेद के "मुनयो: वातरशना" को श्रमण ही बताया गया है।[७७] उपर्युक्त उद्धरणों से प्राचीन वैदिक काल से ही श्रमणों का अस्तित्व एवं प्रभाव स्पष्ट रूप से व्यक्त होता है।

वैदिक वाङ्मय के अतिरिक्त रामायण,[७८] महाभारत[७९] तथा भागवत पुराण[८०] मे श्रमणो का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। श्रमण संस्कृति के आद्य प्रवर्तक भगवान ऋषभदेव का भी उल्लेख वेदो[८१] तथा पुराणो[८२] मे श्रद्धापूर्वक किया गया है।

वातरशना

ऋग्वेद मे जिन 'वातरशन' मुनियो का बहुधा उल्लेख हुआ है वे भी आर्हत अथवा जैन होने चाहिए।[८३] सायण ने भी इन्ही वातरशन मुनियो को अतीन्द्रियार्थदर्शी कहा

---

७१. भगवान परमर्षिभि: प्रसादितो नाभ: प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मरूदेव्या धर्मान् दर्शयितुकामा वातरशनाना श्रमणानाना ऋषीणाम् उर्ध्वमन्थिना शुक्लया तन्वावतार। —भागवतपुराण ५।३।२०

७२. दशवैकालिक सूत्र १।३

७३. विशेष के लिए देखे लेखक का शोध प्रबन्ध "जैन हरिवश पुराण का सांस्कृतिक अध्ययन" पृ० ६३।

७४. तृदिला अतृदिलासो अद्रयो श्रमणा अगृथिता अमृत्यव:। ऋग्वेद १०।९४।११ —अश्रमणा: श्रमणवर्जिता—सायण भाष्य।

७५. मुनयो: वातरशना पिशङ्गावसते मला:। —ऋग्वेद १०।१३५।२

७६. श्रमणोऽश्रमण स्तापमोऽतापस: भवति-बृहदारण्यकोपनिषद ४।३।२२

७७ वातरशना ह व ऋषय: श्रमणा: उर्ध्वमन्थिनो बभुव:। —तैत्तिरीयारण्यक २।७

७८. तापसा: भुंजते चापि श्रमणाश्चैव भुंजते। —रामायण १।१४।१२

७९. महाभारत - १२।१५४।२१

८०. सन्तुष्टा' करुणा मैत्रा: शान्ता दान्तास्तितिक्षव:। आत्मारामा: समदृश: प्रायश' श्रमणा: जन:। — भागवत पुराण

८१. ऋग्वेद, १०।१०२।६ तथा ४।५८।३

८२. (१) बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभि: प्रसादितो नाभे: प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनाना श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुवावततार॥ — भागवत पुराण ५।३।२०

(२) ऋग्वेद १०।११।१३६।२-३

८३. (१) मुनयो वातरशना पिशगा वसते मला।
वातस्यानु घ्राजि यन्ति यद्देवासो अविक्षत॥
उन्मदिता मौनयेन वातां आतस्थिम वयम्।
शरीरेदस्माकं मतां सो अभिपश्यथ॥
— ऋग्वेद १०।११।१३६।२

(२) तैत्तिरीयारण्यक— १।२३।२; १।२४।४; २।७।१२

है।[८४] "मुनयो वातरशनाः पिशगा वसते मला" का अर्थ डा० हीरालाल जैन ने सायण भाष्य की सहायता से इस प्रकार किया है—"अतीद्रियार्थदर्शी वातरशना मुनि मल धारण करते है जिससे पिंगल वर्ण दिखाई देते है। जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते है, अर्थात् रोक लेते है तब वे अपने तप की महिमा से दैदीप्यमान होकर देवता-स्वरूप को छोड़कर हम मनोवृत्ति से उन्नतवत् उत्कृष्ट आनन्द सहित वायु भाव को, अशरीरी ध्यानवृत्ति को, प्राप्त हो जाते है और तुम साधारण मनुष्य हमारे बाह्य शरीर मात्र को देख पाते हो। हमारे सच्चे आभ्यन्तर स्वरूप को नही।" केशी मुनि भी वातरशन की श्रेणी के ही थे।[८५] तैत्तिरीयारण्यक मे भगवान ऋषभदेव के शिष्यो को वातरशन ऋषि उर्ध्वमथी कहा है।[८६]

श्रीमद् भागवत पुराण मे लिखा है—स्वय भगवान विष्णु महाराजा नाभिराज का प्रिय करने के लिए उनके रनिवास मे महारानी मरुदेवी के गर्भ मे आये। उन्होने वातरशना श्रमण ऋषियो के धर्म को प्रकट करने की इच्छा से यह अवतार ग्रहण किया।

केशी

ऋग्वेद मे भगवान ऋषभदेव की स्तुति केशी के रूप मे की गई है।[८७] वातरशना मुनि प्रकरण मे प्रस्तुत उल्लेख आया है, जिससे स्पष्ट है कि केशी ऋषभदेव ही थे। अन्यत्र ऋग्वेद मे केशी और वृषभ का एक साथ उल्लेख भी प्राप्त होता है। मुद्गल ऋषि की गायें (इन्द्रियां) चुराई जा रही थी। उस समय केशी के सारथी ऋषभ के वचन से वे अपने स्थान पर लौट आयी।[८८]

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के अनुसार भगवान ऋषभदेव जब श्रमण बने तो उन्होंने चार मुष्टि केशों का लोंच किया था। सामान्य रूप से पांच-मुष्टि केशलोंच करने की परम्परा है। भगवान ऋषभदेव केशों का लोंच कर रहे थे। दोनों भागों के केशों का लोंच करना अवशेष था। उस समय प्रथम देवलोक के इन्द्र शकेन्द्र ने ऋषभ देव से निवेदन किया कि इतनी सुन्दर केशराशि को रहने दें। ऋषभदेव ने इन्द्र की प्रार्थना से उसको उसी प्रकार रहने दिया।[८९]

ऋषभ और वृषभ :

डा० राधाकृष्णन कहते है "जैन परम्परा के अनुसार जैन धर्म का प्रारम्भ ऋषभदेव से होता है जो सदियों से पहले हो चुके थ। ऐसे प्रमाण मिलते है जो बताते हैं कि ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी तक ऋषभदेव की उपासना करने वाले लोग थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जैन धर्म वर्धमान और पार्श्वनाथ के पहले भी था।"[९०]

जैन ग्रन्थो में ऋषभ को हिरण्यगर्भ भी कहा है क्योकि उनके गर्भ में आने पर आकाश से स्वर्ण की वर्षा हुई थी।

यथा—गब्भट्ठियस्स जस्स उ हिरण्णवुट्ठी संकचणा पडिया।
तेणं हिरण्णगब्भो जयम्मि उवगिज्जए उसभो॥

अर्थात् जिनके गर्भ मे आने पर सुवर्ण की वृष्टि हुई, इसी से ऋषभ जगत मे हिरण्यगर्भ कहलाये।

---

८४. वातरशनाः वातरशनस्य पुत्राः मुनयः अतीन्द्रियार्थदर्शिनो जूतिवात जुतिप्रभयतः पिशगा पिशगानि कपिलवर्णानि मला मलिनानि वल्कल रूपाणि वासासि वसते आच्छादयन्ति।—सायण भाष्य १०।१३६।२

८५. ऋग्वेद : सायणभाष्य—१०।८६५।७

८६. वातरशना ह वा ऋषयः श्रमणा उर्ध्वमथिनो बभूवुः।
—तैत्तिरीयारण्यक २।७।१

८७. केश्यग्नि केशी विषं केशी बिभर्त्ति रोदसी।
केशी विश्वं स्वदृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते॥

८८. ककर्दवे वृषभो युक्त आसीदवावचीत्सारथिरस्य केशी दुर्धेर्युक्तस्य द्रवतः सहानस ऋच्छन्तिष्मा निष्पदो मुद्गलानीम्।
—ऋग्वेद १०।६।१०२।६

८९. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वक्षस्कार २, सू० ३०

९०. Indian Philosophy Vol-I, P. 227 "Jain tradition ascribes the origin of the system to Rishabhadeva, who lived many centuries back. There is evidence to show that so far back as the first century B. C. there were people who were worshipping Rishabhadeva, the first Tirthankara. There is no doubt that Jainism prevailed even before Vardhaman or Parshvanath.

ऋग्वेद मंत्र १० सूक्त १२१ की पहली ऋचा इस प्रकार है—

हिरण्यगर्भः समवर्ततात्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम: ॥

इसमें कहा गया है कि पहले हिरण्यगर्भ हुए। वह प्राणीमात्र के एक स्वामी थे। उन्होने आकाश सहित पृथ्वी को धारण किया।

महाभारत के शान्तिपर्व मे भी "हिरण्यगर्भ. योगस्य वक्ता नान्या पुरातनः।" अर्थात् हिरण्यगर्भ योगमार्ग के प्रवर्तक है, अन्य कोई उनसे प्राचीन नहीं है। तो क्या ऋषभ ही तो हिरण्यगर्भ नही है ?

ऋषभ इक्ष्वाकुवशी थे। इक्ष्वाकु मूलतः पुरु राजाओ की एक परम्परा थी, यद्यपि ऋग्वेद मे पुरुओ को सरस्वती के तट पर बतलाया गया है। किन्तु उत्तर इक्ष्वाकुओ का सम्बन्ध अयोध्या से था। जैनागम मे अयोध्या को ही ऋषभदेव का जन्म स्थान माना है। उधर माख्यायन श्रोत्र सूत्र मे हिरण्यगर्भ को कौशल्य कहा गया है। अयोध्या को कौशल देश मे कहा गया है। अतः कौशल देश मे जन्म लेने से ऋषभदेव को कौशल्य कहा जा सकता है।

ऋग्वेद में भगवान ऋषभदेव का अनेक जगह उल्लेख हुआ है।[६१] एक जगह ऋषभदेव की स्तुति 'अहिंसक आत्म-साधकों मे प्रथम, अवधूतचर्या के प्रणेता तथा मर्त्यो मे सर्वप्रथम अमरत्व तथा महादेवत्व पाने वाले महापुरुष के रूप मे की गई है। एक अन्य स्थान पर उन्हे ज्ञान का आगार तथा दुखो मे शत्रुओ का विध्वंसक बताया है।

असूतपूर्वा वृषभो ज्यायनिभा अस्य शुरुधः सन्तिपूर्वीः ।
दिवा न पाता विदथस्यधीभिः क्षत्रं राजाना प्रविवो दधाथे ॥
—ऋग्वेद ५।३८

ऋषभदेव का प्रमुख सिद्धान्त था कि आत्मा मे ही परमात्मा का अधिष्ठान है। अतः उसे प्राप्त करने का उपक्रम करो। इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए वेदो मे उनका नामोल्लेख करते हुए कहा गया है—

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीती, महादेवो मर्त्यानाविवेश ।
—ऋग्वेद ।४।५८।३

मन, वचन, काय तीनो योगो से बद्ध वृषभ ने घोषणा की कि महादेव मर्त्यो मे आवास करता है। उन्होंने अपनी साधना और तपस्या से मनुष्य शरीर मे रहते हुए उसे प्रमाणित भी कर दिखाया था। ऐसा उल्लेख भी वेदो मे है—

तन्मर्त्यस्य देवत्वमजानमग्रे । —ऋग्वेद ।३१।१७

ऋषभ स्वयं आदि पुरुष थे, जिन्होने सबसे पहले मर्त्यदशा मे देवत्व की प्राप्ति की थी।

ऋषभदेव प्रेम के राजा के रूप मे विख्यात थे। उन्होने जिस शासन की स्थापना की थी, उसमे मनुष्य व पशु सभी समान थे। पशु भी मारे नहीं जाते थे—

नास्य पशून् समानान् हिनास्ति ॥ —अथर्ववेद

सब प्राणियों के प्रति इस मैत्री भावना के कारण ही वे देवत्व के रूप में पूजे जाते थे।

ऋषभं मा समानानां सपत्नानां विषासहितम् ।
हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपितं गवाम् ॥
—ऋग्वेद अ० ८ म० सू० २४

इसलिए ही मुद्गल ऋषि पर ऋषभदेव की वाणी के विलक्षण प्रभाव का उल्लेख करते हुए कहा गया है—

ककर्दवे वृषभो युक्त आसीद् अवावचीद् सारथिरस्य केशी ।
दुधेर्युक्तस्य द्रवतः सहानस ऋच्छन्तिस्मा निष्पदो मुद्गलानीम् ॥
—ऋग्वेद १०।१०२।६

इसीलिए उन्हे आह्वान करने की प्रेरणा दी गई है—

अहोमुचं वृषभं यज्ञियानां विराजं तं प्रथममध्वराणाम् ।
अपां न पातमश्विनाहु वेधिय इंद्रियेण इंद्रियं दत्तमोजः ।
—अथर्ववेद, का० १६।४२।४

अर्थात् समस्त पापो से युक्त, अहिंसक वृत्तियों के प्रथम राजा, आदित्यस्वरूप श्री ऋषभदेव को मैं आह्वान करता हूं। वे मुझे बुद्धि और इन्द्रियोंके साथ बल प्रदान करें।

ऋग्वेद मे उन्हे स्तुति योग्य बताते हुए कहा गया है—

अनर्वाणं ऋषभं मन्द्रजिह्वं, बृहस्पति वर्धया नव्यमर्के ।
—ऋग्वेद म० १ सूत्र १९० मन्त्र १

मिष्टभाषी, ज्ञानी, स्तुति-योग्य ऋषभ को पूजा साधक मन्त्रो द्वारा वर्धित करो। वे स्तोता को नहीं छोड़ते—

प्राग्नये वाचमीरय । —ऋग्वेद मं० १० सूत्र १८७

तेजस्वी ऋषभ के लिए स्तुति प्रेरित करो—

आतारमिन्द्रं ऋषभं वदन्ति,
अतिचारमिन्द्रं तमपरिष्टनेमिं भवे भवे ।
सुभवं सुपार्श्वमिन्द्रं हवेतु शक्रं ।
अजितं तद् वर्द्धमान पुरुहूतमिन्द्रं स्वाहा ॥

६१. ऋग्वेद १।२४।१६०।१; २४।३३।१५; ५।२।२८।४; ६।२।२।८; ६।२।१६।११; १०।१२।१६६।१ तथा ऋग्वेद मे ही १०।१०२।६, ४।५८।३.

प्रस्तुत मन्त्र में भगवान ऋषभदेव द्वितीय तीर्थङ्कर अजितनाथ तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ और चौबीसवें भगवान वर्धमान का स्पष्ट उल्लेख हुआ है।

अप्पा दवि मेयवामन रोदसी इमा च विश्वाभुवनानि ।
मन्मना यूथेन निष्ठा वृषभो विराजास ।।

—सामवेद, ३ अ० १ खंड

सामवेद के इस मन्त्र मे भी भगवान ऋषभदेव को समस्त विश्वज्ञाता बताया गया है।

मरुत्वं न वृषभं वावृधानमकवारि विव्य ।
शासनमिंद्र विश्वा साहम वसे नूतनायोग्रासदो दा मिहंता-
ह्वयेमः । - ऋग्वेद ३६।७-३-११

समिद्धस्य परम हसो वन्दे तवश्रियं वृषभो गम्भवानसिम मध्वोष्विध्यस । -- ऋग्वेद ४ अ० ४ व ६-४-१ ५२

उपर्युक्त मन्त्रों में तीर्थङ्कर वाचक शब्द श्री वृषभदेव की महिमा का गान करते हुए जैन संस्कृति को वेदो से भी प्राचीन प्रमाणित कर रहे है।

पार्श्व, अरिष्टनेमि तथा महावीर :

सुपार्श्वनाथ[९२], अरिष्टनेमि[९३] तथा महावीरादि तीर्थङ्करों की स्तुति का वेदों में तथा वेदोत्तरकालीन साहित्य मे उल्लेख हुआ है

आतिथ्यरूपं भासरं महावीरस्य नग्नहुः ।
रूपमुपदामेततिस्रो रात्रीं सुरासुता ।[९४]

यजुर्वेद के उपरोक्त मन्त्र मे भगवान महावीर का नामोल्लेख स्पष्ट है।

उपर्युक्त मन्त्रों मे तीर्थङ्करों (ऋषभदेव, सुपार्श्व, अरिष्टनेमि, महावीर आदि) का उल्लेख किया गया है।

इसकी पुष्टि राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन,[९५] डा० अलबर्ट-वेबर[९७], प्रो० विरूपाक्ष[९८], डा० बिमलाचरण लाहा[९९], जी० सी० जैन[१००] प्रभृति विद्वज्जन भी करते है।

प्रो० विरूपाक्ष वाडियर वेदों मे जैन तीर्थङ्करों के उल्लेखों का कारण उपस्थित करते हुए लिखते है 'प्रकृतिवादी मरीचि ऋषभदेव का पारिवारिक था।" वेद उसके तत्त्वानुसार होने के कारण ही ऋग्वेद आदि ग्रन्थों की ख्याति उसी के ज्ञान द्वारा हुई है। फलत. मरीचि ऋषि के स्तोत्र वेद-पुराण आदि ग्रन्थो मे है और स्थान-स्थान पर जैन तीर्थंकरो का उल्लेख पाया जाता है। कोई ऐसा कारण नही है कि हम वैदिक काल म जैन धर्म का अस्तित्व न माने।[१०१]

ऊपर के संक्षिप्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि श्रमण संस्कृति भारत की एक महान् संस्कृति और सभ्यता है जो प्रागैतिहासिक काल से ही भारत के विविध अचलो मे फलती और फूलती रही है। यह संस्कृति वैदिक संस्कृति की धारा नही है, अपितु एक स्वतन्त्र संस्कृति है। इस संस्कृति की विचारधारा वैदिक संस्कृति की विचारधारा से पृथक् है।

इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि जैन संस्कृति, जिसे श्रमण संस्कृति कहा गया है, वैदिक और बौद्ध संस्कृति से पूर्व की संस्कृति है, भारत की आदि संस्कृति है। □□□

जैन दर्शन विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज०)

९२. (१) ऊं सुपार्श्वमिन्द्र हवे । —यजुर्वेद
(२) ज्ञातारमिन्द्रं ऋषभ वदन्ति
अतिचारमिन्द्र तमपरिष्टनेमि भवे भवे ।
सुभवं सुपार्श्वमिन्द्रं हवेतु शक्रं ।
अजितं तद् वर्द्धमान पुरूहूतमिन्द्रं स्वाहा ।।

९३. (१) ऊ रक्ष रक्ष अरिष्टनेमि स्वाहा। —यजुर्वेद
(२) त्वा रथ वयद्याहुवेमस्तो मेरश्विना सविताय नव्य अरिष्टनेमि परिद्यामियानं विद्यामेषं वृजनंजीरदानम् ।। — ऋग्वेद अ० २ अ० ४ व २४
(३) वाजस्यनु प्रसव आवभूवेमा,
च विश्वा भुवनानि सर्वतः ।
स नेमिराजा परियाति विद्वान्,
प्रजां पुष्टि वर्धयमानो असो स्वाहा ।।
—यजुर्वेद अ० ९ मं० २५
(४) स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः,
स्वस्ति न पूषाः विश्ववेदाः ।
स्वस्ति न स्ताक्ष्यो अरिष्टनेमि,
स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ।।
—सामवेद प्रपा० ९ अ० ३

९४. देवबहिवर्धमानं सुवीर, स्तीर्ण राये सुमर वेद्यस्याम । घृतेनाक्तवसव. सीदतेद, विश्वे देवा आदित्यायज्ञियः सः ।। ऋग्वेद म० २ अ० १, सूक्त ३

९५. यजुर्वेद — अ० १९ मं० १४।

९६. Radha Krishnan Indian Philosophy, Vol I, pp 287.

९७. Indian Antiquary, Vol-3. pp. 90.

९८. जैन पथ प्रदर्शक (आगरा) भा० ३, अ० ३, पृ. १०६

९९. Historical Gleanings, pp 78.

१००. अनेकान्त — वेदो मे गूजते जैन संस्कृति के स्वर .. मार्च १९७१, वर्ष ९ पृ० ३३ ३७।

१०१. अजैन विद्वानो की सम्मतियां, जैन पथ प्रदर्शक, (आगरा) भाग-३, पृ० ३१,।

जिनेन्द्र प्रतिमा का स्वरूप तथा उसका महत्त्व

□ श्री राजीव प्रचंडिया, अलीगढ़

'सत्यं शिवं सुन्दरं' का समन्वित रूप कला है। कला के अन्तर्गत 'जैन मूर्ति कला' सुन्दरता के साथ-साथ सत्य तथा कल्याण की भावना से अनुप्राणित है। सचमुच जैन मूर्ति कला अपनी विशेषता रखती है। कला-क्षेत्र मे ससका अपना एक स्थान है।

सर्वप्रथम मस्तिष्क मे प्रश्न उठता है कि मूर्ति क्या है? 'मूर्ति' के अनेक पर्याय है—प्रतिमा, प्रतिकृति, चित्र, तस्वीर, शक्ल-सूरत, फोटो आदि-आदि। किन्तु समझने की दृष्टि से मूर्ति को दो वर्गों म वर्गीकृत किया जा सकता है :—

१. तदाकार मूर्ति। २. अतदाकार मूर्ति।

पदार्थ के असली आकार की मूर्ति तदाकार मूर्ति के अन्तर्गत आती है, जैसे मनुष्य, हाथी, घोड़ आदि के खिलौने, तस्वीर, प्रतिमा आदि। पदार्थ के असली आकार म न होते हुए भी जिस मूर्ति मे उस पदार्थ का बोध कराने का चिह्न समाहित हो वह अतदाकार मूर्ति कहलाती है; उदाहरणार्थ, शतरज की गोटें। ये गोटें शतरंजी खेल म राजा, मन्त्री, हाथी, घोडा आदि के स्वरूप को स्थिर करती है।[1]

यह अपने मे सत्य है कि बिम्ब का प्रभाव मानव हृदय पर स्पष्ट रूप से पड़ा करता है, इस बात को विज्ञान भी स्वीकारता है। बाह्य वस्तुओं की प्रेरणा से जो विचार बिम्ब मस्तिष्क मे बनते है, उनका प्रभाव मानव शरीर के कण-कण पर पड़ता है, ऐसा डा० लिटनटन कहते है। सचमुच गन्दे प्रतिबिम्ब गन्दगी फैलाते है और उजले वीतराग प्रतिबिम्ब स्वच्छता।

जैन धर्म प्रवृत्ति की अपेक्षा निवृत्ति मूलक है, अर्थात् अभिलाषाओं (बहिरंग विषय-कषायादि) के त्याग पर विशेष बल देता है। अस्तु, आरम्भ से लेकर अधुनातन उसके मूर्ति-विधान मे केवल वीतरागता यानी राग-द्वेष से परे के ही अभिदर्शन होते है। जिनेन्द्र मूर्तियां चाहे नन्द या मौर्य काल की हों, चाहे कुशान काल की रही हों, चाहे प्राचीनतम काल की हो, आज की जिनेन्द्र प्रतिमाओ से अभिन्नता रखती है।

जिनबिम्ब यद्यपि निर्जीव है, पर लगते है सजीव से। पाषाणादि के होते हुए भी वे पच भौतिक तत्त्वों (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा) से विनिर्मित शरीर-मय है। मूक म भी अमूक दिखते है। कारण? कारण यह है कि बिम्ब एक ऐसे शिल्पी के द्वारा तराशे जाते है जो इनमे वीतरागता, विरागता तथा समता जैसे सुन्दर सस्कारो को भरने मे काफी सक्षम होते है। वास्तव मे ये बिम्ब बिन बोले ही मानव के सोये हुए आत्म सस्कारों को जगा देते है, और भर देते है उनमे एक नई चेतना। इनके दर्शन मात्र से व्यक्ति सुख-शान्ति से आप्लावित हो जाता है। सच है वीतरागी की वीतराग मूर्तियो से राग-द्वेष को जीतने की प्रेरणा व्यक्ति मे समा जाती है।

सचमुच जिनेन्द्र बिम्ब स्थायी कोश है और हैं अन्तरग के प्रेरक। ये बिम्ब उन दिव्य आत्माओ का हमे क्षण प्रतिक्षण स्मरण कराते है जिन्होने लोकहित के लिए तथा स्व-पर कल्याण के लिए अपना जीवन समर्पण किया है। धन्य है और अनन्य है ऐसे जिनेन्द्र बिम्ब जिनसे व्यक्ति अज्ञान के धरातल से उठकर ज्ञान के पामीर तक सहज मे पहुच लेता है।

जिन प्रतिमा व उनका स्थान (मन्दिर) वस्तुतः चैत्य व चैत्यालय कहलाते है। ये मनुष्यकृत भी होते है और अकृत्रिम भी। मनुष्यकृत चैत्यालय तो मनुष्य लोक

---

१. 'सत्यार्थ दर्पण'—स्व० पं० अजित कुमार जैन, शास्त्री, सन् १६३७, भा० दि० जैन शास्त्रार्थ सघ, अम्बाला छावनी।

में ही मिलते हैं, परन्तु अकृत्रिम चैत्यालय चारों प्रकार के देवों के भवन प्रासादों या विमानों में तथा स्थल-स्थल पर इस मध्य लोक में विद्यमान है।[1] इस लोक में स्थित होने के फलस्वरूप प्रतिमा स्थावर कहलाती है और मोक्षगमन काल में एक समय के लिए वही जंगम जिन प्रतिमा कहलाती है।[2]

जैनदर्शन के अनुसार, व्यक्ति अपने कर्मों का विनाश कर स्वयं परमात्मा बन जाता है और उस परमात्मा की दो अवस्थाएँ होती हैं—एक शरीर सहित, जीवन्मुक्त अवस्था और दूसरी शरीर रहित, देह मुक्त अवस्था। पहली अवस्था को अर्हन्त कहा जाता है तथा दूसरी अवस्था सिद्ध कहलाती है। अर्हन्त भी दो प्रकार के होते है—तीर्थङ्कर और सामान्य। विशेष पुण्य सहित अर्हन्त जिनके कि कल्याणक महोत्सव (जीवनकाल की पाच प्रसिद्ध घटनास्थलों का उत्सव—गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान, निर्वाण) मनाए जाते है, तीर्थङ्कर कहलाते है और शेष सब सामान्य अर्हन्त कहलाते है।[3]

जिनेन्द्र भगवान के इस स्वरूप को समझकर अब यदि जिनेन्द्र प्रतिमा का अध्ययन किया जाय तो सहज मे ही ज्ञात हो जाएगा कि जिनेन्द्र प्रतिमा अर्हन्त (तीर्थङ्कर) तथा सिद्ध अवस्था मे ही पायी जाती है। आठ प्रातिहार्यों (अशोक वृक्ष, तीन छत्र, रत्न खचित सिंहासन, मुख से दिव्य वाणी प्रगट होना, दुन्दुभिनाद, पुष्पवृष्टि, प्रभा-मण्डल, चौंसठ चमर युक्तता) से युक्त तथा सम्पूर्ण शुभ अवयवो वाली वीतरागता के भाव से पूर्ण अर्हन्त की प्रतिमा होती है तथा सिद्ध की शुभ प्रतिमा प्रातिहार्यों से रहित होती है।[4]

तीर्थङ्कर की मूर्तियां केवल दो आसनों—पद्मासन (इस अवस्था मे तीर्थङ्कर के दायें चरण ऊपर तथा बायें चरण नीचे होते है और हाथ इस क्रम मे होते है कि बायें हाथ की हथेली दायें हाथ की हथेली से नीचे होती है) और खड्गासन (इसमे प्रतिमा सीधी, खड़ी तथा जानु-पर्यन्त लम्बायमान बाहु वाली होती है) में ही सर्वत्र दिखाई देती हैं। तीर्थङ्कर की मूर्तियों को उनके चिह्नों से पहिचाना जाता है, चाहे वे खड्गासन हों या पद्मासन। जैन धर्म में चौबीस तीर्थङ्कर हुए है। इन चौबीसों तीर्थङ्करों के अपने-अपने चिह्न होते है, जिनसे वे समझे-पहिचाने जाते है कि यह अमुक तीर्थङ्कर है। ये चिह्न तीर्थङ्कर के दायें चरण के अगूठे मे होते है, किन्तु जिनेन्द्र मूर्तियो के सामने ही ये चिह्न बना दिये जाते है ताकि सहज में ही मूर्ति के माध्यम से तीर्थङ्कर की पहिचान हो सके। तीर्थङ्करों के नाम और चिह्न निम्न प्रकार से है—

तीर्थङ्कर	चिह्न
१. श्री ऋषभनाथ	बैल
२. श्री अजितनाथ	हाथी
३. श्री सम्भवनाथ	घोड़ा
४. श्री अभिनन्दन नाथ	बन्दर
५. श्री सुमतिनाथ	चकवा
६. श्री पद्मप्रभु	कमल
७. श्री सुपार्श्वनाथ	सातिया (स्वस्तिक)
८. श्री चन्द्रप्रभु	चन्द्रमा
९. श्री पुष्पदन्त	मगर
१०. श्री शीतलनाथ	कल्प वृक्ष
११. श्री श्रेयांस नाथ	गैंडा
१२. श्री वासुपूज्य	भैंसा
१३. श्री विमलनाथ	शूकर
१४. श्री अनन्तनाथ	सेही
१५. श्री धर्मनाथ	वज्रदण्ड
१६. श्री शान्तिनाथ	हरिण
१७. श्री कुन्थुनाथ	बकरा

१. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग २, क्षु० जिनेन्द्रवर्णी, पृ० ३००, प्रथम संस्करण, सन् १९७१, भारतीय ज्ञान पीठ, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५।

२. दर्शन पाहुड, गाथा संख्या २७, पृ० ११, प्रथम संस्करण वि० स० १९७७, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई।

३. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग १, क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी, पृ. १४०, प्रथम संस्करण, १९७०, भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५।

४. तिलोय पण्णत्ति, गाथा संख्या ९१५-९२७, अधिकार संख्या ४, प्रथम संस्करण वि० स० १९१९, जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर।

तीर्थङ्कर	चिह्न
१८. श्री अरहनाथ	मत्स्य (मछली)
१९. श्री मल्लिनाथ	कलश
२०. श्री मुनि सुव्रतनाथ	कछुवा
२१. श्री नमिनाथ	नील कमल
२२. श्री नेमिनाथ	शंख
२३. श्री पार्श्वनाथ	सर्प
२४. श्री महावीर प्रभु	सिंह

इनमे से ऋषभनाथ का दूसरा नाम आदिनाथ तथा पुष्पदन्त का दूसरा नाम सुविधिनाथ और महावीर के दूसरे नाम वर्द्धमान, सन्मति, वीर, अतिवीर है।[1]

जिनेन्द्र प्रतिमा अनेक लक्षणो से युक्त होती है तथा जैनेतर मूर्ति से सर्वथा भिन्न हुआ करती है। निश्चय ही जैन प्रतिमाये दूर से ही पहिचानी जा सकती है। जिनेन्द्र प्रतिमा खड्गासन या पद्मासन रूप मे सुन्दर-सस्थान वाली दिगम्बर (नग्न) होती है। श्री वृक्ष लक्षण से भूषित वक्ष-स्थल और उनक कुक्षि आदि अग रोम हीन होते है तथा मूछ व भुरियो आदि से रहित होते है।

लक्षणो से सयुक्त भी प्रतिमा यदि नेत्र रहित हो या मुन्दी हुई आख वाली हो तो शास्त्रानुकूल नही मानी जाती, इसलिए उनके नेत्र आधे खुले रखे जाते है, अर्थात् न तो अत्यन्त मुन्दे हुए और न अत्यन्त फटे हुए। वे तो नितान्त अर्द्धमीलित होते है। ऊपर नीचे अथवा दाये-बायें उनकी दृष्टि नही होती है, अपितु नासाग्र प्रसन्न व निर्विकार मय उनकी दृष्टि दिखाई देती है। उनके मध्य भाग व अधोभाग भी वीतराग प्रदर्शक होते है।

जिनेन्द्र प्रतिमाओ के जो लक्षण अभी-अभी निरूपित किए है, उनके पीछे उनका रहस्य अप्रकट रहता है, जब कि इन लक्षणो की अपनी विशेषता है, ये तीर्थङ्करो के प्रच्छन्न गुणो को व्यक्त कराते है, जानकारी देते है। इन लक्षणो की सार्थकता इस प्रकार से है[2] :—

१. जिनेन्द्र प्रतिमा की स्पन्दन रहित नेत्र दृष्टि तीन वेदों (स्त्री, पुरुष, नपुंसक) के अभाव की ज्ञापक है।

२. जिनेन्द्र प्रतिमा की नासा दृष्टि, बाह्य पदार्थों के प्रति ममत्व न होने का संकेत कराती है।

३. जिनेन्द्र मूर्तियां निराभरण होती है जो भगवान् में व्याप्त विरागता के अभिदर्शन कराती हैं।

४. जिनेन्द्र बिम्ब के भृकुटि रहित होने से क्रोध का अभाव भगवान मे दिखाई देता है।

५. अक्षसूत्र (जनेऊ), जटामुकट और नर मुण्डमाला को न धारण करने से, मोह के न होने का सकेत मिलता है।

६, जैन मूर्तियो के वस्त्र रहित होने से अतरंग मे भी परिग्रह का अभाव दिखाई देता है।

७. जिनेन्द्र मूर्तिया कुटिल अवलोकन से रहित होती है जो भगवान में ज्ञानावरण व दर्शनावरण के पूर्ण अभाव की जानकारी देती है।

८. जिनेन्द्र प्रतिमा निरायुध होती है जो क्रोध, मान, माया, लोभ नामक कषायो तथा जन्म, मरण और हिसा के अभाव का सकेत कराती है।

९. जिनेन्द्र प्रतिमा के वक्षःस्थल पर श्री वृक्ष का चिह्न स्व तथा पर के कल्याण का द्योतक है।

जिनेन्द्र प्रतिमा के समीप मे अष्ट मंगल द्रव्य तथा १०८ उपकरण—शृंगार, कलश, दर्पण, चंवर, ध्वजा, बीजना, छत्र, सुप्रतिष्ठ, पात्री, शख, धूपनी, दीप कूर्च, पाटलिका, झाझ, मजीरा आदि भी यथायोग्य विद्यमान तथा सुशोभित होते है।[3]

यदि जिनेन्द्र प्रतिमा दोषयुक्त है तो उससे हानियाँ भी हो सकती है[4], जैसे दायी-बायी दृष्टि से अर्थ का नाश, अधोदृष्टि से भय तथा ऊर्ध्वदृष्टि से पुत्र व भार्या का मरण होता है। स्तब्धदृष्टि से शोक, उद्वेग, सताप तथा धन का क्षय होता है।

१. दैनिक जैन धर्मचर्या, अजितकुमार शास्त्री, प्रभाकर, पृष्ठ ३७, द्वितीय सस्करण, १९५६, ४५३७, पहाड़ी धीरज, दिल्ली।

२. धवला, पुस्तक संख्या ९, खंड सख्या ४, भाग १, सूत्र ४४, पृष्ठ सख्या १०७, अमरावती।

३. तिलोयपण्णत्ति, अधिकार संख्या ४, गाथा संख्या १८७९–१८८०, प्रथम संस्करण, वि० स० १९१९, जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर।

४. वसुनन्दि प्रतिष्ठा पाठ, परि० ४१, श्लोक न० ७५–८०।

सदोष प्रतिमा को पूजना अशुभ माना जाता है, क्यों कि उसमे पूजा करने वाले का अथवा प्रतिमा के स्वामी का नाश, अंगो का कृश हो जाना अथवा धन का क्षय आदि फल प्राप्त होते है। अंगहीन प्रतिमा क्षय व दुख को देने वाली है। नेत्रहीन प्रतिमा नेत्रध्वंस करने वाली तथा मुखहीन प्रतिमा अशुभ करने वाली है। हृदय से कृश प्रतिमा महोदर रोग या हृदय रोग करती है। अस या अंगहीन प्रतिमा पुत्र को तथा शुष्क जंघा वाली प्रतिमा राजा को मारती है। पाद रहित प्रतिमा प्रजा का तथा कटिहीन प्रतिमा वाहन का नाश करती है।

उपर्यङ्कित सब बातो को ध्यान में रखकर जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमाये सदैव दोषहीन बनायी जाती है, वे निर्दोष होती है।

प्राय: अब यह जाना और माना जाता है कि आत्मा ही पूज्य है तो फिर जिनेन्द्र मूर्ति की क्या आवश्यकता है? उसका क्या महत्त्व?

मूर्ति मात्र तीर्थङ्करो के गुणों का स्मरण एवं चिन्तवन करा देने का माध्यम है। साधन। आप और हम सभी जानते है कि मन बड़ा चंचल है। वह बिना लगाम के एक घोड़े की भाँति है। फिर ऐसे अस्थिर मन को जो पल पल मे भागता है, दौडता है, कैसे स्थिर किया जाय? कैसे एकाग्र किया जाय? लगता है कि केवल जिनेन्द्र प्रतिमाओं के द्वारा ही मन जैसे तेज दौड़क को शुभ प्रवृत्ति मे लगाया जा सकता है, उसे स्थिर किया जा सकता है।

जिनेन्द्र प्रतिमा के समक्ष व्यक्ति विचार करता है कि हे प्रभो! आपकी कितनी प्रशान्त मुद्रा है, आप मे कितनी शान्ति है और आप कितने महान् है, पवित्र हैं। गुणों के तो आप आगार ही है आदि-आदि रूपो से वह स्तवन करता हुआ उनके गुणों को अपने में उतारने की प्रेरणा प्राप्त करता है। सचमुच जिनेन्द्र भगवान का रूप राग द्वेष से परे वीतरागमय है। इसलिए वस्त्र रहित, नग्न होने पर भी मन को हरने वाला है। आपका यह रूप न औरों के द्वारा हिंस्य है और न औरों का हिंसक है इसलिए आयुधरहित होने पर भी अत्यन्त निर्भय स्वरूप है तथा नाना प्रकार की क्षुत्पिपासादि वेदनाओ का विनाश हो जाने से आहार न करते हुए भी तृप्तिमान है।

नि:सन्देह ये जिन प्रतिमाये व्यक्ति को सुप्तावस्था से जागृत अवस्था की ओर ले जाती है। अचेतन से चेतन की दिशा मे व्यक्ति को झुकाती है।

यह अपने में सत्य है कि तीर्थङ्कर के अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, सम्यग्दर्शन, वीतरागतादिक गुण अर्हत्प्रतिमा और सिद्ध प्रतिमा मे नही है, वरन् उन गुणों का स्मरण होने मे ये कारण अवश्य होते है, क्योंकि अर्हंत और सिद्धों का उन प्रतिमाओ में सादृश्य है। यह गुण स्मरण, अनुराग स्वरूप होने से ज्ञान और श्रद्धान को उत्पन्न करता है और इससे नवीन कर्मों की महानिर्जरा होती है, अर्थात् नवीन कर्मों का झड़ना होता है।

अत: पाक्षिक श्रावक को अपनी श्रद्धा और सामर्थ्य के अनुसार जिन बिम्ब, जिन मन्दिर आदि धर्मायतन (धर्म के स्थान) बनवाने चाहिए क्योंकि उनके बनवाने से बड़ा भारी धर्मानुबन्ध होता है, साथ ही इनके बनवाने से धर्म की रक्षा और वृद्धि होती है। यद्यपि जिनबिम्ब व जिन मन्दिर आदि बनवाने मे हिंसादि दोष लगते है परन्तु वे दोष --दोष नही है, पुण्यबंध के कारण है।[1] जैसा कि लिखा भी है 'तत्पापमपि न पाप यत्र महान्धर्मानुबंध:" अर्थात् वह पाप भी पाप नही है कि जिसमें बड़ा भारी धर्मानुबंध हो।

इस पंचमकाल मे ऐसे तीव्र मोहनीय कर्म का उदय होता है जो किसी से निवारण नही किया जा सकता। जिनके शास्त्ररूपी नेत्र है ऐसे विद्वान् लोगों की बुद्धि अर्थात् अन्तःकरण की प्रवृत्ति भी प्राय: जिन प्रतिमा के दर्शन किये बिना भक्ति करने मे (उन्हो को एकमात्र शरण मानकर पूजा-सेवा करने मे) प्रवृत्त नही होती। 'प्राय:' 'शब्द से यहाँ यह अभिप्राय है कि कोई-कोई, ज्ञान और वैराग्य भावना मे तत्पर भव्य जीव प्रतिमा दर्शन के बिना भी परमात्मा के आराधन करने में लीन हो जाते है और अन्य लोग प्रतिमा दर्शन से ही परमात्मा का आरा-

१. सागार धर्मामृत, श्लोक सख्या ३५, पृ० १०६, प्रथमावृत्ति, वि० सं० २४४१, मूलचन्द किशनदास कापड़िया, सूरत।

महावीर : आचरण के शक्ति पुँज

□ डा० महेन्द्र सागर प्रचंडिया, अलीगढ़

परिनिर्वाण काल मे महावीर के विषय में बहुविधि विचार विवेचना हुई है। जहां तक मुझे लगा—महावीर को उपासना का आदर्श मानकर उनके उपासको द्वारा जिस आस्था की स्थापना हुई, उसने उन्हे मात्र देवालय तक सीमित कर दिया, फलस्वरूप व्यक्ति और वस्तु-बोध में बाधा उत्पन्न हुई है। मेरी धारणा बनी है कि महावीर मात्र उपासना के नही, अपितु आचरण की अतिशय शक्ति थे। उन्होंने जो कहा उसे हम आज तक गाते-दुहराते है। उन्होंने जो किया, अथवा उनके द्वारा जो हुआ, उससे हम प्रायः अपरिचित और उपेक्षित रहे है। वस्तुतः उन्होने जो किया, हमारे लिए वही आदर्श के रूप में अधिकतर उपयोगी रहेगा।

महावीर ने धर्म को संकीर्ण नही बनाया। उसकी आकीर्णता उन्हे सर्वथा प्रियकर रही है। उन्होने आवश्यक समझा कि धर्म की अभिव्यक्ति लोकभाषा मे होनी चाहिए, ताकि उसके समझने के लिए समय-परिधि में न बंधना पड़े। धर्म तो हमारी जीवन-चर्या का स्वभाव होता है, अतः उसका जीवत होना अत्यन्त आवश्यक है।

धर्म का स्वभाव है कि उसे समझ कर व्यक्ति उठे, व्यक्ति-उठान समुदाय और समाज को उठाती है। महावीर काल मे व्यक्ति विकास हुआ। विषमता के स्थान पर समता ने सचार किया। व्यक्ति उदय से वर्गोदय और अन्ततोगत्वा सर्वोदय मुखरित हुआ। समुदाय और समाज को समझ कर महावीर इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि—

कोहो पीई पणासेई माणो विणय नासणो।
माया मित्ताणि नासई लोहो सव्वविणासणो॥

अर्थात् क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करने वाला है, माया मैत्री का विनाश करती है और लोभ सब (प्रीति, विनय और मैत्री) का नाश करने वाला है। अस्तु, उन्होने जीवन मे पंचाणुव्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—को स्थान दिया। व्रत-व्यवहार से जीवन जागृत होता है। जीवन व्यापी संकीर्णता के समूल समापन के लिए उन्होंने स्याद्वाद की शैली और अनेकान्त जैसे सफल सिद्धात की उपयोगिता का सम्यक् उद्घाटन कर दिया।

आज भ० महावीर का चरित्र हमारे जीवनोत्कर्ष के लिए परमोपयोगी है। उन बातो को मात्र गाने दुहराने की आवश्यकता नही है अपितु उन सभी बातो को हमारी जीवन-चर्या से चरितार्थ होना चाहिए, तभी हम स्वय और दूसरों को जीवन जीने देने का निमित्त जुटा पायेंगे। □

मानद-सचालक, जैनशोध अकादमी
आगरा रोड, अलीगढ़ (उ. प्र.)

(पृष्ठ ९५ का शेषांश)

धन कर सकते है।[1]

यह निश्चित है कि जहाँ जिन बिम्ब व जिन मन्दिर होते है वहाँ के गृहस्थ पूजा, अभिषेक आदि धर्म कार्य करके सदा धर्मोत्सव करते रहते है जिससे उनका पुण्य बध होता रहता है और अशुभ कर्म नष्ट होते रहते है। परन्तु जहां जिनबिम्ब व जिन मन्दिर नहीं हैं वहाँ के गृहस्थ इस धर्म कार्य से सदैव वचित रहते है, इसलिए वहाँ न तो धर्म का उद्योत होता है और न वे पुण्य-बंध कर सकते है, न अशुभ कर्म नष्ट कर सकते है। अस्तु, धर्म की स्थिति में जिनबिम्ब व जिन मन्दिर भी मुख्य कारण है।[2] अतः धार्मिक पुरुषों को जिनबिम्ब, जिनमन्दिर अवश्य बनवाना चाहिए। इसकाल में ये ही कल्याण करने वाले है तथा ये ही धर्मवृद्धि के मुख्य कारण है।

जिनेन्द्र प्रतिमा में दिगम्बर प्रतिमा ही पूज्य है, अर्थात् स्वकीय शासन की प्रतिमा ही उपादेय है और परकीय प्रतिमा हेय है, अवन्दनीय है। स्वकीय शासन में भी उत्कृष्ट प्रतिमा वन्दनीय है, अनुत्कृष्ट नहीं। उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट प्रतिमा क्या है? पच जैनाभासों के द्वारा प्रतिष्ठित अजलिका रहित तथा नग्न भी मूर्ति वंदनीय नहीं है। जैनाभासो से रहित साक्षात् आर्हत् संघों के द्वारा प्रतिष्ठित तथा चक्षु व स्तन आदि विकारोंसे रहित प्रतिमा ही वंदनीय है। इन्द्रनन्दि भट्टारक कहते है कि नन्दिसंघ, सेनसंघ, देवसंघ और सिंहसंघ इन चार संघो के द्वारा प्रतिष्ठित जिनबिम्ब ही नमस्कार किए जाने योग्य हैं, दूसरे संघों के द्वारा प्रतिष्ठित नहीं, क्योंकि वे न्याय व नियम के विरुद्ध हैं।

अन्त में, यही कहा जा सकता है कि जिनेन्द्र प्रतिमा श्रमण संस्कृति के लिए गौरव की वस्तु है। वह प्रत्येक जैन-अजैन साधक के लिए पूज्य है, महान है और है कल्याणकारी।

पीली कोठी, आगरा रोड,
अलीगढ़-२०२००१

---

१. सागार धर्मामृत, श्लोक संख्या ३६, पृ० १११, प्रथमावृत्ति, वी० सं० २४४१, मूलचन्द किशनदास कापड़िया, सूरत।

२. सागार धर्मामृत, श्लोक संख्या ३७, पृ० ११३, प्रथमावृत्ति, वी० सं० २४४१, मूलचन्द किशनदास कापड़िया, सूरत।

भारतवर्ष का एक प्राचीन जैन विश्वविद्यालय

❑ डा० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ

ईस्वी सन् की ८वीं शताब्दी मे भारतवर्ष ने एक साथ तीन साम्राज्यो का उदय देखा—दक्षिणापथ मे राष्ट्रकूट, बिहार-बंगाल मे पाल और उत्तरापथ के मध्यप्रदेश (गंगा के दोआबे) मे गुर्जर प्रतिहार। लगभग दो शताब्दी पर्यन्त इन तीनों ही साम्राज्यों मे सम्पूर्ण भारतवर्ष के एकच्छत्र शासन के लिए परस्पर प्रबल प्रतिद्वन्द्विता एव होड रही, किन्तु उक्त उद्देश्य मे तीनो मे से एक भी सफल न हो सका। तीनो की ही साथ-साथ स्वतन्त्र सत्ता बनी रही। इतना अवश्य है कि उन तीनों मे विस्तार, शक्ति एव समृद्धि की दृष्टि से राष्ट्रकूट साम्राज्य ही सभवतया सर्वोपरि रहा। राष्ट्रकूटो का सम्बन्ध दक्षिणापथ के अशोककालीन प्राचीन रट्ठिकों के साथ जोड़ा जाता है, और यह अनुमान किया जाता है कि ६ठी-७वी शती मे इनका मूल निवास-स्थान वराड या वराट (आधुनिक बरार और प्राचीन विदर्भ) देश में स्थित लातूर नामक स्थान था, जहाँ उस काल मे वे पहले बनवासी के कदम्बो के और तदनन्तर वातापी के प्राचीन पश्चिमीय चालुक्य नरेशो के अति सामान्य करद सामन्तो के रूप मे निवास करते थे। ७वी शती के उत्तरार्ध मे उन्होने शक्ति सवर्द्धन प्रारम्भ किया और ८वीं शती के द्वितीय पाद के प्रारम्भ के लगभग राष्ट्रकूट राजा दन्तिदुर्ग एक शक्तिशाली राज्य की नीव डालने मे सफल हुआ और आगामी २५-३० वर्षो मे वह प्राय· सम्पूर्ण दणिक्षापथ का स्वामी बन बैठा। अवश्य ही उसने अपने पूर्व प्रभुओं, वातापी के चालुक्य सम्राटो, की उत्तरोत्तर होने वाली अवनति का पूरा लाभ उठाया, अपितु उनके प्रभुत्व का अन्त करने मे सक्रिय योग दिया और शनैः-शनैः उनके सम्पूर्ण साम्राज्य को हस्तगत कर लिया। तत्पश्चात् उसके उत्तराधिकारियो, कृष्ण प्रथम अकालवर्ष (७५६-७७२ ई०), गोविन्द द्वितीय (७७२-७७६ ई०), ध्रुव धारावर्ष निरूपम श्री वल्लभ (७७६-७६३ ई०) और गोविन्द तृतीय जगत्तुङ्ग प्रभूतवर्ष ७६३-८१४ ई०) ने अपनी सफल आक्रामक नीति के फलस्वरूप दन्तिदुर्ग के उक्त राष्ट्रकूट राज्य को एक भारी साम्राज्य के रूप मे परिणत कर दिया, जिसका कि विस्तार सुदूर दक्षिण मे केरल और कांची पर्यन्त था और उत्तर मे मालवा पर्यन्त, उत्तर-पश्चिम दिशा में प्रायः सम्पूर्ण गुजरात और राजस्थान के कुछ भाग उसके अग बन गये थे और पूर्व मे वेंगि के पूर्वी चालुक्य उसके करद सामन्त बन गये थे। तदुपरान्त अधिक डेढ सौ वर्ष पर्यन्त यह विशाल राष्ट्रकूट साम्राज्य अपनी शक्ति, वैभव एव समृद्धि की चरमावस्था का उपयोग करता हुआ प्राय· अक्षुण्ण बना रहा। १०वी शती के तृतीय पाद के अन्त के लगभग वह अकस्मात् धराशायी हो गया।

अढ़ाई सौ वर्ष का यह काल दक्षिणापथ के इतिहास मे राष्ट्रकूट-युग के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अपने समय के इस सर्वाधिक विस्तृत, वैभवशाली एव शक्ति सम्पन्न भारतीय साम्राज्य के अधीश्वर इन राष्ट्रकूट नरेशो की कीर्तिगाथा अरब सौदागरो के द्वारा सुदूर मध्य एशियाई देशो तक पहुंची थी जहा वे 'बलहरा' (वल्लभराय) के नाम से प्रसिद्ध हुए। राष्ट्रकूटो की इस महती सफलता का श्रेय जहां अनुकूल परिस्थितियो, उनकी स्वय की महत्त्वाकाक्षा, शौर्य और राजनीतिक पटुता को है वहाँ उसका एक प्रमुख कारण उनकी सामान्य नीति भी थी। वे सुसभ्य और सुसंस्कृत भी थे, साहित्य और कला के प्रश्रयदाता थे और सबसे बडी बात यह कि वे पूर्णतया सर्वधर्म सहिष्णु थे। एलोरा के प्रख्यात गुहामन्दिरो का उत्खनन कार्य कृष्ण प्रथम के समय मे प्रारम्भ हुआ, जिसमे शैव, जैन और बौद्ध तीनो ही सम्प्रदायो ने योग दिया तथा उत्खनित गुहास्थापत्य के अप्रतिम उदाहरण प्रस्तुत किये। महानगरी मान्यखेट की नीव गोविन्द तृतीय ने ही डाल दी थी और उसके पुत्र एव उत्तराधिकारी सम्राट अमोघवर्ष प्रथम नृपतुग सर्वबर्म (८१५-८७७ई०)

ने उसका निर्माण करके और उसे अपनी राजधानी बनाकर उसे द्वितीय इन्द्रपुरी बना दिया था। साम्राज्य के विभिन्न भागों मे जैनादि विभिन्न धर्मों के अनेक सुन्दर देवालय तथा धार्मिक, सांस्कृतिक एवं शिक्षा सस्थान स्थापित हुए। इन धर्मायतनों एवं सस्थानो के निर्माण एवं सरक्षण में स्वय इन सम्राटो ने, इनके सामन्त सरदारों और राजकीय अधिकारियों ने तथा समृद्ध प्रजाजनों ने उदार अनुदान दिये। उस युग मे पच्चीसियों उद्भट विद्वानों ने प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रश और कन्नड की विविध विषयक महत्वपूर्ण कृतियो से भारती के भडार की प्रभूत श्रीवृद्धि की। विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय साम्राज्य मे साथ-साथ फल-फूल रहे थे। उनके अनुयायी विद्वानों मे परस्पर मौखिक वाद-विवाद भी होते थे, बहुधा स्वयं सम्राट् की राजसभा मे ही, और साहित्य द्वारा भी खंडन-मडन होते थे, किन्तु ये वाद विवाद और खडन-मडन बौद्धिक स्तर से नीचे नही उतरते थे, उनमे प्राय: कोई कटुता नही होती थी और न विद्वेष या वैमनस्य भड़कते थे। धार्मिक अत्याचार और बलात् धर्म परिवर्तन उस युग मे अज्ञात थे। सभी सम्प्रदाय लोकहित, जनजीवन के उत्थान और राष्ट्र के अभ्युदय मे यथाशक्ति सक्रिय सहयोग देते थे।

उपलब्ध प्रमाणाक्षरो से स्पष्ट है कि राष्ट्रकूट साम्राज्य मे जैनधर्म की स्थिति पर्याप्त स्पृहणीय थी। उसे राज्य एव जनता, दोनो का ही प्रभूत प्रश्रय एव समादर प्राप्त था। राष्ट्रकूट इतिहास के विशेषज्ञ डा० अनन्त सदाशिव अल्तेकर के अनुसार, उस काल मे दक्षिणापथ की सम्पूर्ण जनसख्या का ही कम से कम तृतीयाश जैन धर्मावलम्बी था। इस धर्म के अनुयायियो मे प्राय. सभी वर्णो, जातियो एव वर्गों का प्रतिनिधित्व था—उनमे राज्यवश के स्त्री-पुरुष भी थे, अनेक सामन्त-सरदार, सेनापति और दण्डनायक भी थे, ब्राह्मण, पडित और व्यापारी एव व्यवसायी भी थे, सैनिक और कृषक भी थे, शिल्पी, कर्मकार और शूद्र भी थे। जैनाचार्यों ने भी इस सुयोग का लाभ उठाकर स्वधर्म को राज्य एव समाज की आवश्यकताओ के अनुरूप ढालने मे और उसे सचेतन एव प्रगतिशील बनाने मे कोई कसर नही उठा रक्खी। फलस्वरूप जनजीवन के अभ्युत्थान में वे प्रमुख भाग लेने मे समर्थ हुए। डा० अल्तेकर के मतानुसार, सार्वजनिक शिक्षा के क्षेत्र मे तो उनका सक्रिय योगदान सम्भवतया सर्वोपरि था, जिसका एक प्रमाण यह है कि आज भी दक्षिण भारत मे बालको के शिक्षारम्भ के समय जब उन्हें वर्णमाला सिखाई जाती है तो सर्वप्रथम उन्हें 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' नाम का मगल सूत्र रटाया जाता है, न कि ब्राह्मण परम्परा का 'श्री गणेशाय नमः'। 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' विशिष्टतया जैन मन्त्र है, हिन्दू, बौद्ध आदि अन्य धर्मों से उसका कोई सम्बन्ध नही है। इसी आधार पर डा० चिन्तामणि विनायक वैद्य ने भी यह कथन किया है कि उस युग मे सार्वजनिक शिक्षा के क्षेत्र पर जैन शिक्षको ने ऐसा पूर्ण एवं व्यापक नियन्त्रण स्थापित कर लिया था कि जैन धर्म की अवनति के उपरान्त भी हिन्दूजन अपने बालको का शिक्षारम्भ उसी जैन मन्त्र से करते रहे है। वस्तुतः उत्तर भारत के अनेक भागो की प्राचीन पद्धति की प्राथमिक पाठशालाओ (चटसालो आदि) मे भी बालको का शिक्षारम्भ उसी जैन मन्त्र के विकृत रूप 'ओना मासी धम' से होता आया है, जिसका अर्थ भी प्राय: न पढ़ने वाले ही समझते है और न पढ़ाने वाले ही। इसी प्रकार, जैन व्याकरण 'कातन्त्र' का मगल सूत्र 'स्वय सिद्ध. वर्णसमाम्नाय.' भी अपने विकृत रूप 'सरदा वरना मवा मनाया' मे आज भी पाठशालाओ मे प्रचलित पाया जाता है।

अतएव इस विषय मे सन्देह नही है कि उस काल मे उस प्रदेश मे ऐसे अनगिनत जैन सस्थान थे जो शिक्षा केन्द्रों के रूप में चल रहे थे और उनके कोई-कोई तो ऐसे विशाल विद्यापीठ या ज्ञानकेन्द्र थे जिनसे ज्ञान की किरणें चतुर्दिक प्रसरित होती थी।

प्राय: प्रत्येक वसति (जिनमदिर) से सम्बद्ध जो पाटशाला होती थी उसमे धार्मिक एव सतोषी वृत्ति के जैन गृहस्थ शिक्षा देते थे जिनमे बहुधा गृह-सेवी या गृहत्यागी ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारिणियां आदि भी होते थे। क्षुल्लक, ऐलक और निर्ग्रन्थ मुनि भी जब-जब अपने विहार काल में वहां निवास करते, विशेषकर वर्षावास या चातुर्मास काल में, तो वे भी इस शिक्षण में योग देते

थे। किन्तु जो विशाल ज्ञानपीठ होते थे उनका नियन्त्रण एवं संचालन दिग्गज निर्ग्रन्थाचार्य ही करते थे और वहाँ अपने गुरु-बन्धुओं, शिष्यों-प्रशिष्यों के बृहत् परिवार के साथ ज्ञानाराधना करते थे। अपनी चर्या के नियमानुसार ये निष्परिग्रही तपस्वी दिगम्बर मुनिजन समय-समय पर यत्र-तत्र अल्पाधिक विहार भी करते रहते थे, किन्तु स्थायी निवास उनका प्रायः वही स्थान होता था। इन विद्यापीठों मे साहित्य साधना के अतिरिक्त तात्विक, दार्शनिक एवं धार्मिक ही नही, लौकिक विषयो, यहाँ तक कि राजनीति का भी शिक्षण दिया जाता था। साधुओ के अतिरिक्त विशेष ज्ञान के अर्थी गृहस्थ छात्र, जिनमे बहुधा राजपुरुष भी होते थे, इस शिक्षण का लाभ उठाते थे। इन केन्द्रो मे निःशुल्क आवास एवं भोजन और सार्वजनिक चिकित्सा की भी बहुधा व्यवस्था रहती थी।

राष्ट्रकूट काल और साम्राज्य के प्रमुख ज्ञानपीठो मे सम्भवतया सर्वमहान वाटग्राम का ज्ञानकेन्द्र था। बराड प्रदेश (बरार) मे तत्कालीन नासिक देश (प्रान्त) के वाटनगर नामक विषय (जिले) का मुख्य स्थान यह वाटग्राम, वाटग्रामपुर या वाटनगर था जिसकी पहचान वर्तमान महाराष्ट्र राज्य के नासिक जिले के डिंडोरी तालुके मे स्थित 'वानी' नामक ग्राम से की गई है। नासिक नगर से पाँच मील उत्तर की ओर सतमाला अपरनाम चन्दोर नाम की पहाड़ीमाला है जिसकी एक पहाडी पर चाम्भार-लेण नाम से प्रसिद्ध एक प्राचीन उत्खनित जैन गुफा श्रेणी है। यह अनुमान किया जाता है कि प्राचीनकाल मे ये गुफाये जैन मुनियो के निवास के उपयोग मे आती थी। इस पहाड़ी के उस पार ही वानी नाम का गाँव बसा हुआ है जहाँ कि उक्त काल में उपरोक्त वाटनगर बसा हुआ था। बहुसंख्यक गुफाओ के इस सिलसिले को देखकर यह सहज ही अनुमान होता है कि यहां किसी समय एक महान जैन संस्थान रहा होगा। वस्तुतः राष्ट्रकूट युग मे रहा ही था। उस समय इस सस्थान के केन्द्रीय भाग मे अष्टम तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभु का एक मनोरम चैत्यालय भी स्थित था जिसके सम्बन्ध मे उस काल मे भी यह किंवदन्ती प्रचलित थी कि वह प्राणतेन्द्र द्वारा निर्मापित है। यह पुनीत चैत्य ही संभवतया संस्थान के कुलपति का आवास स्थल था।

वाटनगर के इस ज्ञानपीठ की स्थापना का श्रेय संभवतया पंचस्तूप निकाय (जो कालान्तर मे सेनसंघ के नाम से प्रसिद्ध हुआ) के दिगम्बराचार्यों को ही है। ईस्वी सन् के प्रारम्भ के आसपास हस्तिनापुर, मथुरा अथवा किसी अन्य स्थान के प्राचीन पांच जैन स्तूपों से सबंधित होने के कारण मुनियो की यह शाखा पञ्चस्तूपान्वय कहलाई। ५वी शती ई० मे इसी स्तूपान्वय के एक प्रसिद्ध आचार्य गुहनन्दि ने वाराणसी से बंगाल देशस्थ पहाड़पुर की ओर विहार किया था जहाँ उनके शिष्य-प्रशिष्यो ने बटगोहाली का प्रसिद्ध संस्थान स्थापित किया था। ६ठी शती मे इसी अन्वय के एक आचार्य वृषभनन्दि ने दक्षिणापथ मे विहार किया। इन्ही वृषभनन्दि की शिष्य परम्परा मे ७वी शती के उत्तरार्ध मे संभवतया श्रीसेन नाम के एक आचार्य हुए और संभवतया इन श्रीसेन के शिष्य चन्द्रसेनाचार्य थे जिन्होंने ८वीं शती ई० के प्रथम पाद के लगभग राष्ट्रकूटो के सम्भावित उत्कर्ष को लक्ष्य करके वाटनगर की बस्ती के बाहर स्थित चंदोर पर्वतमाला की इन चाम्भार लेणो मे उपरोक्त ज्ञानपीठ की स्थापना की थी। सम्पूर्ण नासिक्य क्षेत्र तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभु से सबधित तीर्थक्षेत्र माना जाता था और इस स्थान मे तो स्वय धवलवर्ण चन्द्रप्रभु का तथाकथित प्राणतेन्द्र निर्मित धवल भवन विद्यमान था। गजपन्था और मागी-तुंगी के प्रसिद्ध प्राचीन जैन तीर्थ भी निकट थे, एलाउर या ऐलपुर (एलोरा) का शैव सस्थान और कन्हेरी का बौद्ध सस्थान भी दूर नही। राष्ट्रकूटो की प्रधान सैनिक छावनी भी कुछ हट कर उसी प्रदेश के मयूरखडी नामक दुर्ग मे थी और तत्कालीन राजधानी सूलुभजन (सोरभंज) भी नातिदूर थी। इस प्रकार, यह स्थान निर्जन और प्राकृतिक भी था, प्राचीन पवित्र परम्पराओं से युक्त था, राजधानी आदि के झमेले से दूर भी, किन्तु शान्ति और सुरक्षा की दृष्टि से उसके प्रभावक्षेत्र मे ही था। अच्छी बस्ती के नैकट्य से प्राप्त सुविधाओं का भी लाभ था और उसके शोरगुल से असम्पृक्त भी रह सकता था। एक महत्वपूर्ण ज्ञानकेन्द्र के लिए यह आदर्श स्थिति थी। चन्द्रसेनाचार्य के पश्चात् उनके प्रधान शिष्य आर्यनन्दि ने सस्थान को विकसित

किया। संभवतया इन दोनों ही गुरु-शिष्यों की यह आकांक्षा थी कि यह संस्थान एक विशाल ज्ञानकेन्द्र बने और इसमें खट्खंडागम आदि आगमग्रन्थों पर विशेष रूप से कार्य किया जाय। संयोग से आर्यनन्दि को वीरसेन के रूप मे ऐसे प्रतिभासम्पन्न सुयोग्य शिष्य की प्राप्ति हुई जिसके द्वारा उन्हे अपनी चिराभिलाषा फलवती होती दीख पड़ी। वीरसेन, जो सम्भवतया स्वय राजकुलोत्पन्न थे और यह संभावना है कि राजस्थान के सुप्रसिद्ध चित्तौड़गढ़ के मोरी (मौर्य) राजा धवलप्पदेव के कनिष्ठ पुत्र थे, गुरू की अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए सन्नद्ध हो गये। गुरू की प्रेरणा से वह आगमों के विशिष्ट ज्ञानी एलाचार्य की सेवा मे पहुंचे, जो उस समय चित्रकूटपुर (उपरोक्त चित्तौड़) मे ही निवास करते थे, और उनके समीप उन्होने कम्मपयडिपाहुड आदि आगमो का गभीर अध्ययन किया। तदनन्तर वह अपने वाटनगर के संस्थान मे वापस आये और ८वीं शती ई० के मध्य के लगभग गुरु के निधनोपरान्त उक्त सस्थान के अध्यक्ष या कुलपति बने और आगमो की अपनी विशाल टीकाओ के निर्माण कार्य मे एकनिष्ठ होकर जुट गये।

स्वामी वीरसेन को प्राकृत और सस्कृत उभय भाषाओ पर पूर्ण अधिकार था, सिद्धान्त, छन्द, व्याकरण, ज्योतिष और प्रमाण शास्त्रो में वह परम निष्णात थे। उनके शिष्य जिनसेन ने उनके लिए कवि चक्रवर्ती विशेषण भी प्रयुक्त किया है। वीरसेन अपने समय के सर्वोपरि 'पुस्तक-शिष्य' समझे जाते थे, जिसका अर्थ है कि उन्होने उस समय उपलब्ध प्रायः समस्त साहित्य पढ डाला था। यह तथ्य उनकी कृतियों मे उपलब्ध अनगिनत संदर्भ संकेतो एव उद्धरणो से भी स्पष्ट है। इन आचार्यपुगव ने जो विशाल साहित्य सृजन किया उसमे षट्खण्डागम के प्रथम पाच खण्डों पर निर्मित 'धवल' नाम की ७२००० श्लोक परिमाण महती टीका, छठे खण्ड 'महाबन्ध' का ३०००० श्लोक परिमाण सटिप्पण सम्पादन 'महाधवल' के रूप मे, कसाय-प्राभृत की 'जयधवल' नाम्नी टीका का लगभग तृतीयाश जो लगभग २८५०० श्लोक परिमाण है, सिद्ध-भूपद्धति नाम का गणित शास्त्र तथा २री शती ई० के यतिवृषभाचार्यकृत तिलोयपण्णत्ति का किसी जीर्ण शीर्ण प्राचीन प्रति पर से उद्धार करके उसका अन्तिम संस्करण, तो है ही. अन्य कोई रचना हो उसका अभी पता नहीं चला। इसमें सन्देह नही कि उन्होने अपने संस्थान मे एक अत्यन्त समृद्ध ग्रन्थ-भंडार संग्रह किया होगा। लेखन के लिए टनो ताड़पत्र तथा अन्य लेखन सामग्री की आवश्यकता पूर्ति के लिए भी वहां इन वस्तुओ का एक अच्छा बडा कारखाना होगा। अपने कार्य मे तथा सस्थान की अन्य गतिविधियो मे योग देने वाले उनके दर्जनो सहायक और सहयोगी भी होगे। उनके सधर्मा के रूप मे जयसेन का और प्रमुख शिष्यों के रूप मे दशरथ गुरू, श्रीपाल, विनयसेन, पद्मसेन, देवसेन और जिनसेन के नाम तो प्राप्त होते ही है। अन्य समकालीन विद्वानो मे उनके दीक्षागुरू आर्यनन्दि और विद्यागुरू एलाचार्य के अतिरिक्त दक्षिणापथ मे गंगनरेश श्रीपुरुष मुत्तरस शत्रुभयकर (७२६–७७६ ई०) द्वारा समादृत तथा निर्गुडराज के राजनीति विद्यागुरु विमलचन्द्र, राष्ट्रकूट कृष्ण प्रथम की सभा मे वाद-विजय करने वाले परवादिमल्ल, अकलङ्कदेव के प्रथम टीकाकार अनन्तवीर्य प्रथम, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री आदि के कर्ता विद्यानन्द, हरिवंशपुराणकार जिनसेनसूरि, रामायण आदि के रचयिता अपभ्रंश के महाकवि स्वयंभु आदि उल्लेखनीय है। चित्तौड़ निवासी महान् श्वेताम्बराचार्य याकिनीसूनु हरिभद्रसूरि भी इनके समकालीन थे। भट्टाकलंकदेव को अपनी बाल्यावस्था मे स्वामी वीरसेन ने देखा सुना हो सकता है—उनका स्मरण वीरसेन 'पूज्यपाद' नाम से करते थे। स्वामी वीरसेन ने अपनी धवला टीका की समाप्ति सन् ७८१ ई० (विक्रम स० ८३८) मे की थी और ७९३ ई० के लगभग उनका स्वर्गवास हो गया प्रतीत होता है। इसमे सदेह नही है कि वाटनगर मे ज्ञानकेन्द्र को स्वामी वीरसेन ने उन्नति के चरम शिखर पर पहुंचा दिया था।

उनके पश्चात् संस्थान का कार्यभार उनके प्रिय शिष्य जिनसेन स्वामी ने संभाला। यह अविद्धकर्ण बाल-तपस्वी भी अद्भुत प्रतिभा-सम्पन्न थे। पार्श्वाभ्युदय काव्य उनके काव्य कौशल का उत्तम परिचायक है। सन् ८३७ ई० (शक सं० ७५९) मे उन्होने गुरु द्वारा अधूरे छोड़े कार्य— जयधवल के शेषाप को लगभग ४००००

श्लोक परिमाण पूर्ण किया। इस महाग्रन्थ का सम्पादन उनके ज्येष्ठ सधर्मा श्रीपाल ने किया था। ऐसा लगता है कि तदनन्तर जिनसेन ने महापुराण की रचना प्रारंभ की किन्तु वह उसके आद्य १०३८० श्लोक ही रच पाये और उनमें प्रथम तीर्थङ्कर आदिनाथ का चरित्र भी पूरा न कर पाये कि ८५० ई० के कुछ पूर्व ही उनका निधन हो गया। राष्ट्रकूट सम्राट् अमोघवर्ष प्रथम नृपतुग (८१५-८७७ ई०) उन्हें अपना गुरु मानता था और यदा-कदा राज्यकार्य से विराम लेकर उनके तपोवन में आकर उनके सान्निध्य मे समय व्यतीत करता था। वह स्वयं भी अच्छा विद्वान् और कवि था। स्वामी जिनसेन के समकालीन विद्वानों मे उनके गुरु एव सधर्माओं के अतिरिक्त हरिवंशपुराणकार जिनसेनसूरि, उपरोक्त स्वामि विद्यानन्द, अनन्तवीर्य द्वितीय, अर्ककीर्ति, विजयकीर्ति, स्वयभूपुत्र कवि त्रिभुवनस्वयभु, शिवकोटयाचार्य, वैधक-शास्त्र कल्याणकारक के रचयिता उग्रादित्य, गणितसारसग्रह के कर्त्ता महावीराचार्य और वैयाकरणी शाकटायन पाल्य-कीर्ति उल्लेखनीय हैं। इनमे से कम से कम अन्तिम तीन को भी सम्राट् अमोघवर्ष का प्रश्रय प्राप्त हुआ था।

स्वामी जिनसेन के प्रधान शिष्य आचार्य गुणभद्र थे, जिन्होंने गुरु के अधूरे छोडे आदिपुराण को संक्षेप मे पूरा किया तथा उत्तरपुराण के रूप मे अन्य २३ तीर्थङ्करो का चरित्र निबद्ध किया। उन्होने आत्मानुशासन और जिनदत्तचरित्र की भी रचना की। कहा जाता है कि सम्राट् अमोघवर्ष ने अपने युवराज कृष्ण द्वितीय का गुरु उन्हें नियुक्त किया था। गुणभद्राचार्य का निधन कृष्ण द्वितीय के राज्यकाल (८७८-६१४ ई०) के प्रारम्भ हो, लगभग ८८० ई० मे हो गया लगता है। उनके समय तक इस परम्परा के गुरुओ का ही वाटग्राम के केन्द्र से सीधा एवं प्रधान सम्बन्ध रहा और वह पूर्ववत् फलता-फूलता रहा, किन्तु गुणभद्र के उपरान्त उसकी स्थिति गौण होती गई। गुणभद्र के प्रधान शिष्य लोकसेन ने अमोघवर्ष के जैन सेनापति बकेयरस के पुत्र लोकादित्य के प्रश्रय में उसकी राजधानी बंकापुर को अपना केन्द्र बना लिया प्रतीत होता है, जहाँ उसने ८९८ ई० मे गुरु द्वारा रचित उत्तरपुराण का ग्रन्थविमोचन समारोह किया था।

हाल मे ही नासिक जिले के वजीरखेडा ग्राम से प्राप्त दो ताम्रशासनों से पता चलता है कि उपरोक्त कृष्ण द्वितीय के पौत्र एवं उत्तराधिकारी राष्ट्रकूट नरेश इन्द्र तृतीय (६१४-६२२ ई०) ने अपने सिंहासनारोहण के उपलक्ष्य मे, एक के द्वारा चन्दनापुर-पत्तन (चन्दनपुर या चन्द्रपुर) की जैन बसति को और दूसरे के द्वारा वड-नेरपत्तन (वडनगरपत्तन या वाटनगर) की जैन बसति को भूमि आदि का दान दिया था। ये दान द्रविडसंघ के वीरगण की चोर्न्नायान्वय शाखा या विर्णयान्वय शाखा के वर्धमान गुरु के शिष्य लोकभद्र को समर्पित किये गये थे। ऐसा लगता है कि इस काल में इस प्रदेश में सेन गण के गुरुओं का प्रभाव और द्रविडसंघ का प्राबल्य हो जाने से गुणभद्र या लोकसेन के वर्धमानगुरु नामक किसी शिष्य ने द्रविडसघ से अपना सम्बध जोड लिया हो और उसमें अपने परम्परा-गुरु वीरसेन के नाम पर वीरगण की स्थापना करके इस सस्थान का अधिकार अपने हाथ मे ले लिया हो। वजीरखेडा का प्राचीन नाम भी वीरखेडा या वीरग्राम रहा बताया जाता है, वडनगरपत्तन तो वाटनगर से अभिन्न ही प्रतीत होता है, चन्दपुर या चन्द्रपुर नाम की कोई नवीन बस्ती पूर्वोक्त चन्द्रप्रभु चैत्यालय के इर्द-गिर्द विकसित हो गई हो सकती है।

यों इस महान् धर्मकेन्द्र की प्रसिद्धि, संभवतया उसके देवायतनों आदि तथा कतिपय सस्थाओं की विद्यमानता भी, कम से कम अगले सौ-डेढ सौ वर्ष पर्यन्त बनी रही। सन् १०४३ ई० (वि० स० ११००) में धारानगरी के प्रसिद्ध महाराज भोज (१००६-१०५० ई०) के समय में अपना अपभ्रंश सुदर्शनचरित पूर्ण करने वाले आचार्य नय-नंदि ने अपने सकल विधि-विधान काव्य में एक स्थल पर लिखा है कि "उत्तम एवं प्रसिद्ध वराड देश के अन्तर्गत —कीर्ति लक्ष्मी सरस्वती (के सयोग) से मनोहर वाट-ग्राम के महान् महल शिखर (उत्तुग भवन) मे जहाँ जिनेन्द्र चन्द्रप्रभु विराजते थे, वीरसेन-जिनसेन देवो ने धवल, जयधवल और महाबन्ध नाम के तीन शिवपथ (मोक्षमार्गी) सिद्धान्त ग्रन्थों की रचना भव्यजनो को सुखदायी की थी। वही सिद्धिरमणी के हार पुडरीक और

(शेष पृ० ११० पर)

समयसार में तत्त्व-विवेचन की दृष्टि

□ डा० दामोदर शास्त्री, नई दिल्ली

जैन साहित्य के इतिहास मे 'समयसार' जैसी कृति अनुपम है। इस कृति में आध्यात्मिकता व दार्शनिकता का अनूठा समन्वित रूप देखने को मिलता है, साथ ही जैन दार्शनिक साहित्य में एक नई परम्परा का सूत्रपात भी। जैन साहित्य के समग्र इतिहास पर दृष्टि डालें तो हमें इस कृति से पहले एक भी ऐसा ग्रन्थ नही मिलता जिसमे समयसार की तरह मुक्ति को या परमात्मावस्था को अद्वैतावस्था की स्थिति के रूप मे चित्रित किया गया हो। आत्म-निरूपण मे जो तत्त्व-दृष्टि भी अपनाई गई है, वह अपूर्व है। जिज्ञासा स्वाभाविक है कि आचार्य कुन्दकुन्द को समयसार जैसा ग्रन्थ लिखने की क्या आवश्यकता हुई, या वे कौन-सी परिस्थितिया थी जिन्होने आचार्य कुन्दकुन्द को 'समयसार' लिखने के लिए प्रेरित किया। इस प्रश्न के समाधान के लिये हमे जैन दर्शन के बन्ध व मोक्ष की पूर्व स्वीकृत प्रक्रियाओ का अध्ययन करना होगा।

समयसार से पूर्व मोक्ष-प्राप्ति की जो मान्यता प्रमुख रूप से प्रचलित रही, वह यह थी कि आत्म-अनात्म का अविवेक हमारे बन्धन का कारण है। आत्मस्वरूप का सही ज्ञान न होने से अनात्म पदार्थ को भी हम आत्मा समझ बैठे है। इसी अज्ञान से हमारी आत्मा मे रागद्वेषादि परिणति होकर विभाव-अवस्था या विकृति होती है और इस प्रकार बन्धन और भी दृढ़तर होता चला जाता है।[1] संक्षेप मे, मोह व राग-द्वेष बन्ध के कारण है।[2] इसलिए मुमुक्षु को आत्म-ज्ञान तथा रागद्वेषहीन समतावस्था की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए।[3] बन्ध के हेतु यद्यपि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि कई है,[4] तथापि मिथ्यात्व व कषाय का नाश हुए बिना, विशेषतः अज्ञान या मोह को नष्ट किये बिना साधना की कोटि पर चढ़ना असभव है।[5]

इस प्रकार तत्त्व-ज्ञान, विशेषकर आत्मज्ञान जैन-मुक्तिमार्ग का अनिवार्य अंग है।[6] जैन आचार्यों के मत मे आत्मा का ज्ञान आत्मा व अनात्म दोनो को जाने बिना सम्भव नही।[7] सक्षेप मे, भेदविज्ञान से ही मुक्ति का द्वार खुल सकता है।[8] अतः आत्मा के साथ-साथ अनात्म—अजीव पदार्थ का ज्ञान भी जरूरी हो गया,[9] और यही कारण था कि जैन आगम व आगमेतर साहित्य जीव-अजीव, पंचास्तिकाय या षट्द्रव्य के निरूपणों से भरा पड़ा है।[10]

इस प्रकार, एक तरफ उपनिषदो के 'आत्मा वा अरे

१. प्रवचनसार, १८३-८४।

२. रागद्वेषविमोहाना ज्ञानिनो यदसभवः।
तत एव न बन्धोऽस्य ते हि बन्धस्य कारणम्॥
—समयसारकलश, ११९

३. उत्तराध्ययन, ३२.२ तथा ३२.९; प्रवचनसार—१.८०-८१, त. सू. १०.१।

४. तत्त्वार्थसूत्र— ·१।

५. दुक्ख हय जस्स न होइ मोहो (उत्तरा. ३२·८)।

६. भगवती आराधना—७७१, उत्तरा. ६·२; दशवै. १०·४।

७. अत्ताणमेव अभिनिगिज्झ एव दुक्खा पमोक्खसि।
(आचारांग)

८. भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥
(समयसारकलश—१३१)
येनात्माबुद्ध्यतात्मैव, परत्वेनैव चापरम्॥
(समाधिश. १)

९. आत परं च जाणेज्जा (इसिभासिय—३५·१२)।

१०. णियजदव्वजाणणट्ठ इयर कहियं जिणेहि छद्दव्वं।
तम्हा परछद्दव्वे जाणगभावो ण होइ सण्णाणं॥
(बृहद् नयचक्र—)

द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य:"[11] के स्वर से, तो दूसरी तरफ प्रकृतिपुरुषान्यताख्याति से मुक्ति मानने वाले सांख्य दर्शन से जैन दर्शन का ऐकमत्य दिखाई पड़ता है।[12]

हम देखते है कि क्रमश: जैन साहित्य में आत्मज्ञान द्रव्य-ज्ञान का पर्यायवाची-सा बन गया,[13] क्योंकि यह माना जाने लगा कि किसी भी एक द्रव्य को जानना तब तक सम्भव नहीं, जब तक त्रैकालिक त्रिलोकस्थ पदार्थों का ज्ञान न हो।[14] आचार्य कुन्दकुन्द के पूर्ववर्ती आ० उमास्वामी कृत तत्त्वार्थसूत्र मे मोक्षमार्ग का जो रूप प्रस्तुत किया गया है, वह उक्त सब कथनो का प्रतिफलित रूप है।[15] इसी क्रम मे लोकस्वरूप के सम्बन्ध मे भी भारी भरकम साहित्य की रचना बढ़ती गई, और यह सब इसलिए भी आवश्यक था, क्योंकि केवली व तीर्थङ्करो की सर्वज्ञता का निरूपण करते हुए उन्हे जगत् के त्रैकालिक पदार्थों का ज्ञाता माना गया। इस प्रकार, हम देखते है कि तत्त्वज्ञान के केन्द्र-बिन्दु आत्मा तक पहुचना कुछ जटिल हो गया था। अल्पजीवन वाले साधक जीवाजीव व लोकस्वरूप के ज्ञान मे ही अगर उलझ जायें तो आत्म-साधना या आत्मविज्ञान क मार्ग मे प्रगति का मन्द होना स्वाभाविक है। इसलिए यह उस समय की मांग थी कि ऐसा साहित्य रचा जाय जो साधक के समक्ष तत्त्व-ज्ञान के केन्द्र-बिन्दु आत्मा को उजागर करे अन्य तत्त्वो के ज्ञान की अपेक्षा आत्म-ज्ञान को प्रमुखता दे और साथ ही ऐसा रास्ता भी सुझाये जिससे अन्य द्रव्यो का सामान्य ज्ञान प्राप्त करते हुए, शीघ्र व सरलता से आत्मतत्त्व की शुद्ध अवस्था तक पहुचा जा सके।

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थो मे साधक की दृष्टि को पूर्ण आत्मलक्षी बनाने का प्रयास सफल रहा है। इनमे दार्शनिक दृष्टिकोण सम्बन्धी क्रान्तिकारी परिवर्तन भी प्रस्तुत किया गया है। उदाहरण-स्वरूप सर्वज्ञता के स्वरूप को लें। आ० कुन्दकुन्द के पूर्व यह मान्यता थी कि केवलज्ञान का प्रतिफल ससार के समस्त पदार्थों के त्रैकालिक स्वरूप को जानना है। आचार्य कुन्दकुन्द ऐसे पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने घोषणा की कि केवली का लोक-ज्ञान एक व्यावहारिक दृष्टि से कथन है, वास्तव मे तो वह आत्मतत्त्व का दर्शन है।

नियमसार में उन्होंने कहा—

अप्पसरूवं पेच्छदि, लोयालोयं ण केवली भगवं (नियमसार – १६६)—अर्थात् केवलज्ञान शुद्ध आत्मस्वरूप का द्रष्टा होता है लोकालोक का नही। उनके मत मे व्यवहार नय से 'केवलज्ञानी' सर्वद्रव्यपर्यायों को जानता-देखता है, पर निश्चय नय से तो शुद्ध आत्मा को ही देखता-जानता है।[16]

आचार्य कुन्दकुन्द के इन सब कथनो का उद्देश्य यह रहा कि साधक लोकस्वरूप के परिचायक जटिल साहित्य मे, साथ ही बाह्य क्रियाकाण्डों मे उलझ कर रह न जाय[17] और आत्ममुखी प्रवृत्ति को दृढ़ करे।

इसी सन्दर्भ मे समयसार के पूर्वरग (प्रस्तावना रूप) मे उन्होने साधक को आत्मलक्षी होने के लिए बड़े ही प्रभावपूर्ण व सहज सुबोधगम्य तरीके से प्रेरणा देते हुए कहा है –

लोक मे हम देखते है कि अर्थ-सिद्धि का स्रोत राजा होता है। यदि 'अर्थ' की प्राप्ति करनी हो तो राजा के प्रति श्रद्धा तथा उसके स्वभाव आदि की जानकारी तथा उसी का अनुसरण करना आवश्यक है, उसी प्रकार। पदार्थ-विज्ञान या मुक्ति-मार्ग का केन्द्रबिन्दु तो आत्मा है, उसी

---

११. बृहदा. उप. २·४·६।

१२. सांख्यकारिका—६४, उत्तरा. ३६·१–२।

१३. जे अज्झत्थं जाणइ, से बहिया जाणइ।
जे बहिया जाणइ से अज्झत्थ जाणइ॥
(उद्धृत— स्याद्वादमजरी, का. १४)
जो एगं जाणइ से सव्वं जाणइ।
जो सव्वं जाणइ से एग जाणइ॥ (आचारांग—१·३·४.१२२)

१४. प्रवचनसार—४८।

१५. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् (तत्त्वार्थसू. १२ तथा १४)

१६. जाणादि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगव।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं॥
(नियम. १५६)

१७. द्र० समाधिशतक—८४।

का श्रद्धान व ज्ञान तथा अनुसरण करना चाहिए।[१८] आत्मा का ही ध्यान आवश्यक है, अन्य द्रव्यों में ममत्व-बुद्धि उचित नहीं।[१९]

यह तो हुआ समयसार का सामान्य उद्देश्य। एक विशेष उद्देश्य भी है जिसका निरूपण करना आवश्यक है। समयसार में प्रचलित परम्परा से पृथक् दार्शनिक दृष्टिकोण का प्रतिपादन दिखाई पड़ता है। समयसार की रचना से पूर्व यह मान्यता थी कि एकत्वबुद्धि और भेद या अनेकत्त्व-बुद्धि मोक्ष का हेतु है, किन्तु समयसार मे आ० कुन्दकुन्द एकत्वबुद्धि को ही ग्राह्य बताते देखे जाते है।[२०] ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द अद्वैतवाद का प्रतिपादन करने जा रहे है। परब्रह्म की समकक्षता मे 'सत्' पदार्थ की कल्पना, जिसमे संपूर्ण विश्व समाहित है, प्रवचनसार मे प्राप्त होती है जो इस सदर्भ मे उल्लेखनीय है।[२१] वे स्पष्ट शब्दो मे कहते है कि शुद्ध आत्मा के ज्ञाता व ज्ञेय का पार्थक्य नही है।[२२]

आखिर इस दार्शनिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने के पीछे क्या पृष्ठभूमि रही है, यह विचारणीय है।

पं० दलसुख मालवणिया के मत मे आचार्य कुन्दकुन्द के समय मे अद्वैतवाद की बाढ आ गई थी, औपनिषदिक ब्रह्माद्वैत के अतिरिक्त शून्यवाद व विज्ञानाद्वैतवाद जैसे वाद भी दार्शनिको मे प्रतिष्ठित हो चुके थे। तार्किक व श्रद्धालु - दोनो के ऊपर अद्वैतवाद का प्रभाव सहज ही जम जाता था।[२३] यह सामयिक प्रभाव आचार्य कुन्दकुन्द पर भी पड़ा।

मेरी समझ मे यही कारण पर्याप्त नही है। दार्शनिक पृष्ठभूमि के परिप्रेक्ष्य में इसका कारण ढूंढा जा सकता है।

जीव के बन्धन का प्रमुख कारण यह है कि वह अनात्म को आत्मा समझ बैठता है, जब उसे यह ज्ञान हो जाता है कि शरीरादि अजीव पदार्थ आत्मा से पृथक् है, तो मुक्ति का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। किन्तु मोक्षमार्गके द्रष्टा महापुरुषों की अनुभूति के अनुसार, मुक्ति की प्रक्रिया मे उक्त स्थिति के बाद यह भी आवश्यक है कि आत्म-स्वरूप का भी ज्ञान हो। साधक यह तो जाने ही कि मैं अजीव नही हूं, बल्कि यह भी जाने कि 'मैं' क्या हूं, या आत्मा का क्या वैशिष्ट्य है, क्या स्वरूप है। समयसार से पूर्व तक आत्मा का जो वैशिष्ट्य या स्वरूप वर्णित होता रहा, वह मुक्ति के अन्तिम सोपान तक पहुचाने की दृष्टि से पर्याप्त नही था। जैसे आत्मा अपने सुख-दुःखो का स्वय कर्ता है, भोक्ता है[२४], पुद्गल द्रव्य के संसर्ग मे आकर वह स्वभावच्युत हो जाता है और बन्धन मे पड़ जाता है, आदि-आदि निरूपण शास्त्रो मे मिलता है।[२५]

यदि साधक यही सोचता रहे कि मै सुख-दुःखो का कर्ता व भोक्ता हू, मुझसे अजीव पृथक् है— तो इससे शुद्ध चित्त स्वरूप की प्राप्ति तो नही हो सकती। द्रष्टा व दृश्य, भोक्ता व भोग्य आदि के भेद समाप्त हुए विना मोक्ष प्राप्त नही हो सकता। मै और मेरा का भेद जब तक रहेगा तब तक मुक्ति के द्वार तक ही पहुच कर रुक जाना पड़ेगा, क्योंकि मै और मेरा की स्थिति आत्मा के स्वरूप को खडित करती है। [यही कारण है कि योग दर्शन में सम्प्रज्ञात समाधि के बाद असम्प्रज्ञात समाधि का निरूपण किया गया है।]

---

१८. समयसार -१८।

१९. मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेव। (समय० ४१२)

२०. एयत्तणिच्छयगदो समओ सव्वत्थ सुंदरो लोए।
बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होदि॥ (समय० ३)
सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कम्मभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स॥
तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्केज्ज छलं ण घेत्तव्वं। (समय० ४-५)

२१. प्रवचनसार— २.५-६, सत्ता सव्वपयत्था—एक्का। (पंचास्तिकाय—८)

२२. एवं भणंति सुद्धं णादो जो सो दु सो चेव। (समय० ६)

२३. द्र. आगम युग का जैन दर्शन। (पं. मालवणिया—पृ. २३२)।

२४. अप्पा कत्ता विकत्ता य दुक्खाण य सुहाण य। (उत्तरा० २०.३७)

२५. त. सू. ८.२, उत्तरा. ३.६।

मुक्ति मे अखंड, एकरस, अविचल, चित्स्वरूप की अनुभूति आवश्यक है—इस तथ्य का निरूपण करने का प्रयास समयसार मे किया गया है।[२६] मोक्ष की साधना मे चौदह 'गुणस्थानो' की कल्पना है जिसमें साधक मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय व योग--इन बंधहेतुओं को क्रमशः जीतता हुआ आगे बढ़ता जाता है। इसी तरह साधना के पथ में आत्मा के तीन रूपों की भी कल्पना की गई है। वे हैं—(१) बहिरात्मा, (२) अंतरात्मा और (३) परमात्मा।[२७] किन्तु प्रश्न यह था कि आखिर इस स्थिति को प्राप्त कैसे किया जाय। बहिरात्मा देह को आत्मा समझता है, अनात्म को आत्मा समझता है,[२८] रागद्वेषयुक्त रहता है,[२९] अन्तरात्मा संसार से, विषयों से विरक्त रहता है, रागद्वेष-रहित रहता है,[३०] परमात्मत्व प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है, वह इस भावना को दृढ़ करता है कि परमात्मा मैं ही हूं, मैं ही मेरा उपास्य हूं[३१] आदि। परमात्व की प्राप्ति आत्मा के अन्दर से ही होती है, बाह्य से नही, उसी प्रकार जैसे कि (वृक्ष) काष्ठ को रगड़ने से उसमे से आग निकल पड़ती है।[३२] किन्तु यहा यह समस्या थी कि अन्तरात्मा से परमात्मा की स्थिति कैसे प्राप्त हो। व्यावहारिक धरातल पर जीने वाले साधक को उस अखण्ड परमात्म-तत्त्व की झलक कैसे दिखाई जाय जो सहज बोधगम्य व तार्किक भी हो। किसी वस्तु को प्राप्त करने का प्रमुख उपाय यह है कि उस वस्तु को जाना जाय। परमात्मा का या शुद्ध आत्मा का स्वरूप जानने पर ही उसकी प्राप्ति सम्भव होगी—यह आचार्य कुन्दकुन्द का मत था।[३३] समयसार से पूर्व तक किसी वस्तु को जानने का उपाय प्रमाण व नय था।[३४] इन दोनों मे भी दूसरों को समझाने के लिए 'नय' ही प्रधान साधन था। नयो के भी दो प्रकार किये गये थे—(१) द्रव्यास्तिक और (२) पर्यायास्तिक। किन्तु इन दोनों नयों से आत्मा की नित्यता व अनित्यता, एकता व अनेकता तो हृदयगम की सकती थी, पर शुद्ध आत्मविकास की विभिन्न श्रेणियों का तथा विशेषकर चरम सोपान को समझने मे पर्याप्त सहायता नही मिलती थी।

आचार्य कुन्दकुन्द के समय दार्शनिक क्षेत्र में वस्तु का निरूपण दो दृष्टियो से होने लगा था—एक पारमार्थिक दृष्टि और दूसरी व्यावहारिक दृष्टि। आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने आत्मतत्त्व के निरूपण के लिए दो दृष्टियां चुनी —(१) निश्चय दृष्टि व (२) व्यावहारिक दृष्टि। आचार्य कुन्दकुन्द के परवर्ती काल मे तो तात्त्विक विवेचनो मे द्रव्यास्तिक व पर्यायास्तिक नयों का आश्रय भले ही लिया जाता रहा, पर आध्यात्मिक विकास परक ग्रंथों मे निश्चय व व्यवहार इन दो नयों का ही आश्रय लिया जाता रहा है।[३५]

इन दो दृष्टियों को व्यावहारिक व सहजगम्य तरीके से प्रस्तुत करते हुए शुद्ध आत्म-स्वरूप की झलक दिखाने में आचार्य कुन्दकुन्द ने सफलता प्राप्त की। निश्चय व व्यवहार दृष्टियों का मोटे तौर पर आधार यह है कि ज्यों ज्यो हम अपनी प्रवृत्ति को अधिकाधिक अन्तर्मुखी करते रहेंगे या परत्व से हटते-हटते स्वत्व की ओर सीमित होते रहेंगे, हम परम तत्व या परमात्मत्व के निकट पहुचते जाएंगे।

दार्शनिक परिभाषा मे, व्यवहार नय 'पर' में भी 'स्व' का आरोपण कर लेता है,[३६] अशुद्ध निश्चय नय 'पर' में

---

२६. जोपस्सदि अप्पाण अबद्धपुट्ठं अणण्णय णियदं।
अविसेसमसंजुत तं सुद्धणयं वियाणीहि। (समय. १४)

२७. समाधिशतक—६०, ५-६।

२८. समाधिशतक—१०।

२९. समाधि० १४।

३०. समाधि० १६-२०।

३१. समाधि० ३१।

३२. समाधि० ९८।

३३. सुद्धं तु वियाणतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो।
(समय० १८६)

३४. त० सू० १.६।

३५. द्रष्टव्य—'अधुना अध्यात्मभाषया नया उच्यन्ते' के बाद निश्चयनयादि का निरूपण—आलापपद्धति। तथा पुरुषार्थसिद्धयुपाय—४।

३६. समयसार टीका, आत्मख्याति, गाथा २७२।

परत्व बुद्धि तो रखता है, किन्तु 'स्व' में अन्य निमित्त से होने वाले परिणामों मे स्वत्व बुद्धि रखता है, परत्व बुद्धि नहीं रखता। शुद्ध निश्चय नय 'स्व' में होने वाले उन्ही परिणामों को अपना समझना है जो 'पर' के निमित्त से न हुए हों।[३७] इसी प्रकार, शरीर को आत्मा कहना व्यवहार नय है, आत्मा में कर्म पुद्गल निमित्त से होने वाले रागादि भावों को आत्मा का कहना अशुद्ध निश्चय नय है, और आत्मा को अखंड, शुद्ध, चैतन्य रूप समझना परम शुद्ध निश्चय नय है।

इसी प्रकार, आत्मा पुण्य-पापादि कर्मों का कर्ता व्यवहार नय से कहा जाएगा,[३८] निश्चय नय से तो अकर्ता ही है। आत्मा स्वरागादि भावो का कर्ता अशुद्ध निश्चय नय से है, शुद्ध निश्चयनय से नही।[३९] चैतन्य भाव का कर्ता शुद्ध निश्चयनय से कहा जायगा।[४०] निश्चयनय से देखें तो आत्मा के बन्ध व मोक्ष, पुण्य व पाप आदि असंगत ठहर जाते है।[४१] व्यवहारनय स्थित आत्मा 'पर समय' है। निश्चयनयस्थित आत्मा 'स्वसमय' है। व्यवनय निचली कोटि मे स्थित व्यक्ति के लिए है, साधना की उच्च स्थिति मे तो साधक को निश्चय नय का अवलम्बन कर ही मुक्ति प्राप्त होती है।[४२] निश्चय नय स्थित आत्मा के लिए बाह्य क्रियाकाण्ड सभी व्यर्थ हो जाते है।[४३]

उक्त नय या दृष्टिकोणों से आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मा के क्रमिक उत्थान को स्थिति को स्पष्ट किया है। इन नयो के द्वारा आत्मा का अकर्तृत्व व अभोक्तृत्व, शुद्ध चित् स्वरूप तथा अखण्ड भाव की भावना साधक के मन मे दृढ हो जाती है। व्यवहारनय मे स्थित आत्मा बहिरात्मा है, अशुद्ध निश्चयनय स्थित आत्मा अंतरात्मा है। अंतरात्मा को परमात्मा बनने हेतु दर्शन, ज्ञान व चारित्र इन भेदों को भी भुलाना पड़ता है और अंत में द्रष्टा-दृष्य का भेद भी। इस प्रकार, स्वत्व का केन्द्र-बिन्दु सिमटता हुआ शुद्ध चित् रूप रह जाता है।

इसी तरह आचार्य कुन्दकुन्द ने यह दृष्टि भी दी कि कोई पर-वस्तु किसी मे परिणमन नही करा सकती, प्रत्येक वस्तु स्वपरिणमन में स्वतन्त्र है।[४४] अतः आत्मा स्फटिकवत् निर्लेप व शुद्ध है।[४५] इसलिए आत्मा के बन्ध व मोक्ष भी औपचारिक है, वास्तविक नही। इस भावना के दृढ़ होने से आत्मा मे परमात्म स्वरूप आविर्भूत होता है और वह पुनः स्वरूपच्युत नही होता।

समयसार की जिन गाथाओं को समझना या उसका सही अर्थ निश्चित करना तब तक और कठिन हो जाता है जब तक हम यह न समझ लें कि कौन-सी गाथा किस नय को दृष्टि मे रख कर कही गई है; अन्यथा निश्चय नय मे बाह्य क्रियाकाण्डो का तथा धार्मिक आचरणो की निरर्थकता सिद्ध करने वाले निश्चय नय परक वाक्यों का दुरुपयोग होने लगेगा और फलस्वरूप तीर्थ-विच्छेद ही हो जाएगा। इस तरह के और भी अनेक प्रसंग हैं जो ग्रन्थकर्ता की दृष्टि न समझने के कारण भ्रान्ति उत्पन्न कर सकते हे।

अध्यक्ष जैन दर्शन विभाग,
लाल बहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ,
(शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार)
१/६, शान्ति निकेतन, मोती बाग,
नई दिल्ली-११००२१

३७. यद्यप्यशुद्धनिश्चयनयेन चेतनानि, तथापि शुद्धनिश्चयनयेन नित्य सर्वकालमचेतनानि। अशुद्धनिश्चयस्तु वस्तुतो यद्यपि द्रव्यकर्मापेक्षया आभ्यन्तररागादयश्चेतना इति मत्वा निश्चयसज्ञां लभते, तथापि शुद्धनिश्चयनयापेक्षया व्यवहार एव (द्रव्यसंग्रह टीका—जयसेनकृत, गाथा—३)।

३८. समय० १०१।

३९. समय० ७५, ९३।

४० समय० १९९।

४१. समय० १२, पुरुषार्थसिद्धयुपाय—६।

४२. समय० १२।

४३. सकाधिशतक—८४।

४४. द्र० समय० ३७२।

४५. समय० २७८-२७९।

अपरिग्रह या श्रम-निष्ठा

□ श्री जमनालाल जैन

तीर्थंकर महावीर ने 'अपरिग्रह' को धर्म कहा है और वे स्वयं भी असंग थे—इतने कि स्थूल दृष्टि से भी उनका तन शून्य बन गया था। तन को ढोने की विवशता थी, अन्यथा भावक्षेत्र मे तो तन भी भार ही था, पराया था। अपरिग्रही की समाज में एक प्रतिष्ठा भी है। 'परिग्रह' 'अपरिग्रह' के चरणो मे शरण पाने को तरस उठता है। अपरिग्रह की ऐसी प्रतिष्ठा को निहारकर कभी-कभी ईर्ष्या भी होने लगती है। अनेक बार यह प्रतिष्ठा ही सीमा लाघकर परिग्रह बन जाती है।

भगवान् महावीर अपरिग्रह को अन्तिम छोर तक खीच ले गये। निर्वस्त्र होकर उन्होने लज्जा की गांठ भी तोड दी—निर्ग्रन्थ बन गये। तन पर तो गांठ रखी ही नही, मन और वाणी मे भी कोई गांठ नही थी। भीतर और बाहर, दोनो ओर से वे कोरे या खालिस हो रहे। ऐसी साधना नितान्त कठिन है और जिसके जीवन में यह सहज बन जाती है उसे नमन ही किया जा सकता है। वे कही भी टिक जाते और प्राणी मात्र का कल्याण चाहते थे। कड़वे-मीठे बोल भी उनके अन्तस् को वेध नही पाते थे। जो परिस्थिति उनके सामने आती, उसकी गहराई मे पैठते और कुछ ऐसा समाधान खोज निकालते कि समस्या में उलझा व्यक्ति त्राण की राह पा जाता। उसमें उनका आग्रह रंच मात्र न होता।

आगम-ग्रन्थों या पुराण-ग्रन्थों से पता नही चलता कि भगवान् महावीर ने शरीर-श्रम के नाम पर कोई काम किया था। शरीर-श्रम की जो परिभाषा आज प्रचलित है, उस अर्थ में तो नहीं ही किया था। वे राजपुत्र थे और उनके सामने मूलभूत समस्या शरीर-श्रम की नहीं थी। वे आध्यात्मिक दृष्टि से समाज मे समता स्थापित करना चाहते थे। अध्यात्म-दृष्टि के परिपुष्ट हुए बिना सामाजिक विषमता का उन्मूलन करना उन्हे असम्भव लगा होगा। उनका पराक्रम अद्भुत था। उनके जैसा निर्ग्रन्थ पुरुष सुस्त, काहिल या निराशा से ग्रस्त नहीं हो सकता। जिस बात का बीड़ा उन्होंने उठाया, उसके लिए ऐसे ही पराक्रम की आवश्यकता थी कि व्यक्ति का खाना-पीना, सोना-जागना, पहनना-ओढ़ना वही बन जाय।

अपरिग्रह की बात करते समय ध्यान बरबस पैसे पर अटकता है। पैसे मे ऐसी क्या बात है कि उसको छोड़कर आज कोई विचार ही नही टिकता। पैसा केन्द्र मे हो तो बाकी सब ठीक है, अन्यथा सब बेकार। जन्म से लेकर मृत्यु के बाद की क्रिया तक पैसा प्रधान हो बैठा है। अर्थ को व्यर्थ सिद्ध करने की शक्ति किसमे है, नही कहा जा सकता। महावीर स्वयं असंग थे, निर्ग्रन्थ थे, निर्वस्त्र थे और समाज म आध्यात्मिक समता का मूल्य प्रतिष्ठित करने के लिए कटिबद्ध थे, फिर भी क्या वे समाज मे से परिग्रह को मिटा सके? उनकी देशना के रूप मे उपलब्ध ग्रन्थों में सैकड़ो कहानियां एवं आख्यान ऐसे मिल सकते है, जिनमे धन की प्रचुरता का दर्शन होता है। धन के त्याग का वर्णन तो है, पर उसी से यह भी ध्वनित होता है कि धन का महत्त्व भी कम नही है। धन-सम्पत्ति के त्याग का अहसास अगर बना रहता है या पाठक के मन पर कथा यह छाप पड़ती है कि अमुक ने वैभव का त्याग किया है, तो यह चीज वैभव की प्रचुरता का आकर्षण ही निर्माण करती है।

हमारे ऋषि मुनि कह सकते है कि पैसा शैतान है, वह आदमी को गिराता है और उससे विवेक नष्ट हो जाता है। यह बात पैसे का महत्त्व मानकर ही कही जा सकती है। क्या सचमुच पैसे मे इतनी ताकत है कि मनुष्य पर उसका काबू रहे? पैसे की कीमत है और वह भी राज्य अथवा हमारे द्वारा आंकी गई है। अब यह व्यक्ति पर निर्भर है कि वह पैसे को सिर पर चढ़ाता है या पैर

के तले दबाता है या कि जेब में रखता है। नदी और कुएँ में आदमी डूब कर मर जाता है। क्या यह पानी की शैतानियत है ? पानी न शैतान है, न भगवान्। पानी किसी को मार नहीं डालता, मार नही सकता। आदमी अपनी ही कमजोरी, असमर्थता या अज्ञान से डूबता-मरता है। समझ बूझकर पानी से काम लिया जाय तो सब ठीक है। वह 'जीवन' ही है। पानी न हो तो प्राण तक जा सकते है। यही बात पैसे की है। पैसा सिर्फ पैसा है। उसे हम सिर्फ पैसा ही समझे और समझ-बूझकर उसका उपयोग करें, तो वह बड़े काम का भी है।

हमारी मुश्किल यह है कि पैसे को या तो हम शैतान समझते है या फिर भगवान् समझते है। दोनो स्थितियो मे पैसे का महत्त्व आत्यन्तिक बढ़ जाता है। आदमी अनशन से भी मर सकता है और अधिक खाने से भी मरता है। बाह्य पदार्थ मे आत्मा से अधिक शक्ति कदापि नही हो सकती, किन्तु शारीरिकता के स्तर से या कि मानसिक स्तर से अधिक मनुष्य की गति नहीं है, इसीलिए मनुष्य अपने बचाव मे बाह्य या स्थूल पदार्थों पर सारा दोष मढ़ देता है।

समाज लक्ष्मी की पूजा करता है। 'लक्ष्मी' शब्द के अर्थ की खीच-तान करना व्यर्थ है। असल मे वह धन की पूजा है। लक्ष्मी को 'मुक्ति' कहना वैसा ही है जैसे साहित्य की सरसता के लिए मुक्ति को 'रमा' कहना। एक ओर तो हम मोक्ष को रमा-विहीन ही मानते है और दूसरी ओर स्वय मुक्ति भी हमारे निकट 'रमा' की उपमा मे प्रस्तुत हो जाती है। लक्ष्मी का सीधा-सादा और व्यावहारिक अर्थ 'अर्थ' ही है और समाज ऐसा करके गलती कहाँ करता है ? अर्थ-प्राप्ति के लिए जो परिश्रम, प्रयास, पराक्रम करना पड़ता है, उसका कोई हिसाब है ? समाज को परिग्रह के लिए दोष देना अपने को धोखे मे डालना है। पूरा का पूरा समाज कभी भी अपरिग्रही नही बन सकेगा, बल्कि जो लोग परिग्रह की सीमा-मर्यादा बांध लेते है, वह भी दोषपूर्ण हो तो आश्चर्य नही।

क्या यह बात छिपी है कि हजारों साधु-सन्यासियो और मुनियो के अध्यात्म का सिचन भी भौतिक पैसे से ही होता रहता है ? धन को पाप का घर कहने और समझने वाले लोगो का पुण्य और परलोक उसी पाप पर सुरक्षित होता है। यह कैसी विडम्बना है कि तन को तोड़कर, रात-दिन मेहनत करके जो लोग साधु-सन्यासियों का भरण-पोषण करते है, अपना परलोक सुधारते है, वे तो हुए पापी और बैठे बैठे बिना श्रम के पेट भरने वाले हुए धर्मात्मा ! क्या भगवान् महावीर ऐसा धोखे मे डालने वाला, आत्म-वंचक, दीन बनाने वाला 'अपरिग्रह' प्रतिष्ठित करना चाहते थे ? यह ठीक है कि महावीर ने प्रत्यक्ष रूप से श्रम की प्रतिष्ठा का उद्घोष नही किया, न उत्पादक श्रम पर जोर दिया। सिद्धान्तवादी लोग यह भी कह सकते है कि कर्म करना मात्र पापपूर्ण है, सावद्य आचार है, आरभ मे या कि क्रियामात्र मे हिंसा है और निर्ग्रन्थ महावीर सावद्य क्रिया का समर्थन नही कर सकते थे। फिर भी महावीर जैसा महापुरुष श्रम की महत्ता से आख नही मद सकता था। श्रमण शब्द मे ही श्रम और संयम की प्रतिष्ठा है।

अभाव मे से अपरिग्रह नही निपजता। जिसमे सग्रह की शक्ति न हो, वह त्याग नही कर सकता। जितना पराक्रम सग्रह के लिए आवश्यक है, उससे कम जोर त्याग मे नहीं लगता। जिसके पास है ही नही या जो प्राप्त नही कर सकता, वह तो अपनी आकाक्षाओ मे ही अटक जाता है। इसलिए निर्धनता अपरिग्रह नही है। जो है और काबू में है, उसी को व्यर्थ बना छोड़ना अपरिग्रह हो सकता है। जो अपरिग्रह की ओर बढता है, वह श्रम से बचाव नही चाहेगा, बल्कि दुगुना तिगुना भी श्रम करेगा। अपरिग्रह अगीकार करने वाले की सामाजिक चेतना तीव्र हो उठती है और उसमें एक ऐसी व्यापक व्यथा होती है कि वह सबके प्रति सहज उपलब्ध रहता है।

महावीर ने अपने को समाज में व्याप्त कर दिया था। उनका व्यक्तित्व समाज को अर्पित हो गया था। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के समर्थक कह सकते है कि महावीर ने समाज की परवाह न करके, परम्पराओ की परवाह न करते हुए व्यक्ति के स्वतन्त्र विकास का मार्ग खोला था—यहाँ तक कि विभुसत्ता से भी इनकार किया था। व्यक्ति का कर्म ही सब कुछ है। हमें यहाँ दार्शनिक या सैद्धातिक झमेले में नही पड़ना है। इतना अवश्य कहा जा सकता

कि महावीर जैसा तपस्वी और मनस्वी व्यक्तित्व परा-कोटि का विनम्र और श्रमी ही हो सकता है। ऐसा व्यक्ति समाज पर हावी नही हो सकता। साधना उनकी नितान्त वैयक्तिक रही, किन्तु थी वह समाज-कल्याण के लिए। सामूहिक और सामूहिक साधना की भूमिका तैयार किये बिना अकेले व्यक्ति की स्वतन्त्रता या साधना का क्या मूल्य ? पाँचो व्रतो का परिणाम समाज में, समाज के लिए और समाज की ओर से ही व्यक्ति के जीवन म प्रतिबिंबित हो सकता है। तभी इन व्रतो में गुणात्मक तेजस्विता आ सकती है।

संग्रह और त्याग दो चीजें नही है। यदि व्यक्ति अपने को समाज का अग मानता है, तो उसका संग्रह समाज का है और उसका त्याग भी ऐसा बीज-वपन है जिससे हजार-हजार गुना फसल निकल सकती है। प्रेम और करुणा की भूमिका मे से ही सामाजिकता विकसित होती है। अब तक हमारे यहाँ सग्रह भी व्यक्तिगत रहा और त्याग भी व्यक्तिगत रहा—अध्यात्म भी व्यक्तिगत और भौतिक उपलब्धि भी व्यक्तिगत। एक आदमी घर-बार, जमीन-जायदाद त्यागकर साधु बन जाता है और उस सारी सम्पत्ति का उपभोग पीछे के उत्तराधिकारी करते है। साधु अपने वैराग्य मे या त्याग के आनन्द मे किसी को भागीदार नही बनाता और संग्रह का उपयोग करने वाले भी अपनी चीजों को अपने तक सीमित मान कर चलते हैं। यह एक ही भूमिका है और कहना चाहिए कि सामती ढंग से ही दोनो स्थितियों का विकास हुआ है, किन्तु आज विश्व की परिस्थितियां भिन्न है।

परिग्रह को पाप या अधर्म कह देने से अब काम नही चलने वाला है। इस तिजोरी का पैसा उस तिजोरी में रख देने से अपरिग्रह नहीं उदित होता है। यह आरम्भ-विहीनता या अहिंसा नही है कि अन्य लोग दुगुने सक्रिय रहकर महाव्रती नामी किसी विशिष्ट व्यक्ति की निष्क्रियता का संवर्धन करते रहें। मन पर से और तन पर से सामन्ती अध्यात्म की चादर उतारे बिना अनासक्ति-पूर्वक त्यक्त परिग्रह को अपरिग्रह मे रूपान्तरित नही किया जा सकता। आज स्थिति यह है कि संग्रही सग्रह से प्रतिष्ठा पाता है और त्यागीजन उस संग्रह पर सुख की नीद सोकर मोक्ष के सपने देखते है।

परिग्रह की प्रतिष्ठा तोड़ने के लिए समाज मे और व्यक्ति मे श्रम के प्रति निष्ठा उद्भूत होनी चाहिए। सग्रह के प्रति लगाव उसी में होता है, जो श्रम से भागता है। सच्चा श्रमिक वह है जो अपने हाथ-पैरों पर सबसे अधिक भरोसा करता है और कल के लिए संग्रह करने की वृत्ति स दूर रहता है। 'कल' क्या होगा, इस चिन्ता मे परिग्रह के बीज है और श्रम के प्रति तिरस्कार है। बारीकी से देखा जाय तो हर व्यक्ति इस निष्कर्ष पर पहुंच सकता है कि अब तक हमारे धर्म-सिद्धान्तो का रुख भी संग्रह को प्रतिष्ठा देने का रहा है। श्रमिक अर्थात् आर्थिक दृष्टि से विपन्न व्यक्ति को निर्धन माना गया, और इस स्थिति के लिए उसके पूर्व कर्मो को जिम्मेवार माना गया। किसी भी धर्माचार्य या महापुरुष ने यह नही कहा कि गरीबी सग्रह और शोषण का परिणाम है। इस ढग पर कार्ल मार्क्स ही पहला व्यक्ति हुआ जिसने वैज्ञानिक ढग से प्रतिपादित किया कि मनुष्य की अभाव-ग्रस्तता या गरीबी उसके भाग्य का फल नहीं है।

यदि कर्मशीलता हिंसा है, आरम्भ मात्र हिंसा है, यानी श्रम करना ही हिंसा है तो फिर अहिंसा को निष्क्रिय होना ही था। अहिंसा की कर्म-शून्यतापरक व्याख्यान ने अहिंसा को निस्तेज बना दिया है। वह मात्र अभिनय की चीज रह गई है। मजाक का विषय रह गई है।

यह अलग बात है कि आज के श्रमिक मे भी श्रम के प्रति निष्ठा नही है और वह केवल रोजी-रोटी के लिए श्रम करता है। पत्थर तोड़ने वाला श्रमिक या तो पत्थर ही तोड़ता है या बाल-बच्चो के लिए रोटी कमाता है। इससे आगे बढ़कर वह पत्थर तोड़ने को भगवान् का मन्दिर बनाना नही मानता। जिस दिन श्रमिको में, शिल्पकार मे यह, दृष्टि आ जायेगी कि उसका श्रम ही सौन्दर्य का सागर है, उसका श्रम ही समाजरूपी भगवान् का मन्दिर है, तो उसका रोजी-रोटी का लगाव टूट जायेगा, पत्थर पत्थर न रहकर भगवान् का बिंब बन जायेगा। लेकिन ऐसी स्थिति पैदा न करने का दायित्व

उन पर ही है, जिन्होंने अब तक श्रम को खरीदने में प्रतिष्ठा और धर्म माना है।

महावीर के नाम पर प्रतिष्ठित धर्मग्रंथों में अथवा जिन-शासन मे अपरिग्रह का जो वर्णन मिलता है, वह तत्कालीन समाज-व्यवस्था की परिणति है। उसी को लेकर यदि हम चादर बुनते रहेंगे, तो आने वाला युग इस लोक पर चलने वाले अपरिग्रही विरागियों को क्षमा नहीं करेगा।

परिग्रह यानी पदार्थ की विपुलता। यह सृष्टि मे रहने ही वाला है। सवाल यह है कि हम अपनी कुशलता और प्रवीणता का कितना लाभ समाज को दे पाते हैं? प्रत्येक प्राणी का विकास दूसरी हजारों परिस्थितियों के कारण होता है। उन हजारों परिस्थितियों के अनन्त उपकार एक-एक व्यक्ति पर होते है। व्यक्ति कहीं भी रहे—चाहे लोकांत मे ही स्थित हो जाये—तब भी सृष्टि के प्रति उसका उत्तरदायित्व कम नही होता। वहाँ तक पहुंचाने में भी समाज ही सहायक होता है।

अतः आज आवश्यकता इस बात की है कि हमारे परिग्रह या अपरिग्रह की मान्यताओं पर नये सिरे से वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य मे पुर्नविचार हो। □□□

(पृष्ठ १०१ का शेषांश)

कवि धनजय हुए थे और स्वयभु (कवि) ने भुवन को रजायमान किया था।" इस उल्लेख से प्रतीत होता है कि नयनदि ने स्वय इस साहित्यिक तीर्थ की यात्रा की थी और उसकी स्तुति मे उपरोक्त वाक्य लिखे थे। हमारी इस धारणा की पुष्टि भी इस कथन से हो जाती है कि महाकवि स्वयभु, जो वीरसेन के समकालीन तो थे ही और उन्ही की भाति राष्ट्रकूट सम्राट् ध्रुव धारावर्ष से सम्मान प्राप्त थे, स्वयं वीरसेन के गृहस्थ शिष्य एवं साहित्यिक कार्य के सहयोगी रहे थे। यह धनञ्जय भी, संभव है जिनका अपरनाम पुंडरीक हो, भोजकालीन धनञ्जय (श्रुतकीर्ति) के पूर्ववर्ती है और वीरसेन के ज्येष्ठ समकालीन रहे हो सकते है, क्योकि उनकी नाममाला के उद्धरण वीरसेन ने दिये है। अन्य भी अनेक न जाने कितने विद्वानों का, जिनका नाम ऊपर लिया जा चुका है अथवा नही भी लिया गया, वाटनगर के इस संस्थान से प्रत्यक्ष या परोक्ष संबंध रहा, कहा नही जा सकता। वह अपनी उपलब्धियों एवं सक्षमताओं के कारण विद्वानो का आकर्षण केन्द्र भी रहा होगा और प्रेरणा स्रोत भी। राष्ट्रकूट युग के इस सर्वमहान ज्ञानकेन्द्र एवं विद्यापीठ की स्मृति भी आज लुप्त हो गई है, किन्तु इसमें सन्देह नही है कि अपने समय में यह अपने समकालीन नालन्दा और विक्रमशील के सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्यापाठों को समर्थ चुनौती देता होगा। भारत के प्राचीन विश्वविद्यालयों मे तक्षशिला, विक्रमशील और नालन्दा की ही भाँति यह वाटग्राम विश्वविद्यालय भी परिगणनीय है। □□□

ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ

जैन मत नास्तिक नहीं है। नास्तिक वह होता है जो पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक तथा कर्मफल को नहीं मानता। ईश्वर सृष्टिकर्ता है ऐसा जैन नहीं मानते। उनके विचार से यह सृष्टि अनन्त है, अनादि है। यह किसी की बनाई हुई नहीं है। अतः इसे कोई बिगाड़ नहीं सकता है। जैन परम्परागत को अनादिकाल से अनवरत और गतिशील मानती है। जगत का अपकर्ष-उत्कर्षमय कालचक्र सतत क्रम से चलता आ रहा है। इसका न आदि है, न अन्त है।

पंचोपचारी पूजा

□ पं० मिलापचन्द रतनलाल कटारिया, केकड़ी

विक्रम सं० ११० में होने वाले श्री मल्लिषेण सूरि ने "भैरवपद्मावती कल्प" के तीसरे परिच्छेद में ऐसा कथन किया है—

आह्वानं स्थापनं देव्याः, सन्निधीकरण तथा ।
पूजां विसर्जन प्राहुर्बुधाः, पंचोपचारकम् ॥२५॥
ओम् ह्री नमोऽस्तु भगवति ! पद्मावति ! एहि एहि संवौषट् ।
कुर्यादमुना मंत्रेणाह्वानमनुस्मरन् देवीम् ॥२६॥
तिष्ठद्वितय ठातद्वय च संयोजयेत् स्थितीकरणे ।
सन्निहिता भव शब्द मम वषडिति सन्निधीकरणे ॥२७॥
गन्धादीन् ग्रण्ह ग्रण्हेति नमः पूजाविधानके ।
स्वस्थानं गच्छ गच्छेति जस्त्रिः स्यात् तद्विसर्जने ॥२७॥

"ओम् ह्री नमोऽस्तु भगवति ! पद्मावति ! एहि एहि संवौषट्" इति आह्वानम् ।

"ओम् ह्रीं नमोऽस्तु भगवति ! पद्मावति ! तिष्ठ तिष्ठ ठःठः" इति स्थापनम् ।

"ओम् ह्री नमोऽस्तु भगवति ! पद्मावति ! मम सन्निहिता भव भव वषट्" इति सन्निधीकरणम् ।

"ओम् ह्रीं नमोऽस्तु भगवति ! पद्मावति ! गंधादीन् गृह्ण गृह्ण नमः" इति पूजाविधानम् ।

"ओम् ह्रीं नमोऽस्तु भगवति ! पद्मावति ! स्वस्थानं गच्छ गच्छ जःजःजः" इति विसर्जनम् ।

एवं पंचोपचारक्रमः ।

देवी का आह्वान, सन्निधिकरण, पूजन और विसर्जन जो किये जाते है उन्हें पंचोपचार कहते है। इसी का दूसरा नाम पचोपचारी पूजा है। इनका मंत्र पूर्वक जो विधिक्रम है वह ऊपर लिख दिया है।

ऐसा प्रतिभासित होता है कि पहिले पंचोपचारी पूजा मंत्र सिद्ध करने के लिए देवताराधन में की जाती थी। अर्हंतादि की पूजा में पंचोपचार का उपयोग नहीं किया जाता था। हम देखते हैं कि सोमदेव ने यशस्तिलक मे और पद्मनन्दि ने पद्मनन्दिपंचविंशति में अर्हंतादि की पूजा मे सिर्फ अष्टद्रव्यो से पूजा तो लिखी है किन्तु आह्वान स्थापना, सन्निधिकरण, विसर्जन नही लिखा है। यह चीज हमको प्रथम आशाधर के प्रतिष्ठापाठ और अभिषेक पाठ मे मिलती है। आशाधर ने इतना विचार जरूर रक्खा है कि अर्हंतादि की पूजा मे आह्वान, स्थापन, सन्निधिकरण तो लिखा है किन्तु विसर्जन नही लिखा है। हां शासन देवों की पूजा मे उन्होंने विसर्जन लिख दिया है। जैसा कि नित्यम होद्योत के इस पद्य से प्रकट है—

प्रागाहूता देवता यज्ञभागैः प्रीता भर्तुः पादयोरर्घदानैः ।
क्रीतां शेषां मस्तकैरुद्वहन्त्यः प्रत्यागतु यान्त्वशेषा यथा-स्वम् ॥१६५॥

इसमे विसर्जित देवो के लिए "अर्हत की शेषाको पर धारण करते हुए" जाने का उल्लेख किया है, जिससे यहा शासनदेवों का ही विसर्जन ज्ञात होता है, न कि पचपरमेष्ठी का। एक बात आशाधर के पूजा-ग्रन्थो मे यह भी देखने मे आती है कि वे शासन देवों की पूजा मे तो अर्चना द्रव्यों के अर्पण मे "जलाद्यर्चनं गृहाण गृहाण" या 'इदमर्घ्यं पाद्यं जलाद्यं यजभागं च यजामहे प्रतिगृह्यतां प्रतिगृह्यताम्।"इस प्रकार के वाक्य का प्रयोग करते है। ऐसे प्रयोग उन्होंने अर्हंतादि की पूजाओ मे नहीं किये हैं। वहाँ तो वे यों लिखते है—

"ओम् ह्री अर्हं श्री परमब्रह्मणे इदं जलगन्धादि निर्वपामीति स्वाहा।"

फिर भी इतना तो कहना ही पड़ता है कि अर्हंतादि की पूजा विधि मे आह्वान, स्थापन, सन्निधिकरण की परिपाटी चलाने में शायद ये ही मुखिया हों। अपने बनाये प्रतिष्ठा ग्रन्थ की प्रशस्ति में खुद पं० आशाधर लिखते हैं

कि "मैंने इसे युगानुरूप रचा है।" युगानुरूप का अर्थ पूजा-विधि में इस तरह की नयी रीतियां चलाना ही जान पड़ता है।

आशाधर के बाद इन्द्रनंदि हुए, जिन्होंने इस विषय में और भी आगे बढ़कर अर्हंतादिकों की पूजा विधि मे वे ही पंचोपचार ग्रहण कर लिए जो मल्लिषेण ने मंत्राराधन में लिखे है। इन्होने शासनदेवो की ही तरह अर्हंतादिकों का विसर्जन भी लिख दिया है। यही नही अर्हंतादि का पूजा में द्रव्य अर्पण करते हुए "इदं पुष्पांजलि प्रार्चनं गृह्णीध्वं गृहीध्व" तक लिख दिया है। (देखो अभिषेक पाठ संग्रह, पृष्ठ ३४४)। इन्ही को आधार मानकर एकसधि ने भी अर्हंतादिको की पूजा पचोपचार से करना बताते हुए लिखा है कि– "मैंने यह वर्णन इद्रनन्दि के अनुसार किया है" यथा—

एवं पंचोपचारोपपन्न देवार्चनाक्रमम् ।
यः सदा विदधात्येव स: स्यान्मुक्तिश्रियः पतिः ।।
इतीन्द्रनंदिमुनीन्द्रजिनदेवार्चनाक्रम ।।

–परिच्छेद ६वा "एकसंधिजिनसंहिता"

ये ही श्लोक कुछ पाठ भेद के साथ 'पूजासार' ग्रन्थ मे पाये जाते है। यथा —

"यः सदा विदधात्येना सः स्यानमुक्तिश्रियः पति. ।
इतीद्रनंदियोगीन्द्रै प्रणीतं देवपूजनम् ।।"

एकसन्धि का पंचोपचारी पूजा के लिए इन्द्रनंदि का प्रमाण पेश करना साफ बतलाता है कि उनके समय में इस विधि का प्रतिपादक सिवाय इन्द्रनन्दि के और कोई पूजा ग्रन्थ मौजूद नही था। यहाँ तक कि इन्द्रनंदि के साथ उन्होंने आदि शब्द भी नही लगाया है, यह खास तौर से ध्यान देने योग्य है।

यशोनदिकृत संस्कृत पचपरमेष्ठी पूजा मे भी आशाधर की तरह ही चार उपचार मिलते है, विसर्जन उसमे नहीं है। किन्तु यशोनन्दि का समय अज्ञात है कि वे आशाधर के पूर्ववर्ती है या उत्तरवर्ती ?

नित्यनियम पूजा मे पांचों ही उपचार पाये जाते हैं किन्तु नित्यनियम पूजा किसी एक की कृति नहीं है। वह संग्रह ग्रन्थ है और उसमें कितने ही पाठ अर्वाचीन है। उदाहरण तौर पर "जयरिसह रिसीवर णमियपाय" यह देवकी जयमाला का पाठ कवि पुष्पदन्त कृत अपभ्रंश यशोधरचरित्र का है। उसमे शुरू मे ही यह मंगलाचरण के तौर पर लिखा हुआ है—

"वृषभोजित नामा च संभवाश्चाभिनन्दनः।"

पाठ अय्यपार्य कृत अभिषेक पाठ का है जो अभिषेक पाठ संग्रह के पृष्ठ ३१६ पर छपा है। ये अय्यपार्य विक्रम सं० १३७६ मे हुए है।

ज्ञानतोऽज्ञानतो वापि शास्त्रोक्तं न कृतं मया ।।"

विसर्जन का यह पहिला पद्य आशाधर प्रतिष्ठापाठ से लिया है जो उसके पत्र १२३ पर पाया जाता है।

'आह्वान नैव जानामि' और 'मन्त्रहीनं क्रियाहीनं' आदि विसर्जन के दो पद्य सूरत से प्रकाशित भैरव पद्मावती कल्प के साथ मुद्रित हुए पद्मावती स्तोत्र में कुछ पाठभेद के साथ पाये जाते है, वहीं से इसमें लिए गये है। वे पद्य इस प्रकार है—

आह्वाननं न जानामि न जानामि विसर्जनम् ।
पूजामर्चां न जानामि क्षमस्व परमेश्वरि ।।
आज्ञाहीन क्रियाहीन मन्त्रहीन च यत्कृतम् ।
तत्सर्वं क्षम्यता देवि प्रसीद परमेश्वरि ।।

अलावा इसके पचोपचार मे प्रयुक्त हुए "संवौषट्" "वषट्" आदि शब्दों पर अब हम विचार करते है तो स्पष्टतया यह प्रकरण मन्त्र विषयक है। यही श्लोक वैष्णवधर्म के विसर्जन पाठ मे शब्दशः है। वीतराग भगवान् की पूजा जिस ध्येय को लेकर की जाती है उसमें इनका क्या काम ?

वर्तमान मे, पूजाविधि का जो रूप प्रचलित है वह कितना प्राचीन है ? आशा है खोजी विद्वान् इसका अन्वेषण करेंगे, इसी अभिप्राय से यह लेख लिखा गया है।

□□□

भारतीय मूर्ति शिल्प की अद्भुत कृति

कुण्डलपुर के बड़े बाबा : भगवान आदिनाथ

□ डा० भागचन्द 'भागेन्दु', दमोह

कुंडलपुर मध्यप्रदेश के दमोह जिले में अवस्थित है। यह मध्य रेलवे के बीना-कटनी मार्ग के दमोह स्टेशन से ईशान कोण मे ३५ किलोमीटर दमोह-पटेरा-कुंडलपुर मार्ग पर स्थित है। कुण्डलपुर समुद्री सतह से तीन हजार फीट ऊंची पर्वत श्रेणियों मे घिरा हुआ है। यहां की पर्वत-श्रेणियां कुण्डलाकार है, कदाचित् इसलिए यह स्थान "कुण्डलपुर" कहलाया।

प्रकृति सुषमा-सम्पन्न, उत्तर भारत की महनीय तीर्थस्थली कुण्डलपुर का महत्व धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि से तो है ही, कला और पुरातत्व की दृष्टि से भी उल्लेखनीय है। भारतीय संस्कृति और विशेष रूप से जैन संस्कृति, कला तथा पुरातत्व के विकास मे कुण्डलपुर का योगदान अत्यन्त भव्य और प्रशस्य है। यहाँ ईसा की छठी शताब्दी से लेकर परवर्ती सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी तक का मूर्तिशिल्प पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध होता है। यहां कुल ६० जैन मन्दिर है—४० पर्वत के ऊपर और २० अधित्यका मे। अधित्यका के मन्दिरों और पर्वतमाला के बीचों-बीच निर्मल जल से भरा "वर्धमान सागर" नामक विशाल सरोवर है।

यद्यपि कुण्डलपुर मे मूर्ति और वस्तुशिल्प के अनेक बेजोड़ नमूने उपलब्ध है, तथापि इन पंक्तियों मे हम कुंडलपुर की उस भव्य और सौम्य मूर्ति से आपका परिचय करा रहे है, जो छठवीं शताब्दी की निर्मिति तो है ही, सौन्दर्य की सृष्टि तथा विशालता की दृष्टि से भारतीय पद्मासन मूर्तिकला के इतिहास मे अनुपम भी है। यह मूर्ति "बड़े बाबा" के नाम से सम्बोधित होती है। कुछ व्यक्तियों की भ्रामक धारणा है कि यह मूर्ति श्री महावीर स्वामी की है। इसीलिए वस्तु-स्थिति पर नये सिरे से पूर्ण विचार कर इस निबन्ध में तथ्य प्रस्तुत किये जा रहे है।

बड़े बाबा :

कुण्डलपुर के मन्दिर संख्या ११ में अवस्थित १२ फुट ६ इंच ऊंची तथा ११ फुट ३ इंच चौड़ी विशाल पद्मासन मूर्ति इस क्षेत्र की सर्वाधिक प्रसिद्ध और दर्शकों के मन को सहज ही मोह लेने वाली निर्मिति है। इस मूर्ति का निर्माण देशी भूरे रंग के पाषाण से हुआ है। इस मूर्ति के मुख पर सौम्यता, भव्यता और दिव्य स्मिति है। यदि हम इस मूर्ति को ध्यानपूर्वक कुछ समय तक देखते रहें तो इसके मुख पर अद्भुत लावण्य, अलौकिक तेजस्विता और दिव्य आकर्षण के दर्शन प्राप्त करेंगे। मूर्ति के वक्षस्थल पर श्रीवत्स का चिन्ह सुशोभित है। कन्धों पर जटाओं की दो-दो लटें दोनों ओर लटक रही है। मूर्ति के सिंहासन के नीचे दो सिंह उत्कीर्ण है। ये सिंह आसन से सम्बन्धित है, तीर्थंकर लांछन नहीं है। मूर्ति के पादपीठ के नीचे गोमुख यक्ष और चक्रेश्वरी यक्षी अंकित है।

इस मूर्ति को आम जनता से 'भगवान महावीर' की मूर्ति के रूप मान्यता प्राप्त है। यह धारणा शताब्दियों से चली आ रही है, किन्तु नवीन शोध-खोज के आधार पर वास्तव मे यह मूर्ति जैन धर्म के प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभनाथ की प्रमाणित होती है।

मैंने अपने विगत कुण्डलपुर प्रवास मे शोध खोज की दृष्टि से 'बड़े बाबा' की इस सातिशय मनोज्ञ मूर्ति के सूक्ष्म रीति से पुनः पुन. दर्शन किये और उन सभी आधारों पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जिनके कारण बड़े बाबा की यह मूर्ति महावीर स्वामी के रूप मे विख्यात हुई, तथा वस्तुस्थिति, प्रतिमाविज्ञान, पुरातात्त्विक साक्ष्य आदि के आधार पर मुझे उन्हें 'ऋषभनाथ' की मूर्ति स्वीकार करने मे जो औचित्य प्रतीत हुआ है, उस सम्पूर्ण चिन्तन के निष्कर्ष अग्रलिखित पंक्तियों मे प्रस्तुत है :—

बड़े बाबा के गर्भगृह के प्रवेश द्वार के बायी ओर (अब द्वार चौड़ा किये जाने पर इसे दायी ओर की दीवार मे जड़ दिया गया है) एक अभिलेख जड़ा हुआ है ! यह अभिलेख ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। एक फुट ग्यारह इंच चौड़ा और एक फुट सात इंच ऊंचा है। इसी अभिलेख मे प्रतापी शासक, बुंदेलखण्ड के गौरव, महाराज छत्रसाल द्वारा कुण्डलपुर को दिये गये बहुमूल्य सहयोग और दान का वर्णन प्राप्त होता है।

विक्रम सम्वत् १७५७ के इस अभिलेख मे बड़े बाबा के मन्दिर के जीर्णोद्धार के प्रसंग मे पद्य संख्या दो मे "श्री वर्द्धमानस्य" तथा पद संख्या दस मे "श्री सन्मतेः" शब्द आये है। इस अभिलेख की तिथि और वर्ण्यविषय सुस्पष्ट है। इससे केवल यह तथ्य प्रकाशित होता है कि सत्रहवी-अठारहवी शती मे यह मन्दिर 'श्री महावीर मन्दिर" के नाम से जाना जाता था। संभवत. बड़े 'बाबा' की यह मूर्ति भी इन्ही दिनों श्री महावीर की मूर्ति कहलाती होगी। कदाचित् तत्कालीन भक्तों को सिंहासन मे अंकित दो सिंह देखकर बड़े बाबा को "महावीर" मानने में सहायता मिली होगी।

मन्दिर संख्या ११ की विशाल-मूर्तियों को ध्यान से देखने पर प्रतीत होता है कि बड़े बाबा की विशाल मूर्ति का सिंहासन दो पाषाण खंडों को जोडकर बनाया गया है। बडे बाबा की मूर्ति के दोनों ओर उन्ही के बराबर ऊंची भगवान पार्श्वनाथ की दो कायोत्सर्ग मूर्तिया भी है। इनके सिंहासन निजी नही, बल्कि अन्य विशाल कायोत्सर्ग मूर्तियों के अवशेष प्रतीत होते है। इन मूर्तियो के सिंहासन कदाचित् कभी बदले गये हो। यदि ऐसी कोई सम्भावना हो भी, तो वह बात आततायियों के आक्रमण के बाद की ही हो सकती है।

इस सबके साथ यह बात सहज ही स्वीकरणीय है कि जीर्णोद्धार के पश्चात् (गत दो-तीन शताब्दियों मे) बड़े बाबा के गर्भगृह में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये है; जैन गर्भगृह के भीतर चारो ओर दीवारो पर मूर्तियां जिस ढंग से जड़ी हुई है, उनमे कोई निश्चित योजना अथवा व्यवस्था नहीं मालूम होती है। हमारा ऐसा विश्वास है कि ये मूर्तियां अन्यत्र से लाकर लगा दी हैं।

निश्चित ही यह प्रसग आश्चर्यजनक है कि साक्ष्यों की उपेक्षा करके उक्त अभिलेख (संवत् १७५७) मे इसे 'श्री वर्धमान या श्री सन्मति मन्दिर' कहा गया है। जब कि मूर्ति के पादपीठ पर तीर्थङ्कर महावीर का लाछन 'सिंह या अन्य कोई प्रतीक' यक्ष-यक्षी, (मातग और सिद्धायिका) अथवा कोई अभिलेख आदि उत्कीर्ण नही है। पादपीठ पर दोनो पार्श्वों मे जो सिंह निर्दशित हे, वे श्री महावीर के लांछन या प्रतीक नही है, अपितु वे सिंहासनस्थ के शक्ति-परिचायक सिंह है, जैसे कि प्रायः अन्य सभी मूर्तियो के पादपीठ पर ये देखे जा सकते है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह मूर्ति श्री महावीर के नाम से इसलिए सम्बोधित होने लगी होगी, क्योकि जन-सामान्य को महावीर स्वामी के संबध में उन दिनो कुछ अधिक जानकारी रही होगी। अब से कुछ शताब्दियो पहले भी ऐसी ही स्थिति रही है, क्योकि साधारण मनुष्य श्रद्धालु होता है। वह इतिहास, धर्मशास्त्र, साहित्य और प्रतिमाविज्ञान की गहराइयो मे नही पैठना चाहता। अतः उसने इस मूर्ति को सहज भाव से 'बड़े बाबा' कहते हुए भी महावीर के नाम से जाना।

अस्तु, जनसामान्य की धारणा के विपरीत अनेक ऐसे ठोस प्रमाण है जिनके आधार पर बडे बाबा को श्री महावीर स्वामी की मूर्ति मानने मे शास्त्रीय और प्रतिमाविज्ञान संबंधी अनेक बाधाये हे। यह मूर्ति वास्तव मे, प्रथम तीर्थङ्कर, युगादिदेव, भगवान ऋषभदेव की हे। इस संबध मे मेरे निष्कर्ष निम्न प्रकार है :—

बड़े बाबा की इस मूर्ति के कन्धों पर जटाओं की दो-दो लटें लटक रही है। साधारणतः तीर्थङ्कर मूर्तियो की केशराशि घुंघराली और छोटी होती है। उनके जटा और जटाजूट नही होते। किन्तु भगवान ऋषभनाथ की कुछ मूर्तियों में प्रायः इस प्रकार के जटाजूट अथवा जटायें दिखाई देती है। भगवान ऋषभदेव के दीर्घकालीन, दुद्धर तपश्चरण के कारण उनकी मूर्ति मे जटायें बनाने की परम्परा

मध्यकाल तक प्रचलित रही है। तीर्थङ्कर ऋषभनाथ की मूर्तियों का जटायुक्त रूप शास्त्रसम्मत भी है, जैसा कि आचार्य जिनसेद ने भी कहा है :—

(क) चिरतपस्यो यस्य जटा मूर्ध्नि वबुस्तराम्।
ध्यानाग्निदग्धकर्मेन्धना निर्मदधूमशिखाइव ।।
—आदिपुराण, पर्व १, पद्य ६

(ख) प्रलम्बजटा-भार-भ्राजिष्णु जिष्णुरावभौ।
रूढप्रारोहशाखाग्रो यथा न्यग्रोधपादप. ।।
—हरिवंश पुराण, ६-२०४

कुण्डलपुर के बड़े बाबा के कंधों पर जटायें भी लहरा रही है। अत: निर्विवाद रूप से यह मूर्ति भगवान ऋषभनाथ की ही है, महावीर स्वामी की नही।

(२) श्री महावीर-मूर्ति के साथ मे उनके यक्ष मातंग और यक्षी सिद्धायिका का अंकन होता है, जब कि इस मूर्ति मे ऐसा कोई अंकन नही है।

(३) बडे बाबा की मूर्ति के पादपीठ के नीचे सिंहासन मे आदिनाथ के यक्ष गोमुख और यक्षी चक्रेश्वरी का सायुध सुन्दर अंकन है। यक्ष अपने दो हाथों मे से एक मे परशु और दूसरे मे बिजौरा फल धारण किये है। उसका मुख-जैसा है जबकि चक्रेश्वरी यक्षी चतुर्भुजी है उसके ऊपर के दो हाथों मे चक्र है, नीचे का दाया हाथ वरद मुद्रा मे है तथा बाये हाथ मे शंख है।

उक्त यक्ष और यक्षी के शास्त्रीय मूल्यांकन से निर्विवाद रूप से यह तथ्य प्रमाणित है कि बड़े बाबा की मूर्ति तीर्थङ्कर ऋषभनाथ की है।

(४) लोक परम्पराओ मे भी संस्कृति के मूल रूप के दर्शन सहज ही होते है। इस बात का प्रबल प्रमाण है इस मूर्ति का "बड़े बाबा" नाम से सम्बोधित होना। तीर्थङ्करो की परम्परा मे जो 'बड़ा है, वृद्ध है, उसे ही तो" "बड़े बाबा" का सम्बोधन प्रदान किया जा सकता है, अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर स्वामी के लिए "बड़े बाबा" सम्बोधन कैसा ?

उक्त प्रमाणो के प्रकाश में यह तथ्य सहज ही स्वीकार किया जाना चाहिए कि कुण्डलपुर के "बड़े बाबा" की मूर्ति महावीर स्वामी की नही है, प्रत्युत तीर्थङ्कर ऋषभनाथ की है।

यद्यपि भारत मे यत्र-तत्र अनेक विशाल पद्मासन मूर्तियां प्राप्त होती है, परन्तु कला की शाश्वत और सार्वकालिक रमणीय प्रभाव तथा वीतरागता की जो अनुपम अनुभूति "बड़े बाबा" की इस मूर्ति से प्राप्त होती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। ऐसी दिव्य मूर्ति को शतशः नमन।

अध्यक्ष—संस्कृत विभाग
शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, दमोह, म० प्र०

□□□

श्रीकृष्ण और तीर्थंकर नेमिनाथ

श्री कृष्ण महाभारत काल में हुए थे और बाइसवें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ भी उसी समय और उसी वृष्णि या हरिवंश में हुए थे। वैदिक और श्रमण दोनों धाराएँ एक साथ, एक प्रदेश और एक ही वंश से प्रवाहित हुई थीं। एक गीता के गायक थे, तो दूसरे सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूपी तीर्थ के उन्नायक थे। एक भक्ति और ज्ञानयुक्त निष्काम कर्मयोग के प्रणेता थे और दूसरे त्याग एवं वैराग्यमय आप्तधर्म के प्रचेता थे। दोनों ने जनमानस को प्रभावित किया था और दोनो ने लोक को नई चेतना दी थी। हिंसामय यज्ञ-यागादि के अतिरिक्त भी कोई धर्म है, जो जीव का कल्याण कर सकता है, इसका पाठ पढ़ाया और एक नई धारा चलाई। दोनों धाराएँ उद्गम मे बहुत पास थीं और आगे चलकर भी दोनो ने परस्पर विचार ग्रहण किए थे। जैन परम्परा में व्रत उपवासादि का विशेष विधान है। इन्द्रियों को संयत रखने मे इनसे सहायता मिलती है, अतः उनका नाना प्रकार का विधान किया गया है जिसमें साधक अडिग रहकर अपनी साधना कर सके।

तत्त्वार्थसूत्र में न्याय-शास्त्र के बीज

□ डा० दरबारीलाल कोठिया, वाराणसी

[तत्वार्थसूत्र के कुछ स्थानों में पाठ भेद अवश्य है, किन्तु यह पाठ-भेद दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों आम्नायों के मतभेद का परिणाम है। इस पाठ-भेद या मतभेद का निर्णय इस बात के निर्णय पर निर्भर है कि तत्वार्थसूत्र का जो भाष्य प्रचलित है वह स्वोपज्ञ है या नहीं। एक ओर यह निर्णय है और दूसरी ओर वे कुछ प्रश्न हैं जो अब नये नये उठाये जा रहे हैं। ऐसे प्रश्नो में एक यह भी है कि तत्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वामी (या उमास्वाति) पहले हुए या कि आचार्य कुन्दकुन्द। अब तक यही माना जाता रहा है और ऐसा ही है भी कि आचार्य कुन्दकुन्द पहले हुए और आचार्य उमास्वामी उनके बाद। इस तथ्य की पुष्टि में प्रवर मनीषी डा० दरबारीलाल कोठिया ने प्रस्तुत लेख में उदाहरण और मूल-सन्दर्भों के साथ, ठोस तर्क दिये हैं। —सम्पादक]

तत्वार्थसूत्र जैन परम्परा का एक महत्वपूर्ण और प्रतिष्ठित ग्रन्थ है। इसमे जैन तत्वज्ञान का अत्यन्त संक्षेप और प्राञ्जल संस्कृत गद्यसूत्रो मे बड़ी विशदता के साथ प्रतिपादन किया गया है। इसके रचयिता आचार्य गृद्ध-पिच्छ है जिन्हे उमास्वामी और उमास्वाति के नामो से भी जाना जाता है।

इसमे दस अध्याय है। प्रथम अध्याय मे रत्नत्रय के रूप मे मोक्षमार्ग का उल्लेख करते हुए सम्यग्दर्शन, उसके विषयभूत जीवादि सात तत्वो, उन्हे जानने के उपायो और सम्यग्ज्ञान का निरूपण किया गया है। दूसरे, तीसरे और चौथे अध्यायों मे जीव तत्व का लक्षण, उसके विभिन्न भेदो, उससे सम्बन्धित शरीरो, जन्मो, योनियो, आवासो (रत्नप्रभा आदि नरकभूमियो, जम्बूद्वीप, लवण समुद्र आदि मध्यलोक के स्थानो और देव निकायो) तथा उनसे सम्बद्ध आवश्यक जानकारियो का प्रतिपादन निबद्ध है। पाँचवें अध्याय में अजीव तत्व और उसके पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन पाँच भेदो का, छठे और सातवे अध्यायों में आस्रव तत्त्व (पापास्रव और पुण्यास्रव का), आठवें में बन्धतत्व का, नवयें में सवर और निर्जरा तत्वों का तथा दशवें में मोक्षतत्व का विवेचन है। इस तरह जैन धर्म के प्रसिद्ध सात तत्वो का इसमें साङ्गोपाङ्ग कथन किया गया है और इस प्रकार हमें इसमें धर्म और दर्शन का पर्याप्त, या यो कहिए कि प्राय: पूरा, निरूपण उपलब्ध होता है।

अब प्रश्न है कि इस धर्म और दर्शन के ग्रन्थ में क्या उनके विवेचन या सिद्धि के लिए न्याय का भी अवलम्बन लिया गया है? इस प्रश्न का उत्तर जब हम तत्वार्थसूत्र का गहराई और सूक्ष्मता से अध्ययन करते है तो उसी से मिल जाता है।

न्याय का स्वरूप : प्रमाण और नय

न्यायदीपिकाकार अभिनव धर्मभूषण ने न्याय का स्वरूप देते हुए लिखा है[1] कि 'प्रमाण और नय' दोनो न्याय है, क्योंकि उनके द्वारा पदार्थों का ज्ञान किया जाता है। उनके अतिरिक्त, उनके ज्ञान का अन्य कोई उपाय नही है, जैसा कि उनके निम्न प्रतिपादन से स्पष्ट है—

प्रमाणनयाभ्यां हि विवेचिता जीवादय: सम्यगधिगम्यन्ते। तद्‌व्यतिरेकेण जीवाद्यधिगमे प्रकारान्तरा सम्भवात्'। न्या० दी०, पृ० ४।

'न्याय' शब्द की व्युत्पत्ति भी इस प्रकार दी गई है कि 'नि' पूर्वक '**इण गतौ**' धातु से करण अर्थ में घञ्प्रत्यय करने पर न्याय शब्द सिद्ध होता है। '**नितरांमियते ज्ञायतेऽर्थोऽनेनेति न्याय:, अर्थ परिच्छेदकोपायो न्याय: इत्यर्थ:। स च प्रमाणनयात्मक एव**'।[2] अर्थात् निश्चय से जिसके द्वारा पदार्थ जाने जाते है वह न्याय है और वह

१. प्रमाणनयात्मकन्यायस्वरूपप्रतिबोधकशास्त्राधिकार सम्पत्तये प्रकरणमिदमारभ्यते।'
-- न्याय दी., पृ. ५ वीर सेवा मन्दिर-संस्करण, सन् १९४५.

२. न्याय दी. टिप्प. पृ. ५, सस्करण पूर्वोक्त।

प्रमाण एवं नयरूप ही है, क्योंकि उनके द्वारा पदार्थों का ज्ञान किया जाता है। अतएव जैन दर्शन में प्रमाण और नय न्याय है।

तत्त्वार्थसूत्र में प्रमाण, प्रमाणाभास और नय :

न्याय के उक्त स्वरूप के अनुसार तत्वार्थसूत्र में प्रमाण और नय दोनों का प्रतिपादन उपलब्ध है। तत्वार्थसूत्रकार ने स्पष्ट कहा है कि प्रमाण और नयों के द्वारा पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होता है, यथा --

प्रमाणनयैरधिगमः ।--- त. सू. १-६ ।

इससे स्पष्ट है कि तत्वार्थसूत्र मे जहा धर्म और दर्शन का प्रतिपादन किया गया है वहाँ प्रमाण और नयरूप न्याय का भी प्रतिपादन है।

षट्खण्डागम आदि आगम ग्रन्थों मे ज्ञानमार्गणा के अन्तर्गत ज्ञानमीमासा के रूप मे आठ ज्ञानो का वर्णन किया गया है। परन्तु वहा उन ज्ञानो का प्रमाण और प्रमाणाभास के रूप मे कोई विभाजन दृष्टिगोचर नही होता। पर तत्वार्थसूत्र मे आगमवर्णित पांच सम्यग्ज्ञानों को प्रमाण[1] और तीन मिथ्याज्ञानो को प्रमाणाभास[2] (अप्रमाण-विपर्यय) बतलाकर दार्शनिक एव न्यायिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है। मति आदि पांच ज्ञानो को प्रमाण तथा विपरीत मति, विपरीत श्रुत और विपरीत अवधि (विभगज्ञान) इन तीनो ज्ञानों को विपर्यय-अप्रमाण प्रमाणाभास के रूप मे निरूपण संस्कृत भाषा के ग्रन्थों में तत्वार्थसूत्र मे ही सर्वप्रथम उपलब्ध होता है।

तत्वार्थसूत्र में न्याय के दूसरे अङ्ग नय का भी प्रतिपादन है और उसके सात भेदों का निर्देश किया गया है।[3] वे है नैगम, सग्रह व्यवहार ऋजु-सूत्र शब्द समभिरूढ और एवभूत। टीकाकारों ने इनका विस्तृत विवेचन किया है।

प्रमाण के प्रत्यक्ष-परोक्ष भेद :

प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्रमाण के दो भेदो को बतला कर उसका तत्वार्थसूत्र मे विशदता के साथ प्रतिपादन किया गया है। मति और श्रुत इन दो ज्ञानो को परोक्ष तथा अवधि मनःपर्यय और केवल इन तीन ज्ञानों को प्रत्यक्ष कहा गया है।[4] तत्वार्थसूत्रकारों ने परोक्षता और प्रत्यक्षता का भी कारण बतलाते हुए लिखा है कि चूकि आदि के दोनो (मति और श्रुति) ज्ञान इन्द्रियों और मन की सहायता से उत्पन्न होते है, अतः परापेक्ष होने से वे परोक्ष कहे गये है और अन्य तीन ज्ञान (अवधि, मनःपर्यय और केवल) इन्द्रियों और मन की सहायता से न होने तथा मात्र आत्मा की सहायता से होने के कारण प्रत्यक्ष बतलाए गये है।[5] यह प्रमाणद्वय का भेद आगमिक[6] न होकर तार्किक है जिसका अनुसरण उत्तरवर्ती अकलक[7], विद्यानन्द[8] आदि सभी जैन तार्किको ने किया है। भारतीय न्यायशास्त्र मे ६ किये गये प्रमाण के दो (वैशेषिक और बौद्ध स्वीकृत), तीन (साख्यमान्य), चार (नैयायिक सम्मत), पांच (प्रभाकर अङ्गीकृत) और

१. मतिश्रुतावधि मन.पर्ययकेवलनानि ज्ञानम्, 'तत्प्रमाणे' त. सू. १-९-१०।
२. मतिश्रुतावधयो कार्यश्च, वही १-३१।
३. नैगमसंग्रह व्यवहार ऋजुसूत्र शब्द समाभिरुढैवंभूता नयाः।' वही, १-३१।
४. तत्प्रमाणे, 'आद्ये परोक्षम्' प्रत्यक्षमन्यत्-- वही–१, १०, ११, १२।
५. तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् 'प्रत्यक्षमन्यत्'-- त. सू. १, १८, १२।
६. मति श्रुत आदि पाँच सम्यग्ज्ञानो का भेद आगमिक है। स्वभावज्ञान और विभावज्ञान के भेद से ज्ञानोपयोग के दो भेदों का आ० कुन्दकुन्द का निरूपण (नियमसार, गा० १०) भी आगमिक है। कुन्दकुन्द प्रवचनसार (गा० २१, २२, ३०, ४०) में प्रत्यक्ष और परोक्ष शब्दो का प्रयोग किया गया है। पर वहा इन शब्दों का पदार्थ के विशेषण रूप मे है। हाँ, इसी ग्रथ मे आगे (गा० ५८ मे) अवश्य परोक्ष और प्रत्यक्ष के लक्षण बतलाते हुए उन्हे ज्ञान का विशेषण बनाया गया है। पर प्रमाण के भेद के रूप मे उनका प्रतिपादन नही है।
७. लघीय, १-२-५ प्रमाण पर्व० पृ० २८, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, सस्करण १९७७।
८. जैनतर्कशास्त्र मे अनुमान-विचार, पृ० ६९, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, सस्करण १९६९।

छह (भाट्ट मीमांसक स्वीकृत) भेदों का समावेश उसके उक्त प्रमाणद्वय (प्रत्यक्ष और परोक्ष) में ही हो जाता है। तत्त्वार्थसूत्रकार[1] जब मति स्मृति संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान) चिन्ता (तर्क) और अभिनिबोध (अनुमान) को भी प्रमाणान्तर होने का संकेत करते हुए उन्हें मतिज्ञान कहते है और उनका इन्द्रिय मन पूर्वक होने के कारण परोक्ष में अन्तर्भाव करते है तो उनकी यहां निश्चय ही तार्किक दृष्टि लक्षित होती है। उनकी इस दृष्टि से प्रकाश लेकर पूज्यपाद ने[2] न्यायदर्शन आदि में पृथक् प्रमाण के रूप मे स्वीकृत, उपमान, आगम आदि प्रमाणों को परसापेक्ष होने से परोक्ष में अन्तर्भाव कर लिया है और तत्त्वार्थसूत्रकार के प्रमाणद्वय का समर्थन किया है। अकलंक ने[3] भी उनके प्रमाणद्वय की ही सम्पुष्टि की है। साथ ही नये आलोक मे प्रत्यक्ष-परोक्ष की परिभाषाओ और उनके तार्किक भेदो का भी प्रतिपादन किया है। उत्तरकाल में तो आ० गृद्धपिच्छ का आधार लेकर अकलक ने जो प्रमाणनिरूपण किया उसी पर विद्यानन्द[4], माणिक्यनन्दि[5] आदि तार्किक चले है।

अनुमान के (पक्ष, हेतु और उदाहरण) तीन अवयवों से सिद्धि :

तत्त्वार्थसूत्र में कुछ सिद्धान्तों की सिद्धि अनुमान (युक्ति) से को गयी है। उन्होंने अनुमान प्रयोग के तीन अवयवों पक्ष, हेतु और उदाहरण से मति, श्रुत और अवधि इन तीनों ज्ञानों को विपर्यय (अप्रमाण-प्रमाणाभास) सिद्ध करते हुए प्रतिपादित किया है।

१. पक्ष—मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ।

२. हेतु—सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धे ।

३. उदाहरण—उन्मत्तवत् । —त. सू. १-३१-३२

अर्थात् मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान विपर्यय (मिथ्या अप्रमाण प्रमाणाभास) भी है, क्योकि उनके द्वारा सत् (समीचीन) और असत् (असमीचीन) का भेद न कर स्वेच्छा से उपलब्धि होती है, जैसे उन्मत्त (पागल पुरुष) का ज्ञान। उन्मत्त व्यक्ति विवेक न रखकर माता को स्त्री और स्त्री को माता कह देता है। उसी प्रकार, मति, श्रुत और अवधि (विभङ्ग) ज्ञान भी सत्-असत् का भेद न कर कभी काचकामलादि के वश वस्तु का विपरीत (अन्यथा) ज्ञान करा देते हैं। अत: ये तीन ज्ञान मिथ्याज्ञान भी कहे जाते है।

तत्त्वार्थसूत्रकार के इस प्रतिपादन से स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्र मे न्यायशास्त्र भी समाहित है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि उनके समय मे भी तीन ही अनुमानावयव वस्तु सिद्धि मे प्रचलित थे, उपनय और निगमन को अनुमानावयव स्वीकार नही किया जाता था या उनका जैन संस्कृति मे विकास नही हुआ था। तत्त्वार्थसूत्रकार के उत्तरवर्ती आचार्य समन्तभद्र ने भी देवागम (आप्तमीमासा) मे उक्त तीन अवयवो से ही अनेक स्थलों पर वस्तुसिद्धि की है।

तत्त्वार्थसूत्रकार का तीन अवयवो से वस्तु-सिद्धि का एक उदाहरण और यहा प्रस्तुत है। तत्त्वार्थसूत्र के दशवें अध्याय के पाचवें सूत्र मे मुक्तजीव के ऊर्ध्वगमन को सयुक्तिक सिद्ध करते हुए तत्त्वार्थसूत्रकार ने लिखा है—

१ पक्ष—तदनन्तर (मुक्त) ऊर्ध्वंगच्छत्या लोकान्तात् ।

२. हेतु पूर्वप्रयोगात् असंगत्वात् बन्धच्छेदात् तथागति परिणामाच्च ।

३. उदाहरण—आविद्धकुशलचक्रवत्, व्यपगत लेपालांबुवत् एरण्डबीजवत् अग्निशिखावच्च ।

—त. सू. १०-५, ६, ७।

अर्थात् द्रव्यकर्मों और भावकर्मों से छूट जाने के बाद मुक्तजीव लोक के अन्त पर्यन्त ऊपर को जाता है, क्योंकि उसका ऊपर जाने का पहले का अभ्यास है, कोई सग (परिग्रह) नही है, कर्मबन्धन नष्ट हो गया है और उसका ऊपर जाने का स्वभाव है। जैसे कुम्हार का चाक, लेप रहित तूमरी, एरण्ड का बीज और अग्नि की ज्वाला। मुक्त जीव के ऊर्ध्व गमन को सिद्ध करने के लिए सूत्रकार ने चार हेतु दिये और उनके समर्थन के लिए चार उदाहरण भी प्रस्तुत किये है।[6] इस तरह अनुमान से सिद्धि

१. त. सू. १, १३, १४।
२. सर्वार्थसि० १-११।
३. लघीय० १/३।
४. प्रमाण परीक्षा, पृ. २८। ५ परीक्षा मु० ३-१, २।
६. अनुपदिष्टहेतुकमिदमूर्ध्वगमनं कथमध्यवसातुं शक्यमिति ? अत्रोच्यते। आह हेत्वर्थः पुष्कलोऽपिदृष्टान्त समर्थन मन्तरेणाभिप्रेतार्थसाधनाय नालमिति उच्यते सर्वार्थसिद्धि. १०-६, ७ की उत्पातिकाए।

या विवेचन करना न्यायशास्त्र का अभिधेय है। यद्यपि साध्य-बिनाभावी एक हेतु ही विवक्षित अर्थ की सिद्धि के लिए पर्याप्त है, उसे सिद्ध करने के लिए अनेक हेतुओं का प्रयोग और उनके समर्थन के लिए अनेक उदाहरणों का प्रतिपादन आवश्यक है। किन्तु उस युग मे न्याय-शास्त्र का इतना विकास नही हुआ था। वह तो उत्तरकाल में हुआ है। इसी से अकलंक, विद्यानन्द, माणिक्यनन्दि आदि न्यायशास्त्र के आचार्यों ने साध्य (विवक्षित अर्थ) की सिद्धि के लिए पक्ष और हेतु इन दो को ही अनुमान का अंग माना है[1]। उदाहरण को भी उन्होंने नही माना, उसे अनावश्यक बतलाया है। तात्पर्य यह कि तत्त्वार्थसूत्रकार के काल में परोक्ष अर्थों की सिद्धि के लिए न्याय (युक्ति-अनुमान) को आगम के साथ निर्णय-साधन माना जाने लगा था। यही कारण है कि उनके कुछ ही काल बाद हुए स्वामी समन्तभद्र ने[2] युक्ति और शास्त्र दोनों को अर्थ के यथार्थ प्ररूपण के लिए आवश्यक बतलाया है। उन्होने यहाँ तक कहा है कि वीर जिन इसलिए आप्त है क्योंकि उनका उपदेश युक्ति और शास्त्र से अविरुद्ध है। तत्त्वार्थ-सूत्र के उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उसमें न्यायशास्त्र के बीज समाहित है, जिनका उत्तरकाल मे अधिक विकास हुआ है।

तत्त्वार्थसूत्र के पाचवें अध्याय के पन्द्रह और सोलहवे सूत्रो द्वारा जीवों का लोकाकाश मे असख्यातवे भाग से लेकर सम्पूर्ण लोकाकाश के अवगाह प्रतिपादन किया गया है। यह प्रतिपादन भी अनुमान के उक्त तीन अवयवों द्वारा हुआ है। पन्द्रहवा सूत्र पक्ष के रूप में और सोलहवा सूत्र हेतु तथा उदाहरण के रूप में प्रयुक्त है[3]। 'जीवों का अवगाह लोकाकाश के असख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण लोकाकाश में है, क्योंकि उनमें प्रदेशों का संहार (संकोच) और विसर्प (विस्तार) होता है, जैसे—प्रदीप; दीपक को जैसा आश्रय मिलता है उसी प्रकार उसका प्रकाश हो जाता है। इसी तरह जीवों को भी जैसा आश्रय प्राप्त होता है वैसे ही उसमें समव्याप्त हो जाते है।

सत् में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की सिद्धि :

द्रव्य का लक्षण तत्त्वार्थसूत्र में आगमानुसार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की युक्तता को बतलाया है। यहा प्रश्न[4] उठा कि उत्पाद, व्यय अनित्य (आने जाने) रूप है और ध्रौव्य (स्थिरता) नित्यरूप है।

वे दोनो (अनित्य और नित्य, एक ही सत् में कैसे रह सकते है? इसका उत्तर सूत्रकार ने हेतु का प्रयोग करके दिया है। उन्होने कहा[5] कि मुख्य (विवक्षित) और गौण (अविवक्षित) की अपेक्षा से इन दोनों की एक ही सत् में सिद्धि होती है। द्रव्याश की विवक्षा करने पर उसमें नित्यता और पर्यायाश की अपेक्षा से कथन करने पर अनित्यता की सिद्धि है। इस प्रकार, युक्तिपूर्वक सबका उत्पाद व्यय, ध्रौव्य रूप नयात्मक या अनेकान्तात्मक सिद्ध किया गया गया है।[6]

इस तरह तत्त्वार्थसूत्र हमें धर्म, दर्शन और न्याय तीनो का सम्यग्ज्ञान कराने वाला जैन वाङ्मय का अद्वितीय ग्रंथ है। सम्भवतः इसी से उसकी महिमा एवं गरिमा का गान करते हुए उत्तरवर्ती आचार्यों ने कहा[7] है कि इस तत्त्वार्थसूत्र का जो एक भी बार पाठ करता है या सुनता है उसे एक उपवास करने जितना फल प्राप्त होता है। तत्त्वार्थसूत्र की इस महिमा को देखकर आज भी समाज में उसका पठन-पाठन सबसे अधिक प्रचलित है और पर्यूषण (दशलक्षण) पर्व मे तो उस पर व्याख्यान भी दिये जाते एवं सुने जाते है। इत्यलम्।

□□□

१. एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गंनोदाहरणम्-परीक्षा० ३-३७ न्यायविनि. का. ३८१ अकलंक ग्र.। पत्रपरी. पृ. ९।

२. 'युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्' देवागम (आप्तमी.) का ६।

३. असंख्येयभागादिषु जीवानाम् (अवगाहः) प्रदेश संहार विसर्पाभ्याम् प्रदीपवत्। - त. सू. ५, १५' १६।

४ ननु इदमेव विरुद्धं तदेव नित्यं तदेव नित्यगति। यदि नित्य व्ययोदयाभावादनित्यताव्याघातः। अथानित्यमेव स्थित्य भावन्नित्यता व्याघातः इति? नैत सिद्धय-कुतः?

५. अर्पितानर्पित सिद्धे ५-३२।

६. स. सि. ५, ३२।

७. दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति।
फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनि पुङ्गवैः॥
— अज्ञात व्याख्याकारकृत

जैन पुराणों में समता

□ श्री देवीप्रसाद मिश्र

प्रारम्भ में बौद्ध और जैन धर्म को वर्ण-व्यवस्था तथा जातिवाद स्वीकार न होने के कारण वे उसका विरोध करते थे। बौद्ध धर्म अपने इस सिद्धान्त का पालन करते हुए दृढ रहा, परन्तु कालान्तर मे जैनो ने इस देश की मुख्य धारा मे बहते हुए एक समन्वित सामाजिक व्यवस्था को जन्म दिया, जिसमें ब्राह्मणों के स्थान पर क्षत्रियो को प्रमुखता दी गई है। इसी को मान कर उन्होंने पुराणो की रचना करके यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि उनके सभी त्रिषष्टिशलाका-पुरुष क्षत्रिय कुल मे उत्पन्न हुए थे। प० फूलचन्द्र जी का विचार है कि जैन-आगम-साहित्य मे चातुर्वर्ण्य व्यवस्था नही है।[1] परन्तु यह मत अमान्य है, क्योकि जैन-आगमो में बभण, खत्तिय, वइस्स तथा सुद्द नाम के चार वर्णो का उल्लेख मिलता है, जो क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र है।[2]

जैन सूत्रों के अनुसार कर्म से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र की उत्पत्ति होती है।[3] इसी प्रकार का विचार जैन पुराणो मे भी मिलता है। लोग अपने योग्य कर्मो को करते थे, वे अपने वर्ण की निश्चित आजीविका छोड़कर दूसरे की आजीविका को ग्रहण नही करते थे, उनके कार्यो में वर्ण-संकरता नही थी और उनके विवाह, जाति-संबंध एव व्यवहार आदि सभी कार्य वर्णानुसार होते थे।[4] महापुराण के अनुसार, पहले वर्णव्यवस्था नही थी, परन्तु कालान्तर मे आजीविका के आधार पर चातुर्वर्ण्य व्यवस्था हुई।[5] रविषेणाचार्य ने जाति व्यवस्था का खण्डन किया है।[6] पद्मपुराण मे किसी भी जाति को निन्दनीय नही बताया गया है। सभी मे समानता का दर्शन कराके गुण को कल्याणक माना है। यही कारण है कि व्रती चाण्डाल को गणधरादि देव ब्राह्मण कहते हैं।[7] रविषेणाचार्य ने ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता तथा चाण्डाल के प्रति समता का दृष्टिकोण अपनाया है।[8] जैन पुराणों मे सभी के प्रति समता का भाव दिखाया गया है। इसीलिए श्री गणेश मुनि ने कहा है कि पहले वर्णव्यवस्था मे ऊंच-नीच का भेद-भाव नही था। जिस प्रकार चार भाई कोई काम आपस में बाटकर आपस में सम्पादित करते है, उसी प्रकार चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था भी थी। कालान्तर मे इस व्यवस्था के साथ ऊंच-नीच का सम्बन्ध जुड़ गया, जिससे विशुद्ध सामाजिक व्यवस्था मे भावात्मक हिंसा का सम्मिश्रण हो गया।[9] जैन पुराणों के अनुसार, चारों वर्णों का विभाजन आजी-

---

१. प० फूलचन्द्र : वर्ण, जाति और धर्म, काशी १९६३, पृ० १९७।

२. डा० जगदीशचन्द्र जैन, जैन आगम साहित्य मे भारतीय समाज, वाराणसी, १९६५, पृ० २२३।

३. उत्तराध्ययनसूत्र, २५.३३।

४. यथास्व स्वोचितं कर्म प्रजादधुरसंकरम्।
विवाहजातिसबंधव्यवहारश्च तन्मतम्॥
—महापुराण, १६.१८७।

५. मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोद्भवा।
वृत्तिभेदाहितद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते॥
महापुराण, ३८.४५;
तुलनीय—चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
—गीता, ४.१३।

६. पद्मपुराण, ११.१९५-२०२।

७ न जातिर्गर्हिता काचिद्गुणाः कल्याणकारणम्।
व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥
—पद्मपुराण, ११.२०३; महापु०, ७४.४८८-४९५;
तुलनीय—महाभारत, शान्तिपर्व, १८९.४-५!
वरांगचरित, २५.११।

८. पद्मपुराण, ११.२०४।

९. गणेश मुनि, 'प्रागैतिहासिक व्यवस्था का मूल रूप', जिनवाणी, जयपुर १९६८, वर्ष २५, अंक १२, पृ. ९।

विका के आधार पर हुआ है।[१] यही कारण है कि जैन पुराणों में लोगों को अपनी-अपनी आजीविका सम्यक् ढंग से प्रतिपादित करने की व्यवस्था की गई है। यदि कोई ऐसा नही करता था तो उसे दण्ड देने की भी व्यवस्था की गई है, ताकि इससे वर्ण-संकरता को रोका जा सके।[२]

जैनाचार्यों ने सभी को समानता के आधार पर रखा है। उन्होने सभी के साथ समान न्याय की व्यवस्था की है। यही कारण है कि ब्राह्मणो को जो विशेषाधिकार मिला था, उसका पतन हुआ और समानता के आधार पर समाज का पुनर्गठन किया गया। यदि ब्राह्मण चोरी करते हुए पकड़ा जाता था तो उसे देश से निकाल देने की व्यवस्था की गई थी।[३]

उस समय कन्याओं का जन्म माता-पिता के लिए अभिशाप था, परन्तु जैन पुराणो मे सामाजिक समता के आधार पर उनको ऊपर उठाया गया है। इस कारण उन्होने (जिनसेन ने) व्यवस्था की है कि कन्याओ का जन्म प्रीति का कारण होता है।[४] इसी प्रकार का विचार कालिदास ने भी व्यक्त किया है। उन्होंने अपने ग्रन्थ कुमारसम्भव मे कन्या को कुल का प्राण कहा है।[५] जैनाचार्यों ने पुत्र एव पुत्री को समान माना है। इसीलिए पिता दोनों को समान रूप से पढ़ाते थे।[६] उस समय बिना भेद-भाव के लड़के और लड़कियां साथ-साथ अध्ययन किया करते थे।[७] जैनाचार्य जिनसेन ने लड़को के समान लड़कियो को भी समस्त विद्याओ एवं कलाओं की शिक्षा देने की व्यवस्था की है।[८] जिनसेन ने पिता की सम्पत्ति में पुत्री को बराबर भाग का अधिकारी बताया है।[९]

स्त्रियों को समाज मे सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था और उनके साथ समता का व्यवहार होता था। स्त्रियो के साथ दुर्व्यवहार की आचार्यों ने कटु आलोचना की है।[१०] इसीलिए स्त्रियों को भी पुरुष के समान स्वर्ग का अधिकार दिया है।[११]

जैनाचार्यों ने परिवार मे पति-पत्नी मे परस्पर समानता के आधार पर सौहार्दता स्थापित करने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। जीवनरूपी नौका पति-पत्नी के सहयोग से चलती है। किसी को कम या अधिक समझने पर जीवन-नौका भँवर मे पड़कर दुर्गति को प्राप्त होती है। इसीलिए हमारे मनीषियो ने दोनो मे समानता स्थापित करने का प्रयास किया है। पद्मपुराण मे कहा गया है कि स्त्री-पुरुष का जोड़ा साथ ही साथ उत्पन्न होता था और आयु व्यतीत करके प्रेम-बन्धन मे आबद्ध रहते हुए साथ ही साथ मृत्यु को प्राप्त होता था।[१२] एक ओर पत्नी को पति की अर्धांगिनी[१३] कहा गया है, तो दूसरी ओर उसे पति का विश्वास-पात्र मंत्री, मित्र एव प्रिय शिष्या बताया गया है।[१४]

पत्नी के बिना घर को शून्य[१५] एवं जंगल[१६] बताया गया है। मनु ने तो यहाँ तक कह डाला है कि जहाँ पर

१. महापुराण, ३८ ४६; पद्मपुराण, ११.२०१; हरिवंशपुराण, ७.१०३-१०५; तुलनीय—विष्णुपुराण, १.६.३-५; वायुपुराण, १.१६०-१६५।
२. हरिवंशपुराण, १४.७; महापुराण, १६.२४८।
३. महापुराण, ७० १५५; तुलनीय—हरिवंशपुराण, २७.२३-४१।
४ महापुराण, ६.८३।
५. भगवतशरण उपाध्याय, गुप्तकाल का सांस्कृतिक इतिहास, वाराणसी १९६९, पृ. २२१।
६. महापुराण, २६.११८।
७. पद्मपुराण, २६.५-६; तुलनीय—बृहदारण्यकोपनिषद्, ६.२.१; छान्दोग्योपनिषद्, ५.३।
८. महापुराण, १६.१०२।
९ पुत्र्यश्च सविभागार्हा: सम पुत्रै. समाशकै:। —महापुराण, ३८.१५४; तुलनीय —आवश्यकचूर्णि, २३२; उत्तराध्ययनसूत्र २, पृ० ८६।
१०. हरिवंशपुराण, १६.१६; पद्मपुराण, १५.१७३।
११. पद्मपुराण, ८०.१४७; महापुराण, १७.१६६।
१२. युग्ममुत्पद्यते तत्र पल्यानां त्रयमायुषा।
प्रेमबन्धनबद्धश्च म्रियते युगलं समम्॥
—पद्मपुराण, ३ ५१।
१३. तैत्तिरीयसंहिता, ६.१.८.५; ऐतरेयब्राह्मण, १.२.५; शतपथब्राह्मण, ५.३.१.१०।
१४. गृहिणी सचिव: सखी मित्र: प्रिय शिष्या ललिते कलाकलाविधौ।—रघुवंश, ८.८७।
१५. महाभारत, १२.१४४.४। १६. वही १२.१४४.६।

स्त्रियों की पूजा होती है वहां पर देवता निवास करते हैं।[१] इसीलिए महापुराण में कहा गया है कि पति-पत्नी से सुशोभित होता है।[२]

जैनाचार्यों ने वेश्याओं को सामाजिक धारा से जोड़ने का प्रयास किया है। समाज मे वेश्याओं को हीन दृष्टि से देखा जाता था, परन्तु समाज मे सुधार करके उन्होंने इनकी स्थिति में परिवर्तन किया। इस परिवर्तन के परिणामस्वरूप वसन्तसेना नामक वेश्या ने अपना पेशा छोड़कर विवाह किया और अपनी मां के घर से पति के यहां आकर अपनी सास की सेवा करते हुए अणुव्रतो का पालन करने लगी।[३] वेश्यायें विवाह करके गृहस्थी बसाने लगी और सामाजिक धारा में योगदान देने लगीं। वेश्याओं के साथ विवाह करने पर किसी को समाज से बहिष्कृत नही किया जाता था। इससे यह ज्ञात होता है कि जैनाचार्यों ने वेश्याओं की स्थिति सुधारने और उन्हें समाज मे सम्मानजनक स्थान दिलाने तथा उनके साथ विवाह करने को प्रोत्साहन दिया। जिस प्रकार आज कल हरिजन कन्या के साथ विवाह करने पर सरकार की ओर से विभिन्न प्रकार का प्रोत्साहन दिया जाता है, सम्भवत: उस समय भी वेश्याओ के साथ विवाह करने पर इसी तरह का कोई प्रोत्साहन दिया जाता रहा होगा।

जैनाचार्यो ने समाज मे आर्थिक असमानता को दूर करने के लिए समानता स्थापित करने का प्रयास किया है। जैन पुराणो के अनुशीलन से यह तथ्य प्रकाश मे आता है कि उस समय सभी को न्यायपूर्वक आजीविका करने के लिए प्रोत्साहन दिया जाता था। जिनसेनाचार्य ने कहा है कि इस ससार मे मनुष्य की इच्छायें अनन्त है और उन इच्छाओं की पूर्ति के साधन अत्यल्प हैं। अतएवं समस्त इच्छाओं की पूर्ति होना असम्भव है। इसलिए अत्यन्त आवश्यक आवश्यकताओ की पूर्ति करके ही सन्तोष करना चाहिए। अत: विवेक एवं न्यायपूर्वक चयन किये गये धन से इच्छापूर्ति करनी चाहिए।[४] जैनाचार्यों ने कहा है कि यदि कोई मनुष्य अपनी इच्छापूर्ति अन्याय-मार्ग का आश्रय लेकर करता है तो उसे महान् कष्ट उठाना पड़ता है। अतएव न्यायपूर्वक धनार्जन करना ही जीवन को सुखी एवं सन्तुष्ट बनाने का एकमात्र मार्ग है।[५] कामनाओं की पूर्ति का साधन अर्थ है और अर्थ धर्म से मिलता है। इसलिए धर्मोचित अर्थ-अर्जन से इच्छानुसार सुख की प्राप्ति होती है तथा इससे मनुष्य प्रसन्न रहते हैं।[६] अतएव धर्म का उल्लघन न कर धन कमाना, उसकी रक्षा करना तथा योग्य पात्र को देना ही मुख्य लक्ष्य होना चाहिए।[७]

जैनाचार्य जिनसेन ने समाज मे वर्ग-संघर्ष को रोकने के लिए श्रम का विभाजन किया है।[८] उन्होंने ऐसी व्यवस्था की थी कि सभी अपने-अपने पेशे मे लगकर कुशलता का परिचय दें और कार्य मे निपुणता लाकर देश को आगे बढ़ावे। इसीलिए महापुराण मे एक दूसरे की आजीविका मे हस्तक्षेप का निषेध किया गया है।[९]

अत. हम देखते है कि जैनाचार्यों ने जैन पुराणों के माध्यम से समाज के विभिन्न क्षेत्रो मे समता स्थापित करने का प्रयास किया है। समाज से विशेषाधिकारों एव असमानताओ को दूर करके समन्वय की धारा प्रवाहित की है।

□□□

१ यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
तत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥
--मनुस्मृति, ३.५६;
तुलनीय--जायसो यत्र पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:।
यत्रे तास्तु पूज्यन्ते विनक्ष्यत्वाक्षुतद्गृहम्॥
—भविष्यपुराण, ४.११७.४।

२. महापुराण, ६.५६। ३. हरिवंशपुराण, २१.१७६।

४. न्यायोपार्जितवित्तकामघटन:···।
—महापुराण, ४१.१५८।

५. ···वृत्तिश्च न्यायो लोकोत्तरो मतः।
--महापुराण, ४२.१४;
तुलनीय—गरुड़पुराण, १.२०५.९८।

६. धर्मादिष्टार्थसम्पत्तिस्तत: कामसुखोदय:।
स च संप्रीतये पुसां धर्मात् सैषा परम्परा॥
—महापुराण, ५.१५।

७. स तु न्यायोऽनतिक्रान्त्या धर्मस्यार्थसमर्जनम्।
रक्षणं वर्धनं चास्य पात्रे च विनियोजनम्॥
—महापुराण, ४२.१३।

८. महापुराण, २६.२६। ९. वही, १६. १८७।

स्वाध्याय परम तप है

☐ श्रीमती रूपवती 'किरण', जबलपुर

समता की निर्मल गंगा :

आज के युग में कल्पवृक्ष की भांति विज्ञान के बढ़ते हुए चरण भव को संतापकारी तृष्णा के अथाह सागर में डुबा चुके है। आर्त्त मानव व्याकुलता से प्रतीक्षा रत है उन उपायो के लिए, जो मानव के उद्वेग को शांत कर तृप्ति दे सकें। उसे निश्चय हो गया है कि शारीरिक सुख उसे तृप्त करने मे सर्वथा असमर्थ है। मानव सामग्री के विस्तृत मरुस्थल मे मानसिक अशांति से तप्त राग-द्वेष की आंच मे चने की भांति भुनता हुआ छटपटा रहा है, समता के सीकरों के लिए जो तत्काल शांति प्रदान कर सकते है। उसे यह ज्ञात नही कि समता की निर्मल गंगा की अजस्र धारा उसी के अंतस् में प्रवाहित है। उस पवित्र तृषाहारिणी सरिता का उद्गम वह स्वयं है और वह पिपासित हो यत्र-तत्र भटक रहा है। यह कैसा आश्चर्य है कि जिसके गर्भ मे अनंत औषधिया पल रही हों, वही हिमांचल रुग्ण रहे ? मानव को अपनी विशाल निधि की खोज करना है। भयंकर दरिद्रता से मुक्ति पाना है तो सतर्क हो स्वाध्याय करना होगा, सतत स्वाध्याय। स्वाध्याय ही वह सुगम उपाय है जो आत्मा के गुप्त अबूझे भंडार के रहस्यों को खोल कर समस्त आधि-व्याधि-उपाधि को हरण कर लेता है। इसके प्रभाव से संसार मे होने वाला आनुषगिक फल ऋद्धि-सिद्धिया अनियन्त्रित आ चरणो मे लोटती है।

'स्व' में केन्द्रीभूत हों :

स्वाध्याय जीवन का आवश्यक अंग है। इसके बिना मनुष्य पशु के सदृश है, बल्कि पशु कहकर भी पशु का अपमान करना है। स्वाध्याय करते समय मन की क्रिया के अनुरूप वचन व शरीर की क्रिया भी होती है, अर्थात् तीनों का समन्वय भी हो जाता है। कदाचित् तीनो मे विभिन्नता हो तो पढ़कर भी बुद्धिमय नहीं होता, मनन-चिंतन तो असभव ही है। अध्ययन मे अतिरिक्त विकल्प नही रह सकते। एकाग्रता से मन-वचन-काय पर नियंत्रण अनायास ही हो जाता है। अन्य पदार्थों से ममता की डोर टूट जाती है। चेतना, जो अब तक आकर्षणो मे बह रही थी, अपने में लौट आती है। आत्मा का 'स्व' मे केन्द्रीभूत हो विराम लेना आत्मविशुद्धि का कारण है। जैन दर्शन का केन्द्र आत्मा ही है। आत्मा का लक्ष्य स्वस्थित होना है। स्वाध्याय से 'स्व' के प्रति जिज्ञासा बढ़ती है, जो आत्मा की खोज करके ही शांत होती है एवं पा जाने पर अभूतपूर्व तृप्ति मिलती है।

मोह-ममता के गहन अंधकार में भटकता प्राणी आत्मिक शांति को विस्मृत कर अपना प्रतिक्षण ह्रास कर रहा है। स्वाध्याय ज्ञान-किरणों के द्वारा आलोक-दान करता है, ताकि व्यक्ति अपनी सामर्थ्य से परिचित हो आत्म शक्ति को पूर्णत: विकसित करने की क्षमता प्राप्त कर सके।

स्वाध्याय क्यों ?

स्वाध्याय क्यों ? और किसका ? साधारणत: स्वाध्याय पढ़ने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अक्षरात्मक ज्ञान तो प्रत्येक व्यक्ति को करना आवश्यक है। इसके बिना विशद् ग्रंथो का पारायण नही किया जा सकता। विश्व मे अनेक विषय हैं। किसी भी विषय की गहन अध्ययन के बिना धारणा नही होती। यह भी सम्भव नही कि एक व्यक्ति समस्त विषयो का अध्ययन कर पारंगत हो सके। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार ही व्यक्ति विषयो का अध्ययन-मनन करता है। कोई भी कार्य किसी विशेष उद्देश्य को लेकर किया जाता है। सुख-प्राप्ति का उद्देश्य ससार के समस्त प्राणियो का सदृश है। अनेक प्रकार से

अध्ययन-शील रहने पर भी प्राणी को अभीष्ट की प्राप्ति नही हुई।

आत्मा अनत गुणों का भडार है। ज्ञान आत्मा का असाधारण गुण या लक्षण है। इसके द्वारा ही आत्मा को ग्रहण किया जा सकता है तथा अन्य गुण भी ज्ञान के द्वारा ग्रहण होते है। ज्ञान चराचर समस्त ज्ञेय को विषय बनाता है।

ज्ञान अज्ञान में अंतर :

प्रयोजन सिद्धि के लिए ज्ञान-अज्ञान की परिभाषा भली भांति विदित हो जाना उचित है। जो प्रयोजन को सिद्ध करे वह ज्ञान, शेष सब अज्ञान है। ज्ञान का पारपरिक फल निर्मल केवल-ज्ञान की प्राप्ति है। जहा ज्ञान में कुछ भी मिश्रण नही, केवल ज्ञान ही ज्ञान है। यह सुनिश्चित है कि ज्ञान के साथ अन्य लौकिक सपदा अनुषंग रूप से होती ही है, परन्तु ज्ञानी को अन्तरानुभूति के सुख के समक्ष धन-संपत्ति तृणवत् तुच्छ प्रतिभासित होती है।

यू तो ज्ञान के अभाव मे अज्ञानी को भी विशेष सपदा, ऋद्धि-सिद्धि आदि उपलब्ध हो जाती है, पर शाश्वत आनंद की प्राप्ति नही होती। समय पाकर सामग्री विनष्ट हो जाती है, क्योकि क्षण-भंगुरता उसका स्वभाव है। यदि ज्ञान के सद्भाव में भी मात्र वैभव प्राप्त हो तो ज्ञान-अज्ञान में अन्तर ही क्या रहा? ज्ञान का विशिष्ट या अतिरिक्त फल शाश्वत मुक्ति की उपलब्धि है।

अज्ञानी ज्ञान से वैभव आदि फल की अभिलाषा रखते है। अमृत से विष-प्राप्ति की इच्छा करते हैं। सत् में असत् को खोजते हैं। अज्ञान सर्प की भाँति विषैला है। इसके दंशन से कषायों की ऐंठन होती है। दंशित प्राणी निर्विष होने के लिए संसार-रूपी कच्चे कूप का जल पीने का उपक्रम करते है. परन्तु विषय भोगों की अनवरत वर्षा से तृष्णा के दलदल में फिसल-फिसल कर गिर जाते हैं। अज्ञानी का सारा पुरुषार्थ पदार्थाश्रित रहता है, जब कि ज्ञानी का पुरुषार्थ आत्मस्थित होने के लिए होता है।

कषाय अज्ञान में पनपती है। विवेकपूर्वक ज्ञान की क्रिया व वैराग्य से स्वग्रहण होता है। अन्य पदार्थ के ग्रहण की वृत्ति छूट जाती है। अतएव कषाय निराश्रित हो क्रमशः कृश होती जाती है और आत्मा की स्वच्छता निखरने लगती है।

स्वाध्याय से आत्मगुणों की अभिवृद्धि :

ज्ञान मे ज्ञान की स्थिरता हेतु स्वाध्याय विशेष आवश्यक है। स्वाध्याय के क्षणो मे व्यक्ति अनेक चिंताओं से उन्मुक्त हो जाता है। दत्तचित्त हुए बिना स्वाध्याय नही हो सकता। इससे 'स्व' अध्ययन की प्रेरणा, मार्गदर्शन मिलता है। आत्म-निरीक्षण की वृत्ति, अनुसधान कर गुणों की अभिवृद्धि एव दोषो का परिमार्जन करती हुई प्रगति पथ पर चल पड़ती है। युगों-युगों से चली आ रही भूलों का उन्मूलन कर आत्मविशुद्धि कर कल्याण किया जा सकता है। आत्मकल्याण मे सलग्न व्यक्ति अन्य प्राणियो के कल्याण मे भी पूर्णतः सतर्क रहता है, अर्थात् बाधक नही बनता। उसके विचारो मे सरलता, सहिष्णुता आ जाती है तथा आचरण सात्विक-सीमित कर वह आत्मगुणो की समृद्धि मे रत रहता है।

कला 'स्व' में विराम लेने की :

ज्ञान ज्योति प्रत्येक आत्मा में सदैव दीप्त है, जिसके द्वारा विश्व के पदार्थ प्रकाशित हो रहे है। निरंतर स्वाध्याय कर स्वयं को भी प्रकाशित किया जा सकता है। ज्ञान ज्योति उद्दीप्त हो सकती है। आकर्षण-विकर्षणों से हटकर अपने में संयत रहना अत्यंत कठिन कार्य है। स्वाध्याय के बल पर 'स्व' में विश्राम करने का अभ्यास हो सकता है।

चेतना 'स्व' के प्रति समर्पित हो :

प्रथम तो हमें यही ज्ञात नही कि शरीर के पार भी कोई इससे विलक्षण वस्तु है। कदाचित् आत्मा नामक वस्तु का अस्तित्व मान भी लिया तो उसकी ओर की अभिरुचि जागी नही। समस्त परिचय शरीर व शरीर सम्बन्धी अन्य पदार्थों से ही रहा है। जो वस्तु आज तक प्रत्यक्ष परिचय मे नही आई, मन का मोड़ उस ओर होता नहीं। यद्यपि उसका अनुभव हमे प्रतिक्षण हो रहा है,

तथापि हम उस पर ध्यान नहीं देते। ध्यान दिये बिना समीप मे रखी वस्तु भी दूर हो जाती है। जब तक हम अपने प्रति पूर्णतः समर्पित न हों, तब तक आनंदानुभूति असंभव है।

उपलब्धियों का सदुपयोग अनिवार्य :

यह प्राकृतिक नियम है कि प्राप्त वस्तु का दुरुपयोग किया जावे तो कालातर मे वह वस्तु अप्राप्य हो जाती है। ज्ञानार्जन की अनुकूलता वर्तमान मे प्राप्त है, उसका समुचित लाभ नही लिया तो ज्ञान-प्राप्ति दुर्लभ हो जायगी। द्रव्यश्रुत ही भावश्रुत में निमित्त कारण है।

स्वाध्याय का महत्त्व :

स्वाध्याय की अचिन्त्य महिमा है। इसके आनुषंगिक फल, ऋद्धि-सिद्धि बिना प्रयत्न स्वयमेव मिलते है। श्रमण सस्कृति मे गृहस्थ व साधु दोनो के आवश्यक षट्कर्मो मे स्वध्याय भी अनिवार्य कर्म है। चचल मन की गति अवरुद्ध करने के लिए ध्यान के पश्चात् स्वाध्याय ही ऐसा महत्त्वपूर्ण कार्य है, जहा विभिन्नताए समाप्त हो मन, वाणी, कर्म समन्वित हो जाते है। संयम की आच मे आत्मा को तपाये बिना उसे स्वभाव के अनुकूल नहीं ढाला जा सकता है।

स्वाध्याय परम तप है :

चैतन्य आत्मा जिससे अपने मे चैतन्य हो उठे, अर्थात् ज्ञान के प्रकाश से जगमगा उठे, वह तप है। तप के बाह्य और अभ्यंतर दो भेद रूप हैं। दोनों प्रकार के तप आत्मा का अनुसरण करते है। जन्म-मरण के असाध्य रोग से छुटकारा पाना हो तो तप को अंगीकार करना ही होगा। तप से कर्म-शृंखला टूट-टूटकर बिखरने लगती है। स्वाध्याय परम तप है। द्रव्यश्रुतका अध्ययन स्वाध्याय नामक बाह्यातम व 'स्व' अध्ययन कर भावश्रुत (आत्मा) की अनुभूति अंतरग तप है। इससे सम्यग्दर्शनपूर्वक सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र की उपलब्धि होती है। स्वाध्याय कर आत्मशुद्धि का सतत प्रयास होना कार्यकारी है। यदि आत्म-विशुद्धि न हुई तो स्वाध्याय का क्या मूल्य ?

स्वाध्याय के प्रकार :

स्वाध्याय मुख्यतः पांच प्रकार है —तत्त्वार्थसूत्र में सूत्र है 'वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नाय धर्मोपदेशः।' यथा —वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय, धर्मोपदेश।

वाचना—वीतराग मार्ग पर अग्रसर होने मे जो ग्रंथ सहायक हो उनका पठन-पाठन करना वाचना है।

पृच्छना—शका समाधान के अर्थ विशेष ज्ञानियों से विनयपूर्वक प्रश्न करना पृच्छना है।

अनुप्रेक्षा—अध्ययन से ज्ञात किये पदार्थों का बारंबार चिंतवन करना अनुप्रेक्षा है। आत्मा जगत् के क्षणजीवी पदार्थों से विरत हो आत्मगुणो मे अनुरक्त होता है। हृदय वीतरागता से एकरस हो जाता है।

आम्नाय—निर्दोष उच्चारण कर पाठ को रटना तथा उस परिपाटी पर चलना आम्नाय है।

धर्मोपदेश—मोक्षमार्गी धर्म का उपदेश देना धर्मोपदेश है।

ये पाचो स्वाध्याय के अग है, ज्ञानवर्धन मे कारण है। यथार्थतः स्व-अध्ययन करना अथवा 'स्व' मे तन्मयता स्वाध्याय की अद्वितीय कला का फल है। वक्ता-श्रोता दोनों ज्ञानार्जन के पवित्र अभिप्राय हेतु स्वाध्याय करें-करावे। यदि श्रोता कुतर्क करे या वक्ता के अपमान का अभिप्राय रखकर प्रश्न करे तो ज्ञान की अभिवृद्धि का पावन उद्देश्य नष्ट हो जाता है, एव वक्ता अपने सम्मान, यश आदि के लालच से प्रवचन या धर्मोपदेश करे तो वह प्राप्य ज्ञान का सदुपयोग न कर अपनी महान् क्षति कर रहा है। अतः सरलचित्त हो समता भाव से स्वाध्याय कर ज्ञानवर्धन तथा तदनुकूल ज्ञानाचरण करना योग्य है।

ज्ञान की उपादेयता :

ज्ञान उपादेय है, क्योंकि वह सवर, निर्जरा, मोक्ष का कारण है। संसार मे भ्रमण कराने वाले आस्रव बंधरूप अज्ञान का तथा उसे समाप्त करने का उपाय ज्ञान से ही विदित होता है। स्वाध्याय-भेद विज्ञान का जनक है। ज्ञान आत्म स्वभाव होने से प्रत्येक व्यक्ति ज्ञान प्राप्ति का इच्छुक रहता है। यह बात अलग है कि अविवेक के

(शेष पृ० १२७ पर)

चन्द्रावती की जैन प्रतिमाएं : एक परिचयात्मक सर्वेक्षण

□ श्री विनोद राय

भारतीय कला के क्षेत्र में जैन साहित्य व कला का प्रमुख स्थान है। इसका प्रमुख कारण यह है कि जैन यति व विद्वान् प्रारम्भ से ही भारतीय कला व संस्कृति को पाषाणों, चित्रकला व साहित्य मे मूर्त्त रूप दे कर परिष्कृत समाज की रचना मे अभूतपूर्व योगदान किये हैं। भारत के प्रत्येक क्षेत्र, ग्राम, तहसील व जिलेवार सर्वेक्षण की आवश्यकता है जिससे कि जैन संस्कृति व कला के अज्ञात मार्ग में समा रहे नवीनतम स्रोतों--शिलालेख, ताम्रपत्र, साहित्य का पता लगाया जा सके। इससे न केवल जैन कला, साहित्य व सस्कृति को ही जीवन प्राप्त होगा बल्कि भारतीय कला व साहित्य के इतिहास मे भी नवीन आयाम जुड़ेंगे। यद्यपि राजस्थान सरकार अपने विशेष प्रयासों से इस दिशा मे किये जा रहे कार्यों को प्रोत्साहन दे रही है तथा राजस्थान के प्रत्येक संग्रहालय मे महावीर कक्ष की स्थापना की गई है, लेकिन फिर भी इस प्रकार के सांस्कृतिक इतिहास व पुरातत्त्व से सम्बन्धित कार्यों के सर्वेक्षण हेतु एक विशेष प्रकोष्ठ की स्थापना की जानी चाहिए और इस हेतु एक मण्डल की स्थापना होनी चाहिए तथा एक निश्चित धनराशि की भी व्यवस्था की जानी चाहिए। इससे शोधार्थी प्रोत्साहित होंगे और शोध के क्षेत्र में नये-नये अध्याय जुडते रहेंगे। विश्व के कला इतिहास मे जैन वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला एवं साहित्य का प्रमुख स्थान है।

लेखक ई० सन् १९६८ से १९७२ तक राजकीय संग्रहालय, माउण्ट आबू में कार्यरत रहा। आबू रोड रेलवे स्टेशन से ६ कि.मी. दूर आबू रोड-अहमदाबाद रेलवे लाइन पर स्थित जिला सिरोही, तहसील आबू रोड में चन्द्रावती नामक प्राचीन ग्राम है जिसके खण्डहर आज भी विद्यमान है। खण्डहरों में स्थित प्रतिमाओं की सूची बनाने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है; अधिकाश प्रतिमाओं के फोटोग्राफ एवं उन पर क्रमांक डालने का कार्य राजस्थान पुरातत्व एवं संग्रहालय विभाग, जयपुर द्वारा पूर्ण हो चुका है। यहां पर शैव, शाक्त, वैष्णव, जैन प्रतिमायें पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हुई हैं। अभी और उत्खनन की आवश्यकता है जिससे अनेक खण्डहरों मे दबी हुई प्रतिमाएँ अज्ञात भूगर्भ से बाहर आवेगी जो जैन वास्तुकला, मूर्तिकला के अभूतपूर्व नमूने होंगे। जैन ग्रंथ 'तीर्थमाला' के अनुसार यहाँ पर १८०० जैन मन्दिर थे। चन्द्रावती के सम्बन्ध में कतिपय विद्वानो ने बहुत ही शोधपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री का संकलन व सम्पादन किया है जिसमे कर्नल टाड, गौरीशकर हीराचन्द्र ओझा, एच० पी० शास्त्री, यू० पी० शाह, दशरथ शर्मा, ठाकुर भगत सिंह, श्री विजय शकर श्रीवास्तव इत्यादि के नाम प्रमुख हैं। यहाँ पर कतिपय जैन प्रतिमाओं का परिचय उदाहरणार्थ दिया जा रहा है। आशा है कि शोध विद्यार्थी इस ओर विशेष ध्यान देंगे। ये प्रतिमायें मध्य काल की हैं।

१. पंजीयन क्रमाक सी-६ जैन चतुर्विंशति तीर्थंकर —इस प्रतिमा मे चौबीस तीर्थङ्करों को उत्कीर्ण किया गया है। यह ११वी-१२वी शताब्दी की है। सफेद संगमरमर से निर्मित इस प्रतिमा का साइज २४ इंच × १५ इंच है।

२. पंजीयन क्रमाक सी-७६, मस्तक विहीन जैन तीर्थंकर प्रतिमा—इसके वक्ष पर श्रीवत्स चिह्न विद्यमान है। इसकी पहचान शीतलनाथ से की जाती है। यह सफेद सगमरमर की है। इसका साइज २२ इंच × २४ इंच है। निगेटिव नम्बर ४९७२ (पी-२)।

३. पजीयन क्रमांक सी-७८, जैन प्रतिमा का सिंहासन—सिंहासन पर सिंह व गज अंकित है। इस पर ११वी-१२वी शताब्दी का देवनागरी लिपि में लेख भी उत्कीर्ण है। इसका साइज १६ इच × १३ इच है। निगेटिव नम्बर ४९७० (पी २)।

४. पंजीयन क्रमांक सी-११९, जैन प्रतिमा का सिंहासन—इसके निचले भाग में गज-सिंह अंकित हैं। मध्य मे शतदल कमल व वृषभ अंकित हैं। यह सफेद संगमरमर की है। इसका साइज १० इंच × २४ इंच है। निगेटिव नम्बर बी ५९९ (पी १०)।

५. पंजीयन क्रमांक सी-१२०, जैन प्रतिमा का सिंहासन—इस पर भी गज-सिंह अङ्कित है। इसके मध्य में आसनस्थ देवी प्रतिमा है जिसके नीचे शतदल कमल अङ्कित है। यह सफेद संगमरमर की है और इसका साइज १० इंच × २४ इंच है। निगेटिव नम्बर बी ६०० (पी १०)।

६. पंजीयन क्रमांक सी-१४५, आसनस्थ जैन तीर्थङ्कर—चतुर्भुजी यह प्रतिमा खंडित अवस्था में है। यह सलेटी पत्थर की है। इसका साईज ३० इंच × १९ इंच है। निगेटिव नम्बर ए बी बी ६१६ (पी १२)।

७. पंजीयन क्रमांक सी-१७६, जैन प्रतिमा का परिकर—यह सलेटी पत्थर की है। इसका साइज २१ इंच × २५ इंच है। निगेटिव नम्बर बी ६३६ (पी १४)।

□□□

(पृष्ठ १२५ का शेषांश)

संस्कारो से युक्त विषयानुरक्त प्राणी निष्प्रयोजन अध्ययन मे निरत रहता है। आत्मानुरागी यथार्थ दिशा मे गतिशील होता है तो वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान बन व्यक्ति को अवलंबन दे भव पार करा देता है। ज्ञान दुख से निवृत्ति करा सुख सागर मे अवगाहन कराता है।

रूढिवाद, अंधविश्वासों के घेरे से निकल, विज्ञान के चमत्कारो पर मुग्ध न हो, सम्यग्ज्ञान के द्वारा स्व पर कल्याण की सद्भावना जन-जन के मन मे जग जाये तो युद्ध की गति अवरुद्ध की जा सकती है।

कृपया ध्यान दें :

जैन समाज अपनी आने वाली नई पीढी पर ध्यान दे, जो उसकी उत्तराधिकारिणी है, उत्तरोत्तर आचार-विचार हीन होती जा रही है। समाज मन्दिरो के नव-निर्माण को रोक, ज्ञान की उपासना हेतु ज्ञान मन्दिरों का निर्माण करे। वहां ज्ञान-दान की सुन्दर व्यवस्था हो। अल्पवयस्क बालकों से लेकर समाज का प्रत्येक व्यक्ति उनमें अध्ययन कर सके। ज्ञान कल्याणकारक है। अतः ज्ञान का विकास होना चाहिए। सम्यग्ज्ञान होने पर सामग्री के सान्निध्य मे ज्ञानी उन्मत्त नही होता एवं अनेक सांसारिक अभावो के होते हुए भी वह परम शांति का अनुभव करता है। इसका एक ही कारण है वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान। जिसने स्वद्रव्य, अपनी आत्मा व अन्य चेतन-अचेतन रूप पर द्रव्य के स्वरूप को ज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष कर लिया है वह शाश्वत को छोड अशाश्वत को ग्रहण करने की अभिलाषा क्यो करेगा? और जब इच्छा ही नही होगी तो व्याकुलता का फिर कौन-सा कारण है? व्यग्रता का अभाव हो तो आनंद है। जहां आनद है वहां शांति है।

मन को झिझोडने वाला अज्ञान चैन नहीं लेने देता। अज्ञान दूर हो एव घट-घट मे ज्ञान ज्योति प्रदीप्त होकर जगमगाये। सद्ज्ञान के अभाव मे व्यक्ति ठूंठ के सदृश है जो फल-फूल-पत्रादि के अभाव मे कोरा ही रह जाता है। यदि हम नई पीढ़ी को ज्ञान की हरियाली न दे सके तो समाज मे जैनदर्शन के विद्वान् शून्यवत् रह जायेंगे। व्यक्ति को अध्यात्मिक ज्ञान की नितांत आवश्यकता है, अतः स्वाध्याय अनिवार्य है। □□□

मोक्ष का मार्ग

रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुयत्तु अण्णदवियम्मि।
तम्हा तत्तियमइयो होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा॥

—नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती

रत्नत्रय आत्मा को छोड़कर अन्य द्रव्य में नहीं होता है, इसलिए उस रत्नत्रय सहित आत्मा ही निश्चय से मोक्ष का मार्ग है।

कलचुरिकालीन जैन शिल्प-सम्पदा

☐ डॉ० शिवकुमार नामदेव

राजनीतिक दृष्टिकोण से प्राचीन भारतीय इतिहास मे कलचुरि नरेशों का वैशिष्ट्यपूर्ण स्थान है। छठी शती ई० से लेकर अठारहवी शती ई० तक इन नरेशो ने भारत के उत्तर अथवा दक्षिण किसी न किसी भू-भाग पर शासन किया। भारतीय इतिहास के अतीत को गौरवयुक्त बनाने मे इन नरेशों ने महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। इस काल की हिन्दू, बौद्ध एवं जैन देवी-देवताओं तथा सुर-सुन्दरियो की मूर्तिया कलापूर्ण है।

यद्यपि अधिकाश कलचुरि शासक शैव मतानुयायी थे, परन्तु उन्होने एक आदर्श हिन्दू नृपति की भाँति धार्मिक स्वतंत्रता की नीति का अनुगमन किया। उनके उदार एवं लोकोन्मुखी दृष्टिकोण से राज्य मे हिन्दू, बौद्ध एवं जैन धर्म स्वतंत्र रूप मे पल्लवित हुए। यही कारण है कि जहाँ कलचुरि नरेशों द्वारा संरक्षित धर्म की मूर्तियाँ एवं देवालय प्राप्त होते है वहाँ जैनधर्म की प्रतिमाओं का भी बाहुल्य है।

विवेच्य युगीन जैन शिल्पकला से सम्बन्धित सुन्दर एवं भावयुक्त मूर्तियाँ मध्यप्रदेश के जबलपुर, बिलासपुर, रायपुर, रीवा, शहडोल आदि जिलों से उपलब्ध हुई है। ये प्रतिमाएँ इस बात की साक्षी है कि विवेच्य काल में इन भूभागो पर जैनधर्म का व्यापक प्रभाव था।

कलचुरिकालीन जैन प्रतिमाओं को हम प्रतिमाशास्त्रीय अध्ययन के दृष्टिकोण से चार भागो मे विभक्त कर सकते हैं—(१) तीर्थंकर प्रतिमाएँ, (२) शासनदेवियाँ, (३) श्रुत देवियाँ, (४) अन्य चित्रण।

तीर्थंकर प्रतिमाएँ

कलचुरि काल की उपलब्ध तीर्थंकर प्रतिमाएँ आसन एवं स्थानक दोनों मुद्राओं में है। तीर्थंकरों की स्वतन्त्र प्रतिमाओं के अतिरिक्त द्वितीर्थिक प्रतिमाएँ भी मिली है।

आसन मूर्तियां—तीर्थंकरों की आसन प्रतिमाओं में आदिनाथ, चन्द्रप्रभ, शांतिनाथ एवं महावीर की ही प्रतिमाएँ मिली है। इनमें आदिनाथ की प्रतिमाएँ सर्वाधिक है। ये कारीतलाई, तेवर, मल्लार, रतनपुर आदि से प्राप्त हुई है।

आदिनाथ की ६ ½ फुट ऊँची एक प्रतिमा कारीतलाई से प्राप्त हुई है। यह १०-११वी सदी ई० की है। इसे एक उच्च चौकी पर पद्मासन मे ध्यानस्थ अवस्था में दिखाया गया है। दुर्भाग्य से इस प्रतिमा का मस्तक, दक्षिण हस्त एवं बायाँ घुटना खंडित है। हृदय पर श्रीवत्स का प्रतीक एवं मस्तक के पीछे प्रभावमण्डल है। प्रभावमण्डल के ऊपर एक सुन्दर त्रिछत्र है। उसके दोनों पार्श्वों मे एक-एक महावतयुक्त हस्ति उत्कीर्ण है। छत्र के ऊपर दुन्दुभिक एवं हस्तियों के नीचे युगल विद्याधर हैं, जो नभमार्ग से पुष्पवृष्टि कर रहे हैं। विद्याधरो के नीचे दोनो पार्श्वों मे भगवान् के परिचारक सौधर्मेन्द्र एवं ईशानेन्द्र हाथों में चँवर लिये खडे है।

प्रतिमा की अलंकृत चौकी पर भगवान् ऋषभनाथ का लाछन वृषभ चित्रित है। वृषभ के नीचे और चौकी के ठीक मध्य में धर्मचक्र तथा उसके दोनों ओर एक-एक सिंह है। सिंहासन के दाहिने पार्श्व में शासनदेव गोमुख एव वाम पार्श्व में शासनदेवी चक्रेश्वरी ललितासन मुद्रा में है।

इसी स्थल से प्राप्त ऋषभनाथ की अन्य प्रतिमाएं उपरिवर्णित प्रतिमा की ही भाँति है। एक प्रतिमा ३ फुट ९ इंच ऊँची है और उसके सिंहासन पर सिंहों के जोड़े के साथ हस्तियों का भी एक जोड़ा प्रदर्शित किया गया है। कारीतलाई की ऋषभनाथ की ये प्रतिमाएँ श्वेत बलुये प्रस्तर की है।

जबलपुर के हनुमानताल के किनारे स्थित दिगम्बर जैन मंदिर में ऋषभदेव की एक अतीव सुन्दर प्रतिमा सुरक्षित है। यह मूर्ति त्रिपुरी से लाई गई है। आदिनाथ की यह प्रतिमा पद्मासनस्थ है। यह परिकर युक्त है तथा इसकी प्रभामण्डल की रेखाएं अति सूक्ष्म हैं। प्रभामण्डल

के मध्य मे छत्र-दण्ड है। छत्र-दन्ड के ऊपर वर्तुलाकार त्रिछत्र है जो लगभग २ फुट ८ इंच ऊंचा है। इसके ऊर्ध्व भाग में वैभव के प्रतीक दो हस्ती अभिषेक करते हुए दिखाये गये है। हस्तियो के शूर्पकर्ण के उठे हुए भाग, उनके गाल की खिची हुई रेखाये एवं चक्षु के ऊपर का खिचाव कला की उच्चता के द्योतक है। परिकर पर हस्ति पद्म पर आधृत है। छत्र के नीचे दोनो पार्श्वों मे यक्ष एवं चार अप्सराएँ गगन-विहार करती हुई अंकित है। पुष्पधारी गंधर्व का अंकन भी सुन्दर है। परिचारक के नीचे दोनो पार्श्वों मे नारियो की खड़ी मूर्तियाँ है जिनके अंग-प्रत्यंग आभूषणो से अलंकृत है।

कलचुरिकालीन सपरिकर पद्मासनस्थ जिन प्रतिमाओं मे यह श्रेष्ठ है। शिल्प की दृष्टि से इतना सुन्दर और उत्कृष्ट परिकर अन्यत्र दुर्लभ है। अष्टप्रतिहार्य, यक्ष-यक्षिणी, उपासक दम्पति एवं नवग्रहो जैसे जैनकला मे साधारणत पाये जाने वाले तत्त्वो के साथ-साथ मूर्तिकार ने इसमे कुछ अजैन तत्त्वों का भी समावेश किया है।

द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ की प्रतिमाएं रीवाँ एवं सिंहपुर (शहडोल) से उपलब्ध हुई है। इनमे तीर्थंकर को ध्यानमुद्रा मे दिखलाया गया है। मस्तक के पीछे प्रभा-मण्डल एवं त्रिशक्ति का प्रतीक (इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया) त्रिछत्र है। आसन के नीचे पादपीठ पर उनका लांछन हस्ति तथा यक्ष-यक्षी (महायक्ष एवं रोहिणी) अंकित है।

आठवे तीर्थंकर चन्द्रप्रभ की प्रतिमा रतनपुर से उपलब्ध हुई है। यह भी ध्यानमुद्रा मे है। मस्तक के पीछे आभामण्डल एवं त्रिछत्र है। त्रिछत्र के ऊपर दुदुभिक अंकित है। छत्र के दोनों पार्श्वों मे एरावत हस्ति तथा हस्ति के नीचे पुष्पमालाएँ लिये विद्याधर अंकित हैं। तीर्थंकर के दक्षिण पार्श्व में सौधर्मेन्द्र एवं वाम पार्श्व में ईशानेन्द्र हैं। कीर्तिमुख युक्त पादपीठ पर उनका लांछन चन्द्र तथा श्रावक-श्राविका हैं। चन्द्रप्रभ के यक्ष-यक्षी (श्याम एवं ज्वालामालिनी) का यथास्थान अंकन है।

शातिनाथ की १२वी सदी ई० की एक प्रतिमा जबलपुर सग्रहालय मे सुरक्षित है। पादपीठ पर दो सिंहों के मध्य मे उनका लांछन हिरण अंकित है। यक्ष गरुड़ और यक्षी महामानसी भी अंकित किये गए हैं।

बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ की १०वीं सदी की एक प्रतिमा धुबेला सग्रहालय में है। ध्यानमुद्रा मे अवस्थित इस प्रतिमा के मस्तक के ऊपर एक छत्र है। छत्र के दोनों ओर एक-एक हस्ति तथा उनके ऊपर तीर्थंकरों की प्रतिमाए हे। ये लघु तीर्थंकर प्रतिमाएँ संख्या मे २२ हैं, इनमें पार्श्वनाथ एव महावीर का अंकन नही है। पादपीठ पर उनका लांछन शंख है। यक्ष-पत्नी (गोमेष एवं अंबिका) का यथास्थान अंकन है।

त्रिपुरी मे नेमिनाथ की एक खंडित प्रतिमा प्राप्त हुई है। किन्तु अवशिष्ट भाग इसकी पहचान के लिए पर्याप्त है। इसमे बायी ओर पुरुष (यक्ष) और दायी ओर स्त्री (यक्षी) तथा मध्य मे एक वृक्ष की डाल पर धर्मचक्र के समान गोलाकार आकृति उत्कीर्ण है। यक्ष-यक्षी के विभिन्न अंगो पर सुरुचिपूर्ण आभूषण हैं। आम के दो पत्तों के बीच चौकीनुमा आसन पर भगवान नेमिनाथ ध्यानस्थ हैं। दोनों ओर खड्गासनस्थ एवं ध्यानस्थ जिन मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। कलात्मक दृष्टि से यह प्रतिमा उस समय की उत्कृष्ट जैन प्रतिमाओ मे है। मुख-मुद्रा मुग्धता, नैसर्गिक सौन्दर्य एवं सजीवता से ओत-प्रोत है और शिल्पी के परिनिष्ठित कौशल की द्योतक है।

भगवान् पार्श्वनाथ की प्रतिमाएँ अन्य तीर्थंकरों की तुलना में सर्वाधिक है। ये प्रतिमाएँ अड़भार, मल्लार (बिलासपुर), कारीतलाई (जबलपुर), सिंहपुर (शहडोल) एवं शहपुरा (मण्डला) आदि स्थलों से प्राप्त हुई है।

उपलब्ध प्रतिमाओ मे कारीतलाई से प्राप्त तथा महन्त घासीराम संग्रहालय, रायपुर मे संगृहीत एक प्रतिमा ३ फुट ६ इंच ऊँची है। पार्श्वनाथ प्रतिमा का यह चतुर्विंशति पट्ट है : इसमें मूलनायक पार्श्वनाथ को ध्यानस्थ अवस्था मे दिखाया गया है। उनके नेत्र अर्धनिमीलित हैं तथा उनकी दृष्टि नासाग्र पर स्थिर है। उनकी ठुड्डी नुकीली, कान लम्बे एव केश घुँघराले एवं उष्णीषबद्ध है। हृदय पर श्रीवत्स चिह्नांकित है।

पार्श्वनाथ को सर्प पर विराजमान दिखाया गया है। सर्प की पूंछ नीचे लटक रही है तथा उसका सप्तफण छत्र तीर्थंकर के मस्तक के ऊपर छाया किये हुए है। सप्तफण छत्र के ऊपर कल्पद्रुम के लटकते हुए पत्ते और उनके ऊपर दुंदभिक हैं। फण के दोनों ओर महावतयुक्त गज उत्कीर्ण है। महावतों के शीर्ष भाग खंडित हैं। गजकों

नीचे दोनों पार्श्वों में एक-एक विद्याधर पुष्पमाला धारण किये हुए हैं। तीर्थंकर के दायें-बायें सौधर्मेन्द्र एवं ईशानेन्द्र चँवर धारण किये हुए खड़े है। प्रतिमा के तीन ओर की पट्टियो पर अन्य तीर्थंकरों की लघु आकृतियाँ हैं। दाहिनी ओर की पट्टी पर ९ एवं बाई ओर की पट्टी पर ८ प्रतिमाए है। शेष ६ तीर्थंकरों की प्रतिमाएं ऊपर की आडी पट्टी पर निर्मित थी, जो अब खंडित हो गई हैं। इस प्रकार मूलनायक को मिलाकर इसमे २४ तीर्थंकर है। प्रतिमा की चौकी पर दो सिंहो के मध्य मे धर्मचक्र है। सिंहों के पास धरणेन्द्र एवं पद्मावती बैठे है। उनके मस्तक पर भी सर्पफण है। यह प्रतिमा १०-११वी सदी ई० की है।

जैनधर्म के अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर की आसन प्रतिमाएँ कारीतलाई एवं लखनादौन (सिवनी) से प्राप्त हुई है। कारीतलाई से प्राप्त प्रतिमा मे तीर्थंकर सिंहासन पर ध्यानस्थ बैठे है। उनके केश घुंघराले तथा उष्णीषबद्ध हैं तथा हृदय पर श्रीवत्स चिह्न अंकित है। प्रतिमा का तेजोमण्डलयुक्त ऊपरी भाग तथा वाम पार्श्व खंडित है। तीर्थंकर के दक्षिण पार्श्व की पट्टी पर उनके परिचारिक सौधर्मेन्द्र खड़े है तथा अन्य तीर्थंकरो की चार पद्मासनस्थ प्रतिमाएं हैं। उच्च चौकी के मध्य मे धर्मचक्र के ऊपर महावीर का लाछन सिंह अंकित है। लांछन के दोनो पार्श्वों मे एक-एक सिंह चित्रित है। धर्मचक्र के नीचे एक स्त्री लेटी हुई है जिसके चरणो मे पड़े रहने का आभास होता है। महावीर का यक्ष मातंग अंजलिबद्ध खड़ा है किन्तु यक्षी सिद्धायिका चँवर लिये हुए है। दोनो ओर पूजक भी प्रदर्शित किये गए है।

कलचुरिकालीन लखनादौन से प्राप्त महावीर की इस प्रतिमा के गुच्छकों के रूप में प्रदर्शित केशविन्यास उष्णीषबद्ध है। उनकी दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर स्थित है। प्रशांत नयन, सुन्दर भौहे, अनूठी नासिका के नीचे मन्दस्मित ओष्ठ मे ऐसा प्रतीत होता है मानो भगवान् महावीर की अमृतवाणी जैसे स्फुटित होना ही चाहती है। सुगठित चिबुक, चेहरे की भव्यता एवं गरिमापूर्ण रचनाकुशल शिल्पी के सधे हाथो की परिचायक है। प्रतिमा के कर्ण लम्बे है जिन पर अंकित कर्णफूल अति शोभायमान हो रहे है। ग्रीवा की त्रिरेखा, सम्यकदर्शन, सम्यकज्ञान एव सम्यक्चरित्र को प्रदर्शित करती है। सबसे ऊर्ध्व भाग पर त्रिछत्र हैं जो त्रिशक्ति का प्रतीक है। त्रिछत्र में मोतियों की पाँच लटकनें हैं जो पंचतत्त्वों से परे त्रिकाल ज्ञान की परिचायक है। त्रिछत्र के नीचे सृष्टि के प्रतीक तीन पद्मों से गुम्फित त्रिछत्र है। मस्तक के पीछे आकर्षक प्रभामण्डल धर्मचक्र के रूप मे है।

स्थानक मूर्तियां— कलचुरिकालीन तीर्थंकरो की स्थानक प्रतिमाएँ अल्प मात्रा मे प्राप्त हुई है। उपलब्ध प्रतिमाओं में शातिनाथ की दो एवं महावीर की एक प्रतिमा है। कारीतलाई से तीर्थंकर की एक अन्य प्रतिमा उपलब्ध हुई है परन्तु लाछन के अभाव मे उसकी पहचान संभव नही है।

कारीतलाई से प्राप्त शातिनाथ की एक प्रतिमा लगभग ३ फुट ७ इंच ऊँची है। यह कायोत्सर्गमुद्रा मे खड़ी है। प्रतिमा का मस्तक खंडित है। हृदय पर श्रीवत्स का चिह्न, मस्तक के पीछे प्रभामण्डल, मस्तक के ऊपर त्रिछत्र एवं पुष्पमालाओ से युक्त विद्याधर तथा तीर्थंकर के दायें-बाये परिचारक इन्द्र आदि है। पादपीठ पर इनका लाछन मृग उत्कीर्ण है। चौकी पर यक्ष-यक्षी (गरुड और महामानसी) है।

बहुरीबंद मे प्राप्त प्रतिमा १३ फीट ऊँची है। स्थानीय लोग इसे खनुआ देव के नाम से पूजते है। श्याम पाषाण मे निर्मित इस प्रतिमा पर एक लेख है जिसका भावार्थ यह है कि यह प्रतिमा महासामंताधिपति गोल्हण देव राठौर के समय मे बनी, जो कलचुरि राजा गयकर्णदेव के अधीन वहाँ का शासक था। गयकर्ण का काल १२वी सदी ई० है। अतः इस प्रतिमा का काल १२वी सदी ई० हुआ।

भगवान् महावीर की ४ फुट ४ इंच × १ फुट ६ इंच आकार की एक प्रतिमा जबलपुर से प्राप्त हुई है जो आजकल फिलाडेल्फिया म्यूजियम आफ आर्ट संग्रहालय मे है। १०वीं सदी ई० मे निर्मित श्याम बादामी बलुआ प्रस्तर से निर्मित महावीर की यह नग्न प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा में है। हृदय पर श्रीवत्स चिह्न अंकित है। मूर्ति के नीचे दो लघु पार्श्वरक्षक एवं उनके सामने एक-एक भक्त घुटने के भार पर बैठे हैं। महवीर के शीर्ष के प्रत्येक पार्श्व पर गधर्व का अंकन है। तीर्थंकर मस्तक के ऊपर त्रिछत्र है। छत्र के किनारे दो हस्ति अंकित हैं। मूर्ति में अंकित सिंह के कारण यह प्रतिमा महावीर की ज्ञात होती है।

द्वितीर्थिक प्रतिमाएँ—कलचुरिकालीन तीर्थंकर प्रतिमाओं की आसन एवं स्थानक मुद्रा में द्वितीर्थिक प्रतिमाएँ भी हैं। इनमें स्थानक प्रतिमाएँ अधिक हैं। अधिकांश प्रतिमाएँ कारीतलाई से प्राप्त हुईं हैं तथा वे श्वेत बलुआ प्रस्तर से निर्मित है।

कारीतलाई से प्राप्त द्वितीर्थिक प्रतिमाएँ कला की दृष्टि से उत्कृष्ट है। इनमें से प्रत्येक में दो-दो तीर्थंकर कायोत्सर्ग अथवा ध्यानमुद्रा में अंकित हैं। उनकी दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर केन्द्रित है। तीर्थंकरों के साथ अष्टप्रतिहार्यों के अतिरिक्त उनके शासनदेवो तथा लांछन का अंकन है।

उपलब्ध प्रतिमाएँ ऋषभनाथ एवं अजितनाथ, अजितनाथ एवं संभवनाथ, पुष्पदंत एवं शीतलनाथ, धर्मनाथ एव शांतिनाथ, मल्लिनाथ एव मुनिसुव्रतनाथ तथा पार्श्वनाथ एव नेमिनाथ की है।

शासनदेवियाँ

कलचुरि कला में जैन शासनदेवियों की प्रतिमाएँ स्थानक एव आसन दोनो मुद्राओ मे प्राप्त हुई है।

आसन प्रतिमाएँ—आसन प्रतिमाओ मे अंबिका, चक्रेश्वरी, एवं पद्मावती की प्रतिमाएँ प्रमुख है। इनके अतिरिक्त सोहागपुर (शहडोल) से कुछ अन्य शासनदेवियों की मूर्तियाँ प्राप्त हुई है जिनका समीकरण लांछन के अभाव में संभव नही है।

देवी अंबिका तीर्थंकर नेमिनाथ की यक्षिणी है। यह सिंहारूढ़ एवं हाथो में आम्रगुच्छ, पुष्पगुच्छ, शिशु एवं अंकुश लिए हुये चित्रित की जाती है। इसके आम्रगुच्छ प्रतीक के कारण ही इसे आम्रादेवी कहा जाता है।

कलचुरिकालीन अम्बिका की प्रतिमाओ में रायपुर संग्रहालय में संरक्षित, कारीतलाई से प्राप्त प्रतिमा कलात्मक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। सफेद छीटेदार रक्त बलुआ प्रस्तर से निर्मित यह प्रतिमा ललितासन मुद्रा मे सिंहारूढ़ है। अम्बिका का वाहन सिंह ही है। द्विभुजी इस प्रतिमा के दाहिने हाथ मे आम्रलुम्बि है एवं बायें हाथ से वह अपने कनिष्ठ पुत्र प्रियशंकर को पकड़े हुए है। प्रियशकर उसकी गोद में बैठा हुआ है। अम्बिका का ज्येष्ठ पुत्र शुभंकर अपनी माता के दाहिने पाद के निकट बैठा हुआ है। अम्बिका का मुस्कराता हुआ मुख सौदर्यपूर्ण है। मस्तक के ऊपर स्थित आम्रवृक्ष वाला भाग खंडित है। प्रतिमा का केशविन्यास सुन्दर है। सर्वाभरण भूषित इस प्रतिमा के दोनों पार्श्वों में एक-एक परिचारिकाएँ खडी हैं। दक्षिण पार्श्व की परिचारिका अपने वाम हस्त मे अधोवस्त्र पकडे है, उसके दक्षिण हस्त में सम्भवत: पद्म है। प्रतिमाविज्ञान की दृष्टि से यह मूर्ति १०वीं सदी की ज्ञात होती है।

तेवर के बालसागर नामक सरोवर के मध्य में स्थित एक आधुनिक मंदिर मे एक उत्कृष्ट अभिलिखित शिलापट्ट सुरक्षित है। यह अलंकृत स्तम्भो द्वारा तीन कक्षो मे विभक्त है। मध्यवर्ती कक्ष मे तीर्थंकर पार्श्वनाथ की चतुर्भुज यक्षी पद्मावती पद्मासन मे आसीन है। उसके ऊपरी दोनों हाथों मे सनाल पद्म और बाण निचले हाथ मे पूर्ण कलश है। निचला दायां हाथ अभय मुद्रा में है। मस्तक के ऊपर सात फणों से युक्त नाग उत्कीर्ण है जो पार्श्वनाथ का लांछन है। शेष दो कक्षो मे विविध आयुध लिए चतुर्भुजी यक्षिणिया उत्कीर्ण है। निचले भाग पर १०वी शती ईसवी की नागरी मे 'श्री वीरनन्दि आचार्येन प्रतिमाश्र कारापिता' लेख उत्कीर्ण है। इससे पता चलता है कि इस पट्ट का निर्माण आचार्य वीरनन्दि ने कराया था।

सोहागपुर की दो मूर्तियो मे से प्रथम मूर्ति सुपार्श्व अथवा भगवान् पार्श्वनाथ (कलिका या पद्मावती) से सबंधित है क्योकि देवी के मस्तक पर विराजित जिन प्रतिमा के मस्तक के ऊपर सर्पछत्र है। देवी के मस्तक पर भी सर्पछत्र है। द्वादशभुजी इस प्रतिमा के वामहस्तो मे चक्र, वज्र, परशु, असि, शर तथा छठा हस्त वरदमुद्रा में प्रदर्शित है। दक्षिण हस्तो मे धनु, अंकुश, पाश, दंड, पद्म तथा एक हाथ खंडित है।

स्थानक प्रतिमाएँ—जैन शासन देवी की स्थानक प्रतिमाएँ अल्पमात्रा में मिली है। इनमे कारीतलाई से प्राप्त तथा रायपुर संग्रहालय मे सुरक्षित अंबिका की प्रतिमा महत्त्वपूर्ण है।

अंबिकादेवी आम्रवृक्ष के नीचे एक सादी चौकी पर त्रिभंगमुद्रा मे खडी है। द्विभुजी प्रतिमा के दाहिने हाथ मे आम्रलुबि है एवं बाएँ हाथ मे वह कनिष्ठ पुत्र प्रियशंकर को गोद मे उठाये है, ज्येष्ठ पुत्र शुभशकर पैरों के निकट खड़ा है। आम्रवृक्ष पर नेमिनाथ की छोटी-सी पद्मासनस्थ प्रतिमा है। वृक्ष के दोनो ओर खड़ी एक एक विद्याधरी

पुष्पवृष्टि करती दिखाई गई है। यक्षिणी का वाहन सिंह उसके पैरों के पीछे है।

श्रुत देवियाँ

जैन देवी-देवताओं में ज्ञान की अधिष्ठात्री सरस्वती देवी का विशिष्ट स्थान है। दिगम्बर संप्रदाय के अनुसार इसका वाहन मयूर एवं श्वेताम्बर संप्रदाय के अनुसार हंस है।

कलचुरि कला मे श्रुत-देवियों की प्रतिमाएँ अत्यल्प हैं। कारीतलाई से सरस्वती की एक मूर्ति मिली है जो रायपुर सग्रहालय मे सुरक्षित है। प्रतिमा अत्यन्त खडित है। देवी का मस्तक और हाथ खडित है। प्रभामण्डल पूर्ण एवं स्पष्ट है। ललितासनारूढ देवी के तन पर विभिन्न आभूषण हैं। चतुर्भुजी देवी के दक्षिण निचले एवं वाम ऊर्ध्व हस्त मे वीणा है। दोनों ओर विद्याधर है।

अन्य चित्रण

इसके अन्तर्गत सर्वतोभद्रिका एव सहस्र जिनबिम्ब का वर्णन किया गया है। एक सर्वतोभद्रिका प्रतिमा कारीतलाई से प्राप्त हुई हैं। इसका शीर्ष भाग शिखरयुक्त है तथा इसके चारों ओर एक-एक तीर्थकर पद्मासन मे ध्यानस्थ बैठे हैं। चार तीर्थकरो मे से केवल पार्श्वनाथ ही स्पष्ट-रूपेण पहिचाने जा सकते है। अन्य तीन सम्भवत ऋषभनाथ, नेमिनाथ एवं महावीर है, क्योकि सर्वतोभद्रिका प्रतिमाओ मे चार विशिष्ट तीर्थकरो के चित्रण की ही परम्परा है।

रायपुर सग्रहालय मे कारीतलाई से प्राप्त एक स्तभाकृति शिल्पखण्ड पर सहस्र जिनबिम्ब उत्कीर्ण है। यह जैन ग्रन्थो मे वर्णित सहस्रकूट जिनचैत्यालय का प्रतीक है। इसके चारों ओर छोटी-छोटी बहुत-सी जिन प्रतिमाएँ अंकित हैं। सभी जिनप्रतिमाएँ पद्मासनस्थ हैं तथा वे सहस्र की सख्या में है। सभी के मस्तक के पीछे पद्माकृति एवं तेजोमंडल है।

कलचुरिकालीन मूर्तियों के समस्त उदाहरणों का सर्वेक्षण यह सिद्ध करता है कि इनके रूपायन मे शिल्पकारो ने सुनिश्चित परम्परा और मान्य प्रतिमालक्षण का अनुगमन किया है।

डाहल क्षेत्र की कला उच्चकोटि की है। महाकोशल की कला मे रतनपुर क्षेत्र की कला मे रूढ़िवादिता अधिक एवं मौलिकता कम है। यहाँ की कला मे हमे मौलिकता एवं चारुता तथा भावाभिव्यक्ति के वैसे दर्शन नही होते जैसे त्रिपुरी एवं उसके निकटवर्ती क्षेत्रो की कला में होते है।

दक्षिण कोशल के शिल्पी एक विशेष प्रकार के काले प्रस्तर का प्रयोग करते थे। यहाँ की मूर्तियो के ओष्ठ पूर्वापेक्षा लम्बे और पतले है। मुखमण्डल की गोलाई और लम्बाई के मान मे भी अन्तर मिलता है।

त्रिपुरी शैली की अपनी कुछ विशेषताएं है जैसे—मूर्ति का मुखमण्डल गोल न होकर अडाकार है। ठुड्डी कुछ उभरी और नुकली है। भौहो, पलको एव नासिका से अंकन मे कुछ नुकीलापन है। ओष्ठ, वक्षस्थल, कटिप्रदेश इत्यादि के अंकन मे कलाकार ने सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया है।

विवेच्य युगीन शिल्पकला मे यद्यपि रूप-रम्यता के के साथ सामान्य से सामान्य बातो को प्रकट करने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है तथापि इस मूर्तिकला पर गुप्तकालीन कला का प्रभाव निश्चित रूप से दृष्टिगोचर होता है। कलचुरिकालीन जैन प्रतिमाओ मे चदेलो की अपेक्षा अधिक सौकुमार्य, उत्तम अगविन्यास एव सुन्दर भावो की अभिव्यक्ति के साथ-साथ शरीरगत एव भागवत लक्षण उत्कृष्ट है। कला मे मौलिकता के दर्शन भी होते है।

卐

विशालकीर्तिरचित प्रक्रियासार कौमुदी

☐ श्री अगरचन्द नाहटा, बीकानेर

जैन साहित्य अपनी विशालता और विविधता की दृष्टि से भारतीय साहित्य में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है क्योंकि जैन धर्मानुयाइयों की संख्या वैदिक सनातनी हिन्दुओं की अपेक्षा बहुत कम है। इतनी अल्प संख्या वाले जैन समाज का इतना विशाल साहित्य निर्माण और संरक्षण बहुत ही उल्लेखनीय रहा है। जैनों का प्राथमिक साहित्य प्राकृत भाषा मे है। विक्रम की पहली-दूसरी शताब्दी मे जैन विद्वानो ने संस्कृत मे भी लिखना प्रारम्भ किया, पर यह बहुत ही उल्लेखनीय है कि जैनों का प्राथमिक संस्कृत साहित्य भी बहुत प्रौढ है। महामना उमास्वाति, सिद्धसेन, समन्तभद्रादि रचित संस्कृत साहित्य इसका प्रबल प्रमाण है। इसके दो प्रधान कारण है। पहला तो यह है कि बहुत से जैनाचार्य और विद्वान् ब्राह्मण परम्परा से आये, अत. सस्कृत भाषा पर उनका अच्छा अधिकार रहा। दूसरा कारण है समकालीन विद्वानो से टक्कर लेना। कारण, इस समय का वातावरण दार्शनिक विषयो पर गंभीर चर्चा व राजसभाओं मे प्रतिष्ठा प्राप्त्यर्थ सस्कृत भाषा व जैनेतर साहित्य पर भी अच्छा अधिकार होना आवश्यक था।

विश्व मे संस्कृत के समान व्याकरणादि की दृष्टि से कोई भी भाषा इतनी प्रौढ और समृद्ध नही है। पाणिनी-व्याकरण के बाद तो सस्कृत बहुत चुस्त व कडे नियमो मे आबद्ध हो गई, वैदिक सस्कृत से कुछ अलग-सी पड गई। सस्कृत भाषा मे साहित्य रचना करने के साथ-साथ जैन विद्वानो को व्याकरण, कोश आदि विषयक ग्रन्थ बनाना भी आवश्यक हो गया, अत: सर्वप्रथम जैनेन्द्र व्याकरण, फिर शाकटायन व्याकरण की रचना पूज्यवाद और शाकटायन द्वारा हुई। जैन व्याकरण ग्रन्थ की पूर्णता कलिकाल-सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र द्वारा हुई। वैसे छोटे-बडे सैकड़ो ग्रन्थ जैन विद्वानो ने व्याकरण विषयक लिखे है। उनमें कुछ तो जैनेतर व्याकरण ग्रन्थो की टीकाओं के रूप मे है और कुछ मौलिक है। इस विषय मे कतिपय जैन विद्वानो के निबन्ध पहले भी प्रकाशित हुए है पर गत वर्ष मे श्री कालूगणी जन्म शताब्दी महोत्सव समिति, छापर द्वारा संस्कृत-प्राकृत जैन व्याकरण और कोश की परम्परा नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। उसमे जैन संस्कृत व्याकरण ग्रथों पर कई विद्वानों के निबन्ध छपे हैं। इस ग्रन्थ के पृष्ठ १२७ मे सारस्वत व्याकरण की टीकाओं में प्रक्रिया वृत्ति का परिचय देते हुए डा० जानकी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है: "खरतरगच्छी मुनि विशालकीर्ति ने सत्रहवी शती मे प्रक्रियावृत्ति की रचना की, बीकानेर मे श्री अगरचद नाहटा के संग्रह में इसकी हस्तलिखित प्रति है।"

डा० जानकीप्रसाद द्विवेदी को इस रचना की कोई प्रति नही मिली, इसीलिये केवल इतना-सा उल्लेख किसी अन्य आधार से कर दिया। जब कालूगणी शताब्दी का आयोजन हो रहा था, तब सरदारशहर के डा० छगनलालजी शास्त्री ने मुझसे पूछा कि सारकौमुदी नामक जैन व्याकरण ग्रन्थ की क्या आपको जानकारी है? तो मैने उन्हे अपने संग्रह की विशालकीर्तिरचित प्रक्रियासारकौमुदी की प्रतियों का विवरण भेज दिया।

आचार्य तुलसी ने कालूगणि के जीवनवृत्त के पृष्ठ ४१ पर लिखा है कि आर्यवर (कालूगणि) ने यह अनुभव किया कि सिद्धान्तचन्द्रिका का पूर्वार्द्ध अपर्याप्त है। सारस्वत का उत्तरार्द्ध भी अपर्याप्त है। अत: वे अपने शिष्यों को सारस्वत का पूर्वार्ध और सिद्धान्तचंद्रिका का उत्तरार्ध पढाते थे। कुछ वर्षों बाद उनके मन में इसका विकल्प खोजने की प्रेरणा जागी। प्रयत्न शुरू हुआ। मुनि मगनमल जी बहुत दूरदर्शी, सूक्ष्मबुद्धि के धनी थे। वे यतियो के उपाश्रय मे जाते, उनके पुस्तक भडार देखते और जो हस्तलिखित ग्रन्थ प्राप्त होते, उन्हें ले आते। उन्होंने हस्तलिखित ग्रंथों का महत्त्वपूर्ण संग्रह किया। उनमें अनेक दुर्लभ ग्रन्थ हैं। लिपि-सौंदर्य की दृष्टि से भी वे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। कुछ श्रावको ने भी यतियों के पुस्तक भंडारो से अनेक ग्रन्थ खरीदे। इस प्रकार जैन साधुओ और श्रावको के पास हस्तलिखित ग्रन्थों का एक अच्छा संग्रह हो गया।

कालूगणि को सारकौमुदी की एक प्रति प्राप्त हुई। उसे पाकर आचार्यवर को संतोष हुआ।

भाद्रा में मुनि चम्पालालजी को विशाल-कीर्तिगणिकृत शब्दानुशासन-अष्टाध्यायी की एक प्रति मिली, वे उसे प्राप्त कर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उस ग्रन्थ को आचार्य वर को भेंट किया। आचार्यवर ने उसे देख आश्चर्य मिश्रित हर्ष प्रकट किया और उस उपलब्धि के लिए उन्हें साधुवाद दिया।

इस ग्रन्थ के पृष्ठ ४६ मे तुलसीगणि ने लिखा है कि विशाल-शब्दानुशासन के परिभाषासूत्र सरल थे, हेमशब्दानुशासन से कठिन। प० रघुनन्दनजी दोनों को पढाते थे। आचार्यवर भी दोनों को देखते रहते थे। उनकी यह धारणा बन गई कि हेमशब्दानुशासन के सूत्र कठिन है, उसका प्रक्रिया ग्रन्थ भी प्राप्त नही है इसलिए विशाल-शब्दानुशासन मे ही आवश्यक सशोधन कर उसे अध्ययन मे प्रयुक्त करना चाहिए।

मुनि चौथमलजी आचार्यवर की इस इच्छा की सम्पूर्ति मे लग गए। वे विशाल-शब्दानुशासन के अध्येता थे। पं० रघुनन्दन जी का उन्हे सहयोग मिला। विशाल शब्दानुशासन के परिष्कार का कार्य प्रारम्भ हो गया।

विशाल शब्दानुशासन को परिष्कृत करने का उपक्रम चला था, पर उसमे इतना परिवर्तन हो गया कि एक नया ही व्याकरण ग्रथ बन गया। उसका नाम भिक्षुशब्दानुशासन रखा गया। मुनि चौथमल जी ने भिक्षुशब्दानुशासन के प्रक्रिया ग्रथ के रूप मे कालूकौमुदी की रचना की। पडित जी ने भिक्षुशब्दानुशासन का पद्यबद्ध लिगानुशासन तैयार किया। न्यायदर्पण, उणादिपाठ, धातुपाठ और गणपाठ भी तैयार हो गया। इस प्रकार देखते-देखते महाकाव्यकरण सर्वांग परिपूर्ण हो गया।

यहाँ इतना लबा उद्धरण देने का आशय यह है कि जैन संप्रदाय का व्याकरण संबन्धी कार्य सारकौमुदी और विशाल-शब्दानुशासन पर आधारित है। इनमे से विशाल-शब्दानुशासन की प्रति के विषय मे मैने मुनि नथमल जी से पूछताछ की, पर उसकी प्रति का पता नही चला। नाम को देखते हुए वह विशालकीर्ति की ही विशाल रचना है। विशाल-कीर्ति की सारकौमुदी की प्रति का विवरण डा० नथमलजी टाटिया द्वारा प्राप्त किया। हमारे संग्रह की प्रक्रियासारकौमुदी की तीन हस्तलिखित प्रतियों से मिलान करके देखा तो दोनों रचनाएं एक ही सिद्ध हुईं। इस महत्वपूर्ण जैन व्याकरण ग्रंथ की हस्तलिखित प्रतियाँ बहुत ही कम प्राप्त हैं। हमारे संग्रह की प्रतियां १८वीं शती के पूर्वार्द्ध की लिखी हुई हैं। अंतिम तीसरी प्रति के अंत में लिखा है—"वा० हेमहर्षगणिभिः। वा० यशोलाभ गणिभ्यप्रदत्तनया ।।३।।"

प्रथम प्रति समास प्रक्रिया के अंत में लिखा है—इत्याचार्य श्री सागरचंद्र सूरि संतानीय वाचनाचार्य श्री विशालकीर्तिगणि विरचितायां प्रक्रियासार कौमुद्या समास प्रक्रिया।

वाचनाचार्य श्री यशोलाभ गणीनामंतेवासी पं० युक्तिसुंदर मुनि वाचनार्थं ।। स्यादि प्रक्रिया समाप्ता सार कौमुद्यामिति ।।१ वृत्ति.

बीच की न० २ प्रति द्विरुक्त प्रक्रिया की है। सभी प्रतियो में इस रचना का नाम "प्रक्रियासारकौमुदी" लिखा हुआ मिलता है एवं प्रारम्भिक मंगलाचरण श्लोक में भी यही नाम है, अत. सारकौमुदी यह नाम पूरा नहीं है। इसी कारण जब मुझसे सारकौमुदी के विषय मे पूछा गया तो मैंने लिखा कि इस नाम का तो कोई ग्रंथ नही, पर प्रक्रियासारकौमुदी की प्रति तो हमारे यहाँ है। हमारे सग्रह की तीनों प्रतियाँ उदहीभक्षित है और प्रथम प्रति मे तो प्रारम्भिक पत्रो का काफी अश खडित है। इस रचना का आदि और अंत इस प्रकार है-

आदि—श्री सर्वज्ञं समानम्य, गौतमादि मुनीन् गुरून्।
सारस्वतानुगां कुर्म्मः प्रक्रियासारकौमुदीम् ।।१।।

अंत्य प्रशस्ति–अनंतत्वन्न शक्यन्ते, शब्दा सर्वेऽनुशासितुम्।
अस्माभिरुक्ताः संक्षिप्य, बालव्युत्पत्तिसिद्धये ।।१।।
अव्याकृतानि सूत्राणि ग्रंथ बाहुल्य भीतितः।
सूत्रानुक्रम वृत्तौ तु व्याकरिष्यामि तान्यऽहम् ।।२।।
असद् वचस्तमस्तोहन्त्री, सच्चकोर प्रमोददा।
विशालकीर्तिगणिभिः प्रक्रियेमं प्रकाशिता ।।३।।
ज्ञानप्रमोदमाक् सस्याज्ञप्राप्त श्री शारदावरः।
विशालकीर्ति योऽधीते प्रक्रियासारकौमुदीम् ।।४।
जयति सकलभूतिविश्वविख्यात कीर्त्तिः,
सुरगिरी समधीर स्तर्जितानङ्ग वीरः।
विदित निखिल भावः श्री महावीर देवः,
सुदलित दुरितौघः प्रीणितः प्राणि सघः ।।५।।

(शेष पृष्ठ १३६ पर)

प्रमाणप्रमेयानुप्रवेश : एक महत्वपूर्ण कृति

□ श्री शीतलचन्द्र जैन, वाराणसी

जैन सिद्धान्त भवन, आरा की 'प्रमाणप्रमेयानुप्रवेश' शीर्षक पाण्डुलिपि को श्रद्धेय डा० दरबारीलाल जी कोठिया के यहाँ देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। डा० कोठिया जी ने वह पाण्डुलिपि मुझे दे दी और कहा कि इसका सम्पादन आप करें। इसके लिये वे मुझे निरन्तर प्रेरणा भी करते रहे। पर समय न मिलने से मैं उसकी ओर पूरा ध्यान न दे सका। इधर गत अगस्त माह के अन्तिम सप्ताह में अ० भा० दि० जैन विद्वत्परिषद् के तत्वावधान में गोकुलचन्द्र जी द्वारा 'अनुसंधान एवं सम्पादन प्रशिक्षण शिविर' का आयोजन किया गया। उससे मुझे उसके सम्पादन के लिये और अधिक उत्साह मिला। फलस्वरूप इस ग्रन्थ का सम्पादन की दृष्टि से अध्ययन करने का मुझे सुअवसर प्राप्त हुआ।

ग्रन्थ का अन्त: परिचय

यह लघुकाय ग्रन्थ न्याय विषय का है। इसमे षड्दर्शनों के प्रमाण और प्रमेयों का सुन्दर और सरल संस्कृत भाषा में परिचय कराया गया है। ग्रन्थ का प्रारम्भ एक मंगल श्लोक से हुआ है, जिसमे अनन्तचतुष्टय से युक्त तीर्थंकर को नमस्कार किया गया। वह मंगल श्लोक इस प्रकार है—

सादनन्त समाख्यात व्यक्तानन्तचतुष्टयम्।
त्रैलोक्ये यस्य साम्राज्यं तस्मै तीर्थकृते नमः॥

मध्य मंगल

ग्रन्थ के मध्य मे भी शुभचन्द्रदेव और माणिक्यनन्दि आचार्य को नमस्कार किया गया है। मध्य मंगल श्लोक इस प्रकार है —

जयतिशुभचन्द्रदेवः कंडूर्गणपुण्डरीकवनमार्तण्डः।
चंद्रत्रिडंडरो राद्धान्त पयोविपारगोबुधविनुतः॥
नमो माणिक्यनाथाय नाकनाथार्चिताङ्घ्रिये (दिवः)।

ग्रन्थ के अन्त में एक पुष्पिका वाक्य है जिसमे लिखा है कि 'इदं पुस्तकं परिधाविनामसम्वित्सरे दक्षिणायणे ग्रीष्मनां निज आषाढमासे कृष्णपक्षे दशम्याम् गुरुवारे दिवाद्यशघटिकाया वेणुपुरस्थितपन्नेचारी मठस्य श्री पत्यर्चक गौड सारस्वत ब्राह्मण विद्वद्कर्मी वेदमूर्ति वामननामशर्मण पंचमात्मजः केशवनामशर्मणा लिखितमितिसमाप्तमित्यर्थः, श्रारस्तु'।

उक्त पुष्पिका वाक्य से प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ को केशव नामक ब्राह्मण विद्वान् ने लिखा है। पुष्पिका वाक्य के पूर्व षड्दर्शन समुच्चय की 60 कारिकायें भी उल्लिखित हैं। प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार को इस ग्रन्थ के लिखने की प्रेरणा षड्दर्शन समुच्चय से प्राप्त हुई है क्योंकि शैली भी उसी प्रकार की अपनाई गई है।

प्रतिपरिचय

ग्रन्थ की इस प्रति में 13×6 इंच साइज के कुल 20 पत्र है। एक पत्र में एक ओर 10 पंक्तियाँ तथा एक पंक्ति में 32 अक्षर है। लिखावट शुद्ध है।

विषय परिचय

ग्रन्थ में जैन, बौद्ध, चार्वाक, नैयायिक-वैशेषिक, सांख्य और मीमासक इन छह दर्शनों के प्रमाण-प्रमेयों का परिचय कराया गया है। ग्रन्थकार ने 'इति षड्दर्शनप्रमाणप्रमेय संग्रहः' इस प्रकार उल्लेख कर स्पष्ट भी कर दिया।

जैनदर्शन

सर्वप्रथम आर्हतमत का प्रतिपादन करते हुये स्वामी समन्तभद्राचार्य के प्रमाण के लक्षण का अनुसरण किया गया है। लिखा है कि—'तावदर्हतोऽप्रतिहतशासनस्य तत्वज्ञान प्रमाणम्। तद् द्विविधं प्रत्यक्षं परोक्षञ्च च। स्पष्टमाद्यमस्पष्टमन्यत्। त्रिधा च सकलेतर-प्रत्यक्ष परोक्ष-भेदात्। करणक्रमव्यवधानापोढं सकलप्रत्यक्षम्। क्रमन्वित करणक्रमव्यवधानापोढं विकलप्रत्यक्षम्। इन्द्रियमनो-व्यापाराभिगखेतरार्थापेक्ष परोक्षम्।'

आगे नय का स्वरूप एवं उसके भेदो और सप्तभंगी का विवेचन किया गया है। अन्त मे द्रव्य, अस्तिकाय और पदार्थ को प्रमेय कहा है। लेखक ने इसमे एक जगह जैन-दर्शन के प्रति कितनी महत्वपूर्ण बात कही है कि "अस्मा-भिर्पुवर्नत्सविवेकमहापर्वतारढेरुप्रमतत्वशिखरजिनपुरनिवा-भिर्जैनलोकैरयं इष्टनिवृत्तिनगरीगमनमार्गः।"

वैशेषिक दर्शन

इस दर्शन में मान्य प्रमाण के दो भेदों का उल्लेख करते हुये लिखा है कि "प्रत्यक्षलैंगिके प्रमाने। तत्रेन्द्रिय मनोर्थसन्निकर्षादुत्पन्ना बुद्धिः प्रत्यक्षम्।...आत्मेन्द्रिये-णेन्द्रियं मनसा मनोर्थेन यदा प्रसज्यते तदोत्पन्ना स्पष्ट-प्रतिभासरया बुद्धिरेव प्रमाणम्।" द्रव्य, गुण, कर्मादि प्रमेयो का भी परिचय क्रमशः कराया गया है।

न्याय-दर्शन

नैयायिकों के सोलह पदार्थों का विवेचन विस्तारपूर्वक किया गया है। प्रमाण का लक्षण करते हुये प्रतिपादन किया गया है कि—

"तत्रार्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणम्। तच्चतुर्धा। तद्यथा प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि।"

इसी तरह अन्य पदार्थों का इसमें प्रतिपादन है।

सांख्य दर्शन

इस दर्शन के पच्चीस तत्वों का उल्लेख करते हुये फिर प्रमाणों का परिचय कराया गया है। अन्त में उसके प्रमेयों का निरूपण किया गया है।

मीमांसा दर्शन

मीमांसा दर्शन के प्रमाण-प्रमेयों का परिचय कराते हुये लिखा है कि—"मीमासकप्रवादे प्रमाणानि प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दार्थापत्यभावाः।" इसके बाद छहों प्रमाणों के स्वरूप का विवेचन मीमांसाश्लोकवार्तिक तथा शावरभाष्य को आधार बना कर लिया गया है। पश्चात् मीमांसक दर्शन में स्वीकृत प्रयोगों का भी दिग्दर्शन कराया गया है।

बौद्ध दर्शन

इस दर्शन के चारों दार्शनिक सम्प्रदायो के सिद्धान्तों का सुन्दर विवेचन है। मोक्ष मे वैमत्य होने के कारण लिखा है कि—"वैभाषिक, सौलान्तिक योगाचारमाध्यमिकाः चत्वारो बौद्धाः। तेषु त्रयाणा मोक्षकल्पना। माध्यमिकस्यनेतदस्ति, सर्वशून्यत्वात्।"

चार्वाक दर्शन

इस दर्शन के प्रमाण-प्रमेय का पूरा विवेचन करते हुए कहा है कि—"चार्वाकराद्धान्ते प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्। तदपि भूतविकारविशेषमनाधिगतार्थाधिगमलक्षणम्। पृथिव्याप्तेजोवायुरिति प्रमेयम्।"

ग्रन्थकार की विशेषता यह है कि वह टीम-टाम के बिना ही उस दर्शन के मान्य प्रमाण और प्रमेय का संक्षेप में ही कथन करता है, ताकि तत् तत् दर्शन का प्राथमिक जिज्ञासु उस दर्शन के प्रमाणों और प्रमेयों से परिचित हो जाये।

उक्त ग्रन्थ के अन्तः परीक्षण से ज्ञात होता है कि ग्रन्थ यद्यपि लघुकाय है फिर भी भारतीय दर्शन में विद्वानों की दृष्टि में जो स्थान हरिभद्र सूरिकृत षड्दर्शन समुच्चय का है, वही स्थान न्याय के छात्रों में इस प्रमाणप्रमेयानुप्रवेश का होना चाहिये। इस लेख के माध्यम से यह जानकारी चाहता हूँ कि इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपियाँ जिन ग्रन्थालयों में हों उनके व्यवस्थापक महानुभाव हमें उसकी सूचना करने की अवश्य कृपा करें। प्राप्त पाण्डुलिपि कुछ स्खलित और अशुद्ध जान पड़ती है। अतएव हमारा प्रयास है कि इस ग्रन्थ का सुन्दर सम्पादन, संशोधन और हिन्दी रूपान्तर अन्य अनेक प्रतियों को सामने रख कर किया जाय। आशा है कि उत्तर तथा दक्षिण के सरस्वती-भवनो के अध्यक्ष महोदय हमारे इस प्रयास में अवश्य ही सहयोग करेंगे।

स्याद्वाद महाविद्यालय,
भदैनी, वाराणसी

(पृष्ठ १३४ का शेषांश)

उपर्युक्त प्रशस्ति व पुष्पिका से स्पष्ट है कि विशालकीर्ति वाचनाचार्य पद से विभूषित थे। वे खरतरगच्छ की सागरचंद्रसूरि शाखा की परपरा के विद्वान् मुनि ज्ञानप्रमोद के शिष्य थे। खरतरगच्छ साहित्यसूची के अनुसार प्रक्रियासारकौमुदी की एक प्रति स्व० श्री जिन चारित्रसूरि संग्रह में भी है। इनकी दूसरी रचना सारस्वतप्रकाश की २८ पत्रों की प्रति सरदारशहर के गधैयाजी के संग्रह म है।

विशालकीर्ति के शिष्य क्षेमहंसरचित चदनमलयागिरि चौ० स० १७०४ मे साचौर में रचित प्राप्त है। विशालकीर्ति के गुरुभ्राता गुणनदन की कई रचनाएँ सं० १६६५ से १६९७ तक की प्राप्त हुई है। विशालकीर्ति के गुरुज्ञानप्रमोद की वाग्भयालकार वृत्ति एक महत्वपूर्ण प्रसिद्ध रचना है। विशालकीर्ति का समय सत्रहवी शती का उत्तरार्द्ध निश्चित है।

उनकी जिस विशाल शब्दानुशासन नामक महत्वपूर्ण रचना का उल्लेख तुलसीगणि ने किया है उसकी हस्तलिखित प्रति की खोज आवश्यक है। प्रक्रियासारकौमुदी की हमारे संग्रह की ३ प्रतियों की पत्र संख्या क्रमशः ६०-५८-५९ कुल ११७ है। प्रति पृष्ठ १५ पंक्तियां व प्रति पक्ति में ४८ अक्षर हैं। इससे रचना का परिमाण ५२०० श्लोक के लगभग होता है। विशालशब्दानुशासन का परिमाण प्रति मिलने से ही ज्ञात हो सकता है।

विशालशब्दानुशासन की प्रति कहाँ और किसके पास है, इस पर आचार्य तुलसीजी प्रकाश डालें एवं इसका महत्व प्रकट करें तो अच्छा हो। □□



साकार आह्लाद : श्री साहूजी राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर एवं श्री सीताराम सेकसरिया के साथ



राष्ट्र के सर्वोच्च पुरस्कार के प्रतिष्ठापक श्री साहूजी

[प्रथम पुरस्कार समर्पण के अवसर पर डा० सम्पूर्णानन्द एवं पुरस्कार विजेता मलयालम कवि श्री शंकर कुरुप के साथ]

त्रैमासिक शोध-पत्रिका

अनेकान्त

वर्ष ३२ : किरण १-२

जनवरी-जून १९७९

विषयानुक्रमणिका

क्र०	विषय	पृ०
१.	मंगलाचरण—सम्मइसुत्त	१
२	संत साहित्य और जैन अपभ्रंश काव्य —डा० राममूर्ति त्रिपाठी, उज्जैन	२
३.	मालवा के परमार नरेश और जैनधर्म —डा० शिवकुमार नामदेव, डिण्डोरी (मण्डला)	७
४.	पंचपरमेष्ठी और णमोकार मंत्र —डा० प्रेमसागर जैन, बड़ौत	१०
५.	आदि जिन, शिव एवं शैव परम्परा —श्री मुनीशचंद्र जोशी, नई दिल्ली	१४
६.	जैन धर्म : उद्भव और विकास —डा० रवीन्द्र जैन, मद्रास	१६
७.	जैन काव्य में व्यवहृत 'ज्ञान' शब्द : रूप-स्वरूप —डा० अरुणलता जैन, फरुक्खाबाद	२२
८.	मथुरा को जैन कला —डा० रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर	२६
९.	अनेकान्त—डा० शोभनाथ पाठक	३०
१०.	एलाचार्य : शब्द-मीमांसा —डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच (म०प्र०)	३२
११.	श्रमण संस्कृति का उदात्त दृष्टिकोण —प्रो० श्री रञ्जन सूरिदेव	३५
१२.	मूर्ति-पूजा की प्रतीकात्मकता —डा० भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु'	३९

वार्षिक मूल्य ६) रुपये
इस किरण का मूल्य :
१ रुपया ५० पैसे

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२



राष्ट्र के सर्वोच्च पुरस्कार के प्रतिष्ठापक श्री साहूजी

[प्रथम पुरस्कार समर्पण के अवसर पर डा० सम्पूर्णानन्द एवं पुरस्कार विजेता मलयालम कवि श्री शंकर कुरूप के साथ]

त्रैमासिक शोध-पत्रिका

अनेकान्त

वर्ष ३२ : किरण १-२ जनवरी-जून १९७६

वार्षिक मूल्य ६) रुपये
इस किरण का मूल्य :
१ रुपया ५० पैसे

विषयानुक्रमणिका

क्र०	विषय	पृ०
१.	मंगलाचरण—सम्मइसुत्त	१
२	सत साहित्य और जैन अपभ्रंश काव्य —डा० राममूर्ति त्रिपाठी, उज्जैन	२
३.	मालवा के परमार नरेश और जैनधर्म —डा० शिवकुमार नामदेव, डिण्डोरी (मण्डला)	७
४.	पंचपरमेष्ठी और णमोकार मंत्र —डा० प्रेमसागर जैन, बड़ौत	१०
५.	आदि जिन, शिव एवं शैव परम्परा —श्री मुनीशचन्द्र जोशी, नई दिल्ली	१४
६.	जैन धर्म : उद्भव और विकास —डा० रवीन्द्र जैन, मद्रास	१६
७.	जैन काव्य मे व्यवहृत 'ज्ञान' शब्द : रूप-स्वरूप —डा० अरुणलता जैन, फरुक्खाबाद	२२
८.	मथुरा को जैन कला —डा० रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर	२६
९.	अनेकान्त—डा० शोभनाथ पाठक	३०
१०.	एलाचार्य : शब्द-मीमांसा —डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच (म०प्र०)	३२
११.	श्रमण संस्कृति का उदात्त दृष्टिकोण —प्रो० श्री रञ्जन सूरिदेव	३५
१२.	मूर्ति-पूजा की प्रतीकात्मकता —डा० भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु'	३९

प्रकाशक
वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

भगवान महावीर के जीवनकाल की मुख्य तिथियां

(जैनागमों के आधार पर)

ईसा पूर्व

५९९–चैत्र शुक्ल त्रयोदशी (३० मार्च) को वज्जीसंघ की राजधानी वैशाली के निकट क्षत्रिय-कुंडग्राम में ज्ञातृकुल में जन्म। पिता के तीन नाम–सिद्धार्थ, श्रेयांस तथा यशस्वी। गोत्र–काश्यप। माता के तीन नाम–त्रिशला, विदेहदिन्ना तथा प्रियकारिणी। गोत्र–वासिष्ठ।

५७१–२८ वर्ष की अवस्था में माता-पिता का देहावसान।

५७०–मार्गशीर्ष वदी दशमी (११ नवम्बर) को गृहत्याग करके अनगार श्रमण बन जाना।

५६९–केवल-ज्ञान की प्राप्ति से पूर्व साढे बारह वर्ष के छद्मस्थ काल का प्रथम वर्षावास अस्थिक ग्राम (वज्जीसंघ) में।

५६८–छद्मस्थकाल का द्वितीय वर्षावास नालंदा में।

५६७–चम्पा में छद्मस्थ काल का तृतीय वर्षावास।

५६६–छद्मस्थ काल का चतुर्थ वर्षावास पृष्ठ चम्पा में।

५६५–भद्रिया (अंग देश) में छद्मस्थ काल का पांचवां वर्षावास।

५६४–छद्मस्थ काल का छठा वर्षावास पुनः भद्रिया में।

५६३–आलंभिया (काशी जनपद) में छद्मस्थ काल का सातवां वर्षावास।

५६२–छद्मस्थ काल का आठवां वर्षावास राजगृह में।

५६१–लाढ देश की दूसरी बार यात्रा। इस बार भी वहां घनघोर उपसर्ग सहन करने पड़े।

५६०–लाढ देश से लौटने के बाद छद्मस्थ काल का दसवां वर्षावास श्रावस्ती में।

५५९–वैशाली में छद्मस्थ काल का ग्यारहवां वर्षावास।

५५८–छद्मस्थ काल का बारहवां तथा अंतिम वर्षावास चम्पा में।

५५७–वैशाख शुक्ल दशमी (२६ अप्रैल) को जंभिय ग्राम (कुछ विद्वानों के अनुसार राजगृह से लगभग ३० मील पर वर्तमान जमुई ग्राम) में केवल-ज्ञान की प्राप्ति। केवल ज्ञान-प्राप्ति के ६६वें दिन श्रावण कृष्ण प्रतिपदा (१ अगस्त) को मगध की राजधानी राजगृह के विपुलाचल पर प्रथम प्रवचन, जिसमें मगधराज श्रेणिक बिम्बसार अपनी रानी चेलना के सहित उपस्थित। उनके इसी प्रवचन से उनके तीर्थ (चतुर्विध संघ) की स्थापना हुई।

५५६–विदेह जनपद में विहार तथा चौदहवां वर्षावास वैशाली में।

५५५–वत्स तथा कौशल जनपद में विहार तथा पन्द्रहवां वाणिज्यग्राम (वज्जी संघ) में।

५५४–मगध में विहार तथा सोलहवां वर्षावास राजगृह में।

५५३–अंग व विदेह जनपद में विहार तथा सत्रहवां वर्षावास वाणिज्य ग्राम मे।

ईसा पूर्व

५५२–काशी जनपद में विहार तथा अठारहवां वर्षावास राजगृह में।

५५१–मगध जनपद में विहार तथा उन्नीसवां वर्षावास पुनः राजगृह में।

५५०–वत्स जनपद में विहार तथा २०वां वर्षावास वैशाली में

५४९–विदेह, कोशल तथा पंचाल जनपद में विहार तथा इक्कीसवां वर्षावास वाणिज्यग्राम में।

५४८–मगध में भ्रमण तथा बाईसवां वर्षावास राजगृह में।

५४७–कोशल जनपद में विहार तथा तेईसवां वर्षावास वाणिज्यग्राम में।

५४६–वत्स तथा मगध जनपद में विहार तथा चौबीसवां वर्षावास राजगृह में।

५४५–अंग तथा विदेह जनपद में विहार तथा पच्चीसवां वर्षावास मिथिला में।

५४४–अंग जनपद में विहार तथा छब्बीसवां वर्षावास पुनः मिथिला में।

५४३–कोशल जनपद में विहार तथा सत्ताईसवां वर्षावास पुनः मिथिला मे।

५४२–कोशल, पंचाल तथा कुरु जनपद में विहार तथा अट्ठाईसवां वर्षावास वाणिज्यग्राम मे।

५४१–मगध जनपद में भ्रमण तथा उन्तीसवां वर्षावास राजगृह में।

५४०–अंग तथा विदेह जनपद में विहार तथा तीसवां वर्षावास वाणिज्यग्राम में।

५३९–कोशल तथा पंचाल जनपद में विहार तथा इकतीसवां वर्षावास वैशाली में।

५३८–विदेह, कोशल तथा काशी जनपद में विहार तथा बत्तीसवां वर्षावास पुन. वैशाली में।

५३७–मगध तथा अंग जनपद में विहार तथा तेतीसवां वर्षावास राजगृह में।

५३६–मगध में विहार तथा चौंतीसवां वर्षावास नालन्दा में।

५३५–विदेह जनपद में विहार तथा पैंतीसवां वर्षावास वैशाली में।

५३४–कोशल, पंचाल, शूरसेन तथा विदेह जनपद में विहार तथा छत्तीसवां वर्षावास मिथिला में।

५३३–मगध में विहार तथा सैंतीसवां वर्षावास राजगृह में।

५३२–मगध में विहार तथा अड़तीसवां वर्षावास नालदा में।

५३१–विदेह जनपद में विहार तथा उन्तालीसवां वर्षावास मिथिला में।

५३०–विदेह जनपद में विहार तथा चालीसवां वर्षावास मिथिला में।

५२९–मगध में विहार तथा ४१वां वर्षावास राजगृह में।

५२८–मगध में विहार तथा ४२वां वर्षावास मध्यम पावा में

५२७–दीपावली को मध्यम पावा मे ७२ वर्ष की आयु मे निर्वाण।

□□□

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ३२ किरण १ और २ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ वीर-निर्वाण संवत् २५०५, वि० सं० २०३५ | जनवरी-जून १९७९

सम्मइसुत्तं

णयकंडं

सिद्धं सिद्धत्थाणं ठाणमणोवमसुहं उवगयाणं ।
कुसमयविसासणं सासणं जिणाणं भवजिणाणं ।।
[सिद्धं सिद्धार्थानां स्थानमनुपमसुखमुपगतानाम् ।
कुसमयविशासनं शासनं जिनानां भवजिनानाम् ।।]

जिन-शासन स्वतः प्रमाण-सिद्ध है

भावार्थ :—जो संसार के दुःखों को जीत कर अनुपम सुख को उपलब्ध हो चुके हैं, उन जिनेन्द्र भगवान का प्रमाण-प्रसिद्ध अर्थों का स्थान जिन-शासन स्वतः सिद्ध है। वह मिथ्यामतो का खण्डन करने वाला है।

जिन-शासन स्वतः प्रमाण इसलिए है कि वह वीतरागी देव द्वारा प्रकाशित है। कोई भी जीव स्वयं वीतरागी बन कर उसे प्रमाणित कर सकता है। अतः प्रमाण वीतरागता ही है। राग द्वेष से रहित अवस्था ही वीतरागता है।

विशेष—ग्रन्थ के प्रारम्भ में 'सिद्ध' शब्द का प्रयोग मंगल सूचक है। ग्रन्थ-कर्ता के नाम का सूचक भी 'सिद्ध' शब्द कहा जाता है।

तित्थयरवयणसंगहविसेसपत्थारमूलवागरणी ।
दव्वट्ठियो य पज्जवणयो य सेसा वियप्पा सिं ।।
[तीर्थङ्करवचनसंग्रहविशेषप्रस्तारमूलव्याकरणी ।
द्रव्यार्थिकश्च पर्यवनयश्च शेषा विकल्पास्तयोः ।।]

तीर्थंकर-वाणी : सामान्य-विशेषात्मक

भावार्थ—तीर्थकरों के वचन सामान्य-विशेषात्मक हैं। वे सामान्य रूप से द्रव्य के प्रतिपादक हैं और विशेष रूप से पर्याय के। द्रव्यार्थिक (निश्चय या परमार्थ) और पर्यायार्थिक (व्यवहार) नयों (सापेक्ष दृष्टियों) से मूल वस्तुओं की व्याख्या की गई है। शास्त्रों में जिन सात नयों का वर्णन मिलता है, वह इन दो नयों का विस्तार है। सभी नय द्रव्यात्मक और पर्यायार्थिक इन दो नयों में गर्भित हैं। इनमें द्रव्यार्थिक नय का विस्तार नैगम, संग्रह एवं व्यवहार रूप है तथा पर्यायार्थिक नय का विस्तार ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत रूप है। मूल जिनवाणी का विवेचन करने वाले ये दो ही नय हैं। □□□

संत साहित्य और जैन अपभ्रंश काव्य

☐ डा० राममूर्ति त्रिपाठी, उज्जैन

मध्यकालीन हिन्दी निर्गुण साहित्य के लिए अब "संत-साहित्य" शब्द रूढ हो गया है। मध्यकालीन समस्त भारतीय साधनाए आगम प्रभावित है—सत-साहित्य भी। सत साहित्य को "प्रभावित" कहने की अपेक्षा मैं तो यह कहना चाहता हू कि 'आगमिक दृष्टि" का ही वह लोक भाषा मे सहज, प्रस्फुरण है। अतः "प्रभावित" की जगह उसे "आगमिक कहना सगत है। "आगमिक दृष्टि" को यद्यपि आर० डी० रानाडे ने अपने (Mysticims in Maharashtra) मे वैदिक सिद्धान्त का साधनात्मक अविच्छेद्य पार्श्व बताया है। इस प्रकार के आगम को यद्यपि नैगमिक कहना चाहते है, पर इससे आगम के व्यक्तित्व का विलोप नही होता। प्राचीन आर्य ऋषियो की एक दृष्टि का जैसा विकास और परिष्कार आगमो मे मिलता है, वैसा नैगमिक 'दर्शनो' मे नही। इसलिए मैं जिसे "आगमिग दृष्टि" कहना चाहता हू, उसका संकेत भले ही वैदिक वाङमय में हो, पर उसका स्वतन्त्र विकास और प्रतिष्ठा आगमों में हुई, यह विशेष रूप से ध्यान मे रखने की बात है।

'आगम' यद्यपि भिन्न-भिन्न अर्थों मे प्रचलित और प्ररूढ सब्द है, तथापि यहा एकविशेश अर्थ में वांछित है और वह अर्थ है–द्वयात्मक अद्वयतत्व की परमार्थिक स्थिति। द्वय है–शक्ति और शिव। विश्व-निर्माण के लिए स्पिन्दनात्मक शक्तिको अपेक्षा है और विश्वातीत स्थिति के लिए नि.स्पद शिव। स्पद और नि स्पद की बात विश्वात्मक और विश्वातीत दृष्टियो से की जा रही है, दृष्टि निरपेक्ष होकर उसे कोई संज्ञा नहीं दी जा सकती। तब वह विश्वातीत तो है ही, विश्वात्मक परिणति की संभावना से संवातीत होने के कारण विश्वात्मक भी। वैज्ञानिक भाषा मे इन्हे ही ऋणात्मक तथा धनात्मक तत्व कह सकते है। विशेषतया इतनी ही है कि 'आगम' में इन्हें 'चिन्मय' कहा गया है। नैगमिक दर्शनो मे कोई भी (न्याय, वैशेषिक, सांख्य, पातजल, पूर्व मीमासा तथा उत्तर मीमासा) 'शक्ति' की 'चिन्मय' रूप मे कल्पना नही करता। कुछ तो ऐसे है जो 'शक्ति' तत्व ही नही मानते, कुछ मानते भी है तो 'जड'। 'आगम' (अद्वयवादी) 'शक्ति' को 'चिन्मय' कहते है और 'शिव' की अभिन्न क्षमता के रूप में स्वीकार करते है। अद्वयस्थ वही द्वयात्मक आत्मलीला के निमित्त द्विधा विभक्त होकर परस्पर व्यवहित हो जाती है, पृथक् हो जाती है। इस व्यवधान अथवा पार्थक्य के कारण समस्त सृष्टि अस्थिर, बेचैन, गतिमय तथा खिन्न है। इस स्थिति से उबरने के लिए इस व्यवधान को समाप्त करना पड़ता है, शक्ति से शिव का मेल या सामरस्य अपेक्षित होता है।

निर्गुनिए सत पहले साधक है, इसके बाद और कुछ, और इनकी साधना है—सुरत शब्दयोग। यह सुरत या सुरति और कुछ नही, उक्त 'शक्ति' ही है, जो आदिम मिलन या युगनद्धावस्था को स्मृत्यात्मक बीज रूप मे सभी बद्धात्माओ मे पड़ी हुई है। प्रत्येक व्यक्ति मे यही प्रसुप्त चिन्मयी 'कुण्डलिनी' कही जाती है। अथर्ववेद मे यही 'उच्छिष्ट' है पुराणो मे यही 'शेषनाग' है। स्थूलतम पार्थिकात्मक परिणति के बाद कुण्डलिप्त 'शक्ति' विश्व और व्यष्टि उभयत्र मूलाधार मे स्थित है।

कह भीखा सब मौज साहब की
मौजी आपु कहावत।

भीखा साहब आगमिकों की शक्तिमान (शिव) और शक्ति की भाति **मौजी** और **मौज** की बात करते है। **मौजी** को एक दूसरे सत ने **शिव** तथा **मौज** को स्पष्ट ही शक्ति कहा है—

सुरति सुहागिनि उलटि के मिली सबद में जाय।
मिली सबद में आय कन्त को बस में कीन्हा।

चलै न सिव के ओर जाय जब सक्ती लीन्हा।
फिर सक्ती भी ना रहे, सक्ति से सीव कहाई।
अपने मन के फेर और ना दूजा कोई।
सक्ती शिव है एक नाम कहने को दोई।
पलटू सक्ती सीव का भेद कहा अलगाय।
सुरति सुहागिनि उलटि कै मिलो शब्द में जाय।

पलटूदास की इन पंक्तियो के साक्ष्य पर उक्त स्थापना कि आगमिक दृष्टि ही संतों की दृष्टि है, सिद्ध हो जाती है।

आगम की भांति संतजन भी **बहिर्याग** की अपेक्षा **अंतर्याग** की ही महत्ता स्वीकृत करते है और इस अंतर्याग की कार्यान्विति 'गुरु' के निर्देश मे ही सभव है। आगमो की भांति संतजन मानते है कि गुरु की उपलब्धि पारमेश्वर अनुग्रह से ही संभव है। यह गुरु ही है जिसकी उपलब्धि होने पर 'साधना' (अंतर्याग) सभव है। यह तो ऊपर ही कहा जा चुका है कि द्वयात्मक अद्वय सत्ता विश्वात्मक भी है और विश्वातीत भी। विश्वात्मक रूप मे उसके अवरोहण की एक विशिष्ट प्रक्रिया है और उसी प्रकार आरोहण की भी। विचार पक्ष से जहां आगमो ने द्वयात्मक अद्वय तत्व की बात की है वहीं आचार पक्ष से वासना (काषाय) दमन की जगह वासना शोधन की बात भी। जैनधारा न तो 'द्वयात्मक अद्वय' की बात स्वीकार करती है और न ही वासना के शोधन चिन्मयीकरण की, जबकि 'संत' जन विचार और आचार दोनों पक्षो मे 'आगम' धारा को मानते है। मौजी और मौज, सुरत और शब्द के 'योग' अथवा 'सामरस्य' मे जहा संत जन 'द्वयात्मक अद्वय' को स्वीकार करते है, वहा काम मिलावे राम को' द्वारा प्रेम की महत्ता का गान करते हुए तन्मय परमात्मा की उपलब्धि मे वासना के शोधन और चिन्मयीकरण की भी स्थिति स्वीकार करते है। आगम सम्मत संत परम्परा से जैन धारा का एक तीसरा अन्तर यह भी है कि जहा पहला अद्वयवादी है वहा दूसरा भेदवादी। वह न केवल अनेक आत्मा की ही बात करता है अपितु ससार ससार को भी अनादि और शाश्वत सत्य मानता है। इस प्रकार, ऐसे अनेक भेदक तत्व उभरकर सामने आते है जिनके कारण 'संत' साहित्य के संदर्भ मे जैन साहित्य को देखना असम्भव लगता है। जैन धारा कृच्छ एवम् अच्छेदवादी होने से शरीर स्वयं संसार से पूर्ति विरक्त दृष्टि रखता है। यही कारण है कि जैन साहित्य मे यही निर्वेदभाव पुष्ट होकर शांत रस के रूप मे लहराता हुआ दृष्टिगोचर होता है। शृंगार का चित्रण सर्वदा उनकी कृतियों मे विदसावसामी और वैराग्यपोषक रूप मे हुआ है। जैन काव्य का प्रत्येक नायक निर्वेद के द्वारा अपनी हर रंगीन और सांसारिक मादक वृत्ति का पर्यवसान 'शांत' में ही करता है।

पर इन तमाम भेदक तत्वो के बावजूद छठी-सातवी शती के तांत्रिक मत के प्रभाव-प्रसार ने जैनियों पर भी प्रभाव डाला—फलतः कतिपय अपभ्रंश-बद्ध जैन रचनाओं में 'संत' का-सा स्वर भी श्रुतिगोचर होता है। चरम लक्ष्य से विछिन्न फलतः विजडित एवम् रूढ़प्राय आचार बाहुल्य के प्रति एक तीखी प्रतिक्रिया और अंतर्याग के प्रति लगाव का संत सवादी विद्रोही स्वर कतिपय रचनाओ में विद्यमान है। पाहुड़, दोहा, योगसार, परमात्म प्रकाश, वैराग्यसार, आनन्दा, सावय धम्म दोहा आदि रचनाए ऐसी ही है। इनमें संतसंवादी मनःस्थिति का प्रभाव या प्रतिबिम्बस्पष्ट दिखाई पड़ता है। जिस प्रकार अन्य रहस्यवादी रचयिताओं ने क्रमागत रूढ़ियों एवम् बाह्याचारों का खण्डन करते हुए पारमार्थिक तत्वों की उपलब्धि के अनुरूप यत्नों और दिशाओं को महत्त्व दिया है—यही स्थिति इन जैन मुनियों की भी है। लगता है कि इस अवधि में आचार या साधन को ही साध्यता की कोटि प्राप्त होती जा रही थी—फलतः कट्टर साम्प्रदायिक लकीरों और रेखाओं के प्रति इनके मन में भी उग्र आक्रोश था और उस झुंझलाहट को वे उसी उग्र स्वर में व्यक्त करते है जिस स्वर में सिद्धो नाथों और निर्गुनियो ने आक्रोश-गर्भ उद्‌गार व्यक्त किए थे। प्रो० हीरा लाल जैन ने ठीक लिखा है कि "इन दोहों में जोगियों का अगम, अचित्-चित्, देह, देवली, शिवशक्ति संकल्प-विकल्प, सगुण-निर्गुण, अक्षरबोध विधि, वाम दक्षिण अध्व, दो पथ रवि-शशि, पवन, काल आदि ऐसे शब्द है और उनका ऐसे गहन रूप मे प्रयोग हुआ है कि उनमें हमे योग और तांत्रिक ग्रथों का स्मरण हुए बिना

नहीं रहता। संप्रति, आगम संत-संवादी स्वरों मे से एक-एक का पर्यवेक्षण प्रस्तुत है।

(१) परतत्त्व संबन्धी वैचारिक या सैद्धान्तिक पक्ष -

ऊपर यह स्पष्ट कहा जा चुका है कि जैन धारा मे आत्मा ही मुक्त दशा में परमात्मा है, वह अनेक है और अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य का भण्डार है। अशुद्ध दशा में उनके ये गुण कर्मों से ढके रहते है। पर इस मान्यता के साथ-साथ उक्त ग्रंथों मे ऐसी कई बातें पाई जाती हैं, जो नि.सन्देह आगमिक धारा की हैं। संतों की भांति जैन मुनियों के भी वे ही तान्त्रिक ग्रंथ स्रोत हैं। बौद्धों की भांति जैनो पर भी यह प्रभाव दृष्टिगत होता है। आगमिकों की भांति जैन मुनियो ने भी परमात्म भाव को 'समरस' ही नहीं कहा है, 'शिव-शक्ति' का समरूप या अद्वयात्मक रूप भी कहा है। मुनि रामसिंह ने कहा है (पाहुड़ दोहा)—

सिव विणु सत्ति ण वावरइ, सिउ पुणु सत्ति विहीणु।
दोहि मि जाणहिं सयलु जगु, बुज्झइ मोह विणु॥

शक्तिरहित शिव कुछ नहीं कर सकता और न तो शक्ति ही शिव का आधार ग्रहण किए बिना कुछ कर सकती है। समस्त जगत् शिव-शक्तिमय है। जड़ परमाणु अपनी समस्त संरचना में गतिमय या, सस्पंद है—जो शक्ति का ही स्थूल परिणाम है। दूसरी ओर, जीवन भी डी० एन० ए० तथा आर० एन० ए० के संयुक्त रूप में द्वयात्मक है। एकत्र वही शक्ति शिव ऋणात्मक धनात्मक अवयव हैं—जो अपनी निरपेक्ष स्थिति मे अद्वयात्मक है। संत साहित्य के अन्तर्गत राधास्वामी साहित्य तथा गुरु नानक की 'पुराण संगत्री' मे भी इस सिद्धान्त का वृहद् रूप से निरूपण है। परतत्व या परमात्मा को समरस कहना द्वयात्मकता सापेक्ष ही तो है। अभिप्राय यह कि मूल धारणा आगम सम्मत है—वही इन जैन मुनियो की उक्तियों में तो प्रतिबिम्बित है ही, सतों ने भी 'सुरत' तथा 'शब्द' के द्वारा तांत्रिक बौद्ध सिद्धो ने 'शून्यता' और 'करुणा' तथा 'प्रज्ञा' और 'उपाय' के रूप मे उसी धारणा को स्वीकार किया है। अन्यत्र 'समरसीकरण' की भी उक्तियाँ है—

मणु मिलियउ परमेसर हो, परमेसरु जि मणस्य।
बिण्णि वि समरसि हुइ रहिय पुज्जु चडावउ कस्स॥

मन परमेश्वर से तथा परमेश्वर मन से मिलकर समरस हो जाता है और जब यह सामरस्य हो गया, तब द्वैत का विलय भी जाता है। द्वैत का विलय हो जाने से कौन पूजक और कौन पूज्य? कौन आराधक और कौन आराध्य? फिर तो

"तुभ्यं मह्यं नमो नमः"

की स्थिति आ जाती है। इस तरह सामरस्य की अनेकत्र चर्चा उपलब्ध हो जाती है।

देह महेली एह बढ़ तउ सत्तावइ ताम।
चित्तु णिरंजणु परिणु सिहु समरसि होइ ण जाम॥

लक्ष्य के रूप मे इसी 'सामरस्य' की उपलब्धि भी उन्हें इष्ट है। संतों ने जिन मन्मोन्मती दशा की ओर हकेत किया है—उसका पूर्वाभास इन लोगो मे भी उपलब्ध है—

तुइ बुद्धि तड़त्ति जहिं मणु अं वणहं जाइ।
सो सामिय उ एसु कहि अणर्णाहि देवहिं काइ॥

इस सामरस्य की उपलब्धि हो जाने पर बुद्धि का आहंकारिक 'अध्यवसाय' तथा मन की संकल्प विकल्पात्मक वृतियां समाप्त हो जाती है। आगम संवादीसंतो के स्वर में अन्य देवताओं की उपासना से विरति तथा उक्त गंतव्य की उपलब्धि ही स्वामी की ओर से इन्हे निर्दिष्ट है। कहीं-कहीं तो संतों और इन जैन मुनियो की उक्तियां एक-दूसरे का रूपान्तर जान पड़ती है। नमक और पानी के एक ही दृष्टान्त से जो बात रामसिंह कहते है, वही कबीर भी।

जिमि लोण विलिज्जइ पाणियह चित्त बिलिज्ज।
समरसि हूवइ जीवहा काइ समाहि करिज्ज?

ठीक इसी की प्रतिध्वनि कबीर मे देखें—

मन लगा उनमन् सौं उनमन मनहि विलग।
लूँण विलगा पांणपा, पाणी लूण विलग॥

(२) वासना दमन की जगह वासना शोधन और उसकी सहजानंद मे स्वाभाविक परिणति के संकेत—

बौद्ध सिद्धो के समकालीन इन जैन संतो मे भी चरमावस्था के लिए 'सहजानंद' शब्द का किया गया प्रयोग मिलता है। संतों ने शतशः, सहस्रसः 'सहज' की बात कही

है। भारतीय साधना धारा मे जैन मुनियों के 'कृच्छ' के विपरीत ही 'सहज' साधना और साध्य की बात सभव है कि प्रचलित हुई हो। अध्यात्म साधना मे मन का एकाग्रीकरण विक्षेप मूल वासना या काषाय के शोषण से तो 'श्रमण' मानते ही थे, दूसरे प्रवृत्तिमार्गी आगमिक साधक ऐसी कुशलता सहज पा लेना चाहते थे कि वासनारूप जल में रहकर ही विपरीत प्रवाह मे रहना उसे आ जाय। साधको को यह प्रक्रिया दमन की अपेक्षा अनुकूल लगी। तदर्थ वासनाजन्य की अधोवर्ती स्थिति का उर्ध्वीकरण अगमित था। जैन साधकों के अपभ्रश काव्य मे सकेत खोजे जा सकते हैं—पर भाषाकाव्य मे कबीर बाद स्पष्ट कथन मिलने लगते है। जैन मरमी आनदघन की रचनाए साक्षी है। वे कहते है—

आज सुहागन नारी, अवधू आज सुहागन नारी।
मेरे नाथ आप सुध लीनी, कीनी निज अंगचारी।
प्रेम प्रतीति राग रुचि रंगत, पहिरे भीनी सारी।
मंहिदो भक्ति रंग की रांची, भाव अंजन सुखकारी।
सहज सुभाव चूरी मै पहिनी, थिरता कंकन भारी॥
इत्यादि···

इन पंक्तियों मे क्या 'सतो' का स्वर नही है? सतो की भाँति इन अपभ्रंश जैन कवियों मे भी 'सहज' शब्द का प्रयोग साधन और साध्य के लिए हुआ है। आनन्दतिलक ने 'आणंदा' नामक काव्य मे स्पष्ट कहा है कि कृच्छ साधना से कुछ नही हो सकता, तदर्थ 'सहज समाधि' आवश्यक है—

जापु जबइ बहु तव तवई तो विण कम्म हणोइ।
० ० ०
सहज समाधिहिं जाणियइ आणदा ने जिण सासणि सारु।

इसी प्रकार मुनि जोगीन्दु ने भी कहा है कि सहज स्वरूप में ही रमण करना चाहिए—

सहज सरूवइ जइ रमहि तो पावहि सिव सन्तु
(योगसार)

सहज स्वरूप मे जो रमता है—वही शिवत्व की उपलब्धि कर सकता है। छीहल ने तो चरमप्राप्य को 'सहजानद' ही कहा है—"हउ सहजाणद सरूव सिहु" रामसिह तो सहावस्था की बात बार-बार कहते हैं।

इस प्रकार जैन धारा जिन बातों में अपना स्थान पृथक् रखती आ रही है—(१) परतत्व की द्वयात्मकता (२) द्वैत की समस्तविध निषेध तथा (३) वासना शोधन का सहज मार्ग—उन आगमिक विशेषताओं का प्रभाव जैन अपभ्रश काव्यों मे उपलब्ध होता है। मध्यकाल की भाषाबद्ध अन्यान्य रचनाओं मे आगमसवादी सतो की पारिभाषिक पदावलियाँ इतनी अधिक उदग्र होकर आई है कि जैन कवियों या मुनियो का नाम हटा देने पर पर्याप्त भ्रम की गुंजाइश है।

इन महत्वपूर्ण प्रभावों के अतिरिक्त ऐसी कई और भी बातें है जिन्हें सतों के सदर्भ मे देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए—(१) पुस्तकी ज्ञान की निंदा (२) भीतरी साधना पर जोर (३) गुरु की महत्ता (४) बाह्याचार का खडन आदि।

(१) आगम 'वहिर्याग' की अपेक्षा 'अतर्याग' को महत्ता देते है और सैद्धान्तिक बोध की अपेक्षा व्यावहारिक साधना को भी। सैद्धान्तिक वाच्यबोध मे जीवन खपाने को प्रत्येक साधक व्यर्थ समझता है—यदि वह क्रिया के अग रूप मे नही है। सतो ने स्पष्ट ही कहा है—"पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ पडित भया न कोय"। परमात्म प्रकाश सार का कहना है—

सत्थु पढंतु विहोइ जडु जो ण हणोइ वियप्पु।
देहि वसंतु वि णिम्मलउ णवि मण्णइ परमप्पु॥

शास्त्रानुशीलन के बाद भी यदि विकल्प जाल का विनाश न हुआ तो ऐसा शास्त्रानुशीलन किस काम का? इसी बात को शब्दान्तर से 'योगसार' कार ने भी कहा है—

जो णवि जण्णइ अप्पु पर णवि परमाउ चएइ।
जो जाणउ सत्थइं समल णहु सिव सुक्ख लहेइ॥

जिसने सकल शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करके भी यह न जाना कि क्या उपादेय और हेय है—आत्मीय और परकीय है, सकीर्ण स्वपर भाव में व्यस्त रहकर जिसने परभाव का त्याग नहीं किया—यह शिवात्मक सुख की उपलब्धि किस प्रकार कर सकता है? इसी प्रकार दोहा पाहुड़कार का भी विश्वास है कि जिस पंडित शिरोमणि ने पुस्तकीय ज्ञान मे तो जीवन खपा दिया, पर आत्म लाभ

न किया, उसने कनक को छोड़कर भूसा ही कूटा है।

पंडिल पंडिय पंडिया कणु छंडिवि तुस कंडिया।
अत्थे गंथे तुट्ठो सि परमत्थु ण जाणहि मूढ़ोसि॥

(२) पुस्तकी ज्ञान की अवहेलना के साथ संतो का दूसरा सवादी स्वर है—भीतरी साधना या अंतर्याग पर बल। सिद्धो, नाथो और सतो की भांति इन जैन मुनियो ने भी कहा है कि जो साधु बाह्य लिंग से तो युक्त है किंतु आंतरिक लिंग मे शून्य है वह सच्चा साधक तो है ही नही, विपरीत इसके मार्गभ्रष्ट है। सच्चा लिंग भाव है—भाव शुद्धि से ही आत्म प्रकाश सम्भव है। मोक्ख पाहुड मे कहा गया है—

बाहिर लिंगेण जुदो अब्भंतरलिंग रहिय परियम्मो।
सो सगचरित्तभट्ठो मोक्ख पहविणासगो साहू॥

इसी बात को शब्दान्तर से कुन्दकुन्दाचार्य ने 'भाव पाहुड़' मे भी कहा है—

भावो हि पढ़मलिंगं न दिव्वलिंगं च जाण परमत्थं।
भावो कारणभूदो गुणदोसाणं जिणाविति॥

(३) अन्तर्याग पर बल ही नही, उसे विच्छिन्न मूल वहिर्याग, वाह्यलिंग अथवा बाह्याचार का उसी आवेश और विद्रोह की मुद्रा में इन जैन मुनियों ने खण्डन भी किया है। आनन्दतिलक ने स्पष्ट ही कहा है कि कुछ लोग या तो बालों को लुचवाते है अथवा व्यर्थ मे वहन करते है, परन्तु इन सबका फल जो आत्मबिन्दु का बोध है, उससे अपने को वचित रखते है—

केइ केस लुवावहिं, केइ सिर ज भारू।
अप्पबिंदु ण जाणहि, आणंदा। किम जावहि भयपारू?

मुनि योगीन्दु ने भी कहा है कि जिन लोगों ने केवल जिनवरों का बाहरी वेष मात्र अपना रखा है, भस्म से केश का लुचन किया है किन्तु अपरिग्रही नही हुआ—उसने दूसरों को नही अपने को ठगा है। इसी प्रकार इन मुनियो ने तीर्थभ्रमण तथा देवालय गमन का भी उग्र स्वर मे विरोध किया है। मुनि योगीन्दु ने तीर्थ भ्रमण के विषय मे कहा है—

तित्थइं तित्थु भमंताह मूणह मोक्ख ण होइ।
णाण वि वज्जिउ जेण जिय मुनिवरु होइ ण सोइ॥

देवालगमन तथा मूर्तिपूजा के विपक्ष के उद्गार देखें—

हुँ पत्तिम पाणिउ दव तिल सव्वइ जाणि सवण्णु।
जं पुण मोक्ख वहं जाइवउ तं कारणु कुछ अण्णु।
पत्तिय तोड़ि म जोइया फलहिं ज इत्थु म वाहि।
जसु कारणि तोदेहि तुहु सोउ एत्थु चडाहि॥

देवलि पाहणु तित्थि जलु पुत्थइं सव्वइं कव्वु।
वत्थु जु दीस्सइ कुसुमियउ इंधण होसइ सव्वु॥

इत्यादि···

इन पंक्तियों में स्पष्ट ही कहा गया है कि देवालय-गमन या तीर्थभ्रमण से कुछ नही होने का—जब तक मन में काषाय शेष है। मनोगत काषाय का संवरण और निर्जरण प्रमुख वस्तु है।

(४) चौथी समानता संतों, सिद्धों और रहस्यवादी नाथों से आगमिक परम्परा से प्रभावित इन जैन मुनियो की यह है कि ये भी वहिर्मुखी साधना से हटकर शरीर के भीतर की साधना पर बल देते है। देवसेनाचार्य ने 'तत्व-सार' में स्पष्ट कहा है—

थक्के मण संकप्पे रुद्दे अक्ख वाण विषयवावारे।
पगटइ वंमसरूवं अप्पा झाणे जो ईणं॥

आत्मोलब्धि करनी है तो मनोदर्पणगत काषाय मल का अपवारण आवश्यक है। रत्नत्रय ही मोक्ष है—किन्तु उसका पोथियों मे नही, स्वसंवेदन से ही सवेतवा संभव है। स्व-संवेदन अपने से ही अपने को जानना है। इसलिए उक्त दोहे में कहा गया है कि यह उक्तसंवेन ही है जिसके द्वारा मन के संकल्प मिट जाते है, इन्द्रियां विषयों से उपरत हो जाती है और आत्मध्यान से योगी अपना स्वरूप जान लेता है।

(५) पाँचवा साम्य है—गुरु माहात्म्य या महत्व का। आगमसम्मत धारा चूकि साधन को सर्वाधिक महत्व देती है, अतः निर्देशक के अभाव मे वह कार्यान्वित हो नही सकती। संतों ने 'गुरु' को परमात्मा का शरीरी रूप ही कहा है। जैन मुनियो मे भी गुरु महिमा का स्वर उतना ही उदग्र है। मुनि रामसिंह ने पाहुण दोहा मे गुरु की वंदना की है और कहा है—

गुरु दिणयरु गुरु हिमकिरणु गुरु दीवउ गुरु देउ।
अप्पापरहं परंपरह जो दरिसावइ भेउ॥

अर्थात् गुरु दिनकर, हिमकर, दीप तथा देव सब कुछ है। कारण, वही तो आत्मा और अनात्मा का भेद स्पष्ट करता है। यह सद्गुरु ही है जिसके प्रसाद से केवल ज्ञान का स्फुरण होता है उसी की प्रसन्नता का यह परिणाम है कि साधक मुक्ति रूपी स्त्री के घर निवास करता है।

कैवलणाणवि उपज्जइ सद्गुरु वचन पसावु।

निष्कर्ष यह कि अपभ्रंशबद्ध जैन काव्यो मे उस स्वर का स्पष्ट ही पूर्वाभास उपस्थित है जो सतों मे लक्षित होता है। □□□

विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

मालवा के परमार नरेश और जैन धर्म

☐ डा० शिवकुमार नामदेव, डिण्डोरी (मण्डला)

मालवा के परमार राजवंशीय शासकों ने प्राचीन भारतीय इतिहास मे एक महत्वपूर्ण भाग का अभिनय किया और किसी समय मे उच्च चक्रवर्ती पद को भी प्राप्त किया। कभी वे मालवा के अधिपति के रूप मे और कभी अवंती नरेश के नाम से अभिहित किये जाते थे। परमार नरेश उज्जैन और धारा के शासकों के नाम से भी सुविख्यात थे। परमार राजवंशीय नरेशों की प्रारम्भिक राजधानी उज्जयिनी थी परन्तु भोज के काल मे उनकी राजनीतिक राजधानी का केन्द्र धारा नगरी हो गई। अपने उत्कर्ष के काल मे उनके राज्य की सीमा उत्तर मे वर्तमान कोटा और बूंदी, पूर्व मे विदिशा, होशंगाबाद एव सागर के भाग एवं दक्षिण मे खान्देश प्रदेश एवं गोदावरी क्षेत्र तक के भूभाग परमार नरेशो के अधीन थे।

मध्य भाग मे स्थित होने के कारण परमार राज्य का सपर्क उत्तर से लेकर दक्षिण तक तथा पूर्व से लेकर पश्चिम तक के अनेक समकालीन राज्यो मे हुआ। इससे न केवल मालवा की सस्कृति की श्रीवृद्धि हुई अपितु परमारकालीन कला ने अन्य राज्यों की कला तथा सस्कृति पर गहरा प्रभाव डाला।

परमार काल मे मालवा मे जैन धर्म का पर्याप्त समुन्नत विकास हुआ। यद्यपि परमार नरेश ब्राह्मण धर्म के अनुसरणकर्ता थे, परन्तु उन्होने जैन धर्म के उत्थान व प्रसार मे अभूतपूर्व योगदान दिया। परमार नरेशो ने जैन विद्वानों को राजाश्रय प्रदत्त किया। उज्जैन एव धारा नगरी जैन आचार्यों के स्थायी स्थान बने और जैनाचार्यो ने बहुत बड़ी सख्या म प्रजा को जैन धर्म की ओर आकर्षित किया। इसी काल मे अनेक जैन तीर्थों की भी नीव पड़ी और जैनाचार्यो ने पूर्व परम्परा से चले आए हुए स्थानों की महत्ता बताई तथा वहां पर तीर्थों का शुभारभ हुआ।

परमार नरेश वाक्पति मुंज ने जैन आचार्य अमितगति, महाक्षेत्र, धनपाल व धनेश्वर आदि को राजाश्रय प्रदान किया। अमितगति बहुमुखी प्रतिभा के विद्वान थे। जैन धर्म के अतिरिक्त सस्कृत के क्षेत्र मे भी उनका ऊंचा स्थान माना जाता है। इनका 'सुभाषित रत्न संदोह' नामक ग्रंथ प्रसिद्ध है। अमितगति माधवसेन का शिष्य था जिसका गुरु माथुरसंघ के जैन साधुओ का प्रधान नेमिषेण था। जैनाचार्य धनपाल को जैन ग्रन्थों से राजा भोज का समकालीन माना गया है। परन्तु धार के इतिहास में इनको राजा मुंज का समकालीन तथा उनका कुल पुरोहित बताया गया है। सस्कृत एवं प्राकृत दोनों भाषाओं पर इनका समान अधिकार था। ये श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी थे इस सम्प्रदाय में इन्हे इनके भाई ने दीक्षित किया था। इनका छोटा भाई शोमन भी जैनाचार्य था।

परमार नरेश भोजदेव ने प्रभाचन्द्र मुनि को सम्मान प्रदान किया। दिगम्बराचार्य श्री शान्ति सेन ने भोज की सभा मे सैकड़ों विद्वानों से वादविवाद करके उन्हे पराजित किया था। 'चतुर्विंशति प्रबन्ध' से ज्ञात होता है कि उज्जयिनी मे विशालकीति नामक दिगंबराचार्य के शिष्य मदनकीर्ति ने परवादियों पर विजय पाकर 'महाप्रमाणिक' की पदवी प्राप्त की थी। सूराचार्य व देवभद्र ऐसे जैनाचार्य थे जिनका भोज के दरबार मे आदर किया जाता था। साथ ही नयनदि, जिनवर सुरि अन्य जैन कवि थे, जिन्हे आदर प्राप्त था।

ब्राह्मण धर्म के साथ ही साथ जैन धर्म भी मालवा मे फला-फूला। ११वी शताब्दी ई० के प्रारम्भिक भाग मे महान जैन श्वेताम्बर गुरु अभयदेव परमार राज्य के खान्देश मे थे। उन्होंने जैन सिद्धान्तों का प्रचार किया और अनेक लोगों को इस धर्म में दीक्षित

किया। इस भू-भाग पर अनेक जैन देवालयों का निर्माण हुआ। ११वीं शताब्दी ई० के मध्य में निर्मित किये गए जैन देवालय निमाड़ जिले के ऊन में भी पाये गयेहै। इससे यह प्रमाणित होता है कि उस काल में जैन धर्म न केवल खान्देश तक ही सीमित था अपितु परमार राज्य की सीमाओं के मध्य प्रदेश मे और पूर्व मे भी उसका प्रसार था।

विन्ध्याचल पर्वत के उत्तर मे भी जैन धर्म की अत्यधिक प्रगति हुई थी। जैनाचार्यों ने परमार नरेशों को सदा ही प्रभावित करने का प्रयास किया। राजा नरवर्मन जैन धर्म के प्रति सद्भावना रखते थे। वे जैन गुरु वल्लभ के प्रति बड़ी श्रद्धा रखते थे। परमार नृपति विन्ध्य वर्मन जैनियों का बड़ा आदर करता था। जैन व्याकरण एव जैन सम्प्रदाय के समस्त सिद्धान्तों के महान विद्वान् पडित धारासेन के शिष्य महावीर को विन्ध्यवर्मन ने संरक्षण प्रदान किया था। इसी काल में आशाधर अपने सपूर्ण परिवार के साथ आकर मालवा मे बस गया और महावीर को अपना पथप्रदर्शक बनाया। विन्ध्यवर्मन का उत्तराधिकारी सुभट वर्मन जैन धर्म का विरोधी था। अर्जुन वर्मन के सिंहासनारोहण के पश्चात् मालवा मे पुनः जैन धर्म की प्रगति हुई। आशाधर ने लिखा है कि अर्जुन वर्मन का प्रदेश जैन श्रावकों से भरा था और वह स्वय जैन धर्म के पक्ष का प्रसार करने के लिए नलकच्छपुर नगर मे रहता था। उसने जैन धर्म सप्रदाय के विभिन्न पक्षों का निरूपण करने के लिए अनेक ग्रंथो रचना की थी। जैन धर्म सुदीर्घ काल तक मालवा मे फलता-फूलता रहा।

जैन कला एवं स्थापत्य को परमार काल मे चरमोत्कर्ष पर पहुंचने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इसका कारण यह भी है कि भागवत धर्म के अनुयायी होने के बावजूद उन्होने जैन धर्म के प्रति न केवल उदार दृष्टिकोण अपनाया बल्कि उनके काल मे अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण हुआ और जैन धर्म के उन्नयन मे उन्होने गहरी अभिरुचि व्यक्त की।

परमारों के प्रतापी शासनकाल मे अनेकानेक भव्य एवं विशाल देवालयो का निर्माण हुआ जिनके कुछ उदाहरण आज भी उपलब्ध है। सतपुड़ा पर्वत श्रेणी के उत्तरी अंतिम छोर पर निमाड़ के मैदानी क्षेत्र में ऊन नामक एक ऐतिहासिक स्थान है जो जिला मुख्यालय खरगोन से लगभग १६ कि०मी० की दूरी पर अवस्थित है। परमार वंश के शासनकाल मे यह एक महत्वपूर्ण नगर एवं वास्तु सक्रियता का एक मुख्य केन्द्र था। इसके प्राचीन गौरव के साक्ष्य स्वरूप यहां पर अब भी अनेक जैन एवं हिन्दू मदिर वर्तमान है। यहां के मंदिरों की वास्तुशैली खजुराहो-समूह के सदृश है: यहा के एक मन्दिर की दीवाल पर परमार नरेश उदयादित्य का एक अभिलेख है।

ऊन मे दो महत्वपूर्ण जैन मदिर है—(१) चौबार डेरा क्रमाक २ तथा (२) शातिनाथ।

चौबारडेरा क्रमाक २ एक प्राचीन जैन मन्दिर है। इसका आकार वर्गाकार है और इसके मध्य आठ स्तम्भों पर एक गुम्बज है। इसमे चार द्वार मार्ग है जिनमे से एक गर्भगृह को जाता है। गर्भगृह मे दो विशाल जैन मूर्तियां हैं। इनमे से एक मूर्ति तीर्थंकर शातिनाथ की है। इसका स्थापना काल माघ शुक्ल ७ स० १२८२ वि० मूर्ति पर अंकित है। दूसरी मूर्ति का स्थापनाकाल स० १२६३ वि० है।

सड़क के दक्षिण की ओर कुछ दूरी पर एक टेकड़ी के ऊपर श्री शातिनाथ मदिर है, जो ग्वालेश्वर मंदिर के नाम से प्रसिद्ध है। इसका आमलक शिला एव कलश नष्ट हो गए हैं। मण्डप चार गुम्बदयुक्त एक वर्गाकार कक्ष है। इसमें दालान नही है। गर्भगृह सभा मण्डप से लगभग १० फुट नीचा है। गर्भगृह से मडप में आने के लिए सीढ़ियां बनी हुई है। मुख्य शिखर के चारों ओर उसी प्रकार के शृंग है जैसे कि खजुराहो के पार्श्वनाथ मन्दिर मे है। गर्भगृह के अन्दर तीन दिगम्बर जैन प्रतिमाओ की एक पंक्ति एक पादपीठ पर खड़ी है। उनमें से भगवान शातिनाथ की प्रतिमा १८' ऊंची है जिनके दोनों ओर अरहतनाथ तथा कुन्थनाथ की प्रतिमाएं कायोत्सर्ग मुद्रा मे खड़ी है। मध्य की प्रतिमा पर स्थापना काल ज्येष्ठ शुक्ल १३ सं० १२६३ अंकित है।

भोपाल से लगभग २५ कि० मी० की दूरी पर स्थित समसगढ़ नामक एक छोटा-सा ग्राम है। ग्राम के बायें अंचल में अनेक पुरातत्वीय अवशेष मंदिरों के भग्नावशेषों

के रूप में मौजूद हैं जिनमें प्राचीन जैन मन्दिर की जगती एवं अधिष्ठान पर पुनर्निर्मित जैन मन्दिर एव उसके अहाते मे रखी हुई प्राचीन जैन प्रतिमायें एवं स्थापत्यखड है। स्थापत्य विद्या एव मूर्ति शिल्प के आधार पर प्राचीन जैन मन्दिर लगभग १३वी शदी का आंका जा सकता है। इस स्थान का सम्बन्ध धाराधिपति भोज द्वारा निर्मित उस प्राचीन जैन मन्दिर से रहा होगा जो भोजपुर मे आज भी पुनर्निर्मित अवस्था मे खड़ा है।

भोजपुर से लगभग १० किलोमीटर की दूरी पर आशापुरी नामक ग्राम है। यहा परमारकालीन मंदिरों के कई स्थलों पर अवशेष उपलब्ध है। इन्हीं स्थलो मे एक समूह जैन मन्दिर के अवशेष का है जो ग्राम की पश्चिम दिशा पर कुछ ही दूरी पर है। मंदिर के अवशेषों में मात्र जगती शेष रह गई है। इसी जगती पर यत्र-तत्र बिखरी हुई लगभग दो दर्जन जैन प्रतिमायें पड़ी है जिसमे सुपार्श्व-नाथ जैन चतुष्टिका, ऋषभनाथ, गोभेद अम्बिका, अम्बिका तथा अन्य तीर्थंकरों की प्रतिमायें सम्मिलित है। उन्हें प्रतिमा विज्ञान की दृष्टि से ११ १२वी शती का आका जा सकता है।

नेमावर से ३३ मील पश्चिम की ओर एव इन्दौर से ४६ मील पूर्व में स्थित विजयवाड़ा में महान जैन मन्दिर पूर्ण ध्वस्तावस्था में है। इसमें तीन भीमाकार दिगम्बर जैन प्रतिमाएं सर्वाधिक आकर्षक हैं। इनमें से एक के पादपीठ पर संवत १२३४, तदनुसार ११७७ ई० उत्कीर्ण है।

परमार राजवंश के उत्कर्ष काल में मालवा के लोगों ने भवन निर्माण सम्बन्धी कितनी दक्षता प्राप्त की थी, यह उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है। इसी काल में जैन शिल्प कला का भी बहुत उत्कर्ष हुआ। विवेच्य युगीन जैन प्रतिमायें अनेक स्थलों से उपलब्ध हुई है। भोजपुर से तीन मील की दूरी पर आशापुरी नामक ग्राम में शान्तिनाथ की प्रतिमा सुरक्षित है। सतपुड़ा पर्वत श्रेणियों के सिरे के निकट निमाड़ के मैदान में स्थित ऊन नामक ग्राम मे स्थित जैन मन्दिरो मे जैन धर्म की अनेक सुन्दर मूर्तियां स्थापित है। केन्द्रीय संग्रहालय, इंदौर में परमार युगीन अनेक जैन प्रतिमायें सुरक्षित है। ब्राह्मण मूर्तियो की भांति यद्यपि वे विविध प्रकार की नही हैं, परन्तु वे लेखयुक्त है। इन प्रतिमाओं में आदिनाथ, श्रेयांसनाथ, धर्मनाथ, शांतिनाथ, नेमिनाथ, नमिनाथ एव महावीर की प्रतिमायें उल्लेखनीय है।

मध्य प्रदेश के उज्जैन जिले की महीदपुर तहसील से पूर्व दिशा में १५ कि० मी० दूर झारड़ा ग्राम अपने जैना-वशेषों के कारण कला जगत में अधिक प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है। यहां से उपलब्ध वि० स० १२०८ के अभिलेख वाली रोहिणी की एक कलात्मक प्रतिमा २' ५' ऊंची और १' ७" चौड़ी है। १६ विद्या देवियों में रोहिणी प्रसिद्ध है। प्रतिमा का वाहन गाय है। अतः यह श्वेताम्बर परम्परा में निर्मित है। चतुर्भुजी रोहिणी की इस प्रतिमा के ऊर्ध्व वाम हस्त में कलश एवं दायें हाथ में शख, अधो वाम हस्त में कमल एवं चौथा हाथ भग्न है। प्रतिमा एक विशिष्ट मूर्तिकला का उदाहरण प्रस्तुत करती है। इसमें वाहन के आधार पर जैन देवी श्वेताम्बरी है परन्तु आयुध के आधार पर दिगबर है। सभवतः यह परमार वंश के महान यशस्वी सम्राट् राजाधिराज भोज के समय संस्थापित धार्मिक समन्वय के कर्तृत्व द्वारा प्रभावित थी। देवी की शरीर यष्टि विशुद्ध रूप से परमार शिल्प से अनु-प्राणित है।

यहां से उपलब्ध दूसरी महत्वपूर्ण प्रतिभा चक्रेश्वरी की है। परमार मूर्तिकला में प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ की शासन देवी चक्रेश्वरी परमार मूर्तिकला में विशेष रूप से अंकित मिलती है। झारड़ा से उपलब्ध चक्रेश्वरी की इस प्रतिमा में देवी गरूड़वाहना और अष्टभुजी है। प्रतिभा के चक्र, पाश, वाण, वरद, अंकुश, वज्र आयुध सुस्पष्ट है, एवं दो हाथों के आयुध भग्न है। इस प्रतिमा पर अंकित अभिलेख अस्पष्ट है। अभिलेख के आधार पर इसका काल १३वी शताब्दी ई० निर्धारित किया जा सकता है।

सोलह विद्या देवियो में प्रसिद्ध अच्युता की यहा से उपलब्ध काले स्लेटी प्रस्तर की इस प्रतिमा में देवी को अश्वारूढ दिखाया गया है। यह प्रतिमा ५' ४" लंबे एव ३' ७" चौड़े पाषाण फलक पर उभारी गई है। दो हाथो से नमस्कार मुद्रा की प्रज्ञप्ति व दाये हाथ में खड्ग तथा

(शेष पृष्ठ १३ पर)

पंच परमेष्ठी और णमोकार मंत्र

☐ डा० प्रेमसागर जैन, बड़ौत

अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु को पंच परमेष्ठी कहते है। जैन शासन उनकी महिमा से समन्वित है। उन्हे अधिष्ठातृ देव माना जाता है। साधु से अरिहन्त तक का क्रम उत्तरोत्तर अधिकाधिक आत्म-शुद्धि की दृष्टि से किया गया है। सिद्ध के पूर्ण पावन होने पर भी, लोकोपकार की दृष्टि से अरिहन्त को प्रथम स्थान प्राप्त हुआ है। आठो कर्मों को जीतने से सिद्धों को पूर्ण शाश्वत आत्म-सुख प्राप्त हो जाता है। वे "लोयग्गणि-वासिणो", "लोयसिहरत्थो" और "लोकत्रयशिखरपुरी-वासिनः" कहलाते है। इसके विपरीत, अरिहन्त केवल चार धातियां कर्मों का क्षय कर पाते है। अतः चार अघा-तिया कर्मों के चुकने तक उन्हे इस संसार मे रुकना होता है। इस बीच उन्हे समवशरण की विभूति प्राप्त हो जाती है और उसके माध्यम से वे अपनी दिव्य ध्वनि का प्रसार करते है, जिससे संसार का भला होता है। जैनाचार्यो ने जागतिक उपकार को ही मुख्यता दी है, इसी कारण सिद्ध से पूर्व अरिहन्त को मान्यता मिली है। इसी सन्दर्भ मे 'षट् खण्डागम' का एक उद्धरण महत्वपूर्ण है—

"असत्यर्हत्याप्तागमपदार्थावगमो न भवेदस्मदादीनां,
संजानश्चैतद् प्रसादादित्युपकारापेक्षया
वादार्हन्नमस्कारः क्रियते।"

इसका अर्थ है कि यदि अर्हन्त न होते तो हम को आप्तागम में कहे हुए पदार्थों का अवगम न हो पाता। अर्हन्तो के प्रसाद के कारण ही हम प्रामाणिक श्रुत को प्राप्त कर सके है, अतः उन्हे आदि मे नमस्कार करना उचित ही है।

यद्यपि आत्मशुद्धि की दृष्टि से साधु सबसे नीचे है और सिद्ध सबसे ऊपर, किन्तु जैनाचार्यों ने पांचों को समान रूप से वन्दनीय कहा है। शायद यही कारण है कि पांचों का सम्गुम्फन एक ही सूत्र में किया गया है। वह सूत्र है—"णमो अरिहन्ताणं" मन्त्र। उसमें पंच परमेष्ठी को समान रूप मे नमस्कार किया गया है। मन्त्र होने के कारण यहाँ नमस्कार का अर्थ है—साक्षात् करना। तभी मन्त्र की सार्थकता है। साक्षात का अर्थ है—अनुभूति की गहराइयो में स्पष्ट दर्शन।

जैन परम्परा मे यह मन्त्र, सृष्टि की भांति ही अना-दिनिधन माना जाता है। भगवान महावीर ने १४ पूर्वों की विद्या अपने गणधरो को स्वयं प्रदान की थी। पूर्व विद्या का अर्थ है, भगवान महावीर से पहले की विद्या, जो श्रवण कर-करके सतत चली आ रही थी। हो सकता है कि तीर्थंकर पाश्र्वनाथ के समय मे भी १४ पूर्व पहले से आई हुई विद्या के रूपमे प्रतिष्ठित हों। जो कुछ हो, १४ पूर्वों मे एक पूर्व था – विद्यानुवाद। उसका प्रारम्भ णमोकार मन्त्र से हुआ था, अर्थात् पंच परमेष्ठी के नमस्कार से हुआ था। विद्यानुवाद एक अद्भुत मन्त्रग्रन्थ था। आज वह विलुप्त माना जाता है, किन्तु कहा जाता है कि उसकी बिखरी सामग्री का संकलन मुनि सुकुमार सेन (७वी शती ईसवी) के विद्यानुशासन मे हुआ है। विद्यानुशासन की हस्तलिखित प्रति जयपुर और अजमेर के शास्त्र-भण्डारो मे मौजूद है। श्री मोहनलाल भगवानदास झावेरी ने ऐतिहासिक दृष्टि से जैन मन्त्र शास्त्र का प्रारम्भ ईसा से ८५० वर्ष पूर्व, अर्थात् तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय मे स्वीकार किया है। झावेरी की इस मान्यता के सम्बन्ध मे डा० अल्तेकर ने लिखा है।—

"Mr. Jhaveri thinks that Mantrashastra among the Jains is also of hoary antiquity. He claims that its antiquity goes back to the days of parsuvnatha, the 23rd Tirthankata, who flourished about 850 B. C."

उपलब्ध पुरातात्विक आधार पर णमोकार मन्त्र का

प्राचीनतम उल्लेख हाथीगुम्फा शिलालेख में प्राप्त होता है। उसकी प्रथम पंक्ति है—"नमो अरहंतानं ।।नमो सवसिधानं।।।" श्री वी० ए० स्मिथ ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ "Early History of India" मे इस शिलालेख का निर्माता कलगाधिपति सम्राट् खारवेल को ईसा से १७० वर्ष पूर्व माना है।

जहाँ तक लिखित साहित्य का सम्बन्ध है, आचार्य पुष्पदन्त भूतबलि का षट्खण्डागम सबसे पहला ग्रंथ है, जिसका आरम्भ णमोकार मन्त्र के मंगलाचरण से हुआ है। षट्खण्डागम श्री वीरसेनाचार्य की संस्कृत टीका के साथ, डा० श्री हीरालाल जैन के सम्पादन मे, अमरावती से, वि० सं० १९९६ मे प्रकाशित हो चुका है। पुष्पदन्त भूतबलि का समय ईसा की दूसरी शताब्दी माना जाता है।

णमोकार मन्त्र अपूर्वशक्ति का प्रतीक है। उसके उच्चारण मे, ध्यान मे इहलौकिक वैभव तो मिलते ही है, पारलौकिक सिद्धि भी प्राप्त होती है। भद्रबाहु ने 'उवसग्गहर स्तोत्र' मे लिखा है -

तुह सम्मत्ते लद्धे चिंतामणिकप्पपायवब्भहिए।
पावंति अविग्घेणं जीवा अयरामरं ठाणं ।।

अर्थ - पंचनमस्कार मंत्र से चिन्तामणि और कल्पवृक्ष से भी अधिक महत्वशाली सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है, जिसके कारण जीव को मोक्ष मिलता है।

आचार्य कुन्दकुन्द को विश्वास है कि मंत्र से भव-भव मे सुख प्राप्त होता है। उनका तात्पर्य केवल इहलौकिक सुख से ही नहीं अपितु पारलौकिक सुख से भी है। उनका कथन है—

अरुहा सिद्धायरिया उवझाया साहु पंचपरमेट्ठि।
एवे पंच णमोयारा भवे-भवे मम सुहं दिंतु ।।

अर्थ—अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु अर्थात् पंचपरमेष्ठि मुझे भव-भव मे सुख देवें। भव भव लगा देने से इहलौकिक सुख स्वतः ही आभासित होता है और सुख का वास्तविक अर्थ तो आत्मब्रह्म का परमानन्द है ही।

आचार्य देवनन्दि पूज्यपाद ने णमोकार मन्त्र को प्रथम मंगल कहा। उन्होंने स्पष्ट स्वीकार किया है कि यह मन्त्र सब पापों को नष्ट करने वाला है और जीवों का कल्याण करने में पूर्ण रूप से सक्षम है—

एष पंचनमस्कारः सर्वपापप्रणाशिनः।
मंगलानां च सर्वेषां प्रथमं मंगलं भवेत् ।।

मुनि वादिराज (११वीं शताब्दी विक्रम) ने एकीभाव स्तोत्र मे लिखा है—"जब पापाचारी कुत्ता भी णमोकार मन्त्र को सुनकर देव हो गया, तब यह निश्चित है कि उस मन्त्र का जाप करने वाला इन्द्र श्री को प्राप्त कर ही सकता है।" श्री जिनप्रभ सूरि ने "पंचपरमेष्ठिनमस्कार कल्प" मे लिखा है—'इस मंत्र की आराधना करने वाले योगिजन त्रिलोक के उत्तम पद को प्राप्त कर लेते है। यहाँ तक ही नहीं, सहस्रों पापो का सम्पादन करने वाले और सैकडो जन्तुओं की हत्या करने वाले तिर्यंच भी इस मन्त्र की भक्ति से स्वर्ग में पहुंच जाते हैं। उनका कथन है—

एतमेव महामन्त्रं समाराध्येह योगिनः।
त्रिलोक्याऽपि महीयन्तेऽधिगताः परमंपदम् ।।
कृत्वा पापसहस्राणि हत्वा जन्तुशतानि च।
अमुं मन्त्रं समाराध्य तिर्यंचोऽपि दिवंगतः ।।

जैनाचार्यों ने णमोकार मन्त्र की शक्ति को देवता कहा है। उसमे आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तीनो ही प्रकार की शक्तियाँ सन्निहित है। वे मोह के दुर्गमन को रोकने मे पूर्ण रूप से समर्थ है—

स्तम्भं दुर्गमनं प्रति प्रयततो मोहस्य सम्मोहनम्।
पायात्पंचनमस्क्रियाक्षरमयी सराधना देवता ।।

इस मन्त्र की विशेषता है—पाच को एक स्थान पर समवेत करना। पाच का समवेत रूप ही मन्त्र है। यदि इनमे से एक भी हटा दिया जाये तो यह मन्त्र शक्तिहीन हो जायेगा। यह आत्मशुद्धि का एक सम्गुम्फित रूप है। सीढ़ी के रूप मे यदि एक भी कम कर दी जाये तो ऊपर जाने का मार्ग भंग हो जाता है। इस सीढ़ी मे पाच आधार है और पाचो अनिवार्य। अर्हन्त और सिद्ध जितने अनिवार्य है, उतने ही साधु भी। मन्त्र की दृष्टि से सभी समरूप मे मूल्यवान है, अर्थात् मन्त्र की सिद्धि पाचो के समवेत रूप मे है, पृथक्करण मे नहीं। यहाँ किसी एक मे ब्रह्मशक्ति केन्द्रित नहीं है। "एकोब्रह्म" से ही लोक में

सर्वसत्ता सम्पन्न "राजा" का प्रादुर्भाव हुआ। दुनियावी राजा अपने को ब्रह्मा का एकमात्र प्रतिनिधि कहने लगे। उसर राजा ने किसी को अपना सिर ऊपर नहीं उठाने दिया। एक ब्रह्म के एकमात्र प्रतिनिधि इस राजा नाम के जीव ने सारी दुनिया को सिसक-सिसक कर जीने पर विवश कर दिया और वह भाग्यवाद के झांसे में ऐसी फंसी कि आज तक उबर नही पायी। जैनाचार्यों ने न तो ब्रह्म को एक माना और न उसके प्रतिनिधि की कल्पना ही की। उसने लोकतन्त्र को प्रेरणा दी।

पचपरमेष्ठी नमस्कार मत्र पर अनेकानेक ग्रथो और स्तुति-स्तोत्रो की रचना होती रही। ईसा की छठी शताब्दी के श्री विद्यानन्द पात्रकेशरी ने 'बृहत्पचनमस्कार स्तोत्र' और चौदहवी शताब्दी के श्री जिनप्रभसूरि ने 'पंचपरमेष्ठियनमस्कार कल्प' जैसे बड़े-बड़े स्तोत्रो और कल्पो की रचना की। प्राकृत भाषा मे आचार्य कुन्दकुन्द ने "दशभक्ति" की रचना की थी। पचगुरुओ के चरणो मे अपने भाव सुमन चढ़ाते हुए उन्होंने लिखा है—

झायवि पंचवि गुरवे मगलचउसरण लोयपरियरिए।
णरसुरखेयरमहिए आराहणणायरे वीरे॥

अर्थ—पंचपरमेष्ठी उत्तम है, वीर है, नर-सुर तथा विद्याधरों से पूज्य है। ससार के दुखाभिभूत प्राणियो के लिए वे ही एकमात्र शरण है। उनका स्वभाव मंगलरूप है।

प्राकृत का ही एक अन्य ग्रंथ है—भगवती आराधना। रचयिता थे प्रसिद्ध आचार्य शिवार्यकोटि। उन्होंने लिखा है—"जो पुरुष पंचपरमेष्ठी में भक्ति नही करता, उसका संयम धारण करना, ऊसर खेत मे बीज बोने के समान है। पंचपरमेष्ठी की भक्ति के बिना यदि कोई अपनी आराधना चाहता है, तो वह ऐसा ही है, जैसे बीज के बिना धान्य की इच्छा करना और बादल के बिना पानी चाहना।

तेसिं आराहण्णा, यगाण ण करेज्ज जो णरो भत्ति।
धत्ति पि सजम तो, सालि सो ऊसरे ववदि॥५३॥
बीएण विणा सस्सं, इच्छदि सो वासमब्भएण विणा।
आराधणमिच्छन्तो, आराधणभत्तिमकरन्तो॥५४॥

भगवज्जिनसेनाचार्य ने महापुराण मे लिखा है—

"पंचब्रह्ममयैर्मन्त्रैः सकलीकृत्यनिष्कलम्। परं तत्त्वमनुध्यायन् योगी स्याद् ब्रह्मतत्त्ववित्।' अर्थात् जो योगी पचनमस्कार मन्त्र के द्वारा परमतत्व परमात्मा का ध्यान करता है, वही ब्रह्मतत्त्व को जान पाता है। आचार्य शुभचन्द्र का 'ज्ञानार्णव' मे कथन है कि पचपरमेष्ठी की स्तुति करने से ही नित्य परमानन्द प्राप्त होता है। 'उपदेशरसायनरास' मे श्री जिनदत्तसूरि ने कहा है कि जो प्रतिदिन पंचपरमेष्ठियो का स्मरण करता है, उसकी धार्मिक इच्छाओ को शासन देवता प्रसन्न होकर पूरा करते है—

निच्चु वि सुगुरु देवपयभत्तह, पणपरमिट्ठि सरंतहु संतहं।
सासणसुर पसन्न ते भव्वई, धम्मियकज्ज पसाहहि सवइं॥

इस विवेचन से स्पष्ट है कि जैनाचार्य सैद्धान्तिक दृष्टि से पचपरमेष्ठी को अनादिकालीन मानते है। ऐतिहासिक दृष्टि से उनकी मान्यता के प्रमाण ईसा से ८५० वर्ष पूर्व तक के मिलते है। इसका अर्थ हुआ कि तीर्थंकर महावीर के पहले से ही पचपरमेष्ठी के चरणो में श्रद्धा-पुष्प चढ़ाये जाते थे। पुरातात्विक रूप से सम्राट् खारवेल का शिलालेख उनका मानस्तम्भ ही है। इस सबके बीच उनकी प्राचीनता निर्विवाद और प्रामाणिक है। जहा तक आज उनकी मान्यता का सम्बन्ध है, वह सार्वभौम है—जैसी श्वेताम्बरों मे, वैसी ही दिगम्बरो में। कोई तरतमांश नही है। वे एकता के प्रतीक है, अत. आज भी बिखराव को समेटकर एक सूत्र मे बाधने की उनमे क्षमता है। माला के टूटे मोती फिर एक माला के रूप मे सजाये जा सकते है, यदि जैन लोक पचपरमेष्ठी की सार्वभौमिकता पर ध्यान दे।

साहित्य के पृष्ठो पर सूक्ष्म भावनाओं तक के रंग निर्धारित किए गए है, तो वहां पंचपरमेष्ठी के रगो की भी बात मिली। जैन ग्रथ 'बृहद्द्रव्यसंग्रह" मे पाच मूल वर्ण माने गये है—"श्वेतपीतनीलारुणकृष्णसज्ञाः पचवर्णाः।" इनमे श्वेत रग क्षीणलेश्या और पूर्ण आत्मशुद्धि का प्रतीक है। लेश्या और कर्मों के क्षीण हो जाने पर ही आत्मा नितान्त पावन, अनन्तदर्शन, ज्ञान और बल-युक्त हो पाती है। लाल रग मगल का द्योतक है, शायद इसी कारण विवाहादि के अवसरों पर लाल वस्त्र धारण करना सौभाग्य का चिह्न समझा जाता है। प्राकृत का

इन दो पंक्तियों से यही अर्थ स्पष्ट होता है—

सेद वण्णो झाणं लेस्सा य सेसकम्मं च ।
अरुहाणं इहि लोए सुमंगलं सेदवण्णो दु ॥

—पंचास्तिकाय, प्रथमखण्ड, पृष्ठ ६

'मानसार' स्थापत्य एवं मूर्तिकला का सुप्रसिद्ध ग्रंथ है। इसकी रचना पांचवीं शती में हुई थी। इसमें पंच-परमेष्ठी की मूर्तियों का रंग निर्धारित किया गया है। पंचपरमेष्ठी में प्रत्येक का पृथक् रंग है। अर्हन्त स्फटिक मणि के समान श्वेताभ, सिद्ध अरुणाभ, आचार्य पीताभ, उपाध्याय शस्य-श्यामल एवं साधु नभस्तल के समान नीलाभ है। यहां उपाध्याय का शस्य श्यामल रंग साभि-प्राय है। पृथ्वी शस्य-श्यामला कही जाती है। धान्य की लहराती बालें और उससे सुशोभित धरणी माँ, वैसे ही शस्य-श्यामल है उपाध्याय परमेष्ठी। संसार के प्राणियों के प्रति ममता से भरा हृदय और उन्हें अक्षर रूपी धान्य से प्राणवन्त बनाने का अदम्य उत्साह, उपाध्याय का अपना सहज स्वभाव है। इसी कारण उनका शस्य-श्यामल रंग सार्थक है। यदि पृथ्वी शरीर का पोषण करती है तो उपाध्याय मन और मस्तिष्क का। साधु को नभस्तल के समान नीलवर्ण दिया गया है, वह उचित ही है। साधु वही है जिसका दृष्टिकोण नभ के समान विस्तृत और व्यापक हो। आकाश निःसीम है, वह किसी सीमा में बंधता नहीं। साधु भी कोई घेरा नहीं मानता। वह मुक्त होता है, नितान्त मुक्त और उन्मुक्त। घिराव संकीर्णता है और उससे साम्प्रदायिकता जन्म लेती है। साधु असाम्प्रदायिक होता है, व्यापक और उदारमना।

इस ग्रंथ में केवल रंगों का ही नहीं, अपितु ऊंचाई का भी विवेचन है। लेखक का कथन है कि पंचपरमेष्ठी की मूर्तियां १० ताल प्रमाण ऊंची होनी चाहिए। ऊंचाई ऊर्ध्व की द्योतक है। जैन परम्परा में ऊर्ध्व का विस्तृत विवेचन मिलता है। वे पंक्तियां हैं—

स्फटिकश्वेतरक्तं च पीतश्यामनिभं तथा ।
सिद्धादिश्च सुगन्धश्च जनं चाहन्तु पार्श्वकम् ।
एतत्पंचपरमेष्ठिपंचवर्णं यथाक्रमम् ।
उत्तम् दशतालेन देवांगैरसह मानयेत् ॥

अर्थ—अरहन्त का वर्ण स्फटिक के समान श्वेत, सिद्ध का रक्त-लाल, आचार्य का पीत—पीला, उपाध्याय का श्यामल और साधु का नभस्तल जैसा होता है। इनकी प्रतिमा १० ताल प्रमाण अर्थात् १२० भाग (शिल्पशास्त्र के अनुसार) ऊंची होनी चाहिए। उनके पार्श्व में अन्य देवों की मूर्तियों का होना भी आवश्यक है।

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, दिगम्बर जैन कालेज, बड़ौत
(जिला मेरठ)

□□□

(पृ० ६ का शेषांश)

बायें में वज्र है। नीचे के अभिलेख में संवत १२२६ उत्कीर्ण है।

यहां से उपलब्ध अन्य प्रतिमायें पद्मावती व अम्बिका की है। ये क्रमशः पार्श्वनाथ और नेमिनाथ की यक्षिणी देवियां है। यहां तीर्थंकर प्रतिमायें भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हुई है। उपलब्ध सभी प्रतिमाओं को १०वीं से १३वीं सदी के मध्य रखा जा सकता है। इन प्रतिमाओं पर मालवा के परमार मूर्ति शिल्प की स्पष्ट छाप है।

आष्टा से परमार-युगीन अनेक जैन प्रतिमाएं प्रकाश में आयी हैं। यहां के दुर्ग (किले) से जो मूर्तियां उपलब्ध हुई है उनमें पार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ तथा ऋषभनाथ की संवत १२२४ की प्रतिमायें प्रमुख है। किले के मध्य में एक विशाल जैन मन्दिर है, जिसमें अनेक मूर्तियां है। यहां की प्रमुख प्रतिमा यहां तीर्थंकर महावीर की है।

सारांश यह है कि परमार राजवंश के यशस्वी सम्राटों के काल में जैन धर्म को चरमोत्कर्ष पर पहुंचने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इसका प्रमुख कारण यह है कि भागवत धर्म के अनुयायी होने के बावजूद उन्होंने जैन धर्म के प्रति न केवल उदार दृष्टिकोण अपनाया, बल्कि उनके काल में अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण हुआ और जैन धर्म के उन्नयन में उन्होंने गहरी अभिरुचि भी व्यक्त की।

□□□

प्राध्यापक, गवर्नमेंट डिग्री कालेज,
डिण्डोरी (मंडला) मध्य प्रदेश

आदि जिन, शिव एवं शैव परम्परा

□ श्री मुनीशचन्द्र जोशी, नई दिल्ली

जैन और ब्राह्मण परम्परायें भारतीय मूल की होने पर भी परस्पर मौलिक रूप से भिन्न है। इन दोनों विचारधाराओं में, इनके दार्शनिक तत्वों के पृथकत्व के साथ-साथ, प्रधान अन्तर है इनके आदर्शों की कल्पना में। जैन धर्म मनुष्य को देवता से श्रेष्ठ मानता है और मनुष्यत्व का ही चरम विकसित रूप जिनत्व मे देखता है और कैवल्य द्वारा प्राणि मात्र के लिए खुला है। किन्तु ब्राह्मण परम्पराओं मे ब्रह्माण्ड के नियन्ता के रूप में ईश्वर की स्थिति सर्वोपरि है और वहां तक पहुंच पाना ही उपासक का उच्चतम लक्ष्य है। साथ ही देवयोनि मनुष्य योनि से श्रेष्ठतर अवस्था के रूप मे मान्य है।

इतना सब कुछ होने पर भी जैन धर्म एवं ब्राह्मणी विचारधारा से अनुप्रेरित सम्प्रदायो ने एक दूसरे को प्रभावित किया है। विद्वानों ने इस विषय पर काफी विवेचन किया है। इसलिए हम इस लेख मे केवल इस प्रकार के सांस्कृतिक एवं दार्शनिक आदान-प्रदान के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष पर पुनः विचार करना चाहेंगे। यह महत्त्वपूर्ण पक्ष है: आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभ के स्वरूप का ब्राह्मण परम्पराओं पर प्रभाव।

डा० हीरालाल प्रभृत्ति विद्वानों ने ऋग्वेद के कुछ मंत्रों में केशी और ऋषभ के नाम से आदि जिन सम्बन्धी सन्दर्भ देखे है। डा० हीरालाल जैन के अनुसार तो सम्भवतः ऋग्वेदीय जनो मे केशी, अर्थात् ऋषभ वातरशना मुनियों के प्रधान के रूप मे मान्य थे। उन्होने इस सम्बन्ध में ऋग्वेद की निम्नस्थ ऋचा का उल्लेख किया है:

केश्यग्नि केशी विषं केषी विभर्ति रोदसी।
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते॥

ऋग्वेद १०, १३६-१

अर्थात् 'केशी (ऋषभ) अग्नि, जल, स्वर्ग तथा पृथ्वी को धारण करते है' समस्त विश्व के तत्वों का दर्शन कराते है (एवं) केशी ही ज्योतिस्वरूप (ज्ञान के तेज से प्रकाशमान) कहे जाते है।' केशी का यह वर्णन जैन मान्यताओं से बहुत दूर नही है, और इसे आदि जिन से सम्बद्ध मानना उचित ही लगता है। भगवान ऋषभ का ब्राह्मणी परम्पराओं में ऊंचा स्थान है। उन्हे भागवतादि पुराण विष्णु के चौबीस अवतारो में गिनते है। अन्य ब्राह्मण पुराणों में भी उनकी गणना महापुरुषों मे हुई है। ब्रह्माण्डपुराण उन्हें श्रेष्ठतम नरेश (पार्थिव श्रेष्ठ) तथा सभी क्षत्रियो के मूलपुरुष के रूप में (सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम्) उल्लिखित करता है। ब्राह्मण परम्परा उनके महायोगी एवं मुनिराट् के स्वरूप मे भी परिचित है। तभी तो 'योगवाशिष्ट' के लेखक ने राम के मुख से कहलवाया है—

नाहं रामो न मे वाञ्छा भावेषु न च मे मनः।
शान्तमासितुमिच्छामि स्वात्मनीव जिनो यथा॥

अर्थात् (राम अपने लिए कहते है) न तो मै अभिराम हूं, न मैं इच्छामुक्त हूं (किन्तु) मैं सर्वमयी जिन की भांति (शाश्वत) शान्ति प्राप्त करना चाहता हूं।'

किन्तु ऋषभनाथ के पुनीत स्वरूप का दूसरा पक्ष है उनका भगवान शंकर से सादृश्य। शिवपुराणकार ने इसका अनुमोदन करते हुए उन्हें शिव का अवतार कहा है:

इत्थप्रभावऋषभोऽवतारशंकरस्य मे।
सतां गतिर्दीनबन्धुर्नवमकथितस्तु नः॥

—शि० पुराण १-४१

शंकर और ऋषभ दोनों जटाधारी है, योगी हैं, धर्मशास्ता है तथा कैलाश एवं वृषभ से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है तथा दिगम्बरत्व भी शंकर का एक लक्षण है। यही नहीं वरन् शैव तथा शाक्त परम्पराओं में आदिगुरु तथा आगमादि के सर्वप्रथम उपदेष्टा के रूप में शंकर को आदिनाथ की संज्ञा से विभूषित किया गया है। शाक्ततंत्रों में स्वगुरु को श्रीनाथ कहा गया है।

शरीर मे गुरु की स्थिति सहस्रार में मानी गयी है (महस्रारे महापद्मे कर्पूरधवलो गुरु)। जैन देव प्रतिमाओं के मुकुट या मुकुट के ऊपर अंकित लघु जिनबिम्ब शायद तीर्थंकर का गुरुत्व ही दर्शाता है। लगता है कि आचार्य जिनसेन ऋषभ एवं शिव के समान लक्षणों से अवगत थे। तभी तो उन्होने अपने जिन सहस्रनाम का प्रारम्भ इन शब्दों से किया है :

श्रीमान् स्वयम्भूवृषभः शम्भव. शम्भुरात्मभूः।
स्वयप्रभः प्रभुर्भोक्ता विश्वभूरपुर्नभवः ॥२॥

इस प्रकार की प्रतिध्वनि बप्पभट्टि सूरि कृत शारदास्तोत्र मे भी मिलती है :

जिनपतिप्रथिताखिलवाङ्मया।
गणधराननमण्डपनर्तकी ॥
गुरुमुखाम्बुजखेलनहंसिका।
विजयते जगति श्रुतदेवता ॥३॥

सम्भवत: जैन परम्परा मे सरस्वती (शारदा=श्रुतदेवता) की कल्पना जिनवाणी के रूप मे काफी पहले से की गई थी। इसका प्रमाण मथुरा (ककाली टीला) से प्राप्त कुषाण कालीन जैन सरस्वती की लेखाङ्कित प्रतिमा है। यह अभी तक प्राप्त सरस्वती की मूर्तियो मे से प्राचीनतम है। इसमे उत्कीर्ण लेख के अनुसार, इस प्रतिमा का दान धानुकार गोव ने वाचक (धर्म-व्याख्याता) आर्य्य हस्तहस्तिन के शिष्य वाचक आर्य्यदेव की प्रार्थना पर किया था। गुप्तयुगीन संस्कृत कोश 'नामलिङ्गानुशासनम्' या अमरकोश मे सरस्वती को वाणी या भाषा का पर्याय माना है और कालान्तर मे शाक्त उपासको ने देवी को शब्दब्रह्ममयी कहा (शब्दब्रह्ममयी परात्परमयी ज्योतिर्मयी वाङ्मयी)। अभिनवगुप्त ने तो यहां तक कह डाला है कि 'हे देवी ससार मे कौन सी ध्वनि (वाङ्मय) तुम्हारी स्तुति नही है क्योकि तुम्हारा सम्पूर्ण शरीर ही शब्दमय है (तव च का किल न स्तुतिरम्बिके! सकल शब्दमयी किल ते तनुः)।

प्रश्न उठता है कि क्या ब्राह्मण परम्पराओ का इस प्रकार का विकास जैन विचारधारा से किसी प्रकार प्रभावित है या नहीं? इस प्रश्न का उत्तर शैव सम्प्रदाय के ऐतिहासिक विकास का विवेचन करने के बाद ही दिया जा सकता है। कुछ विद्वानों ने शिवपूजा का मूलरूप सिन्धु संस्कृति के अवशेषों में माना है, परन्तु यह केवल अनुमान मात्र है, किन्ही ठोस प्रमाणो पर आधृत नही। हाल मे विख्यात पुराविद् डा० हँसमुख धीरजलाल साकलिया ने सिन्धु सभ्यता के कुछ स्थलों से प्राप्त लिगाकृति पत्थरों के शिवलिङ्ग होने में पूर्ण शका व्यक्त की।

वैदिक साहित्य विशेषकर यजुर्वेद मे शैव सम्प्रदाय का मूल विद्यमान है, किन्तु परवर्ती पौराणिक शैव मत से यह काफी अलग है। ऐतिहासिक युग में शैवमत के पुनरुत्थान का श्रेय लकुलीश नामक माहेश्वराचार्य को दिया जाता है। लकुशील पाशुपत सम्प्रदाय का जन्मदाता था और उसका उद्देश्य पशु (जीव) की रागात्मक प्रवृत्तियों (पाश) का उच्छेद कर उसे मोक्षमार्गी बनाना था। पाशुपत मत से ही कालान्तर मे अन्य शैव सम्प्रदाय तथा शाक्त विचारधारा का विकास हुआ। इतिहासकारो ने विविध प्रमाणो के आधार पर लकुलीश को एक ऐतिहासिक पुरुष माना है और उसकी तिथि ईसवी सन् के आरम्भ के आस-पास स्थिर की है। मथुरा लकुलीशपाशुपत आचार्यों का प्रारम्भिक काल मे मुख्य केन्द्र था। इसकी पुष्टि मथुरा के ही एक गुप्तकालीन अभिलेख, से होती है जिसमे पाशुपत गुरु-परम्परा का उल्लेख है।

इस सन्दर्भ मे यह बताना उपयुक्त ही होगा कि पाशुपत मत की स्थापना के पूर्व ही मथुरा जैन धर्म का उत्तर भारत मे एक प्रधान केन्द्र बन चुका था; तो क्या यह सम्भव नहीं था कि वह जैन मान्यताओ और विश्वासो से प्रभावित हो। लकुलीश पाशुपतों ने शिव को एक अनूठे रूप मे प्रस्तुत किया था। यह था शिव का शास्ता या गुरु रूप। इसी रूप मे शकर ने आगमादि शास्त्रों का उद्घोष किया था। चतुर्मुख लिङ्ग शिव का यही रूप दर्शाते है और शिव लिङ्ग का यह स्वरूप मथुरा की प्राचीन चतुर्जिन युक्त सर्वतोभद्रिका प्रतिमाओ से प्रेरित है। चतुःजिन संघार शायद मूलतः मानस्तम्भो के शीर्ष के रूप मे स्थित थे और शायद इन्हे पुनीत जिनवाणी के चतुर्दिक् प्रसार का प्रतीक माना गया था। स्तम्भ या दण्ड शिव का भी प्रतीक कहा गया है। यही नही स्वयं

(शेष पृ० २१ पर)

जैनधर्म : उद्भव और विकास

□ डा० रवीन्द्र जैन, मद्रास

जैन धर्म विश्व के प्रमुख एवं प्राचीन धर्मों मे अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। बीसवी शती के प्रथम चरण पर्यंत अनेक पौर्वात्य एव पाश्चात्य विद्वान इस धर्म को हिन्दू धर्म की एक सुधारवादी शाखा के रूप मे स्वीकार करते थे। इसकी ऐतिहासिकता को भी श्रमण महावीर से अधिक प्राचीन नही मानते थे। दूसरी ओर अन्य धर्मावलम्बियों के समान जैन धर्मानुयायी विद्वान अनेक विश्वासमूलक एव पौराणिक तर्कों के आधार पर जैनधर्म को अनाद्यनन्त भी सिद्ध करते चले आ रहे थे। प्राचीनता में महानता देखना मानव मात्र की संस्कारी प्रवृत्ति है और भारत मे तो यह चरम पर रही है।

आज ऐतिहासिक एव वैज्ञानिक अनुसंधान कार्यों के फलस्वरूप अनेक प्रामाणिक परिणाम सामने आये है। इन परिणामों का श्रेय मूलत: पाश्चात्य विद्वानों को है। प्रस्तुत निबन्ध मे उक्त तथ्यों के आलोक मे जैनधर्म की प्राचीनता एव परम्परा का अनुसधान प्रस्तुत किया गया है। प्राच्य विद्याओं के विश्वविख्यात अनुसन्धाता डा० हर्मन याकोबी ने अपनी जैन सूत्रों की व्याख्या मे जैनधर्म की प्राचीनता पर पर्याप्त ठोस प्रमाण प्रस्तुत किये है। उनके अभिमत का सार है :—'इस तथ्य से अब सब सहमत हैं कि वर्धमान बुद्ध के समकालीन थे। स्वय बौद्ध ग्रन्थों में इस बात के प्रमाण है कि श्रमण महावीर से पूर्व जैन या आर्हत धर्म विद्यमान था और महावीर इसके संस्थापक थे ऐसा कोई भी उल्लेख बौद्ध ग्रन्थों में प्राप्त नहीं होता है।'

जैनधर्म की प्राचीनता पर जर्मन विद्वान डा० हर्मन याकोबी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक के नवम भाग मे स्पष्ट लिखा है—'पार्श्वनाथ जैनधर्म के संस्थापक थे, इसका कोई भी प्रमाण नही है। जैन परम्परा प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को जैनधर्म का सस्थापक मानने मे एकमत है।'

विश्वविख्यात दार्शनिक डा० राधाकृष्णन ने भी अपनी प्रख्यात पुस्तक 'भारतीय दर्शन'[1] मे स्पष्ट लिखा है—'नि सन्देह जैन धर्म वर्धमान और पार्श्वनाथ से भी पहले प्रचलित था। यजुर्वेद मे ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थंकरों के नामो का निर्देश है। भागवत पुराण द्वारा भी इस बात का समर्थन होता है कि ऋषभदेव जैनधर्म के सस्थापक थे।'

ऋग्वेद मे वातरशना मुनियों और केशी से सम्बन्धित कथायें भी जैनधर्म की प्रागैतिहासिक प्राचीनता का पुष्कल प्रमाण प्रस्तुत करती है। ऋषभदेव और केशी का साथ-साथ उल्लेख भी इसी प्राचीनता का द्योतक है। वैदिक साहित्य मे मुनियो के साथ यतियों और व्रात्यो का वर्णन पर्याप्त मात्रा मे प्राप्त होता है। ये तीनो मूलत: श्रमण परम्परा के ही है। इनके आचरण और स्वभाव मे तथा वैदिक ऋषियो के सामान्य स्वभाव और आचरण मे जो व्यापक अन्तर है, वह सहज ही स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। आहार, तप और यज्ञादि की हिंसात्मक या शिथिल प्रवृत्ति मे श्रमण साधु विश्वास नही रखते थे। ये स्वभावत: अधिक शान्त और सयमी थे।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि जैनधर्म अत्यन्त प्राचीन है। इतिहास भी अभी तक उसके समय का पूर्ण निश्चय नही कर सकता है। ऐसी अवस्था मे हमें पुराणों

---

१. "There is no doubt that Jainism prevailed even before Vardhmana or Parswanath. The Yajurveda mentions the names of three Tirthankars Rishabhanath, Ajitnath and Aristnemi. The Bhagvat Purana endorses the view that Rishabha was the founder of Jainism."—Indian philosophy, Vol. V, P. 288.

और लोक मान्यताओं का आश्रय लेना पड़ता है। पुराण और जनश्रुति केवल उमग और भावुकता की उपज नही है। उनमे इतिहास के जड़ सत्य, भौतिक सत्य और घटना चक्र के सतही स्तर को पार कर जीवन और उसके रस को भीतर से देखने और चखने की अद्वितीय क्षमता होती है।

जैन परम्परा :

जैन परम्परा के अनुसार यह दृष्यमान जगत सदा कालचक्र से नियन्त्रित रहता है। इस कालचक्र के दो कल्प माने गये है। ये छः भागो मे विभक्त है। सुखमा-सुखमा, सुखमा, सुखमा-दुखमा, दुखमा-सुखमा, दुखमा-दुखमा। जिस प्रकार गाडी का पहिया ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर घूमता रहता है, उसी प्रकार यह कालचक्र भी घूमता रहता है, अर्थात् जगत एक बार सुख से दुख की ओर जाता है और दूसरी बार दुख से सुख की ओर आता है। सुख से दुख की ओर जाने को अवसर्पिणीकाल कहते है और दुख से सुख की ओर आने को उत्सर्पिणीकाल कहते है। इन दोनो कल्पों की अवधि लाखों वर्षों की होती है।

इस समय दुखमा नामक पंचम अवसर्पिणीकाल चल रहा है।

पुराणों मे आरम्भ के दो कालो को भोगभूमिकाल कहा गया है। इन कालों मे आधुनिक ग्राम-सभ्यता या नगर-सभ्यता नही थी। इस युग मे कल्पवृक्षों से ही जीवन की सारी आवश्यकतायें पूरी होती थी। मनुष्य इस युग मे परिवार और घर जैसी चीजो से अपरिचित थे। कृषि आदि का ऋण भी उस काल मे नही था। भाई-बहिन मे विवाह अनायास हो जाता था। माता-पिता पर सन्तान का कोई उत्तमदायित्व न था। सदा युगल जन्म होता था। ये दोनो भाई-बहिन धीरे-धीरे बड़े होकर पति-पत्नी बन जाते थे। माता-पिता का इनके बड़े होने मे कोई हाथ न था। अंगुष्ठचूषण आदि क्रियाओ के द्वारा ये दोनो ४६ दिनो में तरुण हो जाते थे। इस समस्त व्यवस्था को पुराणो में भोगभूमि व्यवस्था कहा गया है। यह व्यवस्था सहस्रो लाखों वर्ष चली। फिर तीसरे काल में यह भोगभूमि की व्यवस्था क्रमशः कम होती चली गई। इसी तृतीय सुखमा-दुखमा नामक काल में चौदह कुलकरो का जन्म हुआ। इन कुलकरो के द्वारा ही धीरे-धीरे कर्मभूमि की व्यवस्था आरम्भ हुई। ज्यों-ज्यों भोग्य वस्तुओं का अभाव बढ़ता गया, मानव मे संयमवृत्ति, होड़ और ईर्ष्या भी बढ़ने लगी। इसी के परिणाम स्वरूप वर्तमान सभ्यता का विकास हुआ। आदान-प्रदान, श्रम, बाजार, नाता-रिश्ता, दण्ड व्यवस्था आदि का क्रम आया। फिर भी यह सब अत्यन्त आरम्भिक अवस्था ही थी। आज की नगर-सभ्यता से इसकी तुलना नहीं की जा सकती।

उक्त चौदह कुलकरों मे अन्तिम कुलकर नाभिराय हुए। ये ही भगवान ऋषभदेव के पिता थे। आदि तीर्थंकर ऋषभदेव से ही कर्मभूमि व्यवस्था का सच्चा, नैतिक एवं वैज्ञानिक सूत्रपात हुआ। पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, सुख-दुख, हिंसा-अहिंसा आदि का ज्ञान महाश्रमण आदिनाथ ने ही समस्त विश्व को कराया। अतः पूर्व कुलकरों के द्वारा आरम्भिक स्थूल जीवन क्रिया का ही प्रारम्भ किया जा सकता था। कुलकरों के इस तृतीय काल के पश्चात् चतुर्थकाल मे जिन त्रेसठ शलाका पुरुषों, अर्थात् गणनीय महान् पुरुषों ने कर्मभूमि की सभ्यता का विकास अपने लोकोत्तर चरित्र और उपदेशों द्वारा किया, वे हैं—

२४ तीर्थंकर :—ऋषभदेव, अजितनाथ, सम्भवनाथ, अभिनन्दन, सुमतिनाथ, पद्मप्रभु, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभु, पुष्पदन्त, शीतलनाथ, श्रेयासनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शांतिनाथ, कुंथुनाथ, अरहनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रत, नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर।

१२ चक्रवर्ती :—भरत, सगर, मघव, सनतकुमार, शान्ति, कुन्थु, अरह, सुभौम, पद्म, हरिषेण, जयसेन, ब्रह्मदत्त।

६ बलभद्र :—अचल, विजय, भद्र, सुप्रभ, सुदर्शन, आनन्द, नन्दन, पद्म, रामचन्द्र।

६ वासुदेव नारायण :—त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयम्भू, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुरुषपुण्डरीक, दत्त, नारायण, कृष्ण।

६ प्रतिवासुदेव प्रतिनारायण :—अश्वग्रीव तारक मेरक, मधु, निशुम्भ, बलि, प्रहलाद, रावण, जरासन्ध।

जैन पुराणो मे भारतवर्ष का इतिहास उसकी भौगोलिक स्थिति के सदर्भ के साथ वर्णित है। भारत जम्बूद्वीप के दक्षिणी भाग मे स्थित है। इसके उत्तर मे हिम-

वान पर्वत स्थित है और मध्य में विजयार्ध पर्वत। पूर्व में गंगा नदी बहती है और पश्चिम में सिन्धु नदी। इससे उत्तर भारत के तीन खण्ड हो जाते हैं। दक्षिण भारत मे भी पूर्व, मध्य और पश्चिम दिशाओं में तीन खण्ड है। पुराणों में भारत के ये ही छह खण्ड वर्णित है जिन्हे जीत कर कोई सम्राट् चक्रवर्ती उपाधि प्राप्त करता था।

आदि तीर्थंकर ऋषभदेव :— उल्लेखित त्रेसठ शलाका पुरुषो मे आदि पुरुष आदि तीर्थंकर ऋषभदेव थे। इन्ही से जैनधर्म का प्रारम्भ हुआ। अन्तिम कुलकर नाभिराय और उनकी पत्नी मरुदेवी ही इनके पिता-माता थे। भारत की प्रथम राजधानी इक्ष्वाकुभूमि-अयोध्या मे ऋषभदेव का जन्म हुआ था। अपने माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् ऋषभनाथ राजसिंहासन पर बैठे। उन्होने सर्व प्रथम असि, मसि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य और विद्या का छह आजीविका साधनों के रूप में सूत्रपात किया। इन साधनों की विधिवत शिक्षा भी जनता को दी। कर्म की क्षमता और योग्यता के आधार पर जातियों का सुविभाजन भी आदिनाथ ने किया। प्रशासन के लिए आप ने गणों की स्थापना की। इससे जन-जीवन मे व्यवस्था का आरम्भ हुआ।

भगवान आदिनाथ के भरत और बाहुबलि नामक दो प्रसिद्ध पुत्र थे। ब्राह्मी और सुन्दरी नाम की दो पुत्रियाँ भी थी। सर्व प्रथम अपनी इन सन्तानो को आदिनाथ ने सभी कलायें और विद्यायें सिखाईं, फिर परम्परा से ये सभी समस्त मानव-जाति मे फैल गई।

एक दिन नीलांजना नाम की राजनर्तकी की नृत्य करते राज-सभा में ही मृत्यु हो गयी। इस घटना से ससार की असारता और क्षणभगुरता का तीव्रतम बोध आदिनाथ को हुआ। ससार से उन्होने वैराग्य ले लिया। अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को राज्य-भार सौपकर आपने श्रमण धर्म में दीक्षा ग्रहण की और विश्व के सर्व प्रथम महाश्रमण बने।

भगवान आदिनाथ ने सुदीर्घकाल तक तप किया। अनेक दुस्सह परिषह सहे और अन्ततः केवलज्ञान प्राप्ति के बाद सहस्रो वर्षों तक प्राणीमात्र को मुक्ति मार्ग का सदुपदेश देते रहे।[1]

जिस प्रकार ऋषभदेव आदि तीर्थंकर हुए, उसी प्रकार उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत आदि चक्रवर्ती हुए। भरत अत्यन्त पराक्रमी, धैर्यशील, सुयोग्य नीतिज्ञ एव अत्यन्त चरित्रवान व्यक्ति थे। वे संसार मे रहते समय भी सदा जल में कमल की भाति निर्लिप्त ही रहे। कभी उन्होंने चक्रवर्ती होने का गर्व नही किया। जैन पुराणों में बाहुबली की वीरता और स्वाभिमान दोनों की भूरि-भूरि सराहना की गयी है और आज तक जनमानस पर भी वही छाप है। भरत के चक्रवर्ती पद के आग्रह के कारण दोनो भाइयो में युद्ध हुआ। बाहुबली विजयी होकर भी संसार से विरक्त होकर तप करने चले गये। बाद मे भरत के कारण ही बाहुबली का शल्य दूर हुआ और उन्हे केवलज्ञान प्राप्त हुआ। अन्ततः बाहुबलि ने मुक्ति प्राप्त की। भरत चक्रवर्ती ने भी दीर्घकाल तक राजसुख भोगा, सुशासन किया और फिर श्रमण दीक्षा ग्रहण कर तप करते हुए मुक्ति प्राप्त की। भरत चक्रवर्ती नाम के आधार पर उनकी महान स्मृति को अमर रखने के लिए इस देश का नाम भारत रखा गया।

जैन पुराणो में ऋषभदेव के पश्चात् हुए अन्य तेईस तीर्थंकरों का विस्तृत जीवनवृत्त पाया जाता है। परन्तु अंतिम चार तीर्थंकरों के अतिरिक्त अन्य किसी के तुलनात्मक अध्ययन का कोई आधार आज तक प्राप्त नही हो सका है। अतः इन चार का अर्थात नमि, नेमि, पार्श्वनाथ और महावीर का यहा सक्षेप मे उल्लेख करना संगत है। आदिनाथ के समान इन चार तीर्थंकरो का जैनतर पुराणो एवं खनन कार्यों से पर्याप्त हवाला मिला है।

---

१. आदिपुराण में ऋषभदेव की आयु ८४ हजार वर्ष पूर्व और शरीर की ऊचाई ६०० धनुष बताई गयी ह। एक पूर्व करोड़ो वर्षों का होता है और एक धनुष की सामान्य ऊचाई चार हाथ की होती है। आज के मानव को यह अविश्वसनीय सा लग सकता है। पर आज भी अनेक आश्चर्यजनक बातें होती हैं। अर्जुन, भीम और हनुमान का पराक्रम भी तो लोकोत्तर ही था।

तीर्थंकर नमि :

इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ थे। ये मिथिला के राजा थे।[1] हिन्दू पुराणों में इन्हें राजा जनक का पूर्वज माना गया है। नमि अत्यन्त शाली होते हुए भी अनासक्त वृत्ति के थे। 'नमि की यही अनासक्त वृत्ति मिथिला राजवंश में जनक तक पाई जाती है। प्रतीत होता है कि जनक के कुल की इसी आध्यात्मिक परम्परा के कारण वह वंश तथा उनके समस्त प्रदेश विदेह अर्थात् देह से निर्मुक्त या जीवन मुक्त कहलाया और उनकी अहिंसात्मक प्रवृत्ति के कारण ही उनका धनुष प्रत्यंचाहीन रूप मे उनके क्षत्रियत्व का प्रतीक मात्र सुरक्षित रहा। सम्भवतः यही वह जीर्ण धनुष था जिसे राम ने चढाया और तोड़ डाला।' तीर्थंकर नमि के विषय मे और अधिक प्रमाण प्राप्त नही है।

नेमिनाथ :

नेमि अथवा अरिष्टनेमि नामक बाईसवें तीर्थंकर महाभारत काल मे हुए। ये श्री कृष्ण के चचेरे भाई थे। ये जैन परम्परा के अत्यन्त मान्य एवं लोकप्रिय तीर्थंकर हुए। इनके जीवन पर आधारित विपुल एवं विशिष्ट साहित्य भी उपलब्ध है। शौरीपुर के यादववंशी राजा समुद्रविजय के घर महारानी शिवा के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। समुद्रविजय के लघु भ्राता वसुदेव के कृष्ण वासुदेव उत्पन्न हुए। अतः स्पष्ट है कि दोनों चचेरे भाई थे। नेमिनाथ का विवाह राजा उग्रसेन की बेटी राजुल से होना निश्चित हुआ। जब बारात लेकर नेमि राजुल को ब्याहने पहुचे तो बरातियो के भोजनार्थ वधं हुए असंख्य पशुओं को देखकर, उनकी छटपटाहट और चीत्कार सुनकर नेमिनाथ का परम अहिंसक हृदय तड़प उठा। वे ससार की इस मांसाहारी वृत्ति और भोगलिप्सा के इस नारकीय दृश्य को देखकर लोकोत्तर विरक्ति से भर गये। वे तत्काल वहां से लौटकर सीधे गिरनार पर्वत पर तप करने चले गये। राजुल भी परम पतिव्रता नारी थी। जब उसे अपने भावी प्राणनाथ की विरक्ति का पता लगा, तो वह भी तत्काल उनके पीछे गिरनार पहुची और उन्ही से दीक्षा ग्रहण कर तपस्विनी बनी। सुदीर्घ तपश्चरण के पश्चात् तीर्थंकर नेमिनाथ ने मुक्ति प्राप्त की। भारतीय जीवन में अहिंसक वृत्ति का ऐतिहासिक परिधि के अंतर्गत प्राप्त होने वाला उत्तम उदाहरण यह ही है। महाभारत का काल ईसा से लगभग १००० वर्ष पूर्व या इससे कुछ और पहले माना जाता है। अतः नेमिनाथ का समय भी इसी के आसपास स्वीकार किया जा सकता है।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ :

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता पर तो आज पर्याप्त प्रमाण प्राप्त हो चुके है। वे एक इतिहास-प्रसिद्ध महापुरुष के रूप मे स्वीकृत भी हो चुके है। उदय-गिरि, मथुरा, श्रवणबेलगोला आदि के शिलालेखों से वेद, भागवत एव पुराणो से एवं अनेक ऐतिहासिक ग्रन्थों से भगवान पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता सिद्ध की जा चुकी है और अब यह निर्विवाद रूप से स्वीकृत भी है। पार्श्व-नाथ इक्ष्वाकुवंशीय राजा अश्वसेन और महारानी वामा की सन्तान थे। महावीर से २५० वर्ष पूर्व वाराणसी में इनका जन्म हुआ। तीस वर्ष की अवस्था में आपने श्रमण दीक्षा ग्रहण की और सम्मेदशिखर पर्वत पर दीर्घकाल पर्यन्त कर्मनाशिनी और मुक्तिदायिनी तपस्या की। अनेक विघ्न-बाधाओ के बीच भी पार्श्वनाथ सुमेरुपर्वत की भांति स्थिर रहे। राक्षसी उपद्रव भी उनकी अजरामर आत्मा से टकराकर चूर-चूर हो गये। केवलज्ञान प्राप्त होने के सत्तर वर्ष बाद तक वे प्राणीमात्र को आत्मकल्याण और मुक्तिमार्ग का उपदेश देते रहे। पार्श्वनाथ की श्रमण परम्परा पर बहुत गहरी छाप पड़ी। आपने जैन सस्था को ठोस एव स्थायी रूप मे संगठित करने के लिए उसे श्रमण-श्रमणी और श्रावक-श्राविका इन चार भागो में विभक्त किया। इन चारों के कार्यक्षेत्र की सीमाए भी निश्चित की गयी।

तीर्थंकर नेमिनाथ के अहिंसा एव आचार के महोप-देश को पार्श्वनाथ ने अत्यन्त वैज्ञानिक ढग से चातुर्याम व्यवस्था के अन्तर्गत रखा और इनके पालन के लिए सर्वथा नयी दृष्टि भी प्रदान की। बाद मे रचे गये जैन आगमो और बौद्ध ग्रन्थो मे भी इन चातुर्यामो का वर्णन किया गया है। पार्श्वनाथ ने वेदविहित हिंसा के विरुद्ध

१. 'भारतीय सस्कृति मे जैन धर्म का योगदान'—लेखक डा० हीरालाल जैन, पृष्ठ २९।

इन चातुर्यामों का उपदेश दिया था। ये चातुर्याम है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह। महावीर पार्श्वनाथ के श्रमण धर्म के अनुयायी थे। महावीर ने अपने युग में समाज में स्वतन्त्र ब्रह्मचर्य की आवश्यकता का गहरा अनुभव किया और चातुर्याम में अलग ब्रह्मचर्य को मिलाकर पंच महाव्रतों का उपदेश दिया। पार्श्वनाथ के जीवन से सम्बन्धित अनेक प्रभावक कथाए आज भी जैन जनता मे अपना पूर्ण प्रभाव रखती है। कमठ का उपसर्ग तथा नाग-नागिन की कथा ऐसे ही लोमहर्षक प्रसंग है। पार्श्वनाथ राजस्थान, उड़ीसा, बंगाल आदि की आदिम जैनेतर जातियों में भी पूज्य है। ये जातियां आज भी पार्श्वनाथ की पूजा करती है। सम्भवतः भारत मे नाग पूजा का मूल आधार पार्श्वनाथ का चिह्न नाग रहा होगा।

श्रमण महावीर :

पार्श्वनाथ के लगभग २५० वर्ष बाद वैशाली के उपनगर कुण्डग्राम अथवा कुण्डलपुर मे चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन महावीर का जन्म हुआ। भगवान महावीर का सम्पूर्ण जीवन आज दर्पण के समान स्पष्ट है। उनके शैशव-कैशोर, तारुण्य और परवर्ती जीवन की महानता सुविदित है। अहिंसा और अपरिग्रह के वे अवतार थे। धर्म मे बौद्धिकता-निजविवेक को महावीर ने पर्याप्त महत्व दिया। अन्धविश्वास और अन्धानुकरण का तथा व्ययसाध्य आडम्बर और क्रियाकाण्ड का भी श्रमण महावीर ने अनौचित्य सिद्ध किया और जीवन भर इनका विरोध भी करते रहे।

धर्म मे आधार से भी अधिक वैचारकता को महत्व दिया। महावीर समदर्शी और अनेकान्तवादी थे। अतः विरोध करते समय विरोधी के प्रति भी उनके मन मे पूरा सद्भाव होता था। फलतः विरोधी भी अन्ततः उनका मित्र बन जाता था। तीस वर्ष की आयु मे ही महावीर ने दीक्षा ले ली। तत्पश्चात् बारह वर्ष तक वे तप मे लीन रहे। अन्तिम तीस वर्ष तक वे धर्मोपदेश देते रहे। ७२ वर्ष की आयु में नश्वर शरीर को त्याग कर श्रमण महावीर ने मुक्तिवधू का वरण किया। महावीर अपने जीवन के पांच महाप्रसंगो के कारण वीर, महावीर, वर्धमान, सन्मति और अतिवीर कहलाए। महावीर जयन्ती और वीर निर्वाण दिवस अर्थात् दीपावली वीरप्रभु के लोकोत्तर स्मरण मे ही मनायी जाती है। श्रमण महावीर अन्तिम तीर्थकर थे। इनके साथ ही तीर्थकरों की परम्परा समाप्त हो गयी। चक्रवर्ती बलभद्र, वासुदेव, प्रतिवासुदेव आदि का भी जैन धर्म के प्रचार-प्रसार मे महत्वपूर्ण योगदान रहा है। विस्तारभय से यहा उनकी चर्चा नही की जा रही है। वैसे तीर्थङ्करो के वर्णन द्वारा उनकी बहुत कुछ पूर्ति भी हो जाती है।

इन त्रेसठ शलाका पुरुषो के पश्चात् गणधरो, श्रुतकेवलियो और जैनाचार्यों की विशाल परम्परा आरम्भ हुई। यह परम्परा ऐतिहासिक, सैद्धान्तिक, पौराणिक एव साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

श्रमण महावीर के पश्चात्—

श्रमण महावीर पर्यन्त जिनवाणी लेखन का आरम्भ नही हुआ था। महावीर के गणधरों द्वारा उनकी वाणी के लिखित रूप का भी शुभारंभ हुआ। अब जैन-धर्म का विस्तार देश के विभिन्न भागो मे पर्याप्त वेग से होने लगा था। वीर निर्वाण की द्वितीय शताब्दी तक समस्त जैन मुनि एव आचार्य एक सूत्र मे आबद्ध थे। उनमे कोई मतभेद न था। इसी शती मे बिहार मे द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष पड़ा। सहस्रो मुनि दक्षिण भारत मे तथा राजस्थान, गुजरात मे प्रस्थान कर गये। जहां उन्हे परिस्थितिवश नग्नत्व ढकने के लिए कुछ वस्त्र धारण करने की संघाचार्यो द्वारा अनुमति दे दी गयी। अकाल समाप्त होने पर मुनिगण पुनः एकत्र हुए और वस्त्रोपयोग की वैकल्पिकता पर उनमें बहुत मतभेद हो गया। परिणामतः यही से जैन साधुओ के दो वर्ग हो गये। फिर ये दिगम्बर और श्वेताम्बर शाखाए अनेक उपशाखाओ के साथ विकसित हुईं। धीरे-धीरे मुनिमार्ग, सिद्धान्तपक्ष और आचार परम्परा मे भी अन्तर आ गया।

भगवान महावीर के ग्यारह गणधर थे। इनमे प्रधान गणधर गौतम इन्द्रभूति थे। इन्होंने महावीर के उपदेशो को बारह अंगो और चौदह पूर्वों में निबद्ध किया। जैन परम्परा के अनुसार ज्ञानियो के दो ही पद सर्वश्रेष्ठ माने

गये हैं। वे हैं—केवलज्ञानी और श्रुतकेवली। प्रत्यक्ष ज्ञानियों में केवलज्ञानी आते हैं और परोक्ष ज्ञानियों मे श्रुतकेवली। जो उक्त अंगों और पूर्वों मे पारंगत होता था वह श्रुतकेवली कहलाता था। भगवान महावीर के पश्चात् तीन केवलज्ञानी और पांच श्रुतकेवली हुए। इनमें अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु थे।

इसके पश्चात् जैनाचार्यों की विशाल परम्परा चली और आज तक अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है। दिगम्बर एवं श्वेताम्बर परम्परा मे उत्कृष्ट कोटि के शताधिक आचार्य हुए है। इन आचार्यों ने अपनी देशकालजयी कृतियों के द्वारा जिनवाणी के भण्डार को अजरामर शक्ति दी है। इसी प्रकार अनेक सम्राटों और राजाओं ने भी जैनधर्म को अपनाया और उसके प्रचार-प्रसार में योग भी दिया। मगधाधिपति राजा बिबसार, पूरा नन्दवश, सम्राट चन्द्रगुप्त, सम्राट अशोक, सम्राट सम्प्रति—अशोक के पौत्र और कलिंग के चक्रवर्ती खारवेल आदि जैन धर्म के धारक एव प्रसारक थे। इन सभी के कार्यों का संक्षिप्त उल्लेख भी एक स्वतन्त्र विशाल निबन्ध की अपेक्षा रखता है।

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा,
टी० नगर, मद्रास (तमिलनाडु)

□□□

(पृष्ठ १५ का शेषांश)

लकुलीश की उष्णीषधारी मूर्तियां जिन प्रतिमाओं से ही प्रभावित है। पाशुपतों ने जातिगत बन्धनो की कठोरता पर विश्वास न कर विदेशी शको एवं कुषाण जातियो को शैव दीक्षा दी थी। इस प्रकार की मान्यता श्रमण मतो के प्रभाव के बिना नही बन सकती थी।

स्मरण रहे कि लकुलीश पाशुपतों ने प्राचीन शैवमत का पुनरुत्थान किया था और शिव को आदिगुरू (सर्वज्ञ) के रूप मे प्रतिष्ठित किया था। शकर के इस रूप की कल्पना शिव की वैदिक मान्यताओं से प्रभावित न होकर आदिजिन के मानुषी चरित्र से अनुप्रेरित ज्ञात होती है। ऐतिहासिक साक्ष्यो के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि शायद मथुरा के प्राचीन जिन केन्द्र से ही पाशुपत आचार्य विशेष रूप से प्रभावित हुए थे। गुप्तकाल मे जिन, बुद्ध एवं शंकर तीनो के लिए 'सर्वज्ञ' शब्द का व्यवहार मान्य हो चुका था। गुप्तयुगीन कोशकार अमरसिंह ने इसे इन शब्दों मे स्पष्ट किया है:

सर्वज्ञस्तु जिनेद्रेस्यात्सुगते शंकरऽपि च।

यह भी असम्भव नहीं कि कैलाशवासी आदिगुरु एवं महायोगी के रूप मे शिव की कल्पना ऋषभ के मानवी चरित्र का दैवी सस्करण हो, क्योंकि हिन्दू पुराणकारों ने शिव स्वरूप का वैविध्य परस्पर विपरीत मान्यताओं के आधार पर कल्पित किया है, अन्यथा स्थाणु और नटराज के नाम से एक ही देवता कैसे सम्बोधित किया जा सकता है।

यह भी एक सम्भावना है कि जैन पंच परमेष्ठियों के आधार शाम्भवों ने गुरु परमगुरु, परात्पर गुरु तथा परमेष्ठी गुरु की मान्यता का निर्माण किया हो।

निदेशक, राष्ट्रीय सग्रहालय, जनपथ, नई दिल्ली

□□□

जैन काव्य में व्यवहृत 'ज्ञान' शब्द : रूप-स्वरूप

☐ डा० अरुणलता जैन, फरुखाबाद

जैन दर्शनानुसार ज्ञान प्राप्ति का प्रथम सोपान दर्शन है। इन्द्रिय तथा वस्तु के सम्पर्क से उत्पन्न ज्ञान कुछ अस्पष्ट पहता है। जीव मस्तिष्क मे होने वाली विशेषण की प्रक्रिया द्वारा इस अस्पष्ट आभास को स्पष्ट अनुभूति में परिवर्तित कर देता है। इस प्रकार दर्शन जिस वस्तु का परिचय कराता है वह क्रमशः ज्ञान में परिणत हो जाता है। सच में देखा जाए तो दर्शन मे ज्ञान की सत्ता विद्यमान रहती है। दर्शन ही ज्ञान बदल जाता है। इस प्रकार ज्ञाता द्वारा ज्ञेय वस्तु की दर्शन द्वारा जानकारी ही ज्ञान की संज्ञा से अभिहित है।

जैन दर्शन अपनी विशिष्ट मान्यताओं के कारण किसी भी स्वाध्यायी का ध्यान आकर्षित कर सकता है। इसके अनुतार चैतन्य ही प्रत्येक जीव का स्वरूप है। यहां अन्य दर्शनो की भांति चैतन्य कोई आकस्मिक गुण नही है। आत्मा सूर्य की भांति ज्योतिर्मान है। सूर्य अपना प्रकाश कभी नही छोड़ता। आवरण पड़ने से ढँक जाता है। आत्मा अपना स्वाभाविक गुण नही त्यागती। कर्म-बन्धन मे पड़कर अनंत ज्ञान का प्रसार नही कर पाती। बन्धन नष्ट होने पर आत्मा अनत ज्ञानमय हो जाती है।

इस अनंत ज्ञान को प्राप्त करने के साधनों को प्रमाण कहते है तथा शेष वस्तुओं को प्रमेय। जैन दर्शन में प्रामाणिक ज्ञान दीपक की भांति है जो स्वय प्रकाशमान है और अपने चतुर्दिक वातावरण को भी प्रकाशित करता है। इसके अनुसार प्रमाण स्वभावत: स्पष्ट है, उसमे किसी प्रकार की भ्रान्ति नही है। इसलिए दृश्यमान जगत यथार्थ है। यहां ज्ञान के आन्तरिक तथा बाह्य दोनों पक्षों को स्वीकार किया गया है।

जैन ज्ञान-मीमांसा मे ज्ञान को दो भागो में प्रमाजित किया गया है—प्रत्यक्ष, परोक्ष। मति, श्रुति को परोक्ष तथा अवधि, मन:पर्यय तथा केवलज्ञान को प्रत्यक्ष के अन्तर्गत माना गया है। इस प्रकार यहाँ ज्ञान के पांच प्रकार कहे गये है। प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा जीव, मन तथा इन्द्रिय की सहायता न लेकर सीधे ज्ञान प्राप्त करता है। प्रत्यक्ष प्रमाण भी सर्वथा शुद्ध नही होता। कभी कर्म प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा भी भ्रान्ति प्रतीति होती है। इसी कारण स्वरूप अनुमान को जैन-दर्शन मान्यता देता है। तर्क की कसौठी पर खरा उतरने वाला अनुमान कभी वास्तविक से परे नही जा सकता। तत्वार्थसूत्र मे सम्यग्ज्ञान को ही प्रमाण कहा है।

वस्तुतः जैनदर्शन की प्रमाण सम्बन्धी यह मान्यता अन्य दर्शनो से भिन्न है क्योकि अन्य दर्शनों में इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष तथा शेष अन्य साधनो द्वारा प्राप्त ज्ञान परोक्ष माना गया है। इसके विपरीत जैन ज्ञान प्रमाण की यह विशेषता है कि इसमे केवल एक ही प्रकार के प्रत्यक्ष-ज्ञान को माना गया है और वह है 'केवल-ज्ञान', क्योकि इन्द्रिय तथा मन को इस सच्चे ज्ञान की प्राप्ति में बाधक माना गया है।

प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद कहे गये है—पारिमार्थिक प्रत्यक्ष, सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष। जो ज्ञान आत्मा के अधीन रहकर स्वयं के विषय को विशुद्धता के साथ जानता है, पारिमार्थिक कहलाता है। जो इन्द्रियों से साक्षात ग्रहण काल मे जानता है वह साव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। पारिमार्थिक प्रत्यक्ष दो प्रकार का है—एकदेश पारिमार्थिक—दूसरा सर्वदेश पारिमार्थिक। अवधिज्ञान और मन:पर्यय देश प्रत्यक्ष और केवलज्ञान सर्व प्रत्यक्ष है।

परोक्ष ज्ञान इन्द्रियों द्वारा अनुबन्धित है। मति, श्रुति से जो जाना है, वह परोक्ष प्रभाव है। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान तथा आगम का समावेश परोक्ष प्रमाण के अन्तर्गत होता है। स्मृति पूर्व मे जो पदार्थ जाना था

उसके स्मरण-मात्र को स्मृति कहते है। प्रत्यभिज्ञान—पूर्व बातों का स्मरण कर प्रत्यक्ष पदार्थ के साथ जोड कर निश्चय करने को कहते हैं।[१]

जैन दर्शन के अनुसार वस्तु के भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रत्यक्ष तथा परोक्ष ज्ञान होते है। उनसे स्पष्ट है कि उनके अनेक स्वभाव हे। जैन-दर्शन मे स्वभाव को ही धर्म कहा गया है। केवली केवलज्ञान के द्वारा वस्तुओं के अनंत-धर्म का ज्ञान पाता है।

अब इन परोक्ष-प्रत्यक्ष प्रमाणो के अन्तर्गत सदर्भित पाच प्रकार के ज्ञान के रूप-स्वरूप पर दृष्टिपात कर लेना भी समीचीन होगा। प्रत्येक शब्द स्वय मे एक अर्थ समेटे होता है। उस अर्थ को समझने के लिए हमे शब्द व्युत्पत्ति की गहराई में जाना होता है। यहां तत्सम्बन्धी शब्दो की निष्पत्ति को समझना होगा तथा यह भी देखना होगा कि हिन्दी जैन काव्य के रचयिताओ ने उन शब्दों का इन्ही अर्थों मे अपने काव्य मे व्यवहार किया है।

मतिज्ञान :

मति बुद्धि ज्ञानम् इति मति ज्ञान। मति-ज्ञान शब्द यौगिक शब्द है—मति+ज्ञान। मति का अर्थ है मनन करना। मनन करके जो ज्ञान उत्पन्न हो उसे मतिज्ञान कहते है। मतिज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होता है।[२] मति-ज्ञान' चार प्रकार मे वर्णित है—

१. अवग्रह—किसी वस्तु का अवलोकन करने से चित्त में उसका जो रूप स्थिर होता है, उस रूप को ही जानना वस्तुतः अवग्रह कहलाता है।

२. ईहा—उस वस्तु को पूर्णरूप से समझने की आकांक्षा होना ही ईहा कहलाती है।

३. अवाय—उस रूप रग का निश्चय करना ही अवाय है।

४. धारणा—अवाय द्वारा निर्णय किये गये पदार्थ का अवि-स्मरण न होने वाला संस्कार ही धारणा है।

संस्कृत जैन वाङ्मय में व्यवहृत 'मतिज्ञान' शब्द हिन्दी जैन काव्य में प्रयुक्त हुआ है। १७वीं शती से लेकर २०वीं शती तक के कवियों की काव्यधारा मे मतिज्ञान शब्द अपने इसी अर्थ मे सुरक्षित है।[३]

श्रुतिज्ञानान :

'श्रुति ज्ञानम्'—श्रुति ज्ञानं अर्थात् सुना हुआ ज्ञान। धातु ने 'क्त' प्रत्यय करमे पर श्रुति शब्द निष्पन्न हुआ। 'ज्ञ' धातु मे ल्युट प्रत्यय करने पर ज्ञान शब्द की निष्पत्ति हुई। इस प्रकार किसी पदार्थ के विषय मे सुनने के आधार पर जानकारी प्राप्त करना श्रुतिज्ञान है है।[४]

जैन दर्शन मे इन्द्रिय और मन के द्वारा एक पदार्थ को जानकर उसके आश्रय से तत्सम्बन्धी अन्य प्रकार के प्ररूपण करने मे जो ज्ञान समर्थ है उसे श्रुतिज्ञान कहा

१. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, अमृतचन्द्राचार्य पर हिन्दी टीका, राजचन्द्र जैनशास्त्रमाला, आगास, वि० स० २०२२, पृष्ठांक २२-२३।

२. 'पचभिरेन्द्रियेर्मन च यदर्थग्रहण तन्मतिज्ञान।" अर्थात्—पाच इन्द्रियो और मन मे जो पदार्थ का ग्रहण ग्रहण होता है, उसे मतिज्ञान कहते हैं। धवला, १।१, १, ११५।३५४।१, जैनेन्द्रसिद्यान्तकोश, भाग ३, जिनेन्द्रवर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ २०२६, पृष्ठांक २६१।

३. (अ) "मति श्रुति ज्ञान दोऊ है परोक्ष वाण ओघ।
मन पर्जय, प्रत्यक्ष एक देश पेखिए॥"
—ब्रह्मविलास, भैया भगवतीदास, जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, ३४३०, पृष्ठांक ३५।
(ब) "मति श्रुति अवधि मनपर्ज के विषयक दोऊ।
विषय कहावत क्षयोपशम पथ में॥"
—प्रवचनसार, वृन्दावनदास, सरस्वती सेवक, नाथुराम प्रेमी, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई १९०५, पृष्ठांक ५१।

४. "तत्थ सुदणाण णाम इदएहि गहिल्थादो तदो पुव-गुदत्थग्गहणं जहा सद्दाहोड़ावी मुवलभो धुनादो अग्गिस्सु बलभो वा।"
अर्थात् इन्द्रियों से ग्रहण किए पदार्थ से उससे पृथक् भूत पदार्थ का ग्रहण करना श्रुतिज्ञान है, जैसे शब्द से 'घट' आदि पदार्थों का जानना अथवा धूम्रादि से अग्नि को ग्रहण करना।
—धवला ६।१, ६, १—१४।२१।६ जैनेन्द्र सिद्यान्तकोश, भाग ४, जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, २०३०, पृष्ठांक ५६।

है। श्रुतिज्ञान के दो भेद है[1]—

१. अर्थलिगज—पदार्थ को देखकर उसमे इष्ट अथवा अनिष्टता का ज्ञान होना। यह ज्ञान एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय सभी मे होता है।

२. शब्दलिगज—वह ज्ञान है जो वाचक शब्दों को सुन करके वाच्य का ज्ञान कराए। यह लौकिक तथा लोकोत्तर दोनों प्रकार का होता है।

संस्कृत-प्राकृत जैन वाङ्मय मे व्यवहृत 'श्रुतिज्ञान' शब्द हिन्दी जैन काव्य मे गृहीत है। १७वी शताब्दी से लेकर २०वी शताब्दी तक के हिन्दी जैन काव्य मे यह शब्द अपने इसी अर्थ मे प्रयुक्त है।[2]

अवधि ज्ञान—

अवधि+ज्ञान के मिश्रण से इस शब्द को समष्टि हुई है जिसका अर्थ है—समयात्पूर्व बान अर्थात् समय से पूर्व ज्ञान होना। जिनवाणी के अनुसार जो ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा के लिए रूपी पदार्थों को स्पष्ट व प्रत्यक्ष जाने, वह अवधिज्ञान है।[3] अवधिज्ञान दो प्रकार से कहा गया है[4]—

१. भव प्रत्यय—भव की मुख्यता से होने वाला अवधिज्ञान देव और नारकी जीवो के होता है।

२. गुण प्रत्यय—शेष रहे हुए मनुष्य और तिर्यंचों के क्षयोपशम से होता है।

संस्कृत-प्राकृत जैन काव्य में प्रयुक्त 'अवधिज्ञान' शब्द इसी अर्थ को समेटे हुए हिन्दी जैन काव्य मे व्यवहृत है। १६वी शती मे लेकर २०वी शती तक के कवियो के काव्य मे अवधिज्ञान शब्द इसी अर्थ मे दर्शनीय है।[5]

---

१. "त दुविह सद्दलिगज, अत्थ लिगज चेदि।
तत्थातं सद्दलिगज तदुविह लोइय लोउत्तरिय चेदि।।"
समण्णा पुरि सवयण बिणिग्गयवयण कल्लावज णियाणं लोइय सद्द असच्च कारण विणिम्मुक्क पुरि सवयण विणिग्गयवयण कलाव जणिय सुदणाण लोउत्तरिय घूमादि अत्थ लिगज पुण अणुमाणणाम।'

अर्थात्—श्रुतिज्ञान शब्द लिगज और अर्थलिगजके भेद से दो प्रकार का है। उनमे भी जो शब्दलिगज श्रुतिज्ञान है वह लौकिक और लोकोत्तर के भेद से दो प्रकार का है। सामान्य पुरुष के मुख से निकले हुए वचन समुदाय से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह लौकिक शब्दलिगज श्रुतिज्ञान है। असत्य बोलने के कारणों से रहित पुरुष के मुख से निकले हुए वचन समुदाय से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह लौकिक शब्दलिगज श्रुतिज्ञान है।

कषायपाहुड़ १।१–१५।३०८–३०६।३४०–३४१।५, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भाग ४, जिनेन्द्र वर्णी, भारज्ञानपीठ—२०३०, पृष्ठाक ५६।

२. (अ) "सम्यक् गुरु प्रसाद जिनश्रुत है,
निज स्वरूप मे पागा रे।"

पार्श्वदास पदावली, कवि पार्श्वदास, श्री दिगम्बर जैन समाज, अमीरगंज—टोंक, १६०२, पृष्ठांक १८, छन्दांक ३४।

(ब) "मति, श्रुति, अवधिविराजै,
पूजो जिनचरण हितकारी।"

शीतलनाथ पूजा, कवि मनरग लाल, ज्ञानपीठ पूजाञ्जलि, भारतीय ज्ञानपीठ, पृष्ठांक ३५२।

३. "तथैव च स एवात्मा अवधिज्ञानावरणीय क्षयोपशमान्मूर्तवस्तुयदेकदेशप्रत्ययक्षेण सविकल्प जानाति तदवधिज्ञानम्।"

अर्थात्—इसी रीति से वही आत्मा अवधि ज्ञानावरण के क्षयोपशम से मूर्त्तवस्तु को जो एकदेश प्रत्यय द्वारा सविकल्प जानता है वह अवधिज्ञान है। वृहद द्रव्य सग्रह, नेमिचन्द्राचार्य, श्रीमद राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला आगास।

४. "भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ।२१। क्षयोपशमनिमित्त षड्विकल्पशेषाणाम् ।२२।

अर्थात्—भव की मुख्यता से होने वाला अवधिज्ञान देव तथा नारकी जीवो को होता है। शेष रहे हुए मनुष्य और तिर्यंचो को क्षयोपशम से अवधिज्ञान होता है।

तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वामी, श्री अखिल विश्व जैनमिशन, अलीगंज, सन् १६५७, पृष्ठाक १०-१२, अध्याय संख्या १, सूत्राक २१-२२।

५. (क) "कोणीक अवधिज्ञान-भण्डार,
कोणिक जातिस्मरण कहाए।
ज्ञान वले कह्यो उपदेश, प्रजा लोक सुघेर ध्याये।।'

आदि पुराण रास, ब्रह्मजिनदास, लिपि सम्वत् १८५६, आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर, पृ० १३, छन्दाक १३।

(ब) "ताहि को पति है कौन, तबै मुनि को लिया।
मुझ पर होय दयाल, अवधि द्रिम खोल दिया।।"

जम्बुस्वामिचरित, पांडे जिनदास, पत्रांक ३५, आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर, पृष्ठांक १६, अरिल्ल छ० ८।

मन:पर्यय

'मन:पर्यय' यौगिक शब्द है। मनस: पर्ययणा ज्ञानम् मन:पर्यय अर्थात् मन से किसी चीज को समझा जाए।[१] 'मन:पर्यय' कर्म का क्षयोपशम होने पर ही प्रगट होता है।[२]

मन:पर्यय ज्ञान के दो भेद है[३] —

१. ऋजुमति—जो मनुष्य सरलता से सोच रहा हो उसका ज्ञान।

२. विपुलमति—वक्रभाव से भूत, भविष्य वर्तमान का ज्ञान।

सस्कृत, प्राकृत काव्य मे व्यवहृत मन:पर्यय शब्द हिन्दी जैन काव्य में इसी अर्थ मे गृहीत है।[४]

केवलज्ञान—

केवल त्रिकालविषयकज्ञानम् अभ्यासतीति केवलज्ञानं।

केवलज्ञान वह ज्ञान है जिसके द्वारा जीव त्रिकाल विषयक भूत, भविष्य, वर्तमान समस्त द्रव्यों, उनके गुणो तथा पर्यायों को बाह्य इन्द्रिय की सहायता लिए बिना ही जानता है।[१] यह ज्ञान कर्मक्षय से उत्पन्न होता है।

संस्कृत, प्राकृत जैन वाङ्मय के व्यवहृत 'केवलज्ञान' शब्द हिन्दी जैन काव्य मे भी गृहीत है। कवि बनारसीदास के काव्य मे यह शब्द इसी अर्थ मे प्रयुक्त है।[२]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैन ज्ञान-मीमांसा अपने मे ज्ञान सम्बन्धी निजी महत्त्व समेटे हुए है। वह केवल एक ही प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान को महत्त्व देता है और वह है केवलज्ञान। अन्य ज्ञान केवल ज्ञान तक पहुंचने के विभिन्न सोपान हैं। ज्ञान-बोध बिना जीव सन्मार्ग को प्राप्त नहीं कर सकता। ज्ञान-बोध ही व्यक्ति मे शाश्वत आनन्द की सृष्टि करता है। □□

६, रामलाल कयूमगंज, फरुखाबाद (उ० प्र०)

(स) "अवधि ज्ञान मन पर्यय दोहै देश प्रतच्छ।
द्रव्य क्षेत्र परिमान लिए जाने जिय स्वच्छ॥"

छहढाला, (कवि दौलतराम), श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, पृष्ठाक ६२, ढाल सख्या ४।

२. "परकीयमचोगतोऽथो मन इत्युच्यते। साहचर्यात्तस्य पर्ययण परिगमन मन:पर्यय:।"

अर्थात्—दूसरे के मनोगत अर्थ को मन कहते है। उसके मन के सम्बन्ध मे उस पदार्थ का परिगमन करने को मन:पर्यय कहते हैं।

सर्वार्थसिद्धि १, ६।६४।३—जैनेन्द्र, सिद्धान्तकोश, भाग ३, जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, २०२६, पृष्ठाक २७३।

३. "तदावरणकर्मक्षयोपशमादि-द्वितीय-निमित्तवशातपरकीय-मनोगतार्थ-ज्ञान मन:पर्यय:।

अर्थात्—मन:पर्यय ज्ञानावरणादि कर्म के क्षयापशमादिरूप सामग्री के निमित्त से परकीय मनोगत अर्थ को जानना मन:पर्यय ज्ञान है।

राजवार्तिक १।६।४।४७।१६, जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग ३, जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ २०२६, पृष्ठाक २७३।

४. "ऋजु विपुलमती मन:पर्यय:।२३।

अर्थात्—मन:पर्यय ज्ञान ऋजुमति अर्थात् जो मनुष्य सरलभाव से सोच रहा है उसका ज्ञान तथा विपुल मति दो प्रकार का है।

तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वाति, अखिल विश्व जैन मिशन, अलीगंज, १६५७, पृष्ठांक ११, अध्याय संख्या १, सूत्रांक २३।

४. (क) "मनपर्जय जानहि मतभेद,
केवलज्ञान प्रगट सब वेद।"

बनारसी विलास, कवि बनारसीदास, भंवरलाल जैन, केशरलाल बख्शी—श्री नानूलाल स्मारक ग्रन्थमाला, न्यू कालोनी, जयपुर, २०१२, पृष्ठांक १०५।

(ब) "विपुल मन:पर्यय परमाविधि सभी विधि।
ठीक लहै मोक्ष तति इन्हें शीश नाइए॥"

चर्चाशतक, कवि द्यानतराय, सरस्वती भण्डार, चौड़ का रास्ता, जयपुर, पृष्ठाक २१८।

५. 'केवलम् सहाय मिंदियालोय गिरवेक्खं तिकाल भोयराण तपज्जाय समवेदाणं तवत्थु परिमसकुडिय सवत्तं केवलणाण।"

अर्थात्—'केवल' असहाय को कहते है जो ज्ञान असहाय अर्थात् इन्द्रिय और आलोक की अपेक्षा रहित है, त्रिकाल गोचर वाला है, सर्व व्यापक है और प्रतिपक्षी रहित है, उसे केवलज्ञान कहते है।

धवला ६।१, ६—१, १४।२६।५, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग १, जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, २०२८, पृष्ठाक १४५।

५. "जोग धरी रहै जो असु भिन्न,
अनन्त गुणातन केवलज्ञानी।
तासु हृदय द्रह सो निकसि सरिता,
सम वहे श्रुत-सिन्धु समानी॥"

नाटक समयसार, पं० बनारसीदास, सस्ती ग्रन्थमाला, ७/३३ दरियागंज, दिल्ली, सं० २४७६, पृ० १०।

मथुरा की जैन कला

☐ डा० रमेशचन्द जैन, बिजनौर

मथुरा की जैन कला भारतीय कला में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। अभिलेखों तथा साहित्यिक ग्रन्थों से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि मथुरा के कंकाली टीले वाले भूभाग पर ईसा की कई शती पहले से लेकर ११वी शती तक जैन स्तूपों, मन्दिरो एवं विविध मूर्तियों का निर्माण होता रहा। इतने लम्बे समय तक वास्तु तथा मूर्तिकला के विकास का केन्द्र होने के कारण ककाली टीले का क्षेत्र असाधारण महत्व रखता है[1]। मथुरा जैन कला को निम्नलिखित भागों में बाटा जा सकता है :

१ तीर्थंकर मूर्तियां : जिससे संसार सागर को पार किया जाय उसे तीर्थ कहते हैं। तीर्थ की जो प्रवृत्ति करे उसे तीर्थंकर कहते है। जैनों मे तीर्थंकर मूर्तियो की स्थापना बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है। ये सख्या मे २४ होते है। मथुरा कला मे आदिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर आदि तीर्थंकरो की मूर्तियां प्राप्त हुई है जो प्राय: पद्मासन है। कुछ खड्गासन मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं।[2] समस्त मूर्तियां नग्न, नासाग्रदृष्टि और ध्यानमुद्रा मे है। कुषाणकालीन प्रतिमाओं मे नाना तीर्थंकरों मे भेद सूचित करने वाले बैल आदि चिन्ह नही प्राप्त होते है। अधिकाश मूर्तियों के वक्षःस्थल पर श्रीवत्स चिन्ह पाया जाता है तथा हस्ततल व चरणतल एवं सिंहासन पर धर्मचक्र, उष्णीष तथा भौहो के बीच रोमगुच्छ भी बहुत-सी मूर्तियों मे पाए जाते है। अन्य परिकरों मे प्रभावल, दोनों पार्श्वों में चमरवाहक तथा सिंहासन के दोनो ओर सिंह भी उत्कीर्ण रहते हैं। कभी-कभी ये सिंह आसन को धारण किए हुए दिखलाए गए हैं[3]। ऋषभदेव के कधों पर लटे और सुपार्श्वनाथ के मस्तक के पीछे सर्पफण का टोप दिखाया गया है। चौकी पर कही-कहीं श्रावक (गृहस्थ) भी बनाए गए है जो धर्मचक्र या तीर्थंकर की पूजा के लिए आए है। कला की दृष्टि से इन मूर्तियों की शैली कुछ स्थिर है, जैसा उनकी तपोमुद्रा या समाधि से संगत था। गुप्तकालीन कुछ मूर्तियो मे सौदर्य और अगों मे गतिशीलता है और कुछ अलकरण भी है। महावीर की एक मूर्ति के जो उत्थित पद्मासन मे बैठी है, मस्तक के पीछे पद्मातपत्र और ऊपर छल्लेदार केश है। इसमे अंगों का विन्यास लोच भरा है और मुख पर दिव्य छवि है।[4] कई चतुर्मुखी प्रतिमायें भी प्राप्त हुई है। इन्हे 'सर्वतोभद्रिका' कहा जाता है। गुप्तों के राज्यकाल मे साहित्य के साथ-साथ कला एवं स्थापत्य का खूब संवर्धन हुआ। इस काल मे शिल्पशास्त्र पर भी पुस्तकें लिखी जाने लगी। मदिरो और प्रतिमाओं की रचना कैसे होनी चाहिए, इसका भी विशद विवेचन किया गया। यही कारण है कि गुप्तकाल की मूर्तियाँ भाव से परिपूर्ण है। उनमे शान्ति है तथा उनकी रचना सुरुचिपूर्ण ढंग से की गई है। कला के जो भी उदाहरण मिलते हैं उनमे इस काल की विशेषता विद्यमान रहती है। इन विशेषताओं के आधार पर उन्हे पहचानना बहुत आसान है। इसी काल से जिन प्रतिमाओं पर तीर्थंकरो के लाँछन भी उत्कीर्ण किए जाने लगे, यद्यपि बिना लाँछन के भी प्रतिमाओं का निर्माण जारी था[5]।

---

१. श्री कृष्णदत्त वाजपेयी : कंकाली टीला की जैन कला का अनुशीलन (बरैया स्मृति ग्रन्थ, पृ० ६०८)
२. श्री कृष्णदत्त वाजपेयी : मथुरा, पृ० ३३
३. डा० हीरालाल जैन : भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० ३४३।
४. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल : भारतीय कला, पृ. २८४।
५. श्री हरिहरसिंह : तीर्थंकर प्रतिमाओं का उद्भव और विकास (श्रमण वर्ष २५, अंक १-२), पृ० ५०।

२. देव-देवियों की मूर्तियां : प्रतिमा लक्षण की दृष्टि से जैनधर्म मे शासन देवताओं का बहुत महत्व है। इनके अलंकरण से जिन प्रतिमाओं की पहचान और सरल हो जाती है; क्योंकि प्रत्येक तीर्थंकर के अलग-अलग यक्ष और यक्षी होते है तथा उनके लक्षण भिन्न-भिन्न होते है। शासन देवताओं के अलंकरण से परिकर मे भी काफी विकास होता है। अनुमानतः ऐसी प्रतिमायें सातवीं-आठवी सदी से निर्मित होने लगी।[६] मथुरा शैली को यथार्थ मे जैनधर्म से प्रेरणा मिली। प्रारंभिक काल मे मथुरा के कलाकार संकलित पट्टिया बनाते थे, जिसमे एक ध्यानमग्न नग्न तीर्थंकर की पालथी मारे बैठी हुई आकृति बनी रहती थी, जिसने बौद्धों को अपने गुरु का इस मुद्रा मे प्रदर्शित करने की प्रेरणा दी। मथुरा शैली के महत्व-पूर्ण अवशेषों मे से एक स्तूप की पाषाण वेष्ठनियों पर बनी यक्षियाँ है। यह स्तूप जैन स्तूप था। ये आभूषणों से लदी हुई स्त्रियाँ जिनकी आकृतियाँ नितम्ब पर अत्यन्त चौड़ी तथा कमर पर पतली है, चपल मुद्रा मे खड़ी हुई सिन्धु घाटी सभ्यता की नर्तकी बाला का स्मरण कराती है और उनकी प्रसन्न एवं स्पष्ट कामुकता, धर्मनिष्ठा एवं त्याग के सन्दर्भ में जीवन के प्रति भारतीय दृष्टिकोण के अधिकारविरोध का उदाहरण है, जिसे इस प्रकार के सान्निध्य में कुछ भी असगत नही प्रतीत होता।[७] तारानाथ ने लिखा है कि मौर्यकालीन कला यक्षों द्वारा और उससे पूर्वकालीन देवों द्वारा निर्मित हुई।[८] मथुरा कला मे यक्ष, किन्नर, गंधर्व, सुपर्ण तथा अप्सराओं की अनेक मूर्तियाँ मिलती है। ये सुख-समृद्धि तथा विलास के प्रतिनिधि है। यक्षो मे कुबेर तथा उनकी स्त्री हारीती का स्थान बड़े महत्व का है। इनकी अनेक मूर्तियाँ मथुरा मे प्राप्त हुई है। कुबेर यक्षो के अधिपति तथा धन के देवता माने गए है। बौद्ध, जैन तथा हिन्दू तीनो धर्मो मे इनका पूजन मिलता है। कुबेर जीवन के आनन्दमय रूप के द्योतक है और इसी रूप में इनकी अधिकांश मूर्तियां मिली हैं। संग्रहालय में संख्या सी० २, सी० ५ तथा सी० ३१ कुबेर की उल्लेखनीय मूर्तियां है, जिनमें वे सुरापान करते हुए चित्रित किए गये हैं। इनके हाथों मे सुरापात्र बिजौरा-नीबू तथा रत्नों की थैली या नेवला रहता है।[९] जैन देवियों की भी मूर्तिया मिली हैं जो अधिकतर गुप्तकाल तथा मध्यकाल की हैं। इनमे नेमिनाथ की यक्षिणी अम्बिका तथा ऋषभनाथ की यक्षिणी चक्रेश्वरी की मूर्तियां दर्शनीय है।[१०] चक्रेश्वरी देवी की एक ढाई फुट ऊंची पाषाण मूर्ति मथुरा संग्रहालय मे विराजमान है। यह मूर्ति एक गरुड पर आधारित आसन पर स्थित हैं। इसका सिर व भुजायें टूट-फूट गई है; तथापि उसका प्रभावल प्रफुल्ल कमलाकार सुअलकृत विद्यमान है। भुजायें दश रही है और हाथ मे एक चक्र रहा है। मूर्ति के दोनों पार्श्वों मे एक-एक द्वारपालिका है जिनमे दायीं ओर वाली एक चमर तथा बायीं ओर वाली एक पुष्प-माला लिए हुए है। ये तीनो प्रतिमायें कुछ खण्डित है। प्रधान मूर्ति के ऊपर पद्मासन व ध्यानस्थ जिन प्रतिमा है, जिसके दोनों ओर वदनमालायें लिए हुए उड़ती हुई मूर्तियाँ बनी है। यह मूर्ति भी कंकाली टीले से प्राप्त हुई है।[११] अम्बिका देवी की एक उल्लेखनीय पाषाण प्रतिमा १ फुट ९ इंच ऊंची मथुरा संग्रहालय मे है। अम्बिका एक वृक्ष के नीचे सिंह पर स्थित कमलासन पर विराज-मान है। बायां पैर ऊपर उठा हुआ व दाया पृथ्वी पर है। दायें हाथ में फलो का गुच्छा है व बाया हाथ बायीं जंघा पर बैठे हुए बालक को सम्हाले है। बालक वक्ष-स्थल पर झूलते हुए हार से खेल रहा है। अधोभाग वस्त्रालंकृत है और ऊपर वक्षस्थल पर दोनों स्कन्धो से पीछे की ओर डाली हुई ओढ़नी है। सिर पर सुन्दर मुकुट है, जिसके पीछे शोभनीय प्रभाबल है। गले मे दो लड़ियों वाला हार, हाथ मे चूड़िया, कटि में मेखला व

---

६. वही पृ० ५२।

७. ए० एल० बाशम : अद्भुत भारत, पृ० ३७४ (The wonder that was India का वेंकटेशचन्द्र पाडेय कृत हिन्दी अनुवाद)।

८. डा. वासुदेव शरण अग्रवाल : भारतीय कला, पृ. २७९।

९. श्री कृष्णदत्त बाजपेयी : मथुरा, पृ० ३५, ३६।

१०. वही, पृ० ३३।

११. डा० हीरालाल : भारतीय संस्कृति मे जैन धर्म का योगदान, पृ० ३५४।

पैरों में नूपुर आभूषण हैं। बालक नग्न है किन्तु गले मे हार, बाहुओं में भुजबन्ध, कलाई मे कड़े तथा कमर मे करधनी पहने हुए है। अम्बिका की बाजू से एक दूसरा बालक खड़ा है, जिसका दायां हाथ अम्बिका के दायें घुटने पर है। इसके अतिरिक्त, इस अम्बिका मूर्ति के साथ गणेश, कुबेर, नर्तकियां, जिनमूर्ति, बलराम तथा वासुदेव की मूर्ति आदि मूर्तियां हैं। इस प्रकार इसमे जैन व वैदिक परम्परा के अनेक देवी-देवताओ का सुन्दर समीकरण मिलता है।[12]

मथुरा के कंकाली टीले से एक सरस्वती की मूर्ति प्राप्त हुई है। इसका दाया हाथ अभय मुद्रा मे है और बायें हाथ में पुस्तक लिए है। इसकी स्थापना कुषाण सं० ५४ मे हुई।[13] सरस्वती की इतनी प्राचीन प्रतिमा अन्यत्र प्राप्त नहीं हुई।[14] जैन पुराणो मे हिरण, मेढे अथवा बकरा जैसे मुख वाले एक देवता का उल्लेख नैगमर्षि, नैगमेश, नैगमेय, नैगमेशिन, हरिणिगमिसि हरिनैगमेसि, हारि इत्यादि नामो से विभिन्न ग्रन्थो म हुआ है। मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त शुग-शक-कुषाणकालीन प्राचीन जैन अवशेषों मे भी इस देवता के कई मूर्ताङ्कन मिले है जिनमे से एक पर 'भगवनेमेसो' भगवान नैगमेश नाम भी अंकित है। इस देवता को देवराज इन्द्र का अनुचर, इन्द्र की पैदल सेना का कप्तान बताया जाता है और शिशुओ के जन्म, पोषण और सरक्षण से उसका विशेष सम्बन्ध है। हरिवंश पुराण के अनुसार, इस देवता ने कस के बन्दीगृह से देवकी द्वारा प्रसूत शिशुओं को, इन्द्र की आज्ञा से अलका सेठानी की गोद मे स्थानान्तरण कर रक्षा की थी।[15]

३. **आयागपट्ट तथा वेदिकास्तम्भ**—आयागपट्ट का मूल है आर्यकपट्ट अर्थात् पूजा के लिए स्थापित शिलापट्ट जिस पर तीर्थंकर, स्तूप, स्वस्तिक, नद्यावर्त आदि पूजनीय चिन्ह उत्कीर्ण किए जाते थे। स्तूप के प्रांगण में इस प्रकार के पूजा शिलापट्ट या आयागपट्ट ऊचे स्थंडिलों पर स्थापित किए जाते थे और दर्शनार्थी उनकी पूजा करते थे। मथुरा की जैन शिल्प कला मे आयागपट्टों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। विशुद्ध सौन्दर्य की दृष्टि से उन पर जो अलंकरणों के संपुजन की छवि है वह नेत्रो को मोहित कर देती है। उदाहरण के लिए, सिंहनादिक द्वारा स्थापित आयागपट्ट पर ऊपर-नीचे अष्ट मांगलिक चिन्ह अंकित हैं और दोनो पार्श्वों में से एक ओर चक्रांकित ध्वजस्तम्भ तथा दूसरी ओर गजांकित स्तम्भ है। बीच मे त्रिरत्नो के मध्य मे तीर्थंकर की बद्ध पद्मासन स्थित मूर्ति है। (लखनऊ संग्रहालय जे० २४९)। लखनऊ सग्रहालय मे एक दूसरा आयागपट्ट है (जे० २५०) जिसके मध्य भाग मे एक बड़ा स्वस्तिक अंकित है और उस स्वस्तिक के गर्भ मे एक छोटी तीर्थंकर मूर्ति है। स्वस्तिक के आवेष्टन के रूप मे सोलह देव योनियो से अलकृत एक मण्डल है जिसके चार कोनो पर चार महोरम मूर्तिया है। नीचे की ओर अष्ट मांगलिक चिन्हो की वेल है। इस प्रकार के पूजापट्ट को प्राचीन परिभाषा म स्वस्तिक पट्ट कहते थे। एक तीसरे आयागपट्ट (लखनऊ सग्र० जे० २४८) पर मध्य मे षोडशा-धर्मचक्र की आकृति अकित है। उसके चारो ओर तीन मण्डल है। पहले मे १६ नन्दिपद, दूसर मे अष्टदिक्कुमारिकायें और तीसरे मे कुण्डलित पुष्पकर स्रज-कमलो की माला है और चार कोनो में चार महोरग मूर्तिया है। इस प्रकार का पूजापट्ट प्राचीनकाल मे चक्रपट्ट कहलाता था।[16]

मथुरा सग्रहालय में एक सुन्दर आयागपट्ट है जिसे, उस पर लिखे हुए लेख के अनुसार लवणशोभिका नामक वेश्या की लड़की वसु ने दान दिया था। इस आयागपट्ट पर एक विशाल स्तूप का चित्र तथा वेदिकाओ सहित तोरणद्वार बना हुआ है। आयागपट्टो के अतिरिक्त अन्य विविध शिलापट्ट तथा वेदिका स्तम्भ भी मिले हैं, जिन पर जैनधर्म सम्बन्धी मूर्तियां तथा चिन्ह अंकित है। इन कलाकृतियों पर देवता, यक्ष-यक्षी, पुष्पित लता-वृक्ष, मीन, मकर, गज, सिंह, वृषभ, मंगलघट, कीर्तिमुख आदि बड़े कलात्मक ढंग से उत्कीर्ण मिलते है।[17]

१२. वही पृ० ३५५-३५६।
१३. वासुदेवशरण अग्रवाल : भारतीय कला, पृ० २८३।
१४. भारतीय सस्कृति मे जैनधर्म का योगदान, पृ. ३५८।
१५. जैन सन्देश शोधांक, १९७४।
१६. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल : मथुरा की जैन कला (महावीर जयन्ती स्मारिका, जयपुर, अप्रैल १९६२, पृ० १९-२०।
१७. श्री कृष्णदत्त बाजपेयी : मथुरा पृ० ३३।

४. स्तूप—कंकाली टीले की खुदाई में जैन शिल्प की अद्भुत सामग्री प्राप्त हुई है। इस टीले की भूमि पर एक प्राचीन जैन स्तूप और दो प्रासाद या मन्दिरों के चित्र मिले हैं। अर्हत्नन्द्यावर्त अर्थात् अठारहवें तीर्थंकर अरनाथ की एक प्रतिमा की चौकी पर खुदे हुए एक लेख में लिखा है कि कोट्टियगण की वज्री शाखा के वाचक आर्य वृद्धहस्ती की प्रेरणा से एक श्राविका ने देव-निर्मित स्तूप में अर्हत प्रतिमा स्थापित की।[१८] यह लेख सवत् ८६ अर्थात् कुषाण सम्राट वासुदेव के राज्यकाल का ई० १६७ का है। बूलर, स्मिथ आदि विद्वानों का विचार है कि उस समय स्तूप के वास्तविक निर्माणकर्ताओं के विषय में लोगों का ज्ञान विस्मृत हो गया था और उसके लिए देव निर्मित इस नाम की कल्पना संभव हुई।[१९]

दूसरा जैन स्तूप कुषाणकाल में बनवाया गया। इसमें अनेक लेख लिखवाए गए जिन पर कुषाण सवत् में तिथियाँ दी गई हैं। यह नए स्तूप की विशेषता थी। इन लेखों से उस समय के माथुर जैन संघ पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। गच्छ, पुर और शाखाओं के जो नाम आए है वे ही भद्रबाहु के कल्पसूत्र में है।[२०]

जैन स्तूप के वास्तु विन्यास का स्वरूप लगभग वही था जो बौद्ध स्तूपों का था। जैन स्तूप के मध्य में बुद-बुदाकार, बड़ा और ऊंचा व्यूहा होता था और उसके चारों ओर वेदिका और चार दिशाओं में चार द्वार तोरण होते थे। उसके ऊपर भी हर्मिका और छत्रावली का विधान रहता था। वह भी वेदिका सहित त्रिमेधियो पर बनाया जाता था। उसके चार पार्श्वों में तीर्थंकरों की मूर्तियां लगाई जाती थीं। वेदिका के स्तम्भों पर शाल-भञ्जिका मूर्तियों की रचना की जाती थी। उनके बहुत से नमूने कंकाली टीले से मिले है और अब लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित है। वेदिका का निर्माण वास्तु विन्यास का उत्कृष्ट कर्म था। उसमें ऊर्ध्व स्तम्भ, आड़ी सूचियां, उष्णीष, आलम्बन, तोरण, पार्श्वस्तम्भ, धार्मिक चिन्ह, स्तम्भ और आयागपट्ट संज्ञक उत्कीर्ण शिलापट्ट, तोरणद्वारों के मुखपट्ट, पुष्पाधानी या पुष्प ग्रहणी वेदिकायें, सोपान, उतार-चढ़ाव की छोटी पार्श्वगत वेदिकाये और ध्वजस्तम्भ आदि नाना प्रकार की सामग्री लगाई गई थी। इन स्तूपों का रूप-सम्पादन बड़े उत्साह से किया जाता था। उनके शिल्पी शिल्प-कौशल में निष्णात थे।[२१]

वर्द्धमान कालेज,
बिजनौर (उ० प्र०)

'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीरसेवामन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली
मुद्रक-प्रकाशन—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त
प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक श्री ओमप्रकाश जैन
राष्ट्रिकता—भारतीय पता—२३, दरियागंज दिल्ली-२
सम्पादक—श्री गोकुलप्रसाद जैन
राष्ट्रिकता—भारतीय पता—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२
स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर, २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

मैं, ओमप्रकाश जैन, एतद्द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

—ओमप्रकाश जैन, प्रकाशक

१८. इपिग्राफिका इंडिका, भाग २, लेख २०।
१९. महावीर जयन्ती स्मारिका, जयपुर, पृ० १७।
२०. भारतीय कला पृ० २८०।
२१. वही पृ० २६३।

अनेकान्त

☐ डा० शोभनाथ पाठक, मेघनगर

भगवान महावीर प्रणीत दर्शन के चिन्तन की शैली का नाम अनेकांत दृष्टि, और प्रतिपादन की शैली का नाम स्याद्वाद है। अनेकांत दृष्टि का तात्पर्य है वस्तु का सर्वतोमुखी विचार। वस्तु में अनेक धर्म होते हैं, अतः सभी धर्मों के प्रति समान सद्भावना ही अनेकान्त दृष्टि का कार्य है, यथा—

'अनेके अन्ता. धर्माः यस्मिन् अनेकान्त.'

तात्पर्य यह है कि वस्तु के स्वरूप का सभी दृष्टियों से प्रतिपादन। जो वस्तु नित्य मालूम होती है, वह अनित्य भी है। जहां नित्यता का प्रतीति होता है वहां अनित्यता के अभाव में नित्यता की पहचान नहीं हो सकती। नित्यता और अनित्यता सापेक्ष है।

"अनेकांत" शब्द बहुब्रीहि समासयुक्त है जिसका तात्पर्य है अनेक अर्थात् एक से अधिक धर्मों, रूपों, गुणों और पर्यायों वाला पदार्थ। पदार्थ अनेक गुण रूपात्मक होने के साथ विवक्षा और दृष्टिकोणों के आधार पर भी अनेकांत है, यथा "यदेव तत् तदेव अतत् यदेवैक तदेवा-नेक यदेव सतत् देवासत् यदेव नित्य, तदेवानित्य—मित्यकवस्तु—वस्तुत्वनिष्पादपरस्परविरुद्धशक्ति - द्वय प्रकाशनमनेकान्त।'

अर्थात् जो वस्तु तत्स्वरूप है वही अतत्स्वरूप भी है, जो वस्तु एक है वही अनेक भी है, जो वस्तु सत् है वही असत् भी है। जो वस्तु नित्य है वही अनित्य भी है। इस प्रकार अनेकान्त एक ही वस्तु में उसके वस्तुत्व गुण पर्याय सत्ता के निष्पादक अनेक धर्म युगलों को प्रकाशित करता है। इस स्पष्टत. इस उदाहरण में भी परखें—

"सदसन्नित्यानित्यादिससर्थेकांत प्रतिक्षेपलक्षणो अनेकान्त"

वस्तु सत् अथवा असत् है, नित्य है अथवा अनित्य आदि परखने की पद्धति का नाम अनेकांत है। वस्तु के परखने की अनुभूति-अभिव्यक्ति एक साथ ही नहीं वरन् क्रमानुसार ही होती है। इसी क्रमबद्ध अभिव्यक्ति की पद्धति को स्याद्वाद कहा गया है। स्यात् शब्द तिङन्त प्रतिरूपक अव्यय है। इसके प्रशंसा, अस्तित्व, विवाद, विचारण, अनेकांत—संशय प्रश्न आदि अनेक अर्थ है। महावीर ने इसे अनेकांत कहा या स्याद्वाद् अर्थात् अने-कान्तात्मक वाक्य जिसका स्पष्ट रूप है सुनिश्चित दृष्टिकोण।

अनेकांत शब्द वाच्य है और स्याद्वाद् वाचक। स्यात् शब्द जोकि निपात है, एकांत का खण्डन करके अनेकांत का समर्थन करता है, यथा—वाक्येस्वनेकांतद्योती गम्य प्रति विशेषकः। स्यान्निपातोर्थयोगित्वात् तव केवलिनामपि, १०३ (आप्तमीमांसा)। भगवान महावीर ने वस्तु की यथार्थता को उजागर करने के लिए ही इसकी उपयोगिता को अक्षुण्ण माना है, इसकी स्पष्टता को इस प्रकार भी परखें—

सर्वथात्वनिषेधको अनेकान्तताद्योतकः
कथ चिदर्थेस्यात् शब्दो निपात् (पचास्तिकाय)

यही नहीं वरन् स्याद्वाद मंजरी में भी बताया गया है कि स्यादित्यव्ययमनेकान्तताद्योतकं ततः स्याद्वाद् अनेकान्तवाद इति। अनेकान्त वस्तु की अनेकान्त अनेक धार्मिकता सिद्ध करता है और स्वाद्वाद उसकी व्याख्या करने में एक सापेक्षिक मार्ग का सूत्रपात करता है, जब कि सप्तभंगी उस मार्ग का व्यवस्थित विश्लेषण कर उसे पूर्णता प्रदान करती है। अतः यह कहा जा सकता है कि वस्तु यथार्थता को परखने के लिए **अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभंगी** की अक्षुण्ण उपयोगिता है।

अनेकान्त प्रमाण और नय की दृष्टि से कथंचित अनेकान्त रूप और कथचित एकान्तरूप है। प्रमाण का विषय होने से वह अनेकान्त रूप है। सामान्यतः इसके दो भेद इस प्रकार है :—(१) सम्यगनेकान्त और मिथ्या

अनेकान्त। परस्पर सापेक्ष अनेक धर्मों का सकल भाव से ग्रहण करना सम्यगनेकान्त है और परस्पर निरपेक्ष अनेक धर्मों का ग्रहण मिथ्या अनेकान्त है। अन्य सापेक्ष एक धर्म का निषेध करके एक की अवधारणा करना ही मिथ्यैकान्त है।[१]

अनेकान्त अर्थात् सकलादेश का विषय प्रमाणाधीन होता है और यह एकान्त की अर्थात् नयाधीन विकलादेश के विषय की अपेक्षा रखता है। यही तथ्य यू परखं।

अनेकान्तोऽप्यनेकान्त. प्रमाणनयसाधनः।
अनेकान्तप्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्।[२]

अर्थात प्रमाण और नय का विषय होने से अनेकान्त, अनेक धर्मवाला पदार्थ भी अनेकान्त रूप है वह जब प्रमाण के द्वारा समग्रभाग से गृहीत होता है तब वह अनेकान्त अनेक धर्मात्मक है और जब किसी विवक्षित नय का विषय होता है तब एकान्त, एक धर्म रूप है। उस समय शेष धर्म पदार्थ मे विद्यमान रहकर भी दृष्टि के सामने नही होते। इस तरह पदार्थ की स्थिति हर हालत मे अनेकान्त रूप ही सिद्ध होती है।

अनेकान्त दृष्टि या नय दृष्टि विराट वस्तु को जानने का वह प्रकार है जिसमे विवक्षित धर्म को जानकर भी अन्य धर्मों का निषेध नही किया जा सकता, वरन् उन्हे गौण या अविवक्षित कर दिया जाता है। इस प्रकार, जब मनुष्य की दृष्टि अनेकान्त को दृष्टिगत करने वाली बन जाती है तब उसके समझाने का ढंग भी निराला हो जाता है, अर्थात् वस्तु तत्व का यथार्थ प्रतिदिन किया जाता है।

अनेकान्त की वरीयता को परख कर ही आचार्य हेमचद ने वीतराग स्तोत्र मे कहा है कि —

विज्ञानस्यैकमाकार नानाकारकरम्बितम्।
इच्छस्तथागतः प्राज्ञो नानेकान्त प्रतिक्षिपेत॥
चित्रमेकमनेक च रूपम् प्रामाणिक वदन्।
योगो वैशेषिको वापि नानेकान्तप्रतिक्षिपेत॥
इच्छन् प्रधान सत्वाद्यै विरुद्धैर्गुम्फितं गुणैः।
सांख्यसंख्यावतां मुख्योनानेकान्त प्रतिक्षिपेत॥[३]

अर्थात एक ज्ञान को अनेकाकार मानने वाले समझदार बौद्धों को अनेकान्त का प्रतिक्षेप नहीं करना चाहिए उसी अनेक आकार वाले एक चित्र रूप को मानने वाले नैयायिक और वैशेषिकों को अनेकान्त प्रतिक्षेप नही करना चाहिए। साख्याचार्यों व अन्य को भी इसका प्रतिक्षेप नही करना चाहिए क्योकि अनेकान्त तो वस्तु के यथार्थ रूप को परखने का माध्यम है।

प्रत्येक वस्तु विराट है और अनन्त-अनन्त अंशों धर्मों गुणों और शक्तियों का पिंड है अर्थात वस्तु का अनेक धर्मात्मक होना स्वाभाविक है।[४]

एक मनुष्य जिस रूप में वस्तु को देख रहा है उसका स्वरूप उतना ही नही वरन् विभिन्न दृष्टिकोणों से कुछ और भी है। जल यदि एक मनुष्य की प्यास बुझाकर तृप्ति प्रदान करता है, तो वही जल एक हैजे के रोगी के लिए विष तुल्य मृत्यु का कारण भी बन जाता है। इसी प्रकार यदि दूध स्वास्थ्यवर्द्धक है तो वही अतिसार के रोगी के लिए विष तुल्य मृत्यु का कारण भी है। कहने का तात्पर्य कि एक ही वस्तु विविध रूप प्रकट करने म सक्षम है।

वस्तु बोध ही धर्म और दर्शन का उद्देश्य है बोध मुक्ति का साधन है यदि बोध के साथ नम्रता, उदारता, निष्पक्षता, सहिष्णुता और सात्विक जिज्ञासा है तब वह आत्म विकास की सीढी है।

अनेकान्त दृष्टि परस्पर विरोधी वादो का समन्वय करने वाली परिपूर्ण सत्य की प्रतिष्ठा करने वाली और बुद्धि में उदारता, नम्रता, सहिष्णुता तथा सात्विकता उत्पन्न करने वाली है। यह विश्व दर्शन के लिए एक अनुपम थाती है। □□

मेघनगर (म० प्र०)

---

१. डा० महेन्द्रकुमार — जैन दर्शन, पृ० ५२५।
२. बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र १०२।
३. वीतराग स्तोत्र, ८ से १०।
४. स्याद्वाद मन्जरी, कारिका-५।

एलाचार्य : शब्द-मीमांसा

डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच (म० प्र०)

[प्रत्येक लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होता है। प्रस्तुत लेख के विद्वान् लेखक ने भी अपने स्वतन्त्र विचार व्यक्त किये हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादन-मण्डल लेखक के सभी विचारों से सहमत हो।—सम्पादक]

प्रत्येक भाषा के शब्द रूपो के निर्माण के अपने कुछ नियम होते है। उन नियमों के अनुसार ही उसकी शब्द-सम्पदा का वैभव वृद्धिगत होता रहता है। उस सम्पत्ति को देख कर हम किसी भी युग में उस भाषा की शब्द-सामर्थ्य, शब्द-निर्माण की क्षमता, रूपगत विकास एव आकृति का निर्णय कर सकते हैं। इसी सन्दर्भ मे प्रस्तुत "एलाचार्य" शब्द का विचार करना ही हमे इष्ट है।

जैन समाज का बौद्धिक वर्ग यह भली भांति जानता है कि जब से उपाध्याय मुनिश्री विद्यानन्द जी को 'एलाचार्य" पद से विभूषित किया गया, तब से इस शब्द की ओर सभी का ध्यान आकृष्ट हुआ है। जिन्होने कभी "एलाचार्य" नाम तक नही सुना था, वे भी इसके विषय मे जिज्ञासा रखते है। कई लोग पूछ चुके है कि यह कौन-सा पद है ? तथा "एलाचार्य" का मतलब क्या होता है ?

सर्वप्रथम हमे यह देखना है कि "एलाचार्य" शब्द किन-किन ग्रन्थों में आया है ? यह तो निश्चित है कि प्राकृत तथा संस्कृत दोनों भाषाओं में रचित जिनागम में उक्त शब्द का प्रयोग हुआ है। मूल ग्रन्थों के उद्धरण इस प्रकार हैं—

एलायरियस्स दिणाण दस, आयरियस्स पण्णरस दिवसा।
छिज्जंति परगणगयस्स, पुण दसपण्णस्स वीसदिणा॥
— प्रायश्चित्त ग्रन्थ गा० २५७

(१) एलायरियस्स दिणाण ...... छेदपिंड, गा० २५१।

(२) जस्साएसेण मए सिद्धांतमिदं हि अहिलहुदं।
मह्नु सो एलाइरियो पसियउ वरवीरसेणस्स॥
—धवला टीका, पुस्तक १६, अन्त्यप्रशस्ति, गा० १

(३) "एदेण वयणेण सुत्तस्स देसभासियत्तं जेण जाणाविद तेण चउण्ह गईण उतुच्चारणावलेण एलाइरियपसाएण य मेमकम्मापा ग्रूवणा कीरदे।"
--कषायपाहुड, भा० ४ पृ० १६६।

(४) "एत्थ एलाइरियवच्छयस्स णिच्छओ ..."
- जयधवला, प्रे० पृ० १६५३।

(५) "एत्थ ण बाहइ जीव्ममेलाइरिवच्छओ अलद्धोवदेसत्तादो, दोण्हमेकस्स वाहाणुवलम्भादो।
—कषायपाहुड, भा० १, पृ० ८१।

(६) काले गते कियत्यपि ततः पुनश्चित्रकूटपुरवासी।
श्रीमानेलाचार्यो बभूव सिद्धान्ततत्वज्ञः॥
तस्य समीपे सकलं सिद्धान्तमधीत्य वीरसेनगुरुः।
उपरितमनिबन्धनाद्याधिकारानष्ट च लिलेख॥
--इन्द्रनन्दि श्रुतावतार, श्लो० १७७, १७८।

इनके अतिरिक्त, "कषायपाहुड" मे "एलाइरिय" शब्द कई स्थानो पर मिलता है। आचार्य वीरसेन स्वामी ने स्वय मतभेदो का उल्लेख करते हुए स्पष्ट रूप से निर्देश किया है कि भट्टारक एलाचार्य के द्वारा उपदिष्ट व्याख्यान समीचीन होने के कारण ग्रहण करने योग्य है। उनके ही शब्दों में—

"तदो पुव्वुत्तमेलाइरियभडारएण उवइट्ठवक्खाणमेव पट्ठाणभावेण एत्थ घेतव्व।"
—कषायपाहुड, भा० १, पृ० १६२।

उक्त सभी प्रसगो को ध्यान से देखने पर स्पष्ट है कि "छेदपिण्ड" को छोड़ कर सभी स्थलों पर "एलाइरिय" शब्द अभिधानवाचक है। आचार्य वीरसेन के गुरु

का नाम एलाचार्य था। वे चित्तौड़ (राजस्थान) मे निवास करते थे। जैन आगम साहित्य मे "एलाचार्य" नाम के अन्य विद्वानों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। पं० परमानन्द शास्त्री ने "जैनधर्म का प्राचीन इतिहास" (भाग २) मे सूरस्त गण के विद्वान रविनन्दी आचार्य के शिष्य व तपस्वी एलाचार्य का परिचय दिया है। अपने उसी ग्रन्थ में विद्वान् लेखक ने कोण्डकुन्दान्वय के भट्टारक कुमारनन्दि के शिष्य "एलाचार्य" का भी उल्लेख किया है, जिनके शिष्य वर्धमान गुरू थे। सम्भव है कि 'एलाचार्य और 'एलवाचार्य' एक ही व्यक्ति का नाम रहा हो, जो बोली-भेद से उच्चारण मे भिन्न रहा हो। दोनों का समय भी लगभग समान कहा जाता है।

'एलाचार्य' शब्द के अर्थ का विचार करें, इसके पहले यह उचित प्रतीत होता है कि शब्द-रचना की दृष्टि से मीमासा करना उपयुक्त होगा। 'एलाचार्य' प्राकृत 'एलाइरिय' शब्द का रूपान्तरण है। प्राकृत और सस्कृत दोनों शब्द दो-दो शब्दो से सयुक्त होकर बने है, जैसे कि—

१. एल+आइरिय।

२. एल+आचार्य।

इन दोनों शब्दों मे 'एल' मूल शब्द है। आचार्य शब्द सामान्य है। आचार्य शब्द के कई अर्थ है। प्रकरण के अनुसार अर्थवाचक होता है। जैन शास्त्रो में गृहस्थाचार्य, नियापिकाचार्य, शास्त्राचार्य, सिद्धान्ताचार्य आदि शब्दो मे सामान्य अर्थ म ही 'आचार्य' शब्द का प्रयोग मिलता है। जो अपने-अपने विधि-विधानो को विशेष रूप से जानते हो, विज्ञ हो, उनको सामान्य रूप से आचार्य कहा जाता है, जैसेकि—जो प्रतिष्ठा की विधि भली भाति जानता हो, उसे प्रतिष्ठाचार्य कहते है। इनके अतिरिक्त छत्तीस गुणों के धारक जैनाचार्य साधु की विशिष्ट संज्ञा है। उससे यहां कोई अभिप्राय नही है। जिनागम मे आचार्य परमेष्ठी के किसी भेद का वर्णन नही मिलता। साधु आचार्य उसे कहते है, जो पाच प्रकार के आचार का पालन करते है। आचार्य के ३६ गुण है—बारह प्रकार के तप, छह आवश्यक, पाच प्रकार के आचार, दस प्रकार के धर्म और तीन गुप्तियों का पालन करने वाले।

'एलाचार्य' शब्द की मीमांसा करते हुए सर्वप्रथम 'एल' शब्द का विचार करना इष्ट है। यह विचारणीय है कि 'एल' शब्द' प्राकृत का है या संस्कृत का है? इस शब्द का मूल सस्कृत प्राकृत के शब्दकोशो को पलटने से 'एल' शब्द का एक ही अर्थ लक्षित हुआ है, जो इस प्रकार है—

एलो कुसले एक्को णेहपरे चंदणम्पि एक्कंगं।
एत्तोप्प एअप्पहुदि अ पविसंतम्मि एमाणो॥
—देशीनाममाला, १, १४४

'पाइअसद्दमहण्णव' मे 'एल' शब्द के दो अन्य अर्थ है—मृगो की एक जाति, भेड़। ये दोनों ही अर्थ सस्कृत से आगत प्रतीत होते है। प्राकृत मे यह एक देशी शब्द है जो कुशलता का वाचक है। दूसरे शब्दो मे, कुशल आचार्य को 'एलाइरिय' या 'एलाचार्य' कहा जाता था। यह शब्द भारतीय आर्यभाषाओं के विकास-काल मे प्रयुक्त नही होता था। किसी प्राचीन परम्परा से आगत शब्द है।

इस शब्द की रचना-प्रवृत्ति यह रही है कि चाहे प्राकृत हो, चाहे संस्कृत दोनो मे समान रूप से एक जैसी रूप-रचना मे इसका प्रचलन रहा है; जैसे कि—एलाचार्य, बालाचार्य, कालकाचार्य आदि।

मूल शब्द भी एक जैसी रचना की समानता को घोषित करने वाले है; जैसे कि—एल, वेल, फेल आदि। 'एल' शब्द से 'य' स्वार्थिक प्रत्यय जुड़ कर प्राकृत में 'एलय' तथा संस्कृत मे 'क' स्वार्थिक प्रत्यय संयुक्त होकर 'एलक' शब्द की रचना हुई। जैन शास्त्रों मे 'ऐलक' और 'क्षुल्लक' दोनो शब्द 'बाल' या 'लघु' अर्थ मे प्रयुक्त होते है।

केवल एलाचार्य, बालाचार्य ही नही हेलाचार्य, कूविलाचार्य, गोल्लाचार्य, तुम्बुलूचार्य, तोरणाचार्य, उग्रदित्याचार्य तथा महावीराचार्य जैसे नाम भी जैन इतिहास मे मिलते है। कुछ नामो के अभिधान का कारण उन-उन स्थानो मे निवास करने वाले व्यक्ति को वहा का कहा जाता है; जैसेकि - कौण्डकुन्द' (कौण्डकुण्डल) स्थान के निवासी होने के कारण आचार्य कुन्दकुन्द को 'कोण्डकुन्दाचार्य' कहा जाता था। इसी प्रकार, 'गोल्ल' देश के राजा होने के कारण गोल्लाचार्य नाम प्रसिद्ध हो गया।

इसी तरह, आचार्य वीरसेन के गुरू भी किसी 'एल' ग्राम के निवासी रहे हों, जिसके कारण उनका नाम 'एलाचार्य' पड़ गया हो।

जैसे कि पंचपरमेष्ठी के पदो मे 'आचार्य' एक पद है, वैसे ही क्या 'एलाचार्य' भी कोई पद है ? जब मैं यह लेख लिख रहा हूं, तभी गुरुवर्य सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री का एक लेख 'एलाचार्य पद कल्पना' देखने मे आया। इस लेख मे कई महत्त्वपूर्ण बातों का उल्लेख किया गया है। प्रथम यह 'आचार्य कुन्दकुन्द को और वीरसेन स्वामी के गुरु को उनके विशिष्ट गुणों के कारण यह पद दिया गया था, यह कहा लिखा है ?' (जैन सन्देश, पृ० २४६)।

दूसरे, टीका ग्रन्थों में 'एलाचार्य' और 'बालाचार्य' समान अर्थ में प्रयुक्त हुए है। तीसरे, जब कोई आचार्य समाधि ग्रहण करता है, तो वह अपने योग्य शिष्य को आचार्य बनाता है। समाधि का काल बारह वर्ष तक है। इतने लम्बे काल तक यदि आचार्य जीवित रहते है, तो उनके द्वारा स्थापित आचार्य एलाचार्य या बालाचार्य कहलाता है। (वही, पृ० २५०)।

यह निश्चित है कि 'एलाचार्य' के पद के सम्बन्ध मे 'भगवती आराधना' और 'मूलाचार' ग्रन्थों मे मुख्य रूप से विवरण मिलता है। यहा पर निम्नलिखित उद्धरणो के आधार पर सक्षिप्त विचार प्रस्तुत है :—

(१) 'अनुगुरोः पश्चात् दिशति विधत्ते चरणक्रममित्यनुदिक् एलाचार्यस्तस्मै विधिना।'—मूलाराधना भा० १, गा० १७७ की टीका।

अर्थात्—गुरू के पश्चात् जो मुनि चरित्र का क्रम मुनि और आर्यादिक को कहता है, उसको अनुदिश अर्थात् एलाचार्य कहते है। अनुदिश का अर्थ क्या है ? यह भी उसी ग्रन्थ से जानना चाहिए। कहा है—

काल संभाविता सव्वगणमणुदिस च वाहरिय।
सोमतिहिकरणणक्खतविलग्गे मगलोगासे ॥
—मूलाराधना, गा० २७३

इस गाथा की विजयोदया टीका मे लिखा है—'सव्वगणं सवंगेणं अणुदिस च बालाचार्य च। वाहरिय व्याहृत्य।' (पृ० ४५२)।

भाव यह है कि सल्लेखना के लिए उद्यत आचार्य अपनी अवशिष्ट आयु का विचार कर अपने शिष्य समुदाय को और अपने स्थान में जिसकी स्थापना की है ऐसे बाल आचार्य को बुला कर सौम्यतिथि, करण, नक्षत्र और लग्न के समय शुभ प्रदेश मे बालाचार्य को अपना गण विसर्जित कर देते है।

इस प्रकरण में 'बालाचार्य' कोई पद नही है। जैसे कि बालाचार्य, युवाचार्य, वृद्धाचार्य अवस्था से सम्बन्ध रखने के कारण प्रयुक्त होने वाले शब्द हैं, वैसे ही यहां पर जिसने अभी-अभी गण को सम्हाला है, वह 'बालाचार्य' कहा गया है। वास्तव मे पद तो 'आचार्य' का है, 'बाल' शब्द तो दशा का वाचक है। गण की परिपाटी चलाने के लिए इस बिधि का निर्देश किया गया है। जैसे बालमुनि, वृद्धमुनि का व्यपदेश किया जाता है, उसी प्रकार बालाचार्य या एलाचार्य समझना चाहिए।

'भगवती आराधना' की गाथा २७५ की मूलाराधना टीका मे 'दिसं' का अर्थ 'एलाचार्य' किया गया है किन्तु 'विजयोदया' में 'दिस आचार्य' कह कर आचार्य अर्थ किया गया है। वास्तव मे क्या शब्द-रचना की दृष्टि से, क्या शब्द से और क्या अर्थ से प्राकृत का 'एल' शब्द सस्कृत 'बाल' का वाचक है। दोनों के मूल भाव में आज भी 'अज्ञानता' का भाव छिपा हुआ है। आगम में बाल आचार्य ही नहीं ज्ञानबाल और चारित्रबाल का विवरण भी मिलता है। उक्त अभिप्राय का समर्थन निम्नलिखित गाथा से भी होता है। कहा है—

आगमदो जो बालो परियाएण व हवेज्ज जो बालो।
तस्स सगं दुच्चरियं आलोचेदूण बालमदी ॥
—मूलाराधना, गा० ५९८

जो मुनि आगम से बाल है अर्थात् जिसको आगम का ज्ञान नही है तथा जो चारित्रबाल है अर्थात् चारित्र भी जिसका श्रेष्ठ नही है उसको बाल कहते हैं। ऐसे मुनि के पास जाकर कोई कल्पज्ञानी मुनि अपने दोषों की आलोचना करता है।

यथार्थ में प्राकृत के 'एल' और संस्कृत के 'एलक' या 'एला' अथवा 'ऐलक' शब्द में अर्थ-भेद होने पर भी मूल भाव में कोई अन्तर नही है। सस्कृत में 'एला' इलायची को कहते है। यह अर्थ उसके लघु आकार के कारण प्रसिद्ध हुआ है।

□□□

२४३, शिक्षक कालोनी, नीमच (म० प्र०)

श्रमण-संस्कृति का उदात्तदृष्टिकोण

☐ प्रो० श्री रंजन सूरिदेव, पटना

मानव समाज में जब वैचारिक ह्रास आ जाता है, तब उसमें संकीर्णता का प्रवेश होता है और उसकी चिन्तन धारा का उदात्त दृष्टिकोण संशय के धुंधलके में दिग्भ्रान्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में विशेष रूप से जाति और धर्म ही सकीर्णता के प्रवेश-द्वार हुआ करते है। जाति और धर्म के प्रति दुराग्रह या हठाग्रह ही वैचारिक सकीर्णता को जन्म देता है। इस संदर्भ में श्रमण-संस्कृति का दृष्टिकोण इसलिए उदात्त है कि वह वैचारिक संकीर्णता का सर्वथा प्रत्याख्यान करती है।

श्रमण-संस्कृति और वैदिक सस्कृति के बीच, ऐतिहासिक दृष्टिकोण से कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नही खींची जा सकती। ये दोनों संस्कृतियां चक्रगति के अनुक्रम से समय-समय अपनी सत्ता स्थापित करती रही है। जिस संस्कृति में जितनी अधिक वैचारिक उदारता रहेगी, उसकी सत्ता उतनी ही अविचल और लोकादृत होगी। अधुना श्रमण-संस्कृति के प्रति अत्यधिक लोकाग्रह का कारण उसकी वैचारिक उदारता ही है।

कोई भी संस्कृति मानव-जिजीविषा की पूर्ति के साधनों की प्राप्ति के उपायों का समर्थ निर्देश तभी कर सकती है, जब कि वह वैचारिक दृष्टि से अपने को कभी अनुदार नही होने देती। इसीलिए, जनकल्याण के निमित्त वैचारिक उदारता की शर्त आवश्यक ही नही, अनिवार्य मानी गई है। लोकमार्ग का नेतृत्व वही कर सकता है, जो विचार से उदार होता है और आचार की दृष्टि से 'आत्मनेपदी' जो आचार की दृष्टि से केवल 'परस्मैपदी' होता है, उसका विचार या आचार कभी लोकग्राह्य नही होता। इसीलिए, सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति में आत्मचिन्तन को सर्वोपरि महत्व दिया गया है।

उदारवादी दृष्टि से यह स्पष्ट है कि आत्मचिन्तन का सम्बन्ध आत्म-संयम या आत्मनियन्त्रण या आत्मदमन से जुड़ा हुआ है। श्रमण तीर्थंकर भगवान् महावीर ने आत्मदमन को बड़ा कठिन बताया है। उन्होंने कहा है:

> अप्पा चेव दमेयव्वो अप्पा हु खलु दुद्दमो।
> अप्पा दन्तो सुही होइ अस्सि लोए परत्थ य॥
> —(उत्तरा०, १।१५)

निश्चय ही, दुर्दम आत्मा का दमन करने वाला व्यक्ति ही इस लोक और परलोक में सुखी होता है। आत्मदमन आत्मपीडन का पर्याय है। आत्मा के अनुकूल वेदनीय सुख है और प्रतिकूल वेदनीय दुःख। तीर्थंकर पुरुष चूंकि सर्वभूतहित के आकांक्षी होते है, इसलिए वे प्रतिकूल वेदनीयता पर विजय पाने के निमित्त आत्मदमन या आत्मपीड़न करते हैं, अर्थात् परत्राण के लिए प्रतिकूल को अनुकूल बनाकर आत्मसुख अनुभव करते हैं और सही मायने मे उदार व्यक्ति वही होता है, जो परदुःख के विनाश के लिए आत्मदुःख के वरण करने में ही सुख का अनुभव करता है। इसीलिए, 'वसुदेवहिण्डी' के 'धम्मिल्ल-चरित' मे धर्म की परिभाषा करते हुए संघदासगणिवाचक ने कहा है—'परस्स अदुक्खकरणं धम्मोत्ति।' इस प्रकार, सम्पूर्ण श्रामण्य संस्कृति पर-दुःख की विनाशमूलक उदारता की उदात्त भावना से ओतप्रोत है।

भगवान् महावीर के पंचयाम धर्म में श्रमण-संस्कृति के उदात्त दृष्टिकोण का ही भव्यतम विनियोग हुआ है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांचों साधारण जन जीवन को उदात्त दृष्टिकोण से सवलित करने वाले ऐसे विचार-बिन्दु है, जिनसे सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक्चारित्र की उपलब्धि सम्भव होती है और मोक्ष का मार्ग उद्घाटित होता है।

लोकैषणा या लोकहित श्रमण-सस्कृति के उदात्त दृष्टिकोण का महनीय पक्ष है। आधुनिक लोकदृष्टि इसलिए अनुदार हो गई है कि वह हिंसा, असत्य, चौर्यवृत्ति, कामलिप्सा और सचय-वृत्ति से आक्रात है। अनुदारता ही संकीर्ण विचार की जननी है। आज के वक्रजड़ लोग दुर्व्याख्या के विष मे मूर्छित है। आत्महित के लिए पर-हित का प्रत्याख्यान उनका धर्म हो गया है। आस-पड़ोस के जलते हुए घरो के बीच अपने घर को सुरक्षित समझने का प्रमाद ही उनका आत्मसस्कार बन गया है। परदुःख के विनाश मे आत्मसुख को सही न मानकर वे आत्मसुख को परदुःख का कारण बनाना उचित समझते है। श्रमण-संस्कृति इसी अनुदार दृष्टि के निर्मूलन के प्रयास के प्रति सतत आस्थाशील है।

श्रमण-संस्कृति अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त के उदात्त दृष्टिकोण की त्रिपुटी पर आधृत है। अनेकान्त की उदार विचारधारा श्रमण-संस्कृति का महार्घ अवदान है। अनेकान्त यदि वैचारिक उदात्त दृष्टिकोण का प्रतीक है, तो अहिंसा और अपरिग्रह आचारगत उदारता का परिचायक। श्रमण-संस्कृति का अहिंसावाद भी सीमित परिधि की वस्तु नहीं है। प्राणिवध जैसी द्रव्यहिंसा से भी अधिक व्यापक भावहिंसा पर श्रमण-संस्कृति बल देती है। उसका मन्तव्य है कि मूलतः भावहिंसा ही द्रव्यहिंसा का कारण है। यदि भावहिंसा पर नियन्त्रण हो जाय, तो फिर द्रव्य-हिंसा का प्रश्न ही नही उठे। आज सामाजिक जीवन मे भावहिंसा की प्रधानता से ही द्रव्यहिंसा होती है और यही फिर भयकर युद्ध और भीषण रक्तपात मे परिणत हो जाती है।

जाति और धर्म की भावना में सकीर्णता आने पर हिंसा का उदय स्वाभाविक है। इस स्थिति मे पुण्य की परिभाषा परोपकार न होकर सामान्य वैयक्तिक पूजा-पाठ में नि.शेष हो जाती है। जात्यभिमान हमे अधःपतन की ओर ले जाता है और इससे हम मानवता का निरादर कर बैठते हैं। इसीलिए, भगवान् महावीर ने कर्मणा जाति की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए कहा :

कम्मुणा बम्भणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ।
कम्मुणा वइस्सो होइ सुद्दो हवइ कम्मुणा॥

— उत्तरा०, २५।३१

अहिंसावाद पर अनास्था के कारण हो आज समाज में जातिगत हीनभावना का विस्तार हो रहा है। जाति के सम्बन्ध में हमारा दृष्टिकोण उदात्त नही रह गया है। हम इसीलिए ऊँच-नीच, छुआछूत आदि के घेरे में बन्दी बनते जा रहे है। श्रमण-संस्कृति इसी दुरभिमान को चुनौती देती है और सघोष उद्घोषणा करती है : 'मेत्ती मे सव्वभूएसु।'

सामाजिक अवधारणा के सदर्भ में अपरिग्रहवाद भी श्रमण-सस्कृति के उदात्त दृष्टिकोण का परिचय प्रस्तुत करता है। अपरिग्रह का तात्पर्य धन के प्रति स्वामित्व की भावना का परित्याग है। अनावश्यक संचय से सामान्य लोकजीवन को कष्ट पहुंचता है। घूसखोरी, जमाखोरी, मिलावट, तस्करी आदि का व्यापार परिग्रह का ही जघन्यतम रूप है। हम धन से दूसरे की सहायता करते भी है, तो स्वामित्व की भावना रखकर ही। स्वामित्व की भावना का त्याग हम नही कर पाते। इसमे अपरिग्रह का सही रूप तिरोहित ही रह जाता है; और फिर, हम संकीर्ण भावना से ऊपर नही उठ पाते, हमारा वैचारिक दृष्टिकोण उदात्त नही हो पाता। श्रमण-संस्कृति अपरिग्रह के माध्यम से हमें उदात्त दृष्टिकोण प्रदान करती है, जिससे हमारे अन्तर्मन मे सर्वोदय की भावना का संचार होता है और जनमानस ग्रहण की सकीर्ण भावना से त्याग की उदात्तभूमि की ओर अभिमुख होता है।

श्रमण-संस्कृति का अनेकान्तवाद उसकी उदात्त दृष्टि का एक ऐसा प्रकाश-स्तम्भ है, जिससे सम्पूर्ण विश्व का जीवन-दर्शन आलोकित है। अनेकान्त, जनसमुदाय को दुराग्रहवादिता की सकीर्ण मनोवृत्ति से मुक्त होने की प्रेरणा देता है। दर्शन के क्षेत्र में या फिर जीवन के व्यावहारिक जगत् मे व्याप्त श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ की भावना के व्यामोह का विलोप अनेकान्त से ही सम्भव है। नीर-क्षीर विवेक की सम्प्राप्ति एकमात्र अनेकान्त से ही हो सकती है। सत् के प्रति आसक्ति और असत् के प्रति वैराग्य अनेकान्त की भावना से ही आता है।

भाषिक शुद्धि की दृष्टि से स्याद्वाद और वैचारिक शुद्धि की दृष्टि से अनेकान्तवाद की स्थापना श्रमण-सस्कृति की उदात्तता ही पार्यन्तिक रूप है। आज हम किसी वस्तु को एकान्त दृष्टि से सत्य मानने का भ्रम पालते है। किन्तु, अनेकान्तवाद इस भ्रम को दूर करता है। किसी वस्तु को हम एकान्त दृष्टि से सत्य मानकर अपनी अनुदात्त दृष्टि का ही परिचय देते हैं। कोई भी मानव एकान्त भाव से पूर्ण नही होता। यदि हम किसी दर्शन तत्वज्ञ को पण्डित मान लेते है, तो यह एकान्त दृष्टि हुई। सम्भव है, उस पण्डित को सांख्यिकी मे तत्वज्ञता प्राप्त नही, तो फिर उसे एकान्त भाव से पण्डित कहना उचित भी नही। अनेकान्त दृष्टि से दर्शन की अपेक्षा यदि वह पण्डित है, तो सांख्यिकी की अपेक्षा पडित नही भी है : इसी विचारधारा के आधार पर अनेकान्त मे 'सप्तभंगी नय' की प्रतिष्ठा हुई है। इस नय के द्वारा हम

एकान्त से अनेकान्त की ओर प्रस्थान करते है, जहाँ हमें सम्पूर्ण जागृतिक स्थिति का सही अभिज्ञान प्राप्त होता है और उदात्त दृष्टिकोण से संवलित होने का अवसर मिलता है। सर्वधर्मसमन्वय की समस्या का समाधान भी अनेकान्त ही दे सकता है।

ज्ञान और दया श्रमण-संस्कृति के मेरुदण्ड है। ये दोनों ऐसे दिव्य तत्त्व है, जिनमें उदात्त दृष्टिकोण का अपार सागर तरंगित होता रहता है। कोई भी ज्ञानी पुरुष अनुदार नही हो सकता और किसी भी दयालु की विचारधारा सकीर्ण नही होती। किन्तु, दया की भावना का उदय विना ज्ञान के सम्भव नही। इसीलिए, जिनवाणी की मान्त्रिक भाषा है : 'पढमं णाण तओ दया।' श्रमण-संस्कृति मे ज्ञान को ही प्रमाण माना गया है। ज्ञान भी ऐसा, जो स्व और पर को समान रूप से आभासित करे और उसमे किसी प्रकार का बाधा-व्यवधान न हो। इसीलिए आचार्य सिद्धसेन ने कहा है : 'प्रमाण स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्।' उदात्त दृष्टिकोण के लिए ज्ञान का होना अनिवार्य है और ज्ञान का क्रियान्वयन दया-भावना से ही सम्भव है। ज्ञान की ही सक्रिय अवस्था दया है। ज्ञान की सक्रियता के लिए दया अनिवार्य है। कहना चाहिए कि ज्ञान और दया दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इसीलिए, अनन्त ज्ञान से सम्पन्न तीर्थंकर 'दयालु' या 'कल्याणमित्र' की संज्ञा से सम्बोधित हुए।

ब्रह्मचर्य की व्याख्या में भी श्रमण-संस्कृति ने उदार दृष्टिकोण से काम लिया। है अन्यत्र जहाँ 'मरण विन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्' का कठोर निर्देश मिलता है, वहा श्रमण-संस्कृति ने 'स्वदारसंतोषित्व व्रत' को ब्रह्मचर्य का दर्जा दिया है। आज ब्रह्मचर्य के नाम पर उन्मुक्त यौन-मेघ का जो नग्नताण्डव दृष्टिगत होता है, उसका संयमन 'स्वदार-सन्तोषित्व-व्रत' से सहज ही सम्भव है। एकमात्र अपनी पत्नी में ही संतोष के व्रत का पालन किया जाय, तो कामोष्मा से प्रतप्त आधुनिक समाज मे सयम के स्वर्गिक सुख की अवतारणा हो जाय।

श्रमण-सस्कृति अपने उदात्त दृष्टिकोण के कारण ही व्यष्टिगत धारणा की अपेक्षा समष्टिगत धारणा के प्रति आग्रहशील है। वह 'भूमा वै सुखं नाल्पे सुखमस्ति' के सिद्धान्त का समर्थन करती है। वह त्रना (तद्वति तत्प्रकारकं ज्ञानं) पर आस्था रखती है, बाहरी चाकचिक्य को नकार देती है। वह सिद्धान्तो के भटकाव की स्थिति नही उत्पन्न करती। वह तो जीवन को सन्त्रास, कुण्ठा, अनास्था, विसगति आदि दुर्भावनाओं के घात प्रतिघातो से बचने को प्रेरित करती है, ताकि मानव अपनी मानवता की चरम परिणति के सुमेरु पर विराजमान हो सके, सिद्धशिला पर आसीन होकर पल्योपम भूमि को आयत्त कर सके।

आज का मानव नितान्त परिग्रही हो गया है। उसने अपने इर्द-गिर्द अनेक आडम्बर चिपका रखे है। अज्ञानता और दयाहीनता के कारण वह अनपेक्षित आभिजात्य-भावना मे पडकर मानवता की गरिमा से परिच्युत हो गया है। वह बाह्य जगत् मे अकर्म को कर्म और कर्म को अकर्म मान बैठा है। भौतिकता से अतिपरिचय के कारण वह आध्यात्मिकता की अवज्ञा कर रहा है। उसका कोई भी कथन न तो सुचिन्तित होता है, न ही वह कोई सुविचारित कार्य कर पाता है। कुल मिलाकर, आधुनिक मानव-समाज मे आत्मप्रदर्शन की मिथ्या गतानुगतिकता, की ऐसी लहर छा गई है कि वह सिवाय दूसरे का छीनने के अलावा और कुछ सोच ही नही सकता। श्रमण-सस्कृति ने इसीलिए, अस्तेय-भावना को सामाजिक जीवन मे प्रतिष्ठा दी है।

ईशोपनिषद् की 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्' जैसी सामाजिक भावना को उद्बुद्ध करने वाली चेतावनी को आज के मानव ने नजरन्दाज कर दिया है, इसीलिए उसमें चौर्यवृत्ति आ गई है : आत्मधन की अपेक्षा परधन के प्रति तृष्णा से निरन्तर आकुल-व्याकुल हो रहा है। फलतः, उसके सयम का चाबुक बेकार हो गया है और इन्द्रियों के घोड़े बेलगाम हो गये है। उसके जैसा कामगृद्ध व्यक्ति काम से ही काम को शान्त करना चाहता है, और इसके लिए वह चौर्यवृत्ति से ही अपने सुख-सन्तोष की सामग्री जुटाने मे प्रबल पुरुषार्थ मान रहा है और हिंसा तथा मिथ्यात्व के प्रति एकान्त आग्रहशील हो उठा है।

सारस्वत जगत् मे भी आज अजीब छीना-झपटी चल रही है। गीता की 'स्वधर्मे निधन श्रेयः परधर्मो भयावहः'

की चेतावनी भी उसे याद नहीं रह गई है। फलतः उसकी जिन्दगी की गाड़ी समतल सड़क को छोड़ ऊबड़-खाबड़ रास्ते में दौड़ पड़ी है। कृत्रिम पाश्चात्य संस्कृति की चकाचौंध में पड़कर उसने अपनी सहज पौरस्त्य संस्कृति की उपेक्षा कर दी है। यहां तक कि वह अपनी भाषा और साहित्य को भी वह मूल्यहीन मानने लगा है। उसके मूल्यांकन की तुला ही अभारतीय हो गई है।

यही कारण है कि आधुनिक मानव विभिन्न मतवादों और साम्प्रदायिक रूढ़ियों की वात्या मे विलुण्ठित हो रहा है। उसका अपना ज्ञानबोध अहंकार के अंधेरे में डूब गया है। ऐसी स्थिति में श्रमण-संस्कृति के पंचयाम धर्म की प्रोज्ज्वल प्रभा उसके तिमिरावृत हृदय को भास्वर बना सकती है। उसके दिग्भ्रष्ट जीवन-पोत के लिए अनेकान्त जयपताका दिशासूचक यन्त्र का काम कर सकती है; क्योंकि, श्रमण-संस्कृति के पंचयाम धर्म में मानव की चेतना को अनावश्यक आग्रह से अलग कर अपेक्षित अनाग्रह के ज्योतिपथ की ओर ले चलने की अपरिमित शक्ति है। कहना न होगा कि श्रमण-संस्कृति मे जीवन के विधायक अनेक महत्त्वपूर्ण पक्ष—जैसे अवर्णवाद, धार्मिक आचरण के नाम पर हिंसा एवं परिग्रहमूलक आडम्बरो का प्रतिक्षेप, सैद्धान्तिक मतों का समन्वय, सामाजिक जीवन मे समतावाद की स्थापना के द्वारा स्त्री-पुरुषों के लिए समान प्रगति की योजना, अधिक धन का प्रत्याख्यान और प्राप्त धन का स्वामित्व-हीन समान वितरण, पूंजीवाद का विरोध, ऊंच-नीच और स्पृश्यास्पृश्य जैसी समाजोत्थान-विरोधी भावना का निराकरण आदि—प्रतिनिहित है, जिनसे उसके उदात्त दृष्टिकोण का प्रत्यक्ष परिज्ञान प्राप्त होता है।

श्रमण-संस्कृति में श्रमण, ब्राह्मण, मुनि और तापस के लिए किसी निर्धारित वेश-विशेष की आवश्यकता नही। भगवान् महावीर ने इनकी परिभाषा उपस्थित करते हुए निर्देश किया है:

न वि मुण्डिएण समणो न ओंकारेण बम्भणो।
न मुणी रण्णवासेण कुसचीरेण न तावसो।
समयाए समणो होइ बम्भचेरेण बम्भणो।
णाणेण य मुणी होइ तवेण होइ तावसो॥

निस्सन्देह, केवल सिर मुड़ा लेने से कोई श्रमण नहीं होता, न ही ओंकार के जप से ब्राह्मण। जंगल में रहने से ही मुनि नहीं होता और न कुश तथा चीवर धारण करने से तपस्वी। वस्तुतः, जो समता से सम्पन्न है, वही श्रमण है, ब्रह्मचर्य का उपासक ही ब्राह्मण है, ज्ञानी ही मुनि हैं और तप करने वाला ही तपस्वी।

इस प्रकार, श्रमण-संस्कृति ने प्रत्येक व्यक्ति को उत्थान के मार्ग का अधिकारी घोषित किया है। अपनी साधना से सर्वसामान्य व्यक्ति भी पारमैश्वर्य को सिद्धि सुलभ कर सकता है। श्रमण-संस्कृति ने ईश्वर के कर्त्तृत्व को नकारते हुए मानव के अजेय पुरुषार्थ के प्रति अडिग आस्था अभिव्यक्त की हैं। आत्मशक्ति के प्रति अविश्वास हो जाने के कारण ही वह किसी पारमेश्वरी शक्ति की कल्पना कर उसके प्रति समर्पित हो जाता है। परवर्ती-कालीन भक्त कवि चण्डीदास की प्रसिद्ध काव्य-पंक्ति—'सबार ऊपरे मानुस सत्य' मे श्रमण संस्कृति का ही उदात्त दृष्टिकोण समाहित है।

श्रमण-संस्कृति के उदात्त विचारप्रधान दार्शनिक चिंतन ने राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी को भी अनुकूलित किया था और गान्धी जी के प्रसिद्ध ग्यारह व्रतों मे प्रारम्भ के पांच व्रत भगवान् महावीर के ही पंचयाम धर्म से आकलित हैं। कहना यह चाहिए कि महात्मा गान्धी का जीवन-दर्शन श्रमण-संस्कृति के जीवन-दर्शन का ही परवर्ती व्यापक विस्तार है, जिसकी उदात्त विचारधारा परम्परानुक्रम से विकसित होकर आज की सामाजिक एवं आर्थिक अभ्युत्थानमूलक राष्ट्रीय योजना बिंश-सूत्री कार्यक्रम से आ जुड़ी है। इसलिए, यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि राष्ट्रीय अभियान के प्रत्येक पड़ाव पर या सामाजिक जीवन के हर मोड़ पर प्रगति और उत्कर्ष का मन्त्र फूकने वाली श्रमण-संस्कृति को किसी विशिष्ट देश, काल, आयु, नाम, गोत्र आदि की सीमा में रखकर देखने की अपेक्षा सम्पूर्ण विश्व के सन्दर्भ मे मंगलकारी उदात्त दृष्टिकोण का ही पर्याय समझना समीचीन है।

□□

सम्पादक, 'परिषद्-पत्रिका', बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्,
पटना-८००००४

मूर्ति-पूजा की प्रतीकात्मकता

☐ डा० भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु'

प्रतीक की स्वीकृति

मानव-संस्कृति मे प्रतीक की स्वीकृति उतनी ही प्राचीन है जितनी मानव की ज्ञान-चेतना। प्रत्यक्ष वस्तु को शब्दो द्वारा प्रकट करने की प्रथम चेष्टा ने ही प्रतीक की मान्यता का सूत्रपात किया।

प्रतीक विकास

समय के साथ प्रतीक का भी विस्तार होता गया और वह अब शब्दो तक ही सीमित न रह गया। शब्दो से अधिक सरल और सक्षिप्त प्रतीक दूसरा नही, परन्तु कभी-कभी अस्पष्ट या अदृश्य वस्तुओं का सर्वसाधारण को बोध कराने में शब्द असफल भी हो जाते है। ऐसी स्थिति में किसी वस्तु को अभीष्ट वस्तु का प्रतीक माना जाने लगा। एक वस्तु के प्रतीक के रूप में दूसरी वस्तु की ही स्वीकृति अपने-आप मे एक बहुत बडी घटना थी। प्रतीकात्मक वस्तु ही आगे चलकर दो रूपों मे परिणत हुई। उसका प्रथम रूप था—अतदाकार, जिसे हम यथार्थ शब्दो में "अनगढ़" कहे तो अधिक अच्छा होगा। मिट्टी के ढेले या पत्थर के टुकडे से पर्वत का और जल की क्षुद्र धारा से विशाल नदी का बोध कराना भी प्रतीकों मे स्थान पाता है। यही द्वितीय, तदाकार प्रतीक की मान्यता का सूत्र-पात है।

प्रतीक के विभिन्न रूप

अब हमारे समक्ष प्रतीक के तीन रूप स्पष्ट हैं :

(१) शब्दात्मक, (२) अतदाकार और (३) तदाकार। वर्तमान विचारको और दार्शनिकों के विचार से अब कदाचित् शब्दात्मक प्रतीक को प्रतीक कोटि मे न रखा जाए, पर शेष दो प्रतीक तो अब भी मान्य हैं।

मानव की विवेचनात्मक या उपयोगी-अनुपयोगी वस्तुओं में मतभेद करने की योग्यता के विकास के साथ प्रतीक-मान्यता ने भी विभिन्न रूप धारण किये। उपयोगी वस्तु का प्रतीक शुभ माना जाने लगा और अनुपयोगी वस्तु का प्रतीक अशुभ। यही से प्रतीको के प्रति सम्मान या असम्मान का भाव जागृत होता है। उपयोगी या अभीष्ट वस्तु के प्रतीक की कल्पना अधिक सुन्दर रूप मे की गयी। प्रारम्भ मे उसकी तदाकारता या अतदाकारता पर कम ध्यान दिया गया, परन्तु मानव मे ज्यों-ज्यों कला-बोध विकसित हुआ, त्यो त्यो प्रतीक की तदाकारता को महत्त्व मिलता गया। तदाकार प्रतीक को महत्त्व इसलिए भी मिला कि वह मानव-भावना को अतदाकार प्रतीक की अपेक्षा अधिक शीघ्रता एव सुन्दरता से जागृत कर लेता है।

मूर्ति-कल्पना

प्रतीक के क्षेत्र मे मानव की सुन्दरतम उपलब्धि थी—मूर्ति की कल्पना। उसने प्रारम्भ मे जब अपने सर्वाधिक प्रिय व्यक्ति को मूर्ति के रूप मे प्रस्तुत कर लिया तब वह अपनी अपूर्व सफलता पर झूम उठा होगा। मूर्ति-रूप प्रतीक की लोकप्रियता निरन्तर बढी और अब भी बढ रही है। यह प्रतीक भी समय-क्रम से शुभ एव अशुभ के रूप मे विभक्त हो चला। अशुभ वस्तु को मूर्तरूप प्रतीक देने मे मानव ने अवश्य अनुमान अनुभव किया और यही कारण है कि—अनुपयोगी या दुरुपयोगी वस्तुओं के प्रतीक या तो मूर्तरूप नही होते या उनका मूर्तरूप उतना सुघड़ तथा कलापूर्ण नही होता, जितना कि उपयोगी वस्तुओं का।

मूर्ति-पूजा का जन्म

मूर्तरूप प्रतीक चूंकि उपयोगी या अभीष्ट वस्तु का ही बनाया जाने लगा, अतः उसकी मान्यता भी बढ चली। यह मान्यता विभिन्न रूपो मे प्रकट हुई। मूर्ति को सुरक्षित तथा सुन्दर स्थान मे रखा गया। अभीष्ट प्रेरणा या शक्ति-सचार के लिए उसके सामयिक या दैनिक दर्शन का विधान किया जाने लगा। यही से "मूर्ति-पूजा" की प्रथा को जन्म मिला।

इस दृष्टि से, इतने से उद्देश्य-से ही यदि मूर्ति-पूजा स्वीकृति मान लें तो कहना होगा कि आज संसार में कदाचित् ऐसा कोई व्यक्ति नही, जो मूर्ति-पूजक न हो। परन्तु मानव ने जब जब से भौगोलिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक दृष्टियों से अपनी सीमायें संकीर्ण की या ऐसी सीमाओं का अनुभव किया, तबसे उसकी मूर्ति-पूजा ने भी देश, काल तथा परिस्थिति के अनुकूल रूप-रूपान्तर धारण किए। कही तदाकार मूर्ति-रूप प्रतीक की पूजा प्रारम्भ हुई तो कही अतदाकार मूर्ति-रूप की।

जहा तक भारत का प्रश्न है, यहा तदाकार मूर्तरूप प्रतीक को ही अधिकतर पूजा प्राप्त हुई। अब से पचास शत ब्दी पूर्व यहा मूर्ति-पूजा प्रचलित थी। उससे पच्चीस शताब्दी पश्चात् यहा उसकी जड़े इतनी गहरी जम चुकी थी कि महात्मा बुद्ध जैसे अद्भुत प्रभावशाली व्यक्ति के आदेश का उल्लंघन करके भी मनुष्य ने मूर्ति-पूजा चालू रखी।

पूजा पूज्य पुरुष की की जाती है। यदि पूज्य पुरुष विद्यमान न हो तो उसकी मूर्ति बनाकर उसके माध्यम से पूज्य पुरुष की पूजा की जाती है। तदाकार स्थापना का अभिप्राय भी ऐसा ही है।

मूर्तियों के पात्र

मूर्ति के पात्रो के रूप मे भारत मे—शिव, विष्णु, ऋषभ—पार्श्वनाथ, महावीर और बुद्ध जैसी महान् विभूतिया स्वीकृत की जाने लगी। किन्तु कदाचित् जनसख्या के विस्तार एवं रुचि-वैभिन्य के फलस्वरूप मूर्ति के पात्रो मे वृद्धि हो चली। प्राकृतिक शक्तियो को, जिन्हे अब तक शब्दात्मक या अतदाकार प्रतीक ही प्राप्त थे, अब मूर्तरूप प्रतीक प्राप्त होने लगे, यद्यपि ऐसी मूर्तियो को वह मान्यता कभी नही मिली जो पूर्व-स्वीकृत शिव आदि की मूर्तियों को प्राप्त हुई और फिर इन पात्रो की संख्या अधिक बढ़ी कि उनके प्रति पूजा की भावना अपेक्षाकृत निर्बल हो गयी। फलस्वरूप उन्हे वह अलंकरण और स्थान भी प्राप्त न हो सका जो पूर्व-स्वीकृत मूर्तियो को हुआ। यही कारण है कि अन्य मूर्तियो को पूर्व-स्वीकृत मूर्तियो के परिचायक या पूरक के रूप मे प्रस्तुत किया गया। जब एक मूर्ति के लिए मन्दिर का निर्माण किया गया तब अन्य मूर्तियों को या तो मंदिर के सज्जागत तत्त्वों मे स्थान दिया गया या मुख्य मूर्ति के समीप कही।

जैन धर्म और मूर्ति-पूजा

जैन मूर्तियो के निर्माण और उनकी पूजा-प्रतिष्ठा के विवरण प्राचीनकाल से ही प्राप्त होते है। जैन धर्म में दो प्रकार की मूर्तिया स्वीकार की गयी है—१. कृत्रिम तथा २. अकृत्रिम। जैन साहित्य में कृत्रिम मूर्तियों की अपेक्षा अकृत्रिम मूर्तियों की संख्या असंख्य गुणी वर्णित है। जैसे कृत्रिम और अकृत्रिम के भेद से मूर्तियां दो प्रकार की हुई, उसी प्रकार चैत्यालय भी दो प्रकार के होते है—१. कृत्रिम चैत्यालय एवं २. अकृत्रिम चैत्यालय।

ये चैत्यालय नन्दीश्वर द्वीप, सुमेरु, कुलाचल, वैताढ्य पर्वत, शाल्मली वृक्ष, जम्बूवृक्ष, वक्षारगिरि, चैत्यवृक्ष, रतिकरगिरि, रुचकगिरि, कुंडलगिरि, इष्वाकारगिरि, अंजनगिरि, मानुषोत्तर पर्वत, दधिमुख पर्वत, ज्योतिर्लोक, व्यन्तरलोक, स्वर्गलोक तथा भवनवासियो के पाताल लोक मे प्राप्त होते है। इन अकृत्रिम चैत्यालयों मे अकृत्रिम मूर्तियां विराजमान हैं। युग के प्रारम्भ मे सौधर्मेन्द्र ने अयोध्या में पांच मन्दिर बनाए तथा उनमें अकृत्रिम मूर्तियां स्थापित कीं।

सर्वप्रथम भरत चक्रवर्ती ने अयोध्या एवं कैलाश मे मंदिरों का निर्माण कराकर स्वर्ण और रत्नों की कृत्रिम मूर्तियां विराजमान कराई तथा जिस स्थान पर बाहुबली ने एक वर्ष तक अचल प्रतिमायोग धारण किया था, उस स्थान पर उन्ही के आकार (५२५ धनुष) की मूर्ति बनवायी। ग्रन्थों मे वर्णन प्राप्त होता है कि—द्वितीय तीर्थङ्कर अजितनाथ के समय में चक्रवर्ती सगर सुपुत्रों ने एवं २०वें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ के तीर्थ मे मुनिराज वाली एवं प्रतिनारायण रावण ने कैलाश पर्वत पर उन जिनालयो के और श्री रामचन्द्र तथा सीता ने बाहुबली स्वामी की उक्त मूर्ति के दर्शन-पूजन किए थे।

जैन धर्म में प्रतीक

प्रतीक का अस्तित्व जैन-धर्म मे आदिकाल से रहा है। शास्त्रीय विधानों के अनुसार कुछ मूर्तियां और मंदिर (जिनका उल्लेख ऊपर के अनुच्छेद में किया गया है) तो ऐसे है जो केवल प्रकृति की देन हैं[1], उनका न आदि है और न अन्त। यह दूसरी बात है कि वर्तमान मनुष्य उन तक पहुंच नहीं सका।

---

१. कृत्याकृत्रिम चारु चैत्यानिलयान् नित्यं त्रिलोकीगतान्। वन्दे भावनव्यंतरान् द्युतिवरान् स्वर्गामरावासगान्॥

मनुष्य द्वारा निर्मित प्राचीनतम जैन मूर्ति कौन है, यह विचारणीय है। पटना संग्रहालय में लोहानीपुर से प्राप्त मौर्यकालीन एक जैन मूर्ति प्रदर्शित है[1]। लोहानीपुर (पटना) में एक जैन मन्दिर की नींव भी मिली है। हड़प्पा में भी एक नग्न मूर्ति प्राप्त हुई है[2]। इन दोनों मूर्तियों में परम्परा और लक्षणों की दृष्टि से इतनी अधिक समानता है कि हड़प्पा की मूर्ति को जैन कहने में संकोच नहीं होता। स्व० प्रो० प्राणनाथ विद्यालंकार (बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय) ने सिन्धु घाटी में ही प्राप्त एक मुद्रा (क्रमांक ४४९) पर "जिनेश्व" पढ़ा था[3]। इन सबके आधार पर जैन मूर्ति की प्राचीनता अब से लगभग ५००० वर्ष पूर्व मानी जाएगी। तब से निरन्तर अनेक प्रकारीय उपादानों से मूर्तियों का निर्माण होता आया है। इस क्रम जीवन्त स्वामी की मूर्ति तथा कलिंगाधिपति खारवेल के हाथी गुम्फा अभिलेख में उल्लिखित जिन प्रतिमा के संदर्भ तथा मथुरा, देवगढ़, पभोसा आदि में उपलब्ध प्राचीन जैन मूर्तियां विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

जैन धर्म में प्राचीनकाल से तदाकार प्रतीकों के अतिरिक्त अतदाकार प्रतीकों की मान्यता भी रही है। अतदाकार प्रतीकों में मुख्य और परम्परागत है—धर्मचक्र, स्तूप, त्रिरत्न, चैत्यवृक्ष, पूर्णघट, श्रीवत्स, शराब सम्पुट, पुष्पपात्र, पुष्प पटलक, स्वस्तिक आदि। एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रतीक 'आयागपट्ट, भी रहा है। यह एक वर्गाकार या आयताकार शिलापट्ट होता है जिस पर कुछ अन्य प्रतीक उत्कीर्ण होते है। कुछ पर मध्य में तीर्थंकर की लघुमूर्ति अंकित होती है। कुछ अभिलिखित आयागपट्टों से विदित होता है कि वे पूजा के उद्देश्य से स्थापित किए जाते थे। मथुरा तथा कौशाम्बी से अनेक सुन्दर शक-कुषाणकालीन आयागपट्ट प्राप्त हुए हैं।

तीर्थंकरों के लाञ्छन भी प्रतीक कहे जा सकते हैं। पहचान के लिए तीर्थंकर का नाम या पंचकल्याणकों में से किसी एक या अधिक को मूर्ति के साथ उत्कीर्ण किया जाता था। परवर्ती काल में लाञ्छनों की व्यवस्था हुई और उन्हें मूर्तियों के पादपीठ पर उत्कीर्ण किया जाने लगा।

जैन-धर्म में समवशरण, सहस्रकूट, सिद्धचक्र, अष्टमंगल, अष्टप्रातिहार्य, सोलह स्वप्न, चरणपादुका, नवनिधि, नवग्रह आदि भी प्रतीक रूप में स्वीकृत होकर पूजित हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह सुस्पष्ट है कि—पूजा पूज्य पुरुष की होती है। पूज्य पुरुष के समक्ष न होने पर प्रतीक रूप में उसकी मूर्ति के माध्यम से उसके गुणों का स्मरण कर अपने विकास-उत्थान और कल्याण का मार्ग सुनिश्चित किया जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सांसारिक कार्य कलापों में उलझे प्राणी मूर्ति को प्रतीक रूप में ही मानते और पूजते है। इस उपासना का तात्पर्य यही है कि सर्वसाधारण प्राणी ऐसे महापुरुषों के दर्शन-पूजन से उनके चरण-चिह्नों पर चलने तथा उनकी शिक्षाओं को आत्मसात् करने की प्रेरणा प्राप्त कर सकें, जिन्होंने स्वयं अपने पुरुषार्थ से "परमात्मा पद" पाया है। क्योंकि साधना के पश्चात् वह स्वयं अनुभव करने लगेगा कि—

"य परमात्मा स एवाहं, योऽहं सः परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः॥

जो परमात्मा है वही मैं हूं, जो मैं हूं, वही परमात्मा है। मेरे और परमात्मा के स्वभाव में कोई अन्तर नहीं है। अतः मेरे द्वारा मैं स्वयं ही उपासना के योग्य हूं, अन्य कोई नहीं, वास्तविक स्थिति ऐसी ही है।

परन्तु यह मार्ग उसी साधक के लिए उपयुक्त है जो आत्मानुभव के अमृत-मार्ग में पूर्णतः प्रविष्ट हो गया है। सांसारिक विषय-वासना में व्यस्त मानव को प्राथमिक विकास का मार्ग प्रतीक रूप में प्रयुक्त मूर्तियों की पूजा-उपासना से ही प्राप्त होता है। □□

प्राध्यापक, शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
दमोह (म० प्र०)

---

१. देखिये, (अ) विंसेंट ए० स्मिथ : ए हिस्ट्री आफ फाइन आर्ट इन इंडिया एण्ड सीलोन, पृ० २० तथा फलक १०, आकृति-स। (ब) आर० सी० मजूमदार : दी एज आफ इम्पीरियल यूनीटी, पृ० ४२९।

२. देखिए, वी० ए० स्मिथ : ए हिस्ट्री आफ फाइन आर्ट इन इंडिया एण्ड सीलोन, फलक दो, आकृति स तथा ड।

३. और भी देखिए, (अ) पं० सुमेरचन्द्र दिवाकर : जैन शासन, पृ० ३१३, (ब) मुनि विद्यानन्द : श्रमण संस्कृति का इतिहास : सन्मति सन्देश (अगस्त १९६९), पृ० १३।

R. N. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक : मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७ पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट्. के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है। शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। १५-००

आप्तपरीक्षा : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००

स्वयम्भू स्तोत्र : समन्तभद्र भारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। २-००

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत, सुन्दर, जिल्द-सहित। १-५०

अध्यात्मकमलमार्तण्ड : पंचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित। १-५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १-२५

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ४-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन १-२५

अध्यात्म रहस्य : पं० आशाधर की सुन्दर कृति, मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद सहित। ... १-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। ५५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। स. प. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १२-००

न्याय-दीपिका : आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०। ७-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ५-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २०-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद। बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द ६-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ५-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : (तृतीय भाग मुद्रणाधीन) प्रथम भाग २५-००; द्वितीय भाग २५-००

Jain Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Pages 2500) (Under print)

प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के लिए रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली-२ से मुद्रित।

त्रैमासिक शोध-पत्रिका

अनेकान्त

वर्ष ३२ : किरण ३-४ जुलाई-सितम्बर १६७६

विषयानुक्रमणिका

क्र०	विषय	पृ०
१.	महावीर स्तवन	४१
२.	श्रमण परम्परा—सिद्धान्ताचार्य प० कैलाशचन्द्र जैन शास्त्री, वाराणसी	४२
३.	ध्यान विषयक महत्त्वपूर्ण जैन ग्रंथ ध्यान शतक और उसके विविध संस्करण —श्री अगरचन्द्र नाहाटा, बीकानेर	४६
४.	जैन वाङ्मय का संगीत पक्ष —श्री प्यारेलाल श्रीमाल 'सरस पंडित'	४७
५	प्राकृत का बृहद्द्रव्य-संग्रह और उसकी महत्ता — पं० नाथूराम जैन 'डोंगरीय', इन्दौर	४६
६.	महावीर सवत् : भारत का सर्वप्राचीन संवत्	५७
७.	भगवान महावीर के विचार तथा कृतित्व : समस्त विश्व के लिए अनुपम धरोहर —डा० रामकुमार वर्मा	५७ ५८
८.	जैनाचार्य और आयुर्वेद—श्री राज कुमार जैन	५६
६.	बुद्ध और महावीर—डा० देव सहाय त्रिवेद	६२
१०.	सांख्य-दर्शन मे सृष्टि-निर्माण : तुलनात्मक विवेचन —सुश्री अंजु सुराना, आगरा	६५
११.	जैन धर्म की प्रासंगिकता—डा० निजामुद्दीन	६७
१२.	जिनागम में प्रतिपादित उपचरित कथन का रहस्य—श्री महाचन्द्र जैन, इम्फाल (आसाम)	७०

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

वीर-सेवा-मन्दिर के मनस्वी महासचिव

श्री महेन्द्र सेन जैनी का देहावसान

साहित्य-जगत् एवं समाज की अपूरणीय क्षति

अत्यन्त खेद है कि वीर-सेवा-मन्दिर, दिल्ली के उदारचेता महासचिव श्री महेन्द्र सेन जैनी का दीर्घकालीन रुग्णता के पश्चात् ४ सितम्बर, १६७६ को स्वर्गवास हो गया। वे अत्यन्त धर्मात्मा, साहित्य-प्रेमी, समाजसेवी एव अध्यवसायी थे। उनके निधन से साहित्य-जगत् और समाज की जो भारी क्षति हुई है, उसकी प्रतिपूर्ति दुर्लभ है।



श्री महेन्द्र सेन जैनी

श्री जैनी का जन्म ३० जनवरी, १६२० को लखनऊ मे हुआ था। उच्च शिक्षा संप्राप्ति के पश्चात् आपने सक्रिय जीवन में प्रवेश किया तथा पूर्ण लगन और अनवरत अध्यवसायपूर्वक आपने विभिन्न कार्य-क्षेत्रों मे पूर्ण सफलता प्राप्त की एवं ऊंचे-से-ऊंचे पदों को सुशोभित किया। आप सरिता एव कारवा नामक पत्रिकाओं में सेक्रेटरी रहे और तत्पश्चात् भारत सरकार के "सैनिक समाचार" नामक पत्र में आपने विज्ञापन प्रबन्धक के पद पर श्लाघनीय कार्य किया। तदनन्तर आपने अनेक वर्ष पर्यन्त भारत सरकार के प्रकाशन विभाग (सूचना एव प्रसारण मन्त्रालय) मे सहायक व्यापार प्रबन्धक और तदुपरान्त व्यापार प्रबन्धक जैसे गरिमापूर्ण पदो पर कार्य किया। इसके बाद आपने विधि, न्याय और कम्पनी कार्य मन्त्रालय के विधि-साहित्य-प्रकाशन मे प्रकाशन एव विक्रय प्रबन्धक के महत्वपूर्ण पद पर कार्य किया और वही से १ फरवरी, १६७८ को आप सेवा-निवृत्त हुए।

सामाजिक क्षेत्र मे भी श्री जैनीअनेक महत्वपूर्ण सस्थाओं से सम्बद्ध रहकर महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। आप जैन सभा, दरियागज, दिल्ली के अनेक मत्र पर्यन्त मन्त्री रहे तथा आपने लगभग १० वर्ष पर्यन्त जैन हायर सेकण्डरी स्कूल, दरियागज, दिल्ली के मत्री एव प्रबन्धक के उत्तरदायित्वपूर्ण पदों पर रहकर सराहनीय कार्य किया। तदुपरान्त आप जैन समाज की एकमात्र शोधपीठ वीर-सेवा-मन्दिर के अनेक सत्र पर्यन्त महासचिव रहे और जीवन के अन्तिम क्षण तक भी आप इस महत्वशाली कार्य का निर्वाह करते रहे।

साहित्य-साधना के क्षेत्र मे भी आपने अनेक सराहा कार्य किए। आपने विविध सांस्कृतिक, सामाजिक, सैद्धान्तिक आदि विषयो पर महत्वपूर्ण लेख लिखे जो समय-समय पर विभिन्न पत्र-लोकप्रिय पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित होते रहे। आपने अनेक पुस्तको का प्रणयन एव सम्पादन भी किया जो आपके ज्ञान-गाम्भीर्य और विश्लेषक बुद्धि के परिचायक है। आपने भारत सरकार द्वारा प्रकाशित "हिन्दी विधि समाचार" नामक पत्र के अनेक वर्ष तक सम्पादक रह कर सरकारी क्षेत्र में हिन्दी के प्रचार और प्रसार मे प्रशसनीय योगदान किया।

श्री जैन के विविध सेवाकार्यों का पावन पुण्य करते हुए शोकाकुल वीर-सेवा-मन्दिर एव अनेकान्त परिवार भगवान जिनेन्द्र से प्रार्थना करता है कि दिवंगत आत्मा को सुगति तथा शान्ति प्राप्त हो। और उनके शोकार्त परिवार को यह दारुण दुख सहन करने का बल और धैर्य प्राप्त हो।

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३२ किरण ३ और ४ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | जुलाई-दिसम्बर १९७९
वीर-निर्वाण सवत् २५०५, वि० स० २०३५

महावीर स्तवन

णमो जिणाणं वड्ढमाणं. जिय भयाणं ।
महावीरा मगलम्, महावीरा लोगुत्तमा, महावीरे सरणं गच्छामि ।
णिस्संसयकरो महावीरो जिणुत्तमो ।
रागदोस-भयादोदो धम्म-तीत्थस्स कारओ ॥
इक्कोवि णमुक्कारो जिणवर वसहस्स वध्धमाणस्स ।
संसार सागराओ तारेइ नरं वा नारि वा ॥
सव्वण्णु सोमदंसण अपुणभव भवियजण-मणाणन्द ।
जय चिन्तामणि जगयगुरू जय जय जिण वीर अकलक ॥

—अज्ञात

आतिथ्यं रूपमासरं महावीरस्य नग्नहु । रूपमुपसदामेतत्तिस्रो रात्रोः सुरासुता ॥

—यजुर्वेद, अ. १९, मं. १४

निगठो आवुसो नातपुत्तो सव्वज्ञु सव्वदरस्सी । अपरिसेसे णाण दंस्सण परिजानाति ॥

—मज्झिमनिकाय, भा-१

भयादिक समस्त विकार भावो के विजेता वर्द्धमान जिनेन्द्र को नमस्कार हो; भगवान महावीर मगल स्वरूपी है, लोकोत्तम है, उन्ही की शरण मुझे प्राप्त हो ।

संशयो के निर्मूल करने मे वीर, जिनोत्तम भगवान महावीर राग द्वेष भय आदि विकारो मे रहित है—अतीत है; वे धर्मतीर्थ के कर्ता या संस्थापक है ।

जिनेन्द्र भगवान ऋषभदेव (प्रथम तीर्थंकर) अथवा वर्द्धमान महावीर (अंतिम तीर्थंकर) को एक बार भी भावपूर्वक नमस्कार करने से नर हो या नारी, ससार सागर से तिर जाते है—पार हो जाते है। सर्वज्ञ, सोमदर्शन, अपुनर्भव, भव्य जन-मनान्द, चिन्तामणि, जगद्गुरु, अकलक वीर जिनेन्द्र की जय हो, जय हो, जय हो !

अतिथि स्वरूप पूज्य मासोपवासी नग्न (दिगम्बर) महावीर की उपासना करो, जिसमे (सशय-विपर्यय-अनध्यवसाय रूप) तीन अज्ञान, अथवा (धन-शरीर-विद्या रूप) मदत्रय की उत्पत्ति नही होती ।

आयुष्मान निर्गन्थ ज्ञातपुत्र (भगवान महावीर) सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है । अपने अपरिशेष (अनन्त) ज्ञानदर्शन द्वारा वह सब कुछ जानते-देखते है ।

□□□

श्रमण परम्परा

☐ सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र जैन शास्त्री, वाराणसी

भगवान महावीर का जन्म इसी बिहार प्रदेश में हुआ था। इसी प्रदेश में कठोर तपस्या के द्वारा उन्होने केवलज्ञान प्राप्त किया था। इसी प्रदेश के विपुलाचल पर उनकी प्रथम धर्म-देशना हुई थी और जिस लोक भाषा मे हुई थी उसका नाम भी इसी प्रदेश के नाम पर अर्धमागधी है और इसी प्रदेश से उन्होंने निर्वाण लाभ किया। इस तरह यह प्रदेश भगवान महावीर के जीवन के साथ इतना सुसम्बद्ध है कि न तो इस प्रदेश के बिना भगवान महावीर को देखा जा सकता है और न महावीर के बिना इस प्रदेश की ही गरिमा का अनुमान किया जा सकता है।

तीर्थंकर तो अनेकों हुए किन्तु जिनके पांचो कल्याणक अपने जन्म प्रदेश मे ही हुए ऐसे एकाकी तीर्थंकर महावीर ही है। सर्वस्व त्यागकर देने पर भी मानो वह अपनी इस जन्मभूमि का मोह नही त्याग सके थे। मातृभूमि और मातृभाषा सचमुच मे माता से भी बढ़ कर है।

मनीषियो का विचार है कि अङ्ग, मगध, काशी, कोसल और विदेह मे वैदिक सभ्यता का प्रवेश बहुत काल पश्चात् हुआ था। शत ब्रा० (१-४-१) मे लिखा है कि 'सरस्वती नदी से अग्नि ने पूर्व की ओर प्रयाण किया। उसके पीछे विदेथ माथव और गोतम राहुगण थे। सबको जलाती और मार्ग की नदियो को सुखाती हुई वह अग्नि सदानीरा के तट पर पहुची। उसे वह नही जला सकी: तब माथव ने अग्नि से पूछा 'मैं कहा रहू" तो उसने उत्तर दिया कि "तेरा निवास इस नदी के पूरब मे हो"। अब तक भी यह नदी कोसलों और विदेहों की सीमा है।'

इसे वैदिक आर्यों के सरस्वती नदी तट से सदानीरा के तट तक बढने के रूप मे लिया जाता है। बहुत समय तक यह नदी आर्यों के संसार की सीमा मानी जाती थी। इसके आगे यथेच्छ उनका आना जाना था?

बृहदारण्यक उपनिषद् शतपथ ब्राह्मण का अन्तिम भाग माना जाता है। इसी से विद्वान उसका रचना काल आठवी शताब्दी ईस्वी पूर्व मानते है। यही समय भगवान महावीर के पूर्वज तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ का है जो काशी नगरी मे जन्मे थे। उनके जीवन की घटना है कि एक दिन वह गंगा के तट पर गये। वहा कुछ तापस पञ्चाग्नि तप करते थे। बृहदारण्यक उपनिषद् (४-३-१२) मे ही हम तापसो और श्रमणो का निर्देश मात्र पाते है। याज्ञवल्क्य जनक से आत्मा का स्वरूप बतलाते हुए कहते है कि इस सुषुप्तावस्था मे श्रमण अश्रमण और तापस अतापस हो जाता है।

शतपथ ब्राह्मण मे ही तप से विश्व की उत्पत्ति बतलाई है। प्रतिदिन अग्निहोत्र करना एक प्रधान कर्म था। इसकी उत्पत्ति की कथा इस प्रकार बतलाई है—"प्रारम्भ में प्रजापति एकाकी था। उसकी अनेक होने की इच्छा हुई। उसने तपस्या की। उसके मुख से अग्नि उत्पन्न हुई। चूंकि सब देवताओं मे अग्नि प्रथम उत्पन्न हुई इसी से उसे अग्नि कहते है। उसका यथार्थ नाम अग्रि है। मुख से उत्पन्न होने के कारण अग्नि का भक्षक होना स्वाभाविक था। किन्तु उस समय पृथ्वी पर कुछ भी नही था। अत: प्रजापति को चिन्ता हुई। तब उसने अपनी वाणी की आहुति देकर अपनी रक्षा की। जब वह मरा तो उसे अग्नि पर रखा गया। किंतु अग्नि ने उसके शरीर को ही जलाया। अतः प्रत्येक व्यक्ति को अग्निहोत्र करना चाहिए।' यदि नया जीवन प्राप्त करना चाहते हो तो अग्नि होत्र करो।

ऋग्वेद का पहला मन्त्र है 'अग्निमीडे पुरोहितम्। यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतार रत्नधातमम्। अग्नि देवो के पुरोहित है। पुरोहित का अर्थ है आगे रखा हुआ। अग्नि में आहुति देकर ही देवों तुष्ट किया जा सकता है।

ब्राह्मण ग्रंथो के काल में यज्ञों का प्राधान्य रहा। उनके पश्चात् आरण्यको का समय आता है। देवता विशेष

के उद्देश्य से द्रव्य का त्याग ही यज्ञ है यह आरण्यकों को मान्य नही है। ब्राह्मण ग्रंथो का सर्वोच्च लक्ष्य स्वर्ग था और उसकी प्राप्ति का मार्ग था यज्ञ। किन्तु आरण्यको में यह बात नही है। तैत्तिरीय आरण्यक में ही प्रथम बार श्रमण शब्द तपस्वी के अर्थ मे आया है।

ऋग्वेद के सकलयिता ऋषि अरण्यवासी ऋषियो से भिन्न थे। वे अरण्य मे नही रहते थे। वैदिक साहित्य मे अरण्य शब्द के जो अर्थ पाये जाते है उनमे इस पर प्रकाश पडता है कि ऋग्वेद मे गांव के बाहर की बिना जुती जमीन के अर्थ मे अरण्य शब्द का प्रयोग हुआ है। शतपथ ब्राह्मण मे (५-३-३५) लिखा है 'अरण्य मे चोर बसते है।' बृहदा 'उप' (५-११) में लिखा है "मुर्दे को अरण्य मे ले जाते है", किन्तु छा० उप.(८।५।३) मे लिखा है कि अरण्य में तपस्वी जन निवास करते है।

विद्वानो का मत है कि जब वैदिक आर्य पूरब की ओर बढे तो यज्ञ पीछे रह गये और यज्ञ का स्थान तप ने ले लिया। किन्तु तप को स्वीकार करने पर भी आर्य देवताओ के पुरोहित अग्नि को नही छोड़ सके, अतः पञ्चाग्नि तप प्रवर्तित हुआ। भगवान पार्श्वनाथ को गंगा के तट पर पञ्चाग्नि तप तपने वाले ऐसे ही तपस्वी मिले थे।

चार आश्रमो की व्यवस्था भी चिन्त्य है। ब्राह्मण को ब्रह्मचारी और गृहस्थ के रूप में जीवन बिताने के बाद सन्यासी हो जाना चाहिए यह नियम है वैदिक साहित्य में नहीं मिलता। पौराणिक परम्परा के अनुसार राज्य त्याग कर वन में चले जाने की प्रथा क्षत्रियो मे प्रचलित थी।

कवि-कुलगुरु कालिदास ने रघुवश मे रघुओ का वर्णन करते हुए कहा है—

शैशवेऽभ्यस्तविद्याना यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धक्ये मुनिवृत्तीना योगेनान्ते तनु त्यजाम्॥

अर्थात् शैशवकाल में विद्याभ्यास करते है, यौवन मे विषय-भोग भोगते है, वृद्धावस्था में मुनिवृत्ति अर्थात् वानप्रस्थाश्रम में रहते है और अन्त में योग के द्वारा शरीर त्याग करते हैं।

गौतम धर्म सूत्र (८/८) में एक प्राचीन आचार्य मत दिया है कि वेदो को तो एक गृहस्थाश्रम ही मान्य है। अथर्ववेद और ब्राह्मण ग्रंथो में ब्रह्मचर्याश्रम का विशेषतः उपनयन का विधान है किन्तु चार आश्रमों का उल्लेख छा० उप० में है। बाल्मीकि रामायण में किसी सन्यासी के दर्शन नहीं होते, सर्वत्र वानप्रस्थ मिलते हैं।

लोकमान्य तिलक ने अपने गीता रहस्य में लिखा है-वेद संहिता और ब्राह्मणों में सन्यास को आवश्यक नहीं कहा। उल्टे जैमिनि ने वेदों का यही स्पष्ट मत बतलाया है कि गृहस्थाश्रम में रहने से ही मोक्ष मिलता है (देखो वेदान्तसूत्र ३,४,१७,२०) और उनका यह कथन कुछ निराधार भी नही है क्योकि कर्मकाण्ड के इस प्राचीन मार्ग को गौण मानने का प्रारम्भ उपनिषदो में ही पहले पहल देखा जाता है। उपनिषत्काल में ही यह मत अमल में आने लगा कि मोक्ष पाने के लिए ज्ञान के पश्चात् वैराग्य से कर्म सन्यास करना चाहिए।' इत्यादि

किन्तु प्राचीन उपनिषदो मे वही पुरानी ध्वनि मिलती है–शतपथ ब्रा० (१३, ४-१-१) में लिखा है–'एतद् वै जरामर्यं सत्रं यद् अग्निहोत्रम्' अर्थात् जब तक जियो अग्नि अग्नि होत्र करो। ईशा-उप में कहा है 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शत समाः' अर्थात् एक मनुष्य को अपने जीवन भर कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करनी चाहिए। बौधायन और आपस्तम्ब सूत्रो में भी गृहस्थाश्रम को ही मुख्य कहा है। स्मृतियो की भी कुछ ऐसी ही स्थिति है। मनुस्मृति में सन्यास आश्रम का कथन करके भी अन्य आश्रमो की अपेक्षा गृहस्थाश्रम को ही श्रेष्ठ कहा है।

इसके विपरीत जैन धर्म के अनुसार, श्रमण-धर्म को अपनाये बिना मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नही है। गृहस्थ धर्म मुनि का लघुरूप है और जो मुनि धर्म को पालन करने में असमर्थ होता है वह गृहस्थ धर्म का पालन करता है।

आचार्यकल्प आशाधर ने कहा है—

त्याज्यानजस्रं विषयान् पश्यतोपि जिनाज्ञया।
मोहात्त्यक्तुमशक्तस्य गृहिधर्मोऽनुमन्यते॥

जो जिन देव के उपदेशानुसार ससार के विषयों को त्याज्य जानते हुए भी मोहवश छोडन मे असमर्थ है उसे गृहस्थ धर्म का पालन करने की अनुमति दी जाती है।

जैन धर्म के पांच व्रत प्रसिद्ध है : अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अनेकान्त और अपरिग्रह। इनका सर्वदेशपालन श्रमण करते हैं और एक-देश गृहस्थ पालता है। अतः श्रमणों के व्रतों को महाव्रत और गृहस्थो के व्रतो को अणुव्रत कहते हैं। भगवान् ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थङ्करों ने गृहवास छोड़कर श्रमणधर्म को अङ्गीकार किया था।

श्रीमद्भागवत मे ऋषभदेव का जो चित्रण है वह भी जैन मान्यता का ही समर्थन करता है। उसमे उनकी तपस्या का वर्णन करते हुए कहा है—उस समय केवल शरीर मात्र उनके पास था और वे दिगम्बर वेश मे नग्न विचरण करते थे। मौन मे रहते थे। कोई डराये मारे, ऊपर थूके, पत्थर फेंके, मूत्र-विष्टा फेंकता इन सबकी ओर ध्यान नही देते थे। यह शरीर असत् पदार्थों का घर है ऐसा समझकर अहंकार-ममकार का त्याग करके अकेले भ्रमण करते थे। उनका कामदेव के समान सुन्दर शरीर मलिन हो गया था, आदि।

इसी मे यह भी कहा है कि वातरशन श्रमणों के धर्म का उपदेश देने के लिए उनका अवतार हुआ। जन्महीन ऋषभदेव जी का अनुकरण करना तो दूर अनुकरण करने का मनोरथ भी कोई अन्य योगी नही कर सकता, क्योंकि जिस योगबल को ऋषभ जी ने असार समझकर ग्रहण नहीं किया, अन्य योगी उसी के पाने की चेष्टायें करते हैं।

जैन ग्रन्थो मे ऋषभ को हिरण्य-गर्भ भी कहा है क्यो कि उनके गर्भ मे आने पर आकाश से स्वर्ण की वर्षा हुई थी। यथा—

'गब्भट्ठियस्स जस्स उ हिरण्णवुट्ठी सकंचणापडिया।
तेण हिरणगब्भो जयम्मि उवगिज्जए उसभो॥

अर्थात् जिसके गर्भ मे आने पर सुवर्ण की वृष्टि हुई उसी से ऋषभ जगत मे हिरण्यगर्भ कहलाये।

ऋग्वेद मं० १०, सूत्र १२१ की पहली ऋचा इस प्रकार है—

'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

इसमें कहा गया है कि पहले हिरण्यगर्भ हुए। वह प्राणीमात्र के एक स्वामी थे। उन्होंने आकाश सहित पृथ्वी को धारण किया।

उधर महाभारत, शान्तिपर्व अ० ३४९ मे हिरण्यगर्भ को योग का वक्ता कहा है—

"हिरण्यगर्भः योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।"
अर्थात् हिरण्यगर्भ योग-मार्ग के प्रवर्तक है अन्य कोई उनसे प्राचीन नही है, तो क्या ऋषभ ही तो हिरण्यगर्भ नही है?

भगवान् ऋषभ इक्ष्वाकुवंशी थे। इक्ष्वाकु मूलतः पुरु राजाओ की एक परम्परा थी। यद्यपि ऋग्वेद मे पुरुओ को सरस्वती के तट पर बतलाया है। किन्तु उत्तर इक्ष्वाकुओं का सम्बन्ध अयोध्या मे था। जैन शास्त्रो मे अयोध्या को ही ऋषभदेव का जन्म स्थान माना गया है। उधर सांख्यायन श्रौत सूत्र मे हिरण्यगर्भ को कौशल्य कहा है। अयोध्या को कोशलदेश मे कहा है। अतः कोशल देश में जन्म लेने से ऋषभदेव का कौशल्य कहा जा सकता है। इस तरह के योग के वक्ता हिरण्यगर्भ के साथ योगी ऋषभ की एकरूपता अन्वेषणीय है।

सिन्धु घाटी के उत्खनन के सहयोगी रामप्रसाद चंदा ने अपने एक लेख मे लिखा है—'मोहनजोदड़ो से प्राप्त लाल पाषाण की मूर्ति, जिसे पुजारी की मूर्ति समझ लिया गया है, मुझे एक योगी की मूर्ति प्रतीत होती है और वह मुझे इस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए प्रेरित करती है कि सिन्धुघाटी मे उस समय योगाभ्यास होता था और योगी की मुद्रा मे मूर्तियाँ पूजी जाती थी। मोहें-जोदड़ो और हरप्पा से प्राप्त मोहरे, जिन पर मनुष्य रूप मे देवो की आकृति अंकित है, मेरे इस निष्कर्ष को प्रमाणित करती है।

सिन्धुघाटी मे प्राप्त मोहरो पर बैठी अवस्था मे अंकित मूर्तियां ही योग की मुद्रा मे नही हैं किन्तु खड़ी अवस्था मे अंकित मूर्तियां भी योग की कायोत्सर्ग मुद्रा को बतलाती है। मथुरा म्यूजियम मे दूसरी शती की कायोत्सर्ग मे स्थित एक ऋषभदेव जिन की मूर्ति है। इस मूर्ति की शैली सिन्धु मे प्राप्त मोहरो पर अंकित खड़ी हुई देव मूर्तियो की शैली मे बिलकुल मिलती है।

ऋषभ या वृषभ का अर्थ बैल होता है और ऋषभदेव तीर्थङ्कर का चिह्न बैल है। मोहर नं ३ से ५ तक के ऊपर

अंकित देवमूर्तियो के साथ बैल भी अंकित है जो ऋषभ का पूर्वरूप हो सकता है।

इसी पर डा० राधाकुमद मुकर्जी ने अपनी हिन्दु सभ्यता नामक पुस्तक मे लिखा है—'श्री चन्दा ने ६ अन्य मुहरो पर खड़ी हुई मूर्तियो की ओर भी ध्यान दिलाया है। फलक १२ और ११८ आकृति ७ (मार्शलकृति, मोहेजोदडो) कोयत्सर्ग नामक योगासन मे खडे हुये देवताओ को सूचित करती है। यह मुद्रा जैन योगियो की तपश्चर्या मे विशेष रूप से मिलती है, जैसे मथुरा संग्रहालय मे स्थापित तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेव की मूर्ति मे ऋषभ का अर्थ है बैल जो आदिनाथ का लक्षण है। मुहर संख्या एफ० जी० एच० फलक दो पर अंकित देवमूर्ति मे एक बैल ही बना है। सम्भव है यह ऋषभ का ही पूर्वरूप हो। यदि ऐसा हो तो शैवधर्म की तरह जैन धर्म का मूल भी ताम्रयुगीन सिन्धु सभ्यता तक चला जाता है। (हि० स० २३-२४)

उक्त तथ्यो के प्रकाश मे जैन धर्म के प्रथम तीर्थङ्कर योगी ऋषभ देव का स्थिति पुरातत्वज्ञो के लिए अन्वेषण का रुचिकर विषय हो सकती है, और उनकी स्थिति स्पष्ट होने पर श्रमण परम्परा के उद्गम पर भी प्रकाश पड सकता है। श्रीमद् भागवत् मे जो 'वातरशनना श्रमणा-नामृषीणा' आदि लिखा है ये शब्द अनुसन्धान की दृष्टि से महत्व के है।

तैत्तिरीय आर० मे भी इसी प्रकार कहा है—'वात रशनाह ऋषयः श्रमणा उर्ध्वमन्थिनो बभुवुः' (२—७)।

ऋग्वेद (१०-१३६-२) मे भी मुनियो के लिए वातरशना कहा है। अथर्ववेद (२।५।३) मे इन्द्र के द्वारा यतियो का वध किये जाने की कथा आती है। यह कथा एतेरय आ० (७-२८) और पञ्चविंश ब्रा० (१३।४।७, ८।१।४) मे भी आई है। सायण ने अपने भाष्य में लिखा है—

'यतिर्न यतयो नाम नियम शीला आसुर्या प्रजा।··· यद्वात्र यति शब्देन वेदान्तार्थ विचार शून्याः परिव्राजका विवक्षिता। (अथर्व०), अर्थात् यति माने व्रत नियम का पालन करने वाले असुर लोग। अथवा यहाँ यति शब्द से वेदान्त के विचार से शून्य परिव्राजक लेना चाहिए।

पंचविंश ब्राह्मण की व्याख्या में सायण ने एक स्थान पर यति का अर्थ 'यजनविरोधी जनाः' किया है अर्थात् इन्द्र ने जिन यतियो को मारा वे सब यज्ञयागादि विरोधी और वेद विरुद्ध व्रतनियमादि का पालन करने वाले थे।

ऋग्वेद के वातरशन मुनि, तै० आ० के वातरशन श्रमण भिन्न प्रतीत नही होते। वे ही सम्भवतः यति भी हो। श्रीमदभागवत में उन्ही वातरशन श्रमणों के धर्म के साथ ऋषभावतार को जोडा गया है। यह आकस्मिक प्रतीत नही होता। इन सबके प्रकाश में श्रमण परम्परा की प्राचीनता के दर्शन होते है। उसी परम्परा को भगवान् महावीर ने अपनाकर आज से २५०५ वर्ष पहले पावा से निर्वाण लाभ किया था। हम उनकी उस शुद्ध-बुद्ध आत्मा को नमन करके अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करते है।

□

'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान-वीर सेवामन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली
मुद्रक-प्रकाशन—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त
प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक श्री ओमप्रकाश जैन
राष्ट्रिकता—भारतीय पता—२३, दरियागंज दिल्ली-२
सम्पादक—श्री गोकुलप्रसाद जैन
राष्ट्रिकता—भारतीय पता—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज नई दिल्ल-२
स्वामित्व वीर सेवा मन्दिर, २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

मैं, ओमप्रकाश जैन, एतद्द्वारा घोषित करता हू कि मेरी पूर्ण जानकारी एव विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विरण सत्य है।

—ओमप्रकाश जैन, प्रकाशक

□

ध्यान विषयक महत्त्वपूर्ण जैनग्रंथ ध्यानशतक और उसके विविध संस्करण

☐ श्री अगरचन्द नाहटा, बीकानेर

[यह आवश्यक नही कि सम्पादन-मण्डल विद्वान् लेखक के सभी विचारों से सहमत हो—सम्पादक]

जैन आगमो से यह तो भली-भांति विदित है कि भ० महावीर की साधना का मुख्य केन्द्र 'ध्यान' था। साढ़े बारह वर्षों के साधना-काल मे उन्होने अधिक से अधिक समय ध्यान और मौन मे बिताया था। उन्होने ध्यान करते-करते ही कैवल्य ज्ञान प्राप्त किया था और अपने साधु-साध्वियों के लिए, आठ प्रहर मे से चार प्रहर स्वाध्याय, दो प्रहर ध्यान, एक प्रहर निद्रा, एक प्रहर आहार आदि शारीरिक कार्यों के लिए निहित किए थे। आभ्यतरिक तप मे भी उन्होने स्वाध्याय और ध्यान को तप में सम्मिलित किया है। छह आवश्यकों मे भी कायोत्सर्ग-ध्यान नित्य करने को एक आवश्यक कार्य बतलाया गया है। खेद है आगे चलकर ध्यान की वह परम्परा जैन धर्म मे कम होती गई। बौद्ध धर्म मे आज भी ध्यान का एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय विद्यमान है, जिसकी एक प्रक्रिया विपासना का प्रचार श्री सत्य-नारायण जी गोयन्दका अभी भारत मे जगह-जगह कर रहे है एव उससे लोगो को बडी शान्ति मिलती है।

समय-समय पर ध्यान की साधना करने वाले कई जैन सन्त हुए हैं और कइ लेखकों ने इस विषय पर छोटे-बड़े ग्रन्थ लिखे है। जहाँ तक मेरी जानकारी है, ध्यान विषयक प्राप्त ग्रथो मे सबसे पहला ग्रथ 'ध्यान शतक" है। इसका मूलनाम ध्यानाध्ययन है। प्राकृत भाषा की एक सो पाच गाथाओं का यह ग्रंथ है। इस पर आ० हरिभद्रसूरिजी सक्षिप्त टीका संस्कृत मे छप चुकी है। पर हिन्दी-गुजराती मे इसी ग्रथ का विवेचन प्रकाशित न होने के कारण साधारण जनता के लिए यह सुलभ और सहज नही था। इधर छह-सात वर्ष के भीतर इस ग्रंथ के कई महत्वपूर्ण संस्करण प्रकाशित हो चुके है। उनकी जानकारी इस लेख मे इसीलिए दे रहा हूं कि इस विषय मे रुचि रखने वाले इन प्रकाशित सस्करणों को सभी का पूरा लाभ उठायें।

श्वे० मान्यतानुसार इस ग्रन्थ के अन्त मे एक ऐसी गाथा मिलती है जिसमे ग्रन्थकर्ता का नाम जिनभद्र श्रमण पाया जाता है। इस नाम वाले आचार्य छठी-सातवी शताब्दी मे हो गये है, जिनके रचित विशेष भाष्य बहुत ही प्रसिद्ध ग्रन्थ हे। इस ग्रथ के महत्व के सम्बन्ध में विचारक विद्वान मुनि नथमलजी ने कहा है 'इस ग्रन्थ के पढने से लगता है कि इसके रचयिता जैन-ध्यान प्रणाली के विशेष ज्ञाता और पुरस्कर्ता थे। वे स्वय ध्यान के क्रियात्मक और सैद्धांतिक पक्ष के पारगामी विद्वान् थे। ध्यान के क्रियात्मक अनुभव के बिना, इतनी सूक्ष्मता से निरूपण होना असम्भव है। जब तक ध्यान सिद्ध नही होता तब तक उसके निरूपण मे वह सूक्ष्मता या सत्यता प्रकट नही हो सकती।" यह ग्रन्थ अपने आप मे पूरा ग्रथ है। इस पर यदि विस्तार से व्याख्या-ग्रन्थ लिखा जाय तो ध्यान के क्षेत्र मे कई नये तथ्य प्रकट हो सकते है।"

१. मुनि छुल्लकराज जी ने मुनि नथमलजी से प्रेरणा प्राप्त करके सन् १९७१ मे इसका हिन्दी एवं अग्रेजी मे अनुवाद करके मूल सहित आदर्श साहित्य सघ, चूरू से सन् १९७२ मे प्रकाशित करवाया। मूल्य १) है। उसके प्रारम्भ के 'दो शब्द' में उन्होने इस ग्रन्थ के एक अन्य सस्करण की सूचना भी दी है।

२. "अभी-अभी प्रो. एस. के. रामचन्द्र राव ने इस ग्रन्थ पर कार्य किया है और उसको ओरिएण्टल रिसर्च इस्टीटयूट, मद्रास से छपाया भी है। उसमें 'ध्यान-शतक' का मूल, हरिभद्र वृत्ति, अग्रेजी-अनुवाद और सक्षिप्त

(शेष पृष्ठ ४८ पर)

जैन वाङ्मय का संगीत पक्ष

☐ श्री प्यारेलाल श्रीमाल 'सरस पंडित'

भारतीय संगीत की सुदीर्घ परम्परा में जैन मनीषियों ने भी समय-समय पर योगदान किया है। संगीत सम्बन्धी जैन ग्रन्थों के अवलोकन से तत्कालीन गीत, वाद्य एवं नृत्य-पद्धति की पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। प्राचीन शास्त्रकारों से लेकर आज के स्तवन रचयिताओं तक के जैन विद्वानों ने संगीत कला की अकथनीय सेवा की है।

जैन परम्परा के अनुसार संगीत के प्राचीन आचार्यों में भरत तथा विशाखिल का स्थान सर्वोपरि है। भरत के शिष्य दत्तिल कोहल तथा विशाखिल तीनों ने संगीत ग्रंथों की रचना की थी। तीनों ग्रन्थों का नाम क्रमशः दत्तिलम्, कोहलियम् तथा विशाखिलम् था। 'विशाखिलयम्' ग्रन्थ अप्राप्य है। अर्धमागधी (प्राकृत) में रचित 'अनुयोगद्वारसुत्त' में पद्यबद्ध संगीत विषयक सामग्री उपलब्ध होती है। यह सूत्र ईसा की पहली शताब्दी की रचना मानी जाती है। जैन आगमों की रचना का क्रमिक विकास भगवान महावीर स्वामी के निर्वाण के उपरान्त ईसवी पूर्व चौथी शताब्दी से लेकर ईसा की प्रथम शताब्दी तक अनवरत रूप से चलता रहा तथा ईसा की छठी शताब्दी तक वर्तमान स्वरूप को प्राप्त हुआ। 'अनुयोगद्वारसुत्त' के अतिरिक्त 'ठाणांगसुत्त', 'नन्दीसुत्त', 'कल्पसुत्त', 'रायपसेणीय' आदि ऐसे जैन ग्रन्थ हैं जिनमें संगीत विषयक सामग्री प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती है।

'अनुयोगद्वारसुत्त' में स्वर, गीत, वाद्य, मूर्छना आदि का सूत्रबद्ध विवरण दिया गया है, किन्तु मूर्छनाओं के नामों का क्रम भरत के समान नहीं है। 'रायहसेणीय' के अनुसार, आचार्यों के तीन वर्ग माने जाते थे—कलायरिय (कलाचार्य), सिप्पायरिय (शिल्पाचार्य) तथा धम्मायरिय (धर्माचार्य)। गायन, वादन और नृत्य का उल्लेख इस प्रकार मिलता है—'नट्टं गीत वाईय सरगमं पुक्खरगय समतालं' (राय, पृ० १६७)। 'ठाणांगसुत्त' में स्वरोत्पत्ति, पशु-पक्षियों की ध्वनि से सप्तस्वरों का सम्बन्ध, मानव-स्वभाव से स्वरों का सम्बन्ध, ग्राम मूर्छनाएँ, गीत के गुण-दोष आदि का विवेचन दिया गया है। उदाहरणार्थ—

सज्जं तु अग्गजं आए उरेण रिसभं सरम्।
कण्ठुग्गएण गधारं मज्झ जिब्भाए मज्झियम्॥
नासाए पंचमं बूया दतोठेणय धैवयम्।
मुद्धाणेपयेण सायं सरठाणा वियाहिया॥

अर्थात् षड्ज अग्रज है, उर स्थान से ऋषभ, कण्ठ से गान्धार, मध्य से मध्यम, नासा से पंचम एवं दन्तोष्ठ से धैवत का उद्भव होता है।

सज्जं रवइ मयूरो ककुभो ऋषभं स्वरम्।
हंसो णदई गधारं मज्झिमं तु गवं लगा॥
अटट कुमभसंभवं काले कोइला पंचमं सरम्।
छठं च सारसा कोंचा णेसाय सत्तमैगमन॥

अर्थात् षड्ज ध्वनि मयूर की, ऋषभ कुक्कुट की, गान्धार हंस की, मध्यम गौओं की, पंचम कोकिल की, धैवत क्रौंच की तथा निषाद सारस पक्षी की ध्वनि है।

सूत्र के अनुसार गीत के छः दोष तथा आठ गुण बताए गए हैं—डर कर गाना, शीघ्र गाना, धीरे गाना, तालरहित गाना, काक स्वर से गाना तथा नाक से गाना। आठ गुण हैं—पूर्ण कला से गाना, राग को रजक बनाकर गाना, अन्य स्वर विशेष से अलंकृत करके गाना, स्पष्ट गाना, आक्रोशविहीन स्वर में गाना, मधुर स्वर में गाना, तालयुक्त गाना तथा सुकुमार रीति में गाना।

जैन आगमों के सार्वजनिक प्रचार हेतु 'चलित' नामक गीतों का प्रयोग किया जाता था। जैन सूत्रों के पठन-पाठन हेतु वैदिक साहित्य की उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित वाली स्वरोच्चारण प्रणाली प्रयुक्त थी। 'रायपसेणीय' तथा 'अनुयोगद्वार' के अतिरिक्त 'वियाहपण्णत्ति', 'जीवाभिगम', 'जम्बूद्दीवपण्णत्ति' आदि जैन ग्रन्थों में तत्कालीन प्रचलित वाद्यों का उल्लेख मिलता है

'ठाणांगसुत्त' के संस्कृत टीकाकार अभयदेव के अनुसार चौदह पुव्व ग्रंथों में से एक था—'पूर्वगतस्वरप्राभृत'। इसमें इक्कीस मूर्छनाओं तथा ग्यारह अलंकारों का वर्णन था।

दिगम्बर जैन मुनि अभयचन्द्र के प्रशिष्य पार्श्वचन्द्र ने लगभग विक्रम संवत् १३८० में 'संगीतसमयसार' नामक महत्वपूर्ण संगीत ग्रंथ की रचना की। यह ग्रन्थ त्रिवेन्द्रम संस्कृत ग्रंथमाला में प्रकाशित हो चुका है। इसमें नौ अधिकरण है, जिनमे नाद, ध्वनि, स्थायी, राग, वाद्य, अभिनय, ताल प्रस्तार तथा आध्वयोग का सविस्तर उल्लेख है। इसी समय आचार्य राजशेखरसूरि के शिष्य सुधाकलश ने 'संगीतोपनिषद्' नामक बृहत् ग्रन्थ की रचना की, जो अनुपलब्ध है। किन्तु इसी लेखक की विक्रम संवत् १४०६ की रचना 'संगीतोपनिषत्सारोद्धार' उपलब्ध है, जो गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज, बड़ौदा से प्रकाशित हो चुकी है। यह प्रति 'संगीतोपनिषद्' की सार रूप है तथा 'संगीत मकरन्द', 'संगीत पारिजात' जैसे संगीत जगत् के मान्य ग्रन्थों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। गीत-प्रकाशन, ताल-प्रकाशन, रागादि प्रकाशन, वाद्य-प्रकाशन नृत्यांग-प्रकाशन, तथा नृत्य-पद्धति-प्रकाशन, इस प्रकार इसके छह अध्याय ६१० श्लोकों मे निबद्ध है। महत्व नरचन्द्रसूरि का संगीतज्ञ के रूप में इस ग्रंथ मे उल्लेख किया गया है। 'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास' के अनुसार जैन ग्रन्थावली मे 'संगीत दीपक', 'संगीत रत्नावली' तथा 'संगीत सहपिंगल' का उल्लेख है। किन्तु इनके सम्बन्ध मे विशेष जानकारी प्राप्त नहीं हुई है। वि० सं० १४९० में माण्डव के सुल्तान आलमशाह के मन्त्रिमण्डल ने 'संगीत मण्डन' नामक ग्रन्थ की रचना की। ग्रन्थ उप-उपलब्ध है, किन्तु अप्रकाशित है।

कच्छ के महाराज लखपत (सं० १८१७ मे स्वर्गवास) ने जैन यति भट्टारक कनककुशल व उनके शिष्य कुंवर-कुशल के सहयोग से 'बृजभाषा पाठशाला' स्थापित की थी, जिसमें कई हिन्दी कवि तैयार हुए। कुंवरकुशल संगीतशास्त्र के भी पण्डित थे। उनकी आठ रचनाओं का परिचय 'वल्लभसूरि स्मृति-ग्रन्थ' में शोधमनीषी श्री अगर-चन्द जी नाहटा ने दिया है। आठवीं रचना 'रागमाला' है, जिसमे राग-रागिनियों के स्वरूप तथा लक्षण दिये गये है।

ऐसे और भी अनेक जैन ग्रन्थ हो सकते है, जिनमे संगीत विषयक महत्त्वपूर्ण सामग्री समाविष्ट है, किन्तु कई कालकवलित हो चुके है और कई शोध का विषय बने हुए हैं। □□

[पृ० ४६ का शेषांश]

विवरण है। कहीं-कहीं उनके और मेरे द्वारा प्रस्तुत अनुवाद में बहुत बड़ा अन्तर आ गया है।"

३. इसी समय के आसपास ध्यानशतक का कुछ विवेचन गुजराती मे पूज्य मुनिश्री पन्यास भानुविजय जी ने लिखा, जो कि सं० २०२७ मे दिव्यदर्शन कार्यालय, अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ है। ३२२ पृष्ठों का यह ग्रन्थ गुजराती विवेचन दृष्टि से बड़े महत्व का है। इसका मूल्य ३) रु. है।

४. सन् १९७६ मे ध्यानशतक का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली से प्रकाशित हुआ है, जिसमें आलोचनात्मक प्रस्तावना, हिन्दी अनुवाद, विविध परिशिष्ट एवं संस्कृत टीका भी है। साथ ही दि. भास्कर नन्दी के ध्यानस्तव को भी अनुवाद के साथ ही दिया गया है। मू० १० रु. है। पं० बालचन्दजी शास्त्री ने इस ग्रंथ के सम्पादन मे बहुत श्रम किया है। मूल ग्रंथ तो टीका, अनुवाद के साथ ७२ पृष्ठों मे ही है, किन्तु इसकी प्रस्तावना ८५ पृष्ठों की है। इसी से वह कितनी पठनीय की है, पाठक स्वयं समझ सकेंगे। पण्डित जी ने ध्यान-शतक की अन्तिम गाथा को मान्यता नहीं दी, इसीलिए इसके रचयिता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के होने मे सन्देह किया है क्योंकि हरिभद्र सूरि ने १०५ गाथाओं की भी टीका की एवं ग्रन्थकार का नाम नहीं दिया। पर लगता है हरिभद्र सूरि को जो प्रति मिली है, उसमे ग्रंथकार के नाम वाली अन्तिम गाथा नहीं होगी। जब अन्य प्रतियों मे वह मिलती है तो, मेरी राय में, पण्डित जी को शंका नहीं करनी चाहिए थी। श्वे० परम्परा मे तो यह जिनभद्र क्षमाश्रमण की ही कृति है, यह मान्यता बहुत प्रसिद्ध है। यहाँ तो मुझे विगत छः वर्षों में ध्यानशतक के जो हिन्दी के दो, अंग्रेजी के दो, गुजराती का एक अनुवाद प्रकाशित हो चुके है, उन चार ग्रन्थों से पाठकों को परिचित करना ही अभीष्ट है।

आशा है कि पाठक उनसे लाभ उठायेंगे एवं हिन्दी में कोई विस्तृत विवेचन शीघ्र प्रकाशित किया जायेगा। □□

प्राकृत का बृद्द्रव्यसंग्रह और उसकी महत्ता

—पं० नाथूराम जैन 'डोंगरीय', इन्दौर

बृद्द्रव्यसंग्रह प्राकृत भाषा में निबद्ध भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट अनेकांतात्मक वस्तु स्वरूप का प्रतिपादक, जैन दर्शन का एक लघुकाय किंतु सारगर्भित एवम् महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसका समाज में द्रव्यसग्रह के नाम से पठन-पाठन बड़ी श्रद्धा और रुचिपूर्वक किया जाता है। प्रचलित परंपरानुसार इसके रचयिता गोम्मटसार, त्रिलोकसारादि सिद्धांत ग्रंथो के निर्माता एवम् श्रवणवेलगोला में विराजमान् भगवान् बाहुवली के विशाल बिब के प्रतिष्ठापक तथा तत्कालीन राजा चामुडराय के गुरु आचार्य प्रवर श्रीमन्नेमिचन्द्र सिद्धातचक्रवर्ती थे इसके हिंदी मे आद्यवचनिका एवम् भाषा पद्यानुवाद कर्ता स्व प. जयचन्दजी छावड़ा ने अब से करीब पौने दो सौ वर्ष पूर्व अपनी कृति मे इन्ही आचार्य को द्रव्यसग्रह का मूलकर्ता माना है तथा इसकी ब्रह्मदेव सूरि कृत संस्कृत टीका के हिन्दी टीकाकार श्री पं. जवाहरलाल जी शास्त्री ने भी ग्रंथ की प्रस्तावना मे सिद्धांतचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र का ही ग्रथकर्ता के रूप मे उल्लेख किया है। इनका समय विक्रम सं. १०३५ (ग्यारहवी शताब्दी) है। किंतु, ग्रथ की सस्कृत टीका के कर्ता श्रीमद्ब्रह्मदेव सूरि ने ग्रथकर्ता नेमिचन्द्र आचार्य की उपाधि का उल्लेख 'सिद्धांतचक्रवर्ती' न कर 'सिद्धांतिदेव' के नाम से किया है। हो सकता है कि कालांतर में सिद्धांतचक्रवर्ती को ही मान देकर संक्षेप मे 'सिद्धातिदेव' कहा जाने लगा हो।

आधुनिक इतिहासज्ञ मनीषियों की शोधखोज के अनुसार नेमिचन्द्र नाम के तीन आचार्य हुए हैं, जिनमें प्रथम राजा चामुण्डराय के गुरु सिद्धातचक्रवर्ती के पद से अलंकृत थे। दूसरे नेमिचन्द्र वसुनंदि सिद्धातिदेव के गुरु थे, जो प्रथम (सिद्धांतचक्रवर्ती नेमिचन्द्र) से करीब ९० वर्ष पश्चात् हुए और जिनका समय विक्रम की बारहवीं शताब्दी निश्चित होता है। ये सिद्धांतिदेव के पद से विभूषित थे। तीसरे नेमिचन्द्र गोमट्टसार (प्राकृत) की सस्कृत टीका जीवतत्त्वप्रदीपिका के निर्माता थे।

वस्तुत: इस ग्रथ के रचयिता कौन से नेमिचन्द्राचार्य थे इसका निर्णय इतिहास के पुष्ट प्रमाणो से ही हो सकता है, किंतु इतना तो निश्चित ही है कि मूल ग्रथकर्ता श्रीमन् नेमिचन्द्राचार्य है और चूकि वे वीतरागी सत थे अत. ग्रंथ की प्रामाणिकता एवम् उपादेयता भी असदिग्ध है।

ग्रंथ की विशेषता एवम् वर्तमान सामाजिक परिस्थिति के संदर्भ में उपयोगिता

यह है कि इसमे जीवादिक द्रव्यो, आस्त्रवादि तत्त्वों एवम् मोक्षमार्ग का निरूपण व्यवहार तथा निश्चय-उभयनय सापेक्ष (प्राय: प्रत्येक गाथा मे साथ २) किया गया है—ताकि अनेकांतमयी वस्तुतत्त्व का सक्षेप में यथार्थज्ञान प्राप्त कर मानव आत्मकल्याण की ओर अग्रसर हो सके तथा सर्वथा निश्चयैकांत या व्यवहारैकांत के आश्रय से कदाग्रही बनकर एकातमिथ्यात्व के कुचक्र मे न फंसे। अत: इसका निष्पक्ष एवम् जिज्ञासु भाव से अध्ययन करने पर अनेक भ्रांतियों का —जो नयों की खींचतान से उत्पन्न हो रही या हो सकती है—सहज ही निराकरण भी हो जाता है।

आज समाज के अधिकांश विद्वज्जनों, पत्र-पत्रिकाओं, धर्मसभाओं एवम् घर-घर में पिता पुत्र से, भाईबहिन से पति पत्नी से तथा एक धर्मबंधु इतर धर्मबधु से विभिन्न नयों द्वारा प्रतिपादित वस्तु स्वरूप के सम्बन्ध में सर्वथा एकांत दृष्टिपक्ष को ग्रहणकर परस्पर में विसंवाद करता दिखाई दे रहा है और इस प्रकार दृष्टिमोह वश दुराग्रही बनकर अपने प्रिय नय पक्ष को ही पूर्ण सत्य एवं इतर पक्ष को सर्वथा मिथ्या मान व प्रतिपादन कर वस्तु के अनेकांतमयी स्वरूप एवं उसके भगवद्वाणी द्वारा स्याद्वाद रूप प्रतिपादन का खंडन वा उपहास करने में अपनी अज्ञतावश (स्वयं को सर्वज्ञ मान) तनिक भी संकोच नहीं कर रहा।

अनेक विद्वज्जन भी वीतराग वाणी का वीतराग भाव से प्रतिपादन न करते हुए पक्षव्यामोह के कुचक्र में पड़कर अनेकांत और स्याद्वाद की सत्यतापरक गरिमा को भुलाकर या जानबूझकर अथवा अज्ञतावश (जाने-अनजाने) अनेकांतमयी वस्तु स्वरूप का स्याद्वाद रूप प्रतिपादन करने से दिनोंदिन विमुख होते जा रहे हैं। इससे कभी-कभी ऐसा प्रतीत होने लगता है कि जैनसिद्धान्त या तो अन्य सांख्य वेदांतादि दर्शनों के समान सर्वथा एकांतपरक है (जैसा कि वे प्रतिपादन कर रहे हैं) और या भगवान् ने जो अनेकांत को परमागम का प्राण तथा नयों के विभिन्न विषयों संबंधी परस्पर विरोध को मथन करने वाला प्रतिपादन किया है वह शायद ठीक नहीं है या फिर जैन सिद्धांत अभी अनिर्णीत और विवादास्पद है, जिसका निर्णय होना शायद अभी शेष है।

जैनी जिस स्याद्वाद प्रणाली द्वारा दुनिया के मत-मतान्तरों के सर्वथा एकांत पक्षजन्य विवादों का निर्मूलन कर सत्य और समन्वय के उदार दृष्टिकोण द्वारा सांप्रदायिकता का विनाश एवं विश्वबन्धुत्व की भावना के प्रचार-प्रसार से मानव समाज में पारस्परिक सद्भाव एवं विश्व में सत्य व शांति की प्रतिष्ठा करने का दावा करते आ रहे हैं, उन्हें स्वयं ही एकांत की तलवार लेकर परस्पर में प्रहार करते देखकर बड़ा खेद और आश्चर्य होता है।

प्रत्येक वस्तु के अनेकांतात्मक (निश्चय-व्यवहारात्मक) होने से निश्चय और व्यवहार नय उसका यथार्थ ज्ञान कराने के साधन हैं, अतः निष्पक्ष भाव से उभय नयों द्वारा वस्तु का—जैसी कि वह है—ज्ञान करना-कराना ही हितकर, प्रामाणिक व सत्य हो सकता है, न कि एक नय की सर्वथा एकांत-दृष्टि से। श्रीमदमृतचन्द्र स्वामी ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में नयों की एकांतपरक खींचतान करनेवालों को इसीलिए चेतावनी देते हुए लिखा भी है:—

"अत्यंतनिशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम्।
खंडयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम्॥"

(अर्थात्) जिनेन्द्र का नयचक्र अत्यंत तीक्ष्ण धारवाला होने से बड़ी सावधानी से प्रयोग करने योग्य है; क्योंकि इसको मूर्खतापूर्ण खींचतान कर प्रयोग करनेवालों के मस्तक को यह तुरन्त ही विदीर्ण कर डालता है, अर्थात् निश्चयाभास की तेज धार से सद्ज्ञान का घात कर उसे मार्गभ्रष्ट कर देता है।

तात्पर्य यह है कि जैनसिद्धान्त वैज्ञानिक सत्य पर आधारित है और वह सत्य अनेकांतात्मक है, जबकि प्रत्येक नय यदि वह सुनय है तो वह इतरनय सापेक्ष होकर ही सत्य का द्योतक कहा जाता है और यदि वह इतर नय निरपेक्ष है, अर्थात् अन्य सुनय द्वारा प्रतिपादित वस्तु में विद्यमान धर्म को गौण न करके उसका निषेध कर उसे झुठलाने और खंडन करने लगता है तो वह एकांत मिथ्यात्व का पोषक दुर्नय बन जाता है। परमपूज्य स्वामी समन्तभद्र ने निम्नलिखित श्लोकांश द्वारा इसी तथ्य को प्रगट किया है:—

"निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्।"

(अर्थात्) कोई भी नय इतर नय निरपेक्ष होकर मिथ्या बन जाता है और इतर नय सापेक्ष होकर वस्तु के स्वरूप का प्रकाशक।

भगवान महावीर ने अनेकांतात्मक वस्तु को, एक नय द्वारा वस्तु में विद्यमान एक धर्म को मुख्य तथा शेष धर्मों को गौण (न कि निषेध) कर प्रतिपादन करने की रीति एवं नीति को ही वस्तु स्वरूप का यथार्थ बोध करानेवाला कहा है, जैसा कि पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के अन्तिम पद्य में श्रीमदमृतचन्द्र स्वामी ने दरशाया है:—

"एकेनाकर्षन्ती श्लथयती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनीनीतिर्मंथाननेत्रमिव गोपी।"

(अर्थात्) जिस प्रकार गोपिका दही से मक्खन निकालने के लिए मथानी की रस्सी के एक छोर को अपनी ओर

खींचती व दूसरे छोर को ढील देते हुए भी पकडे रहकर, फिर उसे अपनी ओर खींचती व प्रथम को ढील देती है एवं अपनी इस बारंबार की प्रक्रिया द्वारा ही मक्खन निकालने मे समर्थ होती है (यदि वह ऐसा न करे और रस्सी के किसी एक छोर को पकडकर ही खीचती जाय तो दही से मक्खन नही निकल सकता) उसी प्रकार जैनी नीति भी वस्तु विषयक एक नय पक्ष को मुख्य व शेष को गौण तथा पुन. शेष को मुख्य व मुख्य को गौण कर वस्तु स्वरूप का यथार्थ प्रतिपादन व ज्ञान करने मे समर्थ होती है, अन्यथा नही।

पूज्य स्वामी जी ने इसके पूर्व ग्रंथ की प्रस्तावना में अपने शिष्यो को यह भी स्पष्ट किया है कि—

"व्यवहारनिश्चयौ य. प्रबुद्ध्य तत्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनाया. स एवफलमविकलं शिष्य. ॥"

(अर्थात्) व्यवहार और निश्चय द्वारा प्रतिपादित अनेकान्तात्मक वस्तु के स्वरूप को जानकर जो मध्यस्थ बना रहता है—किसी नय के पक्ष व्यामोह मे नही पडता—वही शिष्य भगवान की देशना के सम्पूर्ण फल को प्राप्त करता है, अर्थात् सम्यक्ज्ञानी बनकर आत्मकल्याण का पात्र होता है, एकांती नही। किन्तु हम आज मताग्रही बनकर मध्यस्थ भाव का परित्याग करते जा रहे है।

परमपूज्य भगवन् कुद-कुद स्वामी ने यही बात समय-सार मे भी स्पष्ट रूप मे घोषित कर दी है। वे ग्रंथ के कर्त्ता कर्माधिकार मे कहते है—

"दोण्हवि णयाण भणियं जाणइ णवरं तु समयपडिबद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो॥

(अर्थात्)आत्मा के स्वरूप को जाननेवाला ज्ञानी दोनो ही नयो (निश्चय और व्यवहार) के कथन को केवल जानता ही है, परन्तु नय पक्ष को किंचित् भी ग्रहण नही करता, क्योकि वह नयो के पक्षपात से रहित (मध्यस्थ) होता है।

इस गाथा के भावार्थ मे समयसार के सर्वप्रथम हिंदी टीकाकार श्रद्धेय स्व. श्रीमान् प. जयचद जी छाबड़ा ने निम्न वाक्य लिखे हैं —

'एक नय की पक्ष के सर्वथा ग्रहण करें तो मिथ्यात्व से मिला हुआ पक्ष का राग हो तथा प्रयोजन के वश से एक नय को प्रधानकर ग्रहण करें तो मिथ्यात्व के बिना चरित्र मोह के पक्ष से राग रहे और जब नय पक्ष को छोड़ वस्तु-स्वरूप को केवल जानता ही हो तब उस काल श्रुतज्ञानी भी केवली की तरह वीतराग के समान ही होता है ऐसा जानना।"—(समयसार, पृष्ठ २०७, परमश्रुत प्रभावक मंडल द्वारा प्रकाशित—सन् १९१९)

बात असल मे यह है कि वस्तु स्वय अनेकान्तात्मक या निश्चय व्यवहारात्मक है। तभी वह निश्चय और व्यवहार नय का विषय होकर निश्चय नय द्वारा उसके स्थाई अश को ध्रौव्य रूप मे तथा व्यवहार नय के द्वारा उसी के अस्थायी अश (पर्याय) को उत्पादव्ययात्मक अध्रुव रूप में प्रतीत होती है। 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्' एवं—'सद्द्रव्यलक्षण' इन सूत्रो द्वारा वस्तु के इस अनेकांतमयी स्वरूप का ही तत्त्वार्थ-सूत्रकार ने प्रतिपादन किया है। "अर्पितानर्पित सिद्धे" अर्थात् प्रयोजनवश कभी पर्यायो को गौण कर द्रव्य की मुख्यता से उसका (वस्तु का) नित्य (ध्रौव्य) रूप कथन और कभी पर्यायो की मुख्यता से द्रव्य दृष्टि को गौण कर पदार्थ का अनित्य रूप (उत्पादव्ययात्मक) कथन कर वस्तु मे कथचित् नित्यता और अनित्यता की सिद्धि होती है, जैसी कि प्रत्येक वस्तु सामान्य विशेषात्मक या नित्या-नित्यात्मक स्वतः सिद्ध है। न तो वस्तु मे नित्यता असत्य है और न अनित्यता। यही बात भेद-अभेद, बद्ध-अबद्ध, शुद्ध-अशुद्ध आदि दृष्टियो मे भी लागू होती है। उदाहरण के रूप मे, प्रत्येक जीव जीवत्व (चैतन्य)सामान्य की दृष्टि से (अजीव द्रव्य के गुण पर्याय से रहित) शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा शुद्ध है, किन्तु व्यवहार नय से कामी, क्रोधी, मानी आदि कोई ससारी है और कोई परमात्म्य दशा को प्राप्त अरहत या सिद्ध है। इसी प्रकार, भेद-अभेद आदि दृष्टियों से भी वर्णन किया जाता है। अपने-अपने विषय को मुख्य और शेष को गौण कर कथन करनेवाले इस प्रकार सभी नय सत्य है। न तो पर्याय दृष्टि से जीव का ससारी या मुक्तपना झूठा है और न जीवत्व दृष्टि से उसका शुद्ध चैतन्यपना। इसी प्रकार, भेद दृष्टि से जो ससारी है वह मुक्त नही, जो देव है वह मनुष्य नही। अभेद दृष्टि से मनुष्य भी जीव है, देव भी, तथा ससारी भी और मुक्त भी।

आधुनिक युग में कुछ मनीषी उत्पादव्ययात्मक पर्यायों को आत्मा या वस्तु से सर्वथा भिन्न व मिथ्या मान उनको विषय करनेवाले व्यवहार नय को भी सर्वथा मिथ्या मान व घोषित कर अपने को सम्यक्दृष्टि मान रहे हैं। वे यहां तक मानते और दूसरो को प्रतिपादन करते है कि जो अपनी शुद्ध पर्याय को भी अपनी मानता है वह मिथ्या दृष्टि है। यह सूत्रविरुद्ध भ्रमपूर्ण मान्यता अनेकात सिद्धात का स्पष्टतया अपलाप है। क्या कोई भी वस्तु या आत्मा कभी भी पर्यायरहित होती या हो सकती है? पर्यायें शुद्ध और अशुद्ध परिस्थिति के अनुसार हो सकती है और है। किन्तु वे हैं द्रव्य की ही। न तो कभी द्रव्य पर्यायों से भिन्न या शून्य होता है और न पर्यायें ही स्वतंत्र रूप में द्रव्य से भिन्न कभी और कही उत्पन्न होती या हो सकती है। आखिर पर्यायें स्वतंत्र वस्तु न होकर द्रव्य का परिणमन ही तो हैं, जो कि वस्तु का स्वभाव है। परमपूज्य आचार्य कुदकुद देव ने प्रवचनसार में इसी सत्य को उद्घाटित करते हुए गाथा नं. १०१ मे स्पष्ट किया है:—

"उप्पादट्ठिदिभगा विज्जते पज्जयेसु पज्जाया।
दव्वत्ति सतिणियदं तम्हा दव्वं हवदि सव्वं।।"

(अर्थात्) उत्पाद स्थिति (ध्रौव्य) और विनाश पर्यायो में रहते है और निश्चय करके ये पर्यायें द्रव्य मे रहती है। इस कारण निश्चित रूप मे वे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य मयी पर्यायें द्रव्य ही है।

उपर्युक्त कथन की पुष्टि में आगे उन्होंने गाथा नं. १०२ से १०५ तक इसी सत्य और तथ्य को निरूपित कर और भी स्पष्टीकरण किया है।

यहां आचार्य महोदय ने न केवल उत्पादव्यय-स्वरूप अशों को ही पर्याय माना है, प्रत्युत ध्रुवाश को भी पर्याय ही मानकर द्रव्य को पर्यायों का समूह प्रतिपादित किया है। यदि पर्यायो और उनमें भी अपनी शुद्ध पर्यायो को सम्यक्-दृष्टि अपनी नही मानता तो किसको मानता है? यदि वह अपनी शुद्ध पर्याय को अपनी मानने से मिथ्यादृष्टि हो जाता है, तब आचार्य श्री का उक्त कथन ही मिथ्या सिद्ध होगा जो कि इनकी मान्यता से सर्वथा मेल नही खाता और आचार्य श्री के कथन को मिथ्या तथा इन मनीषियो के कथन को सम्यक् मानकर श्रद्धान करना सभव नही है; क्योंकि वह सत्य और तथ्य शून्य होकर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी विरुद्ध है।

यहां प्रश्न हो सकता है कि तब फिर शास्त्रो में पर्याय-दृष्टि को मिथ्यादृष्टि क्यो कहा?

समाधान यह है कि पर्याय को द्रव्य की जानने या पर्यायो पर दृष्टि डालनेवालों को मिथ्लादृष्टि नहीं कहा है, बल्कि उस व्यक्ति को मिथ्यादृष्टि कहा है कि जो केवल मनुष्य देवादि रूप संयोगी पर्याय मात्र को ही आत्मा मान-कर अपने चैतन्य स्वरूप आत्मद्रव्य को न समझता हुआ भ्रमित हो रहा है, अर्थात् मनुष्यादि अशुद्ध पर्यायों में अहंकार ममकार करता हुआ अपने वास्तविक रूप को भुला देता है और अपने वास्तविक गुण पर्यायो के स्वरूपो को न जानता हुआ सयोगी पर्याय में ही मुग्ध हुआ उसे अपना स्वरूप मान तावन्मात्र अपनी श्रद्धा कर लेता है। प्रवचन-सार की गाथा ९३ और ९४ में इसी तथ्य को मूल ग्रंथकर्ता आचार्य श्री ने तथा उसके टीकाकारों ने स्पष्ट भी किया है।

वास्तविकता यह है कि विभिन्न नयों द्वारा परस्पर विरोधी कथन का होना—वस्तु में विद्यमान परस्पर विरोधी जैसे धर्मों, गुणों या पर्यायों की विभिन्नता को विषय करने के कारण—स्वाभाविक है। जैसे एक नय वस्तु को द्रव्यत्व या गुणों के अन्वयी भाव के कारण नित्य व शुद्ध जानता व प्रतिपादन करता है तो दूसरा उसी वस्तु की पर्यायो की मुख्यता से अनित्य व अशुद्ध नित्यता द्रव्य-गुण सापेक्ष और अनित्यता पर्याय सापेक्ष है। इसीलिए उभय नयो का कथन भी परस्पर मे सापेक्ष व एक दूसरे का पूरक होकर अनेकातात्मक वस्तु का यथार्थ ज्ञान कराने मे सहायक होता है, न कि एक-दूसरे के विषय का खंडन करके। सभी नयो को अपने-अपने विषय को मुख्य करके कथन करने की स्वतंत्रता एव अधिकार है, साथ ही उन्हें उस समय दूसरे नय के विषय को गौण करते हुए उनसे मित्रता (सापेक्षता) बनाए रखना भी अनिवार्य है, यदि वे सुनय है। एक सुनय दूसरे सुनय के विषय में न तो हस्तक्षेप करता है और न उसका खडन ही। अतः दूसरे नयो के विषय की सत्यता को वह भलीभाति जानता है। इसके सिवाय दूसरे नयो या उनके विषयो को खडन करने अथवा

झुठलाने का उसे कोई अधिकार भी नहीं है, क्योकि वस्तु के अनेकातात्मक होने से दूसरा नय भी तो उसी वस्तु मे विद्यमान उससे भिन्न दूसरे सत्याश को ही ग्रहण व प्रतिपादन कर रहा होता है।

अतः किसी भी नय का पक्षपाती बनकर दुराग्रह करना न तो उचित है और न वह जिनागम के अनुकूल है। हो सकता है कि किसी को किसी नय विशेष से अधिक प्यार और उसी को परम सत्य मानने का भ्रम हो गया हो, किन्तु ऐसे मोही जन ही एकांत मिथ्यात्वी कहे जाते है, यह हमें सदैव ध्यान में रखना है।

इसीलिए वक्ता और श्रोता दोनो को नयों के स्वरूप को भलीभांति समझकर ही निष्पक्ष भाव से वस्तु तत्त्व जानना व अन्य को प्रतिपादन करना स्व पर हित में उपादेय व उचित है; क्योकि शास्त्र की गादी पर वक्ता जैन सिद्धात का प्रतिपादक होता है, न कि अपनी निजी संकुचित एव कल्पित मान्यताओं और पक्षपातपूर्ण एकातिक रुचि व विचारधारा का।

प्रमाण और नय

"प्रमाणनयैरधिगम." मोक्षशास्त्र के इस सूत्र के अनुसार वस्तु तत्त्व का ज्ञान प्रमाण और नयों से होता है, अर्थात् प्रमाण और नय वस्तु स्वरूप को जानने के साधन है। अनेकातमयी वस्तु के सर्वांग ज्ञान को प्रमाण तथा उसके किसी अश की मुख्यता को लेकर एकागी ज्ञान या उसके प्रगट करने के अभिप्राय को नय कहते है। प्रत्येक वस्तु अनेकातात्मक—अपने अनंत गुणो और पर्यायों का अखड पिड है। अत. उसको प्रमाण द्वारा वैसा ही जानकर उसमे विद्यमान एक गुण, धर्म या पर्याय को मुख्य तथा शेष को गौणकर कथन करने को स्याद्वाद कहा जाता है। प्रमाण के प्रत्यक्ष-परोक्ष के भेद से दो भेद है। इन्द्रियों और मन आदि पर वस्तु की सहायता से होने वाला ज्ञान परोक्ष प्रमाण है तथा बिना किसी की सहायता के आत्मिक शक्ति से प्रगट होनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है।

नय के भी मुख्य दो भेद हैं—(१) द्रव्यार्थिक (२) पर्यार्थिक। द्रव्य-गुण-पर्याय के अखंड पिंड स्वरूप वस्तु को द्रव्य की मुख्यता से जानने या कथन करने को द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। पर्यायों या गुणों को वस्तु के अंश या भेद रूप में ग्रहण कर जानने वा कथन करने को पर्यायार्थिक नय कहते हैं। नैगमसग्रहादि इन्ही नयों के भेद हैं। अध्यात्म ग्रन्थों में इन्हीं नयों का निश्चय और व्यवहार नय के नाम से प्रतिपादन एव प्रयोग किया गया है—द्रव्यार्थिक को निश्चय व पर्यायार्थिक को व्यवहार। इनमे निश्चय नय को प्रायः भूतार्थ और व्यवहार नय को अभूतार्थ कहा गया है।

भूतार्थ शब्द-भूत+अर्थ, इस प्रकार दो शब्दों के योग से बना है। भूत शब्द के अनेक अर्थ हैं—हित, सत्य, द्रव्य, जीव, प्रेतियोनि, अतीतकाल, मूलतत्त्व आदि। इसी प्रकार, अर्थ शब्द भी अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है, जैसे—प्रयोजन, अभिप्राय, धन, हेतु, विषय आदि। यहा किस अर्थ में भूत का अर्थ शब्द का प्रयोग किया गया है, यदि इसपर विचार करें तो प्रकरण को देखते हुए भूत शब्द द्रव्यवाचक एवं अर्थ शब्द विषय या प्रयोजन वाचक सुसगत प्रतीत होता है। तदनुसार द्रव्य (सामान्य) है। प्रयोजन या विषय जिसका वह भूतार्थ नय है और जिसका विषय द्रव्य नही है—पर्यायादि विशेष हैं, वह अभूतार्थ नय है। यतः शुद्ध निश्चय नय (अपर नाम द्रव्यार्थिक नय) पर्यायादि भेदो को गौण कर द्रव्य (सामान्य व अभेद) दृष्टिप्रधान है, अतः वह भूतार्थ है तथा व्यवहार नय द्रव्य को गौण कर पर्याय (विशेष) दृष्टि प्रधान है अत. अभूतार्थ है।

भूत शब्द का अर्थ सत्य भी है जिससे निश्चय नय को सत्यार्थ एव व्यवहार नय को असत्यार्थ भी कहा गया है—जिसका उल्लेख श्रीमज्जयसेनाचार्य कृत समयसार की ११वी गाथा की टीका में पाया जाता है; किन्तु इसी ११वी गाथा की टीका मे उक्त आचार्य ही गाथा का द्वितीय रूप में व्याख्यान करते हुए व्यवहार नय को भी भूतार्थ और अभूतार्थ के भेद से दो भागों में विभक्त करते है। वे लिखते है कि व्यवहार नय भूतार्थ और अभूतार्थ के भेद से दो भेद रूप हैं, उसी प्रकार शुद्ध नय भी भूतार्थ और अभूतार्थ (शुद्ध निश्चय और अशुद्ध निश्चय) के भेद से दो भेद रूप हैं। उनके शब्द हैं—

"द्वितीय व्याख्यानेन पुनः ववहारो अभूदत्थो-व्यवहारोऽभूतार्थो भूदत्थो भूतार्थश्च देसिदो देशितः कथितः न केवलं व्यवहारो देशितः, सुद्धणग्रो शुद्ध निश्चय नयोऽपि। दु शब्दादय शुद्ध निश्चय नयो पि द्विधा शुद्धनिश्चया-शुद्धनिश्चयभेदेन निश्चय नयोऽपि द्विधा इति नय चतुष्टयं।
—समयसार, रामचन्द्र शास्त्रमाला, पृष्ठ २४।

श्रीमदमृतचन्द्र स्वामी ने भी समयसार की १४वी गाथा की टीका में व्यवहारनय की दृष्टि प्रधान कथन को कथंचित् भूतार्थ कहा है और उसी प्रकार शुद्ध निश्चय नय की दृष्टि प्रधान कथन को भी कथंचित् ही भूतार्थ कहा है। वे कहते है—आत्मा का अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असयुक्तपना शुद्ध निश्चय नय की दृष्टि से विचारने पर भूतार्थ है और व्यवहार नय की दृष्टि से देखने पर बद्ध, स्पृष्ट, अन्य, अनियत, सविशेष तथा सयुक्तपना भी भूतार्थ है। यत दोनो नयो के विषय भिन्न है। शुद्ध नय का विषय गुण पर्यायो के भेदो को गौणकर शुद्ध एक अखड नित्य चैतन्य स्वरूप आत्मा है, जबकि व्यवहार नय द्वारा द्रव्यदृष्टि को गौण एवं पर्यायो को मुख्य कर कथन करने से आत्मा ससार दशा मे बद्ध, स्पृष्ट आदि रूप मे ग्रहण व प्रतिपादन करने मे आता है। अतः इस दृष्टि से व्यवहार नय भी सत्यार्थ है? क्योकि आत्मा स्वय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक व स्वभावतः गुण पर्यायात्मक है। अतः अपने-अपने विषय को मुख्य तथा अन्य नय के विषय को गौण कर कथन करते हुए दोनो ही नय सत्यार्थ या भूतार्थ है एव सुनय होकर वस्तु का यथार्थ ज्ञान करने-कराने मे सहायक है।

वस्तुतः एक नय (सुनय) अन्य नयो के विषय को गौण एव अपने दृष्टिगत विषय को मुख्य कर कथन करने का ही अधिकारी है। वस्तु मे विद्यमान धर्म, गुण या पर्याय को, जो अन्य नय का विषय हैं, निषेध करने या उसे झुठलाने का न तो उसे कोई अधिकार व इष्ट ही होता है और न वस्तु का वैसा (सर्वथा एकातमयी) स्वरूप ही है। जब भी एक नय दूसरे नय को कदाग्रह या अहकार अथवा पक्षपात-वश झुठलाएगा या उसके विषय को गौण न कर निषेध करेगा तभी वह स्वय भी निरपेक्ष हो जाने से मिथ्यैकात के गर्त में गिरकर असत्य की कोटि मे चला जाएगा। अतः जैन सिद्धांत में नयो को अश-अंश रूप मे वस्तु का परिज्ञान करानेवाला होने से उनको परस्पर मैत्री-भाव (अन्य नय सापेक्षता) रखकर ही वस्तु के सत्यांश का प्रतिपादक माना गया है।

भूत शब्द का अर्थ हित भी है, अतः इस दृष्टि से कोई-कोई मनीषी केवल निश्चय नय को ही आत्मा का हित साधक मान निश्चय को भूतार्थ व व्यवहार नय को अहित-कारी मान उसे अभूतार्थ व सर्वथा हेय प्रतिपादन करते देखे जाते है। किन्तु शिष्यों को तत्त्व बोध कराने में व्यवहार नय ही प्रयोजनवान् होने से, हितकारी भी सिद्ध होता है; यहा तक कि सभी जीवों को प्रारभिक अज्ञान दशा में व्यवहार नय ही तत्त्व बोध करने में अनिवार्य साधन है अतः इस अर्थ में भी व्यवहार नय भूतार्थ सिद्ध होता है।

इस प्रकार, समयसार में श्रीमदमृतचन्द्राचार्य ने तथा श्रीमज्जयसेनाचार्य ने जो निश्चय और व्यवहार दोनो नयो का भूतार्थ व अभूतार्थ रूप में प्रतिपादन किया है वह उल्लिखित विवरण मे गभीरतापूर्वक भली-भाति विचारने पर यथार्थ व न्यायोचित सिद्ध हो जाता है।

इसके सिवाय श्रीमज्जयसेनाचार्य ने समयसार की ही ११५वीं गाथा की टीका करते हुए, निश्चय और व्यवहार नयो को दो नेत्रो की सज्ञा दी है और उनके परस्पर सापेक्ष होने पर ही दोनो को सत्य सिद्ध किया है। उनके शब्द निम्न प्रकार है:—

"कि च, शुद्ध निश्चयेन जीवस्याकर्तृत्वमभोक्तृत्व च क्रोधादिभ्यश्च भिन्नत्व भवतीति व्याख्याने कृते सति द्वितीय पक्षे व्यवहारेण कर्तृत्व भोक्तृत्वं च क्रोधादिभ्यश्चाभिन्नत्व च लभ्यते एव। कस्मात्? निश्चयव्यवहारयो परस्पर सापेक्षत्वात्। कथमिति चेत्? यथा "दक्षिणेन चक्षुषा पश्यत्ययं देवदत्तः" इत्युक्ते वामेन न पश्यतीत्युनुक्त-सिद्धमिति। ये पुनरेवं परस्परसापेक्षनयविभागं न मन्यन्ते साख्यसदाशिवमतानुसारिण स्तेषां मते य-थाशुद्ध निश्चय-नयेन कर्ता न भवति, क्रोधादिभ्यश्च भिन्नो भवति तथा व्यवहारेणापि,ततश्च क्रोधादिपरिणमनाभावे सति सिद्धाना-मिव कर्मबधाभावः। कर्म बंधाभावे संसाराभावः। संसारा-भावे सर्वदा मुक्तत्वं प्राप्नोति। स च प्रत्यक्ष विरोधः—ससारस्य प्रत्यक्षेण दृश्यमानत्वात्।"

(अर्थात्) "दूसरी बात यह है कि शुद्ध नय से जीव के अकर्त्तापना, अभोक्तापना और क्रोधादिक से भिन्नपना है—इस प्रकार व्याख्यान करने पर दूसरे पक्ष मे व्यवहार से कर्त्तापना, भोक्तापना और क्रोधादिक से अभिन्नपना भी जीव मे पाया ही जाता है। किस कारण से ? यदि ऐसा पूछो, तो उत्तर यह है कि जैसे देवदत्त दक्षिण नेत्र (दाहिनी आख) से देखता है, ऐसा कथन करने पर वाम नेत्र (बायी आख) से नही देखता, यह बात बिना कहे सिद्ध हो जाती है।" अर्थात् निश्चय-व्यवहार दोनो नय दाये-बाये नेत्र के समान है।

आगे चलकर वे कहते है—"जो इस प्रकार परस्पर सापेक्ष नय विभाग को नही मानते, ऐसे जो साख्य और सदाशिव मतानुयायी है उनके मत में जैसे शुद्ध निश्चय नय से जीव कर्त्ता नही है और क्रोधादिक से भिन्न है, उसी प्रकार व्यवहार नय से भी मानना पड़ेगा। इसमे संसारी जीव के क्रोधादि रूप परिणमन करने के अभाव मे सिद्ध भगवान् के समान कर्म बधन का अभाव मानना पड़ेगा और कर्म बध के अभाव में जीव को सर्वदा मुक्तपने का प्रसग आवेगा, जबकि 'यह संसारी जीव सर्वदा मुक्त है' इस कथन और मान्यता मे प्रत्यक्ष मे ही विरोध है; क्योंकि इस जीव का संसार प्रत्यक्ष ही दिखाई दे रहा है।"

आचार्यश्री के उक्त कथन से—दोनो नयो की परस्पर-विरोधी दृष्टिया होने पर भी वे सापेक्ष होकर दोनो ही सत्य है और निरपेक्ष दोनों ही प्रमाण विरुद्ध होने से मिथ्या है—यह स्पष्ट हो जाता है।

इसके सिवाय, व्यवहार नय के अन्तर्गत उपचरित नय भी आता है, जिसमें एक वस्तु के गुण धर्मो को कारणवश दूसरी वस्तु मे आरोपित कर कथन किया जाता है, जैसे घी रखे रहने के कारण मिट्टी के घडे को घी का घड़ा कहते है अथवा पौद्गलिक देह मे जीव के रहने से देह को भी जीव कहकर व्यवहार किया जाता है। यह नय भी म्लेच्छों को म्लेच्छ भाषा मे ज्ञान कराने के समान, अज्ञानियो को जिस प्रचलित व्यवहार व भाषा मे तत्त्व समझाने की आवश्यकता है उसी के सहारे तत्त्व बोध कराने मे सहायक होने से हितकारी माना जाकर शास्त्रों व प्रवचनो मे उपयोग में लाया जाता है। वक्ता का अभिप्राय घी का घडा कहने पर भी मिट्टी के घड़े को घी का बना हुआ घडा मानकर नही चलता, प्रत्युत श्रोता उस घडे को घी के घड़े के नाम से जानता है अतः उसको उसकी समझ के अनुसार समझाने का ही रहता है, अतः आचार्यों ने भी विभिन्न प्रकार के जीवों को उनकी समझ व योग्यतानुसार वस्तु का स्वरूप समझाने के लिए विभिन्न नयो का उपयोग किया है, जो जीवों के हित में है।

इस प्रकार, नयो द्वारा वस्तु का ज्ञान विभिन्न दृष्टियों से पात्रानुसार कराया जाता है, अत: नयों का स्वरूप भी यथार्थ रूप मे जानना नितांत आवश्यक है, क्योंकि आचार्यों ने जो कुछ भी वस्तु के सम्बन्ध मे कथन किया है वह किसी नय की मुख्य दृष्टि से ही किया है और वह अन्य नय सापेक्ष होकर वस्तु का अंश रूप मे ज्ञान करानेवाला है, अत: सत्य है।

समयसारादि आध्यात्मिक ग्रंथों मे शुद्ध नय की अभेद-प्रधान सामान्य दृष्टि की प्रधानता से आत्मादि तत्त्वो के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है तथा गोमटसारादि ग्रथो मे भेद-नय प्रधान व्यवहार दृष्टि से गुणस्थानादि गत जीव के ही भावो तथा गति इन्द्रियादि अवस्थाओं के कथन द्वारा तत्त्व ज्ञान कराने का परमपूज्य आचार्यों ने प्रयास कर, तत्त्व जिज्ञासुओ की पात्रानुसार ज्ञानपिपासा को शात करके महान उपकार किया है जिसमे हमे, नयो के पक्षव्यामोह का परित्याग कर सम्यक्ज्ञान की आराधना द्वारा वीतराग विज्ञान की ओर अग्रसर होना ही श्रेयस्कर है।

नयो के पक्षपात-वश उनसे राग-द्वेष करना अथवा तत्त्वचर्चा मे उसका प्रयोग कर विसंवाद करना और एक दूसरे को मिथ्यादृष्टि कहकर सबोधन करना या परस्पर शत्रुतापूर्ण व्यवहार करना-कराना न तो आवश्यक और उचित है और न इससे अनादिकालीन मोह का विनाश होकर सम्यग्दर्शन की प्राप्तिपूर्वक तत्त्व ज्ञान की उपलब्धि व चारित्र की पवित्रता ही सभव है। अत विद्वानों और प्रवचनकारो का यह परम कर्तव्य है कि वे अज्ञता वश अपने किसी प्रिय नय के सर्वथा पक्ष-व्यामोह के कुचक्र मे फसकर अनेकांतात्मक जैन शासन का गला घोट एकान्तमिथ्यात्व के प्रचार-प्रसार से दूर रहे तथा समाज को नगर-नगर और गांव-गांव मे इसी आधार पर फूट डालकर दो भागो में

बांटने और लड़ाने का प्रयत्न न करें। भगवान् महावीर के अनुगामी होने के कारण उनपर जो अनेकांतपरक सत्य सिद्धांत की ज्तोति पूर्वाचार्य परंपरा से अक्षुण्ण रूप में, आगम व अध्यात्मशास्त्रों में जगमगा रही है उसे अपनी अज्ञतावश ढंकने या बुझाने का दुरभिमान, चालाकी या नासमझी से प्रयत्न करना और अपने दूषित अभिप्रायों को उस पर लादने का प्रयत्न करना सर्वथा अनुचित है—इस पर ध्यान दें।

ग्रंथ में प्रतिपादित विषय

यह ग्रंथ तीन अधिकारों में विभाजित है। प्रथम जीवाजीवाधिकार में केवल जीवद्रव्य का विभिन्न दृष्टियों से अवान्तर नव अधिकारो द्वारा प्रतिपादन किया गया है तथा अजीव द्रव्य एवं उसके भेदों का लक्षणात्मक वर्णन करते हुए पचास्तिकाय में सम्मिलित द्रव्यो का सकारण निरूपण भी है। दूसरे तत्त्वनिरूपणाधिकार में आस्रवादि तत्त्वो का भाव तथा द्रव्य स्वरूप उनके भेदों का सक्षेप में दिग्दर्शन कराते हुए पुण्य और पाप का भी वर्णन किया गया है। तीसरे अधिकार में निश्चय और व्यवहार मोक्ष मार्ग का स्वरूप दर्शाकर सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का उभय नयो से प्रतिपादन एव ध्यान की उपयोगिता, स्वरूप व भेदों को स्पष्ट करते हुए अंत मे तपश्रुतव्रत सहित (व्यवहार चरित्र का भली-भाति परिपालन करनेवाला) आत्मा ही निश्चय (ध्यान स्वरूप वीतराग) चरित्र का पात्र हो सकता है, इसलिए तपश्रुतव्रत रूप व्यवहार धर्म के परिपालन की अनिवार्य रूप मे आवश्यकता एवं सार्थकता दिखाकर अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उनमे सदा ही लीन रहने की प्रेरणा की गई है।

इस प्रकार, व्यवहार मोक्ष मार्ग को निश्चय मोक्ष मार्ग का साधक दर्शाते हुए ग्रथकर्त्ता ने दोनों नयो से उन्हें परस्पर सापेक्ष मैत्री-भाव द्वारा जीवादि द्रव्यों एवं तत्त्वों का निरूपण किया है तथा जीवादिक जिन प्रणीत तत्त्वो की यथार्थ श्रद्धा एवम् सशय-विपर्यय-अनध्यवसाय रहित सम्यक्ज्ञान की आराधना करते हुए अशुभ क्रियाओ से निवृत्ति एवम् शुभ (व्रत समिति-गुप्ति) क्रियाओं में प्रवृत्ति-रूप व्यवहार-चरित्र का पालन करते हुए आत्म-स्वरूप में स्थिरतामयी वीतराग-निश्चय-चरित्र की प्राप्ति का अभ्यास कर आत्मस्वरूप में लीन होने को मोक्ष मार्ग दर्शाया है। अतः इसे यदि जिनवाणी का संक्षिप्त-गागर-में-सागर जैसा सार कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी।

ग्रंथ की बृहद्द्रव्य संग्रह टीका व अन्य टीकाएं

इस ग्रंथ की श्रीमद्ब्रह्मदेवकृत संस्कृत में एक विस्तृत अध्यात्मपरक प्रथम टीका है जो श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल अगास द्वारा प्रकाशित है। यह संस्था सुविख्यात अध्यात्म मर्मज्ञ श्रीमद्रायचन्द्रजी द्वारा संस्थापित है। ग्रंथ में प्रतिपादित विषय एवम् उसकी संस्कृत टीका के सम्बन्ध में उसकी प्रस्तावना में हिन्दी में अनुवादकर्त्ता जयपुर निवासी सुप्रसिद्ध स्व. विद्वान् श्री पं. जवाहरलालजी शास्त्री ने अब से करीब ६५ वर्ष पूर्व वीर नि. २४४२ में निम्न वाक्य लिखे हैं :

"इसमें ग्रथ के नामानुसार केवल जीवाजीवादि षट्-द्रव्यो का ही वर्णन नही है; किंतु षट् द्रव्यो के परिज्ञान को आत्मप्राप्ति का साधन दिखलाया गया है। इसीलिए यह टीका अध्यात्म विषय का एक अच्छा ग्रथ है। प्रायः निश्चय नय की मुख्यता को लिए हुए कथन होने से अध्यात्म विषय सबसे कठिन विषय है। अल्पज्ञो की तो शक्ति ही नही है कि वे इसके मर्म को समझ सकें और जो बुद्धिमान् हैं वे भी अनेकान्तमय मार्ग के मर्म को न जानने से पद २ पर प्रमान्वित हो जाते हैं। यही नही, किन्तु कितने ही तो जैसे भाषा के प्रसिद्ध कवि और अध्यात्मरस के रसिक पं. बनारसीदासजी केवल समयसार के पढ़ने से—'करणी को रस मिट गयो भयो न आतम स्वाद। हुई बनारसि की दशा जेम ऊंट को पाद।" इस दोहे के अनुसार एक बार व्यवहार चरित्र को जलांजलि दे चुके थे। उसी प्रकार, अन्य जन भी एकान्त निश्चय मार्ग का अवलम्बन कर अनेकान्तमय जिन धर्म के शिखर से पतन को प्राप्त हो जाते हैं। परन्तु निश्चय के साथ व्यवहार का कथन भी विद्यमान होने से इस ग्रंथ में सोने में सुहागा की कहावत चरितार्थ होती है और इसके पढ़ने से भ्रम उत्पन्न होने के बदले अनेक भ्रम भाग जाते हैं।

अतः अध्यात्म महल मे चढने के लिए इस टीका को प्रथम सोपान कहा जावे तो अतिशयोक्ति न होगी ।"

जैसे कि ग्रंथ की विस्तृत टीका के सम्बन्ध मे उक्त विद्वान् अनुवादक महोदय ने अपने विचार व्यक्त किये है, अध्यात्म का अभ्यास करने की रुचि रखनेवाले पाठको को यह ग्रंथ व उसकी टीका कितनी उपयोगी है, यह सहज ही विदित हो जाता है ।

द्रव्यसंग्रह की हिंदी टीकाओ मे एक महत्त्वपूर्ण टीका (जो इसके भावानुवाद को सम्पन्न कर लेने के पश्चात् मुझे देखने मे आई है) द्रव्य-सग्रह भाषावचनिका के नाम से तथा हिंदी मे ही चौपाई छदो मे भाषा-पद्यानुवाद, जयपुर निवासी विद्वद्वर प. जयचन्द्रजी छावडा ने विक्रम स. १८६३ मे लिखी थी जो वाराणसी से वर्णी ग्रथमाला से प्रकाशित है। इन्ही ने समयसार परमात्मप्रकाशादि ग्रथो की सर्वप्रथम हिंदी मे टीकाए तथा मौलिक रचनाए भी सम्पन्न की है, जिनसे समाज भलीभाति परिचित है। इसके सिवाय हिंदी मे विद्यार्थियो को विद्यालयो की कक्षाओ मे अध्यापनार्थ अन्य अनेक विद्वानो द्वारा सक्षिप्त टीकाए भी हुई है, जिनसे समाज को बडा लाभ हुआ है। अभी-अभी १०५ श्री आर्यिका विदुषीरत्न माता ज्ञानमती जी का हिन्दी मे ही नवीन पद्यानुवाद भी सनावद से प्राप्त हुआ है जो सरल भाषा में ग्रथ के भाव को समझने मे सर्वसाधारण को उपयोगी है ।

द्रव्य-सग्रह मे तत्त्वार्थ की स्याद्वाद-परक गरिमापूर्ण सक्षिप्त विवेचना से आकृष्ट होकर स्वांतःसुखाय एक नवीन पद्यानुवाद करने की अंतरंग से मुझे भी जो प्रेरणा मिली थी उसी के फलस्वरूप एक पद्यानुवाद समाज की सेवा मे मैंने भी प्रस्तुत किया है और वह प्रकाशित हुआ है। इसमे राष्ट्र-भाषा के माध्यम से ग्रथ के भाव को स्पष्ट करते हुए उसे गेय और नित्यपाठ करने-कराने के उपयुक्त बनाने का भरसक प्रयास किया गया है; इस प्रयास मे सफलता कहा तक मिली, इसका निर्णय सहृदय विज्ञ पाठक ही कर सकेंगे। पद्यानुवाद के साथ ही मूल गाथाओं का भाव स्पष्ट करने के उद्देश्य से सरल भाषा मे भावार्थ भी दिया गया है। जैन तत्त्वज्ञान एव अध्यात्म मे प्रवेश करने के उत्सुक धर्मबधुओ की प्राथमिक ज्ञान-पिपासा को शात करने मे इससे निश्चय-व्यवहार नयो की समन्वित दृष्टि से अध्ययन करने पर यथेष्ट सहायता मिलेगी तथा अनेक भ्रान्तिया भी दूर हो सकेंगी ।

५/१, तम्बोली बाखल,
इन्दौर (मध्य प्रदेश)

महावीर संवत् : भारत का सर्वप्राचीन संवत्

भारत का सर्वप्राचीन सवत् महावीर संवत् है। इसकी प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए सुप्राचीन विपुल साहित्य के अतिरिक्त शिलालेख भी मौजूद है। वीर निर्वाण सवत् ८४ (ई० पू० ४४३) का यह शिलालेख अजमेर (राजस्थान) के पास बडली गाव मे मिला था। वीर निर्वाण सूचक लेखो मे यह सर्वप्रथम लेख है। राजस्थानातर्गत अजमेर सग्रहालय मे यह लेख सप्रति मौजूद है, कहना कठिन है। कुछ भी हो, महावीरस्वामी के मोक्ष जाने के थोड़े ही समय के बाद का यह लेख महावीर सवत को सर्वप्राचीन सिद्ध करने के लिए पर्याप्त सुदृढ प्रमाण है ।

"जैन साहित्य सशोधक", खण्ड १, पृष्ठ २११ मे प्रसिद्ध इतिहासज्ञ डा० काशीप्रसाद जायसवाल लिखते हैं कि "जैनो में करीब २५०० वर्षो से प्रचलित सवत्सर गणना की रीति हिन्दुओ मे सर्वोत्तम है। इससे प्राचीन काल से ऐतिहासिक पद्धति की वर्ष गणना हमारे देश मे प्रचार मे थी, यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है। यह पद्धति अन्यत्र नष्ट होकर सिर्फ जैनो मे ही रही है। जैन वर्ष गणना के आधार पर बुद्ध और महावीर के काल के बाद की ऐतिहासिक घटनाओं को मैने कालक्रम से ठीक किया है। वह सुज्ञात गणना से बिल्कुल ठीक बैठता है। अनेक ऐतिहासिक विचारों का सकेत हमें जैनो के ऐतिहासिक लेख एव पट्टावलियो से भी मिलता है।"

भगवान महावीर का विचार तथा कृतित्व : समस्त विश्व के लिए अनुपम धरोहर

□ डा० रामकुमार वर्मा

जिस समय राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन ने मुझसे विशेष आग्रह किया था कि मैं हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास लिखूं तो मैंने इस संदर्भ मे विशेष अध्ययन करना आरम्भ कर दिया था। हिन्दी साहित्य के आदिकाल का विश्लेषण करते समय मुझे उत्तर अपभ्रंश की शैली मे हेमचन्द जैन व्याकरणाचार्य के दोहे तथा प्रबन्ध लेखक स्वयंभू और पुष्पदन्त की रचनाओं को पढ़कर, उनके साहित्यिक उत्कर्ष से प्रसन्नता मिश्रित कुतूहल भी हुआ था। इन चरित काव्यो को पढ़ने पर जीवन के यथार्थ के साथ, उसके उदात्त स्वरूप का जो निर्वाह किया गया है, वह वास्तव मे साहित्यिक शैली का एक उत्कृष्ट रूप ज्ञात हुआ। उसके साथ ही साथ जैन साहित्य के अन्तर्गत धर्म और दर्शन की जो मीमासा प्रस्तुत की गई, वह इतनी विश्वसनीय और व्यावहारिक ज्ञात हुई कि मैने जैन साहित्य के प्रचुर ग्रन्थो की खोज की और मुझे हिन्दी साहित्य के आदिकाल की सामग्री यथेष्ट रूप मे प्राप्त हो गयी। अपने आलोचनात्मक इतिहास मे जैन धर्म और दर्शन की व्याख्या करते हुए, मैंने यह अनुभव किया कि हिन्दी साहित्य के विकास मे इन ग्रन्थो का विशेष महत्त्व है। श्रमणाचार और श्रावकाचार के माध्यम से उन्होंने जीवन के आध्यात्मिक और लौकिक परिवेशो का विभाजन करते हुए भी, उनमे एक सामजस्य स्थापित कर दिया। इस सन्दर्भ मे एक जिज्ञासा मेरे हृदय मे उत्पन्न हुई कि महात्मा बुद्ध वैष्णव धर्म के अवतारो मे स्वीकृत होकर भी, धार्मिक दृष्टिकोण से इस देश से निर्वासित क्यो हो गये, जबकि जैनधर्म जो बौद्धधर्म के समानान्तर ही चलता रहा, आज देश की जनता का एक अविभाज्य अग बना हुआ है। इसका समाधान मुझे जैनधर्म के अनेकान्त या स्याद्वाद मे मिला। जैनधर्म ने सत्य को विविध रूपो मे देखा है, इसलिए उसने प्रत्येक परिस्थिति में वस्तुस्थिति की ही वास्तविकता के रहस्य को पहचाना है। इसलिए उसने विरोध की अपेक्षा सहयोग को जीवन का तथ्य समझा है।

जैनधर्म के इस सर्वव्यापी महत्व ने ही मुझे चौबीसवें तीर्थंकर वर्धमान महावीर के प्रति अपनी श्रद्धा समर्पित करने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने जीवन मे उपलब्ध सभी प्रकार के इन्द्रिय जनित सुखो का परित्याग कर सबोधि की प्राप्ति के लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया। तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के चातुर्याम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह) मे महावीर ने पचयाम (ब्रह्मचर्य) जोडकर जीवन को जिस सुदृढ पथ पर प्रतिष्ठित किया, वह संभवत: उनके पूर्ववर्ती किसी तीर्थंकर द्वारा सम्भव नही हुआ। वर्धमान महावीर वैशाली के अधिपति सिद्धार्थ नरेश के राजकुमार थे। शक्ति, सौन्दर्य और साहस मे अप्रतिम, किन्तु शैशव से ही परिवार मे पार्श्वनाथ की उपासना होने के कारण वे ऋजुता सहित वीतरागी थे। महात्मा बुद्ध से मैं उन्हें इस बात मे श्रेष्ठ मानता हू क्योंकि बुद्ध के मन मे वैराग्य भावना तब द्रवित हुई, जब उन्होने रोगी, वृद्ध और मृतक को देखा। तब उन्होने जीवन की नश्वरता का अनुभव किया, किन्तु महावीर वर्धमान के लिए इन उपादानो की कोई आवश्कता नही थी। इसीलिए मैंने उनके वैराग्य को उनका ऋजुसस्कार कहा है, अर्थात् यह सस्कार उन पर बाहर से नही आया किन्तु वह जन्मजात था। इस दृष्टि से मैं उन्हें महात्मा बुद्ध से महानतर मानता हूं।

"जय वर्धमान" नाटक की रचना करते समय उनकी वैराग्य भावना का वास्तविक रूप प्रखर करने के लिए मैंने एक वस्तुवादी रूपरेखा प्रस्तुत की है। नाटक मे सुप्रिया, रभा, तिलोत्तमा जैसी सुन्दर अप्सराओं को (सतो, रजो

(शेष पृ० ६४ पर)

जैनाचार्य और आयुर्वेद

[जैनाचार्यों ने भी अन्य आचार्यों की भाँति आयुर्वेद साहित्य के सृजन मे अपना अपूर्व योगदान किया है। आवश्यकता इस बात की है कि अनुसन्धान द्वारा उस साहित्य को प्रकाश मे लाकर आयुर्वेद-साहित्य की वृद्धि की जाए और आयुर्वेद की दृष्टि से उसका समुचित मूल्यांकन किया जाए।]

☐ श्री राजकुमार जैन

संस्कृत-साहित्य की श्रीवृद्धि मे जैनाचार्यों ने अपना जो महत्त्वपूर्ण योगदान किया है, वह सुविदित है। संस्कृत-साहित्य का ऐसा कोई विषय या क्षेत्र नही बचा है जिस पर जैनाचार्यों ने अपनी लेखनी न चलायी हो। इसका मुख्य कारण यह है कि जैनाचार्य केवल एक विषय के अधिकारी नही थे, अपितु वे प्रत्येक विषय मे निष्णात थे; अतः उनके विषय मे यह कहना सम्भव नही है कि उनका अधिकृत विषय कौन-सा है? जैनाचार्यों ने जिस प्रकार काव्य, अलंकार, कोश, छन्द, न्याय, दर्शन व धर्मशास्त्रों का निर्माण किया था, उसी प्रकार ज्योतिष और वैद्यक विषय भी उनकी लेखनी से अछूते नही रहे। अनेक उपलब्ध प्रमाणो से अब यह स्पष्ट हो चुका है कि जैनाचार्यों ने प्रचुर मात्रा मे स्वतन्त्र रूप से वैद्यक ग्रन्थो का निर्माण कर आयुर्वेद साहित्य को वृद्धि मे अपना अभूतपूर्व योग दिया है। इस सम्बन्ध मे एक लम्बी सूची प्राप्त हुई है, जिससे जैनाचार्यों द्वारा लिखित वैद्यक सम्बन्धी कृतियो का संकेत मिलता है। इनमे से कुछ कृतियाँ मूलरूप से संस्कृत भाषा मे लिपिबद्ध हैं और कुछ हिन्दी मे पद्य रूप मे।

जिन जैनाचार्यों ने धर्म-दर्शन-न्याय-काव्य-अलंकार आदि विषयो को अधिकृत कर विभिन्न ग्रन्थों का प्रणयन किया है, उन्ही आचार्यों ने वैद्यक शास्त्र का निर्माण कर अपनी अलौकिक प्रतिभा का परिचय दिया है। पूज्यपाद स्वामी, स्वामी समन्तभद्र, आचार्य जिनसेन, गुरु वीरसेन, गुणसागर श्री गुणभद्र, महर्षि सोमदेव, सिद्धवर्णी रत्नाकर तथा महापण्डित आशाधर आदि जैनाचार्यों की विभिन्न कृतियों पर जब हम दृष्टिपात करते है तब यह देखकर बड़ा आश्चर्य होता है कि किस प्रकार उन्होंने अनेक विषयों पर अपनी अधिकारपूर्ण लेखनी चलाकर अपनी अद्भुत विषय-प्रवणता और विलक्षण बुद्धि-वैभव का परिचय दिया है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि उन्हे उन सभी विषयों में प्रौढ प्रभुत्व प्राप्त था। उनका पाण्डित्य सर्वपदगत व्यापी था और उनका ज्ञान-रवि अपनी प्रखर रश्मियो से सम्पूर्ण साहित्य-जगत् को आलोकित कर रहा था।

आयुर्वेद-साहित्य के प्रति जैनाचार्यों द्वारा की गयी सेवा भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है, जितनी अन्य साहित्य के प्रति; किन्तु दुःख इस बात का है कि जैनाचार्यों ने जितना वैद्यक साहित्य निर्मित किया है वह अभी तक प्रकाशित नहीं किया जा सका है। यही कारण है कि वर्तमान मे उनके द्वारा लिखित अनेक वैद्यक ग्रन्थ या तो लुप्त हो गये हैं अथवा खण्डित रूप मे होने से अपूर्ण है। काल-कवलित हुए अनेक वैद्यक ग्रन्थो का उल्लेख विभिन्न आचार्यों की वर्तमान में उपलब्ध अन्यान्य कृतियों मे मिलता है। विभिन्न जैन भण्डारों या मन्दिरो मे खोजने पर अनेक वैद्यक ग्रन्थों के प्राप्त होने की सम्भावना है; अतः विद्वानों द्वारा इस दिशा मे प्रयत्न किया जाना अपेक्षित है। सम्भव है कि इन वैद्यक ग्रन्थों के प्रकाश में आने से आयुर्वेद के उन महत्त्व-पूर्ण तथ्यों और सिद्धान्तो का प्रकाशन हो सके जो आयुर्वेद के प्रचुर साहित्य के काल कवलित हो जाने से विलुप्त हो गये है। जैनाचार्यों द्वारा लिखित वैद्यक ग्रन्थो के प्रकाशन से आयुर्वेद के विलुप्त साहित्य और इतिहास पर भी प्रकाश पड़ने की पूरी सम्भावना है।

वर्तमान मे केवल एक ही ऐसा वैद्यक ग्रन्थ उपलब्ध है

जो जैनाचार्य द्वारा लिखित है और प्रकाशित किया गया है। श्री उग्रादित्याचार्य-प्रणीत उक्त वैद्यक ग्रन्थ का नाम 'कल्याणकारक' है, जिसका हिन्दी अनुवाद और सम्पादन प० वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री (सोलापुर) ने किया है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन सन् १९४० मे किया गया था। सेठ गोविन्दजी रावजी दोशी (सोलापुर) ने इसे प्रकाशित करवाया था। स्वा० रावजी सखाराम दोशी की उत्कट अभिलाषा थी कि जैनाचार्यों द्वारा प्रणीत वैद्यक शास्त्र के प्रकाशन के सम्बन्ध में कुछ कार्य होना चाहिये। यही कारण है कि 'कल्याणकारक' ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए उन्होने अथक परिश्रम किया। जब उन्हे यह मालूम हुआ कि श्री उग्रादित्याचार्य-प्रणीत एक समग्र जैन वैद्यक ग्रन्थ मैसूर गवर्नमेंट लायब्रेरी मे मौजूद है, तो बिना किसी प्रमाद और विलम्ब के तत्काल उन्होने उक्त ग्रन्थ की प्रतिलिपि कराने की व्यवस्था की। प्रतिलिपि के पूर्ण हो जाने पर उन्होने प० वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री से उसके संपादन एव अनुवाद का आग्रह किया। पहले तो पण्डित जी को सकोच हुआ कि अनभ्यस्त विषय में कैसे हाथ डाला जाए (क्योकि शास्त्रीजी धर्म-न्याय-दर्शन के तो प्रकाण्ड विद्वान है, किन्तु आयुर्वेद विषय में उनकी अपेक्षित गति नही है); किन्तु बाद में श्री दोशी के विशेष आग्रह के कारण और जैन वैद्यों का इस ओर उपेक्षा-भाव देखकर उन्होने यह गुरुतर भार अपने कन्धों पर लेना स्वीकार कर लिया। वैद्यक विषय मे यद्यपि उनकी गति नहीं थी, तथापि 'कल्याणकारक' ग्रन्थ के अनुवाद और सपादन की प्रेरणा ने उन्हें इस कार्य हेतु उत्साहित किया, जिससे उन्होंने 'चरक सहिता' आदि आयुर्वेद के ग्रन्थो का अध्ययन किया और वैद्यक सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त किया। इससे उनका कार्य सरल हो गया और उनके लिए 'कल्याणकारक' की दुरूहता भी समाप्त हो गयी। उसके बाद उन्होंने बड़े उत्साहपूर्वक लगन के साथ इस कार्य को सम्पन्न किया।

इसमे कोई सन्देह नही है कि जैनाचार्यों द्वारा लिखित आयुर्वेद के ग्रन्थो की सख्या प्रचुर है, किन्तु उन ग्रन्थो की भी वही स्थिति है जो जैनाचार्यों द्वारा लिखित ज्योतिष के ग्रन्थो की है। जैन समाज ने तथा अन्यान्य जैन सस्थाओ ने जैनाचार्यों द्वारा प्रणीत धर्म-दर्शन-साहित्य-काव्य-अलकार आदि के ग्रन्थों के प्रकाशन की तो व्यवस्था की है, उसमे रुचि भी दिखायी है और उसके लिए पर्याप्त राशि भी व्यय की है, किन्तु आयुर्वेद और ज्योतिष के ग्रन्थों के प्रति उसने कोई ध्यान नही दिया। यही कारण है कि इस साहित्य की प्रचुरता होते हुए भी यह अभी अन्धकारावृत्त है। अब तो स्थिति यहाँ तक हो गयी है कि जैनाचार्यों द्वारा प्रणीत जिन ग्रन्थो की रचना का पता चलता है उन ग्रन्थों का अस्तित्व ही हमारे सामने नही है। अनेक स्थानों पर स्वामी समन्तभद्र के वैद्यक ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है, किन्तु वह ग्रन्थ अभी तक अप्राप्य है। 'श्रीपूज्यपादोदित' आदि कथनो को उद्धृत करते हुए अनेक जैनेतर विद्वान् वैद्यक मे अपना योगक्षेम चलाते हुए देखे गये है; किन्तु अत्यधिक प्रयत्न किये जाने पर भी पूज्यपाद विरचित ग्रन्थ प्राप्त नही हो सका। इसी प्रकार और भी अनेक ग्रन्थों का प्रकरणान्तर से उल्लेख तो मिलता है, किन्तु ढूढ़ने पर उनकी उपलब्धि नही होती है।

वर्तमान मे उपलब्ध एव प्रकाशित वैद्यक ग्रन्थ 'कल्याणकारक, को देखने से ज्ञात होता है कि जैनेतर आयुर्वेद के ग्रन्थो की अपेक्षा जैन वैद्यक गन्थो में कुछ भिन्नता और विशेषता अवश्य है। एक मौलिक विशेषता तो यह है कि जैन मनीषियो, विद्वानो और विचारकों ने जिस प्रकार अपने समग्र वाङ्मय और आचरण में 'अहिंसा परमोधर्मः' सिद्धान्त का परिपालन किया है, उसी प्रकार वैद्यक ग्रन्थों मे भी इस सिद्धान्त का निर्वाह करते हुए उसे अक्षुण्ण बनाये रखा है। यही कारण है कि जैन वैद्यक ग्रन्थ 'कल्याणकारक, मे कही भी मद्य, मास और मधु का प्रयोग किसी भी औषधि मे अनुपान के रूप मे अथवा औषधि के रूप मे निर्दिष्ट नहीं किया गया है। केवल उसी औषधि और आहार-विहार का निर्देश है जो हिंसा से रहित सात्विक गुणों से युक्त है; क्योकि एक प्राणी की हिंसा से दूसरे प्राणी की रक्षा जैनधर्म को अभीष्ट नही है। उसके अनुसार तो प्राणि-मात्र की रक्षा उसका परम उद्देश्य है।

'कल्याणकारक' मे शरीर के स्वास्थ्य की रक्षा और विकारो से शरीर की मुक्ति हेतु औषधि-सेवन तथा अन्य उपायो का पर्याप्त विवेचन प्रस्तुत किया गया है, किन्तु इसका मूल उद्देश्य यह है कि स्वस्थ शरीर भौतिक रूप से

हृष्ट-पुष्ट हो कर केवल इन्द्रियजन्य विषय-भोगों में ही अनुरक्त न रहे, अपितु वह आत्मकल्याण हेतु प्रयत्न करे। जैनाचार्यों की दृष्टि में शारीरिक स्वास्थ्य आत्म-स्वास्थ्य के लिए है, इन्द्रियजन्य विषय-भोगों के लिए नहीं। इस तथ्य का प्रतिपादन जैनाचार्यों ने स्थान-स्थान पर किया है। 'कल्याणकारक' में सर्वत्र ही औषधि के लिए केवल वनस्पति, खनिज, क्षार, रस, रत्न, मुक्ता, प्रवाल आदि द्रव्यों का प्रयोग वर्णित है। इस प्रकार हिंसाजनक द्रव्यों के सेवन का निषेध करते हुए अहिंसा के उपादान-भूत द्रव्यों के सेवन से ही शारीरिक स्वास्थ्य-रक्षा का उपदेश दिया गया है। इसी प्रकार, शारीरिक स्वास्थ्य के लिए आचरण की शुद्धता पर भी जैन मनीषियों ने विशेष जोर दिया है। आचरण की शुद्धता शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए तो उपयोगी है ही, उससे आत्मकल्याण का मार्ग भी प्रशस्त होता है। इस प्रकार, केवल इहलौकिक सुख की प्राप्ति हेतु ही शरीर को स्वस्थ, निरोग व हृष्ट-पुष्ट बनाना जैनाचार्यों को अभीष्ट नहीं था, अपितु इसलिए था कि स्वस्थ शरीर के माध्यम से वह आत्मानुचिन्तन और आत्मपरिशीलन करता हुआ आत्मसाधन कर सके तथा संसार के समस्त बन्धनों को काट कर अपवर्ग को प्राप्त कर जीवन की सार्थकता को प्रतिपादित कर सके।

जैन वाङ्मय मे अन्य शास्त्रों या विषयों की भाँति आयुर्वेदशास्त्र या वैद्यक विषय की प्रामाणिकता भी प्रतिपादित है। जैनागम मे वैद्यक विषय को भी आगम के अंग के रूप मे स्वीकार किया गया है। जैनागम में केवल उसी विषय, आगम या शास्त्र की प्रामाणिकता है जो सर्वज्ञ प्रतिपादित है। सर्वज्ञ कथन के अतिरिक्त अन्य किसी विषय या स्वरुचिविरचितत्व को कोई महत्त्व या स्थान नहीं है। सर्वज्ञ परमेष्ठी के मुख से जो दिव्यध्वनि निकलती है, उसे श्रुतज्ञान के धारक गणधर परमेष्ठी ग्रहण करते हैं। गणधर-गृहीत वह दिव्यध्वनि (जो ज्ञानरूप होती है) उनके द्वारा बारह भेदों मे विभक्त की गयी, जिसे आचारांग आदि के रूप मे उन्होंने निरूपित किया। गणधर द्वारा निरूपित बारह भेदों को 'द्वादशांग' की संज्ञा दी गयी है। इन द्वादशांगों मे प्रथम आचारांग है और बारहवाँ दृष्टिवाद नाम का अंग है। उस बारहवें दृष्टिवादांग के पाँच भेद है। उन पाँच भेदों में से एक भेद पूर्व (पूर्वगत) हैं। इस 'पूर्व' भेद के भी पुनः चौदह भेद है। इन चौदह भेदों मे (पूर्व) 'प्राणावाय' नाम का एक भेद है। इसी प्राणावाय नामक अंग में अष्टांग आयुर्वेद का कथन किया गया है। जैनाचार्यों के अनुसार आयुर्वेद या वैद्यक शास्त्र का यही मूल है। इसी के अनुसार अथवा इसी के आधार पर जैनाचार्यों ने वैद्यक शास्त्र का निर्माण अथवा आयुर्वेद के विषय का प्रतिपादन किया है। जैनागम के अन्तर्गत प्रतिपादित प्राणवायपूर्व का निम्न लक्षण बतलाया गया है— 'कायचिकित्साद्यष्टांग-आयुर्वेदः भूतकर्मजांगुलिप्रक्रमः प्राणपानविभागोऽपि यत्र विस्तरेण वर्णितस्तत्प्राणावायम्" अर्थात् जिस शास्त्र मे काय, तद्गत दोष तथा चिकित्सा आदि अष्टांग आयुर्वेद का वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया हो, पृथ्वी आदि महाभूतों की क्रिया, विषैले जानवर और उनकी चिकित्सा आदि तथा प्राणापान का विभाग जिसमे किया गया हो उसे प्राणावाय-पूर्व शास्त्र कहते है।

द्वादशांग के अन्तर्गत निरूपित प्राणावायपूर्व नामक अंग मूलतः अर्धमागधी भाषामे लिपिबद्ध है। इस प्राणावाय-पूर्व के आधार पर ही अन्यान्य जैनाचार्यों ने वैद्यक ग्रन्थों का प्रणयन किया है। श्री उग्रादित्याचार्य ने भी प्राणावाय-पूर्व के आधार पर 'कल्याणकारक' नामक वैद्यक ग्रन्थ की रचना की है। इस तथ्य का उल्लेख आचार्यश्री ने स्थान-स्थान पर किया है। इसके अतिरिक्त ग्रन्थ के अन्त में उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है—

सर्वार्धाधिकमागधीयविलसद्भाषापरिशेषोज्ज्वल-
प्राणावायमहागमादवितथं संगृह्य संक्षेपतः।
उग्रादित्यगुरुर्गुरुर्गुणैरुद्भासिसौख्यास्पदं
शास्त्रं संस्कृतभाषया रचितवानित्येष भेदस्तयोः॥

—कल्याणकारक, अध्याय २५, श्लोक ५४

अर्थात् सर्व अर्थ को प्रतिपादित करने वाली सर्वार्ध-मागधी भाषा मे जो अत्यन्त सुन्दर प्राणावाय नामक महागम (महाशास्त्र) अंग है उससे यथावत् संक्षेप रूप से संग्रह कर उग्रादित्य गुरु ने उत्तम गुणों से युक्त सुख के स्थानभूत इस शास्त्र की संस्कृत भाषा मे रचना की। इन दोनों (प्राणावाय अंग और कल्याणकारक) मे यही अन्तर है।

इस प्रकार जैनागम मे आयुर्वेद या वैद्यक शास्त्र की प्रामाणिकता प्रतिपादित है। आयुर्वेद, जिसे जैनागम में

(शेष पृ० ६४ पर)

बुद्ध और महावीर

□ डा० देवसहाय त्रिवेद

अभी तक लोग मानते रहे है कि नातपुत्र-ज्ञातृपुत्र भगवान् बुद्ध के समकालिक थे क्योंकि सामान्यतः सभी मान लेते हैं कि ज्ञातृपुत्र ही महावीर वर्द्धमान है तथा निगंठ, निर्ग्रंथ (विना बंधन के) बौद्ध संघ की स्थापना के पूर्व भी एक महान् सम्प्रदाय के रूप में विद्यमान थे। पाश्चात्य विद्वानों ने तो प्रारम्भ में भगवान् बुद्ध व महावीर को एक ही समझ लिया था। किन्तु अब यह शका प्रबल होती जा रही है कि क्या ये दोनों महापुरुष बुद्ध व महावीर समकालिक थे ?

निगंठ—समगामसुत्त के अनुसार जब भगवान् बुद्ध शाक्य प्रदेश के सामगाम मे डेरा डाले थे, निगठ नाथपुत्र की[1] मृत्यु का समाचार एक शिष्य ने आनन्द को सुनाया। प्रचलित मान्य परम्परा के अनुसार भगवान् बुद्ध व महावीर की निर्वाण तिथि हैं—५२७ खृ० पू० तथा ५४३ खृ० पू० (सिहल)। अतः स्वयं बुद्ध गौतम भगवान् ही तीर्थंकर महावीर निर्वाण के १६ वर्ष पूर्व ही (५४३—५२७) चल बसे थे। मज्झिमनिकाय का उपालिसुत्त कहता है कि निगंठ नाथपुत्र भगवान् बुद्ध की प्रशसा न सह सके अतः उनके मुख से लाल रक्त टपकने लगा। अतः यह मानना होगा कि निगंठ नाथपुत्र का निधन बुद्ध निर्वाण के बहुत पहले ही हो गया था।

चातुर्याम -यह शंकास्पद है कि बुद्ध-महावीर प्रायः समकालिक थे जैसा कि लोग अभी तक मानते आ रहे है। किन्तु इतना निश्चित है कि निगठ नाथपुत्र का निधन बुद्ध निर्वाण से पूर्व हुआ। स्यात् यह निगंठ नाथपुत्र महावीर का कोई पूर्ववर्ती जैन अर्हत् था। दीघनिकाय मे निगठ नाथपुत्र के चातुर्याम सवर सवुत्तों का उल्लेख है। पाली चातुर्याम का प्राकृतरूप है चतुज्जाम जो तीर्थंकर महावीर के सभी पूर्ववर्ती सिद्धान्तों पर लागू होता है। महावीर का सुधार सम्प्रदाय पंचयाम धर्म के नाम से ख्यात है। चातुर्याम धर्म हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह जिनमे महावीर ने ब्रह्मचर्य जोड़कर पंचयाम धर्म की संज्ञा दी।

गोत्र—बौद्धों के अनुसार नातपुत्र का गोत्र था अग्गिवेसान=अग्निवेश्यायन, किन्तु जैनो के अनुसार महावीर का गोत्र था काश्यप। अतः तीर्थंकर के गोत्र के विषय में हमे जैन परम्परा को ही श्रेय मानना चाहिए। बौद्ध ग्रथों मे प्रायः निग्रंठ नाथपुत्र की चर्चा है तथा कभी-कभी नातपुत्र का भी उल्लेख मिलता है। किन्तु जैन परम्परा के अनुसार महावीर का जन्म ज्ञातृकुल मे हुआ था। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के डाक्टर बाबूराम सक्सेना अपने पत्र ५ सितम्बर १६४० में कहते हैं—ज्ञात या ज्ञाति का रूप नय, नाइ, जाय या जाइ हो सकता है किन्तु नाथ का रूप नाय या नाइ नहीं हो सकता। नाथ का प्राकृत रूप होगा नाह या णाह। महाप्राण अक्षर मेरी समझ मे अबतक इतने विकृत नही हुए हैं। नाय का 'या' किसी व्यजन के लोप का द्योतक है।

चेटक—बौद्ध ग्रन्थों मे वैशाली के राजा सिंह का उल्लेख है किन्तु जैन ग्रन्थों मे वैशाली का राजा है चेटक। वैशाली जैनों का गढ़ था। बौद्ध इसे घृणा की दृष्टि से देखते थे, क्योंकि यह अनास्तिकों व विद्रोहियों का अड्डा था। बौद्धो के अनुसार वैशाली का शासन राजा, उपराज व सेनापति की सहायता से सघ के द्वारा करता था किन्तु जैनों के निरयावली-सुत्त के अनुसार, काशी व कोसल में १८ गणराज्य थे। इनके सिवाय लिच्छवी, मल्लकी तथा वैशाली के राजा थे चेटक।

दो महान् समाज सुधारक एक ही काल तथा क्षेत्र में अपने सिद्धान्त का प्रचार करें तथा वेद-ब्राह्मण धर्म को

---

१. (क) भारत का नया इतिहास, पुणे १६७८, पृ० १०। (ख) भारतीय विद्या, बम्बई, भाग ८, पृ० २३४।

उखाड़ फेंकने की चेष्टा करें, किन्तु दोनों आपस में कभी मिलकर इसे समूल नष्ट करने का यत्न न करें, यह एक विचारणीय प्रश्न है। मेरे ख्याल से यदि वे समकालिक होते तो अवश्य मिलते। उनका कदापि सम्मेलन न होना आश्चर्यजनक है।

कुमारिल भट्ट—तीर्थंकर महावीर ही नहीं, पार्श्वनाथ (निर्वाण ८४९ खृ० पू०) के पहले भी जैन धर्म प्रचलित था। ऋषभदेव (७६७३ खृ० पू०) जैनों के आदि तीर्थंकर है। बौद्ध ग्रन्थों मे जैन सिद्धान्तों का खण्डन है किन्तु जैन ग्रन्थों मे बौद्ध सिद्धान्तों का पता भी नहीं चलता। खृष्टपूर्व षष्ठ शती मे बौद्ध धर्म की जड़ जर्जर हो गयी थी।[२] कुमारिल भट्ट ने सनातन वैदिक धर्म श्लोक को दृढ तर्कसगत करने के लिए महावीर का शिष्यत्व किया। गुरुद्रोह के शाप से मुक्त होने के लिए कुमारिल भट्ट ने तीर्थराज प्रयाग मे तुषानल मे अपना शरीर भस्म कर देना उचित समझा, किन्तु शकराचार्य[३] (५०८–४७६ खृ० पू०) ने उन्हें बचा लिया। उन्होंने भारत से बौद्धो का पत्ता काट दिया तथा आर्य वैदिक धर्म की पताका फहरायी।

श्रेणिक - श्रेणिक जैन संघ का नेता तथा महावीर का समकालिक था। उसकी रानी चेल्लना साध्वियों की नेत्री थी। संस्कृत श्रेणिक के प्राकृत व पाली रूप क्रमशः सेणिय व सेनिय है। कुछ आधुनिक विद्वानों ने श्रेणिक का समीकरण मगधराज बिम्बिसार से तथा उसके पुत्र कुणिक= कोणिक अजात-शत्रु से किया है जिससे बुद्ध और महावीर समकालिक सिद्ध किये जा सकें। किन्तु इस समीकरण में अनेक दोष हैं। बिम्बिसार शिशुनागवशी क्षत्रौजा का उत्तराधिकारी व पुत्र था। किन्तु श्रेणिक का पिता है उपश्रेणिक जिसने श्रेणिक को घर से बाहर निकाल दिया था और चिलाति को राज्य दिया। चिलाति अयोग्य था। वह राज्य न संभाल सका। अतः मंत्रियो ने उसे राजपद से हटाकर श्रेणिक को राजा बनाया। कोणिक की माता थी चेल्लना जो वैशाली गण के राजा चेटक की कन्या थी। अजातशत्रु की माता थी कोसलदेवी जो कोसलराज प्रसेनजित की बहन थी। कुणिक की पट्टमहिषी थी पद्मावती—धारिणी—सुभद्रा किन्तु अजातशत्रु की महिषी थी वजिरा जो कोसलराज प्रसेनजित की पुत्री थी। अजातशत्रु की राजधानी थी पाटलिपुत्र किन्तु कुणिक की राजधानी थी चम्पा, न कि पाटलिपुत्र।

पितृघातक—कुणिक व अजातशत्रु दोनो पितृघातक भले ही हों, किन्तु स्वप्नेच्छा, अंगुष्ठपीडा तथा कारायातना के विवरण मे आकाश-पाताल का अन्तर है। पिता की मृत्यु के बाद कुणिक ने चम्पा को अपनी राजधानी बनाया। उसने अपना राज्य, सेना व कोष अपने ११ भाईयो के लिए ११ भागो मे बाँट दिया। चेल्लना के दो पुत्र हल्ल व बेहल्ल कुणिक के सगे भाई थे। श्रेणिक

---

२. एज आव शकर, मद्रास, १९१६;

जिनविजय नामक ग्रंथ में नारायण शास्त्री द्वारा लिखित लेख मे निम्न देखे जा सकते हैं। इसके अनुसार जैन युधिष्ठिर संवत् का प्रारम्भ ४६८ कलि सवत् में हुआ। इनका जन्म युधिष्ठिर सवत् २०७७ तथा पराभव २१०० है। अतः कुमारिल भट्ट का जन्मकाल है कलि संवत् २५४५ (२०७७+४६८)=खृष्टपूर्व ५५६ (३१०१-२५४५)। इनका पराभव ३२ वर्ष की अवस्था मे हुआ तथा शकर इनसे १६ वर्ष की अवस्था में प्रयाग मे खृ० पू० ४९२ मे मिले थे।

आध्रोत्कलानां सयोगे पवित्रे जयमगले।
ग्रामे तस्मिन् महानद्यां भट्टाचार्यकुमारकः॥
आन्ध्रजातिस्तैत्तिरीयो माता चन्द्रगुणा सती।
यज्ञेश्वरः पिता यस्य ॥
महावादिर्महान् घोरः श्रुतीना चाभिमानवान्।
जिनानामन्तकः साक्षात् गुरुद्वेष्यातिपापवान्॥
ऋषिवारस्तथा पूर्णे मत्स्याक्षो वाम मेलनात्।
एकीकृत्य लभेताङ्कः क्रोधी स्यत्तत्र वत्सरः॥
भट्टाचार्यकुमारस्य कर्मकाण्डस्यवादिनः।
ज्ञेयः प्रादुर्भवस्तस्मिन् वर्षे यौधिष्ठिरे शके॥
नन्दाः पूर्णभूश्च नेत्रे मनुजाना च वामतः।
मेत्यजे वत्सरो धाता युधिष्ठिर शकस्य वै॥
भट्टाचार्य कुमारस्य कर्मकाण्डस्य वादिनः।
जातः पराभवस्तस्मिन विज्ञेयो वत्सरे शुभे॥

३. इण्डियन क्रोनोलाजी, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९६३।

ने सेचानक हाथी और १८ रत्नो का हार अपने पेटपोछना लाडले बेहल्ल को दे दिया था। इन्हे पाकर बेहल्ल गंगा तीर पर मौज से इठलाता था। इसे देखकर कुणिक की राजमहिषी पद्मावती की छाती पर सॉप लोटने लगा। कुणिक ने उन्हे हथियाना चाहा और सौंप देने की आज्ञा दी। अतः बेहल्ल सहायता के लिए अपने मामा चेटक के पास पहुंचा। चेटक ने काशी व कोशल के १८ गणराज्यों को, ६ मल्लकी और ६ लिच्छवियो की सहायता से कुणिक से लोहा लिया। किन्तु बौद्ध साहित्य में वैशाली व मगध राज्य मे युद्ध का कारण है रत्नो की खान। कुणिक ने श्येन व्यूह की रचना की तथा चेटक ने शकटव्यूह की। इस प्रकार हम देखते है कि अजातशत्रु तथा कुणिक दोनों की युद्ध नीति, सग्राम शैली तथा दुर्गपतन की प्रक्रिया में महान् अन्तर है।

मुनि नगराज[४] ने अपने "श्रेणिक बिम्बिसार तथा कुणिक अजातशत्रु" मे भगवान् महावीर की परम्परा तिथि ५२७ खृ० पू० ठीक करने के लिए बुद्ध का निर्वाणकाल खृ० पू० ५०२ मनमाने ढंग से मान लिया है। अतः बुद्ध निर्वाण की ५० तिथियां विद्वानो को चक्कर मे डाल देती है।

अतः प्रतीत होता है कि प्रचलित मान्य समीकरण निराधर है। दोनो सम्प्रदायाचार्य एक समय मे थे ही नहीं। इसी कारण बौद्ध व जैनो के धर्मग्रंथ की भाषा भी एक दूसरे से भिन्न है यद्यपि दोनो सम्प्रदाय अपने आचार्य के वचनो को उद्घृत करने का दम्भ भरते है।

अतः मानना होगा कि अजातशत्रु ने खृष्ट पूर्व १६वी शती मे भले ही वैशाली गणराज्य को हड़प लिया था किन्तु वहां पर पुनः छोटे-छोटे गणराज्य पनपने लगे। तीर्थंकर महावीर के काल मे दक्षिण मे आंध्रो का सितारा चमक रहा था। मगध मे ही नही, समस्त उत्तरापथ मे छोटे-छोटे सामन्त दो चावल को अपनी खिचड़ी पकाते थे। श्रेणिक व कुणिक इन्ही सामन्त राजाओ मे से थे। अतः कहा जा सकता है कि बुद्ध का निर्वाण खृ०पू० १७६३, अजातशत्रु के आठवें वर्ष मे हुआ तथा भगवान् महाबीर का प्रादुर्भाव बुद्धनिर्वाण के प्रायः १२०० वर्ष बाद (१७६३—५२७+७२) हुआ। इसी कारण वे कभी न मिल सके तथा बौद्ध ग्रंथो मे महावीर का कही उल्लेख नही है।

इस विषय मे एक सगोष्ठी, जैन विश्वभारती, लाडनू, राजस्थान मे २१ जनवरी, १९७९ को निदेशक डाक्टर नथमल टाटिया की अध्यक्षता में हुई। इसमें आचार्य देवीचन्द शर्मा, लूणकरण विद्यार्थी, फूलचन्द जैन, नाथूलाल जैन, वीणा जैन, कुसुम जैन, विजयकुमार धर्माधिकारी तथा जगतपाल जी ने भाग लिया। समवेत अभिमत था कि इस विषय पर गहन चिन्तन व विचार की आवश्यकता है। क्या अन्य विद्वज्जन भी इस विषय पर समुचित विचार करेंगे? □□

(शेषांश पृ० ५८ का)

तमो गुणी प्रवृतियों प्रतीक मानकर) उन्हें वैराग्य पथ से विचलित करने का प्रयास करते हुए दिखलाया गया है, किन्तु जिस वैराग्य पर ये तीनों प्रवृत्तियाँ प्रभाव नही डाल सकती, वह सर्वोपरि अभिनन्दनीय है। इसीलिए भगवान् महावीर के वैराग्य को जो अप्रतिम गौरव प्राप्त हुआ है, वह उनकी कृतसंकल्प भावना पर आधारित है।

ससार के किसी भी भय से सत्रस्त न होने के कारण उनकी निर्भयता उस समय प्रगट हुई है जिस समय शूलपाणि नामक यक्ष उन्हें सत्रस्त करने मे असफल होता है। इस ख्याति मे वर्धमान महावीर का ई० पू० ७०० वर्ष से मानवता के कल्याण के लिए बारह वर्ष तक जो अमर संदेश वायुमण्डल मे गूजा है वह सदैव मानवता-विजयकेतु को फहराने के लिए प्रत्येक युग को प्रेरित करना रहेगा। मानव-जीवन पथ को प्रशस्त करनेके लिए भगवान महावीर का विचार तथा कृतित्व समस्त विश्व के लिए एकअनुपम धरोहर है। (वीर-निर्वाण-सेवा, इन्दौर के सौजन्य से) □□

(शेषांश पृ० ६१ का)

'प्राणावाय' की सज्ञा दी गयी है, द्वादशाग का ही एक अंग है। जैन वाङमय में द्वादशाग की प्रामाणिकता सर्वोपरि है, अतः उसके अन्तर्गत प्रतिपादित 'प्राणावाय' की प्रामाणिकता भी सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार जिस अष्टांग-परिपूर्ण वैद्यक शास्त्र को इतर आचार्यों-महर्षियों ने आयुर्वेद की संज्ञा दी है उसे जैनाचार्यों ने 'प्राणावाय' की संज्ञा दी है।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि जैनाचार्यों ने भी अन्य आचार्यों की भाँति आयुर्वेद-साहित्य के सृजन में अपना अपूर्व योगदान किया है। आवश्यकता इस बात की है कि अनुसन्धान द्वारा उस साहित्य को प्रकाश मे लाकर आयुर्वेद-साहित्य की वृद्धि की जाए और आयुर्वेद की दृष्टि से उनका उचित मूल्यांकन किया जाए। □□

---

४. जैन विश्वभारती लाडनूं, १९७४।

सांख्य-दर्शन में सृष्टि-निर्माण : तुलनात्मक विवेचन

□ सुश्री अंजू सुराना, आगरा

भारतीय दर्शन में सृष्टि-निर्माण का प्रश्न महत्त्वपूर्ण रहा है। भारत के सभी विचारकों ने इस पर गहराई से विचार किया है। भारतीय दर्शनों में सांख्य-दर्शन बहुत प्राचीन है। वह भी जैन दर्शन की तरह ईश्वरवादी नहीं है अर्थात् ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता एवं निर्माता नहीं मानता है। सांख्य-दर्शन की मान्यता है कि प्रकृति और पुरुष का संसर्ग होता है तब ससार की उत्पत्ति होती है।

सांख्य-दर्शन में सृष्टि-निर्माण के सम्बन्ध मे मुख्यता प्रकृति की है; क्योंकि पुरुष कर्ता नही है, वह निष्क्रिय है। कर्ता स्वयं प्रकृति है। इसलिए परिणमन भी पुरुष मे नही, प्रकृति में होता है। कारण स्पष्ट है कि पुरुष निष्क्रिय है, और प्रकृति सक्रिय। प्रकृति त्रिगुणात्मक है। तीनो गुण—रजो गुण, सतो गुण और तमो गुण जब तक साम्य अवस्था मे रहते है, प्रकृति शान्त रहती है, उसमे किसी तरह को हलचल नजर नही आती। जब तीनों गुणों मे विषमता होती है, तब सृष्टि का प्रादुर्भाव होता है। प्रकृति की सक्रियता से ही सृष्टि का निर्माण होता है।

सृष्टि-निर्माण का क्रम :

सर्व प्रथम बुद्धि का उद्‌भव होता है। यह प्रकृति का प्रथम विकार है। बाह्य जगत की दृष्ठि से बुद्धि बीज स्वरूप है, जिसमे से विराट् जगत् जन्म लेता है और अन्तर्-दृष्टि से विचार करें तो बुद्धि अर्थात् ज्ञान के द्वारा ही ज्ञाता ज्ञेय पदार्थों को जानता है। बुद्धि दो प्रकार की मानी गई है—जब सत्व गुण के आधिक्य से बुद्धि उद्‌बुद्ध होती है, तब उसे सात्विक बुद्धि कहते है और जब उसमे तमो गुण की अधिकता होती है, तब उसे तामसिक-बुद्धि कहते है। सात्विक-बुद्धि से व्यक्ति धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं साधना की ओर गति करता है और तामसिक बुद्धि का प्रभाव बढ़ने पर वह अधर्म, अज्ञान एव विषय-विकारो की ओर दौड़ता है। वस्तुत: बुद्धि का व्यापार पुरुष (आत्मा) के लिए है। बुद्धिके सहयोग से पुरुष स्व और पर(प्रकृति) का भेद समझ कर अपने यथार्थ एव शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर सकता है :

अहंकार : प्रकृति का दूसरा विकार अहकार है। यह बुद्धि का परिणाम है। बुद्धि की अहता और ममता भाव अर्थात् मैं और मेरापन का अभिमान ही अहंकार है। अहंकार के कारण पुरुष भ्रम मे पड़कर स्वयं को कर्म का कर्ता एवं स्वामी समझने लगता है। अहकार तीन प्रकार का माना गया है—१. सात्विक, २. राजस और ३. तामस सात्विक अहंकार से एकादश इन्द्रियों—मन, पाच ज्ञानेन्द्रियों और पाच कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। तामस अहंकार से पाँच तन्मात्राओं और पाँच महाभूतो की उत्पत्ति होती है। राजस अहंकार सत्व एवं तामस का सहयोगी है।

ज्ञानेन्द्रियाँ : नेत्रेन्द्रिय, श्रवणेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय रसनेन्द्रिय और त्वगेन्द्रिय—इन पाँचों इन्द्रियो के द्वारा क्रमशः रूप, शब्द, गंध, रस और स्पर्श का ज्ञान होता है। ये अहंकार के परिणाम है और पुरुष के निमित्त उत्पन्न होते है। इसलिए सांख्य-दर्शन इनका कर्त्ता प्रकृति को मानता है, पुरुष को नही। पुरुष कर्त्ता नही, केवल भोक्ता है।

कर्मेन्द्रियाँ : पुरुष भोक्ता है। विषय की भोगेच्छा की पूर्ति ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियो के द्वारा होती है। कर्मेन्द्रियाँ भी पाँच है—मुख, हाथ, पैर, मलद्वार एवं जननेन्द्रिय। इनके कार्य इस प्रकार हैं–वाक्, ग्रहण, गमन, मल-त्याग और प्रजनन। वास्तव मे, इन्द्रियाँ अप्रत्यक्ष शक्ति रूप हैं, जो इन अवयवों मे रहती है और अपने-अपने विषयों को ग्रहण करती हैं।

मन : मन आभ्यन्तर इन्द्रिय है। वह ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय और दोनों से सबद्ध है। मन ही इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों की ओर प्रेरित करता है। मन वस्तुतः सूक्ष्म है, फिर भी सावयव है। अतः वह युगपत् भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के साथ संयुक्त हो सकता है, क्योंकि वह अन्तःकरण है। मन, बुद्धि और अहंकार—ये तीनों अन्तःकरण है और ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ बाह्य करण है। प्राण की क्रिया अन्तःकरण से प्रवर्तित होनी है और अन्तःकरण बाह्यकरण से प्रभावित होता है। कुल त्रयोदश-करण होते है।

पाँच-तन्मात्रा : शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के सूक्ष्म तत्त्वो को तन्मात्रा कहते है। पाँच विषयो की पाँच तन्मात्राएँ होती हैं। ये इतनी सूक्ष्म होती है कि इन्हें प्रत्यक्ष नही देख सकते। अनुमानसे ही इनका बोध होता है।

पञ्च महाभूत : पञ्च तन्मात्राओं से पञ्च महाभूतों का आविर्भाव होता है। सांख्य-दर्शन के अनुसार, शब्द-तन्मात्रा से आकाश महाभूत की उत्पत्ति होती है। स्पर्श और शब्द तन्मात्रा के संयोग से वायु की; शब्द, रूप

और स्पर्श के संयोग से अग्नि की; रस, शब्द, स्पर्श और रूप तन्मात्राओं के योग से जल की; और पाँचों तन्मात्राओं के संयोग से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। इसलिए इन पाँचों महाभूतों के गुण भी क्रमश: शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध हैं।

विकास के दो रूप : प्रकृति का विकास एवं फैलाव दो रूपों मे होता है—बुद्धि-सर्ग और भौतिक सर्ग। प्रथम अवस्था मे बुद्धि, अहंकार और मन आदि एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। उसके पश्चात् तन्मात्राओ एव महाभूतों की उत्पत्ति होती है, जिसे भौतिक तत्त्व कहते है। पाँच महाभूतों की उत्पत्ति के साथ ही सृष्टि-निर्माण का कार्य पूरा हो जाता है, इस प्रकार प्रकृति से सृष्टि साकार रूप लेती है और वह विलीन भी प्रकृति में होती है। सांख्य-दर्शन के अनुसार ससार का सारा खेल प्रकृति का है, पुरुष उसमे कुछ नही करता है। वह केवल इस खेल का द्रष्टा एवं भोक्ता है।

प्रकृति अचेतन है, जड़ है। परन्तु वह चेतन पुरुष से सबद्ध होने के कारण क्रिया उसी मे होती है। पुरुष शुद्ध है, उसमे क्रिया नही होती, इसलिए उसे बन्ध भी नही होता। कर्म, सुख-दुःख, शुभ-अशुभ सब प्रकृति के धर्म है, इसलिए प्रकृति मे ही होते है। पुरुष को फल का भोग इसलिए मिलता है कि वह भोक्ता है; जैसे राजा के सामने नर्तकी नृत्य करती है। नृत्य की क्रिया राजा नही करता, वह तो केवल द्रष्टा बनकर देखता है और उस नृत्य का आनन्द लेता है। इसी प्रकार प्रकृति नृत्य करने वाली नर्तकी है और पुरुष इस ससार के इस नृत्य का द्रष्टा एवं भोक्ता अर्थात् आनन्द लेने वाला, भोग करने वाला है। अचेतन प्रकृति सक्रिय कैसे होती है? इसके लिए सांख्य-दर्शन में बताया है कि गाय के सामने जब बछड़ा आता है, तब उसके स्तनों मे दूध की धारा स्वतः ही प्रवहमान हो जाती है। इसी प्रकार पुरुष का बिम्ब पड़ने से ही प्रकृति मे सक्रियता आ जाती है और वह सृष्टि-निर्माण के कार्य मे सक्रिय हो जाती है।

सांख्य-दर्शन जैन-दर्शन के काफी निकट है। जैन-दर्शन भी ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता स्वीकार नही करता। सृष्टि अनादि-अनन्त है। उसका निर्माता कोई ईश्वर नही है। इस बात को जैन-दर्शन भी स्वीकार करता है कि आत्मा स्वरूप की दृष्टि से शुद्ध है। आत्मा और पुद्गल—दो ही द्रव्य ऐसे है, जो सक्रिय है। आत्मा (पुरुष) शुद्ध है, उसका परिणमन अपने स्वरूप में होता है। कर्म पुद्गलों (प्रकृति) से संबद्ध होने के कारण वह ससार मे परिभ्रमण करता है। यह सत्य है कि कर्म-पुद्गल एव उनसे बने योगों से ही नये कर्मो का आगमन होता है। कर्म-पुद्गल ही पुद्गलों को आकर्षित करते है। परन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि अचेतन होने के कारण जड़-पुद्गल (प्रकृति) स्वत: कुछ नही कर पाते। योगो मे स्पन्दन तभी तक होता है, जब तक वे आत्मा से सबद्ध है और उन योगों से आगत कर्म-पुद्गलो का बन्ध जो होता है वह योगों से नही, परिणामों एवं भावना से होता है। परिणाम (भाव) आत्मा के है। भले ही वे शुद्ध भाव (स्वभाव) नहीं है, अशुद्ध-भाव (विभाव) है। परन्तु है आत्मा के ही। इसलिए इस अपेक्षा से जैन-दर्शन संसारी आत्मा को कर्त्ता भी मानता है, केवल भोक्ता नहीं। वह अपने आबद्ध कर्मों का कर्त्ता भी है, भोक्ता भी है और उनकी निर्जरा करके उनसे मुक्त होने वाला भी वही है। इस तरह सृष्टि के निर्माण मे दोनों में यह समानता भी है कि पुरुष (आत्मा) एव प्रकृति (कर्म-पुद्गल) के सयोग से ही संसार गतिशील है।

जैन-दर्शन आत्मा (पुरुष) को ज्ञान स्वरूप मानता है और सांख्य-दर्शन उसे (बुद्धि को, ज्ञान को) प्रकृति से उत्पन्न मानता है। वह भी जैन-दर्शन की तरह ज्ञान के शुद्ध-अशुद्ध दोनो रूप मानता है, परन्तु उसे पुरुष का स्वभाव नही मानता और वस्तु स्थिति यह है कि ज्ञान को आत्मा से पृथक् किया नही जा सकता। वह तब भी आत्मा मे रहता है, जब कि मुक्त अवस्था में प्रकृति (कर्म एव कर्मजन्य साधन) नहीं रहती।

सांख्य-दर्शन प्रकृति को परिणामी मानता है और पुरुष को अपरिणामी। परन्तु जैन-दर्शन प्रकृति (पुद्गल) की तरह पुरुष (आत्मा) को भी परिणामी नित्य मानता है। आत्मा का परिणमन अपने स्वभाव मे एवं अपने स्वरूप में होता है। लोक मे स्थित छहों द्रव्य—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल एव जीव अपने-अपने गुणों मे परिणमन करते है। प्रत्येक द्रव्य अनन्त गुणों एवं पर्यायों से युक्त होता है। अत: द्रव्य की अपेक्षा से नित्य रहते हुए उसकी पर्यायों में परिणमन होता है। परिणमन से उसकी नित्यता मे कोई बाधा उपस्थित नही होती। □□

जैन धर्म की प्रासंगिकता

□ डा० निजामुद्दीन

["अनेकान्तवादी समन्वयवादी होता है, वह परस्पर-विरोधी मतों, विचारधाराओं में सहिष्णुता की मिठास घोल कर उनकी कटुताओं को नष्ट कर उन्हें सर्वग्राही बनाता है। जैनधर्म का यह सिद्धान्त आज के संघर्षाकुल युग के लिए बहुत ही आवश्यक एवं उपादेय है। इसकी शरण में आकर साम्प्रदायिक और राजनीतिक सभी प्रकार के संघर्ष-द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं।]

आधुनिक बौद्धिक एवं तार्किक युग मे अनाग्रह-दृष्टि द्वारा ही सत्यान्वेषण किया जा सकता है। आग्रहजन्य आत्यन्तिक दृष्टि मिथ्यावाद की धुन्ध मे लिपट कर मनुष्य को अपने धर्म से विचलित कर देती है; उसकी वह दृष्टि दूसरों को तो भली प्रकार देख नही पाती, स्वयं को भी नही देख पाती। एक सन्तुलित एव सम्यक् दृष्टि प्राप्त कर हम दूसरों को, अपने को, देखकर ज्ञान-लोक मे उतर सकते है। जैनधर्म की प्रासगिकता इस दृष्टि से स्वयं-सिद्ध है कि उसका अनेकान्तवाद का सिद्धान्त सभी प्रकार के दुराग्रहों की धुन्ध को विच्छिन्न करता है और एक सामंजस्यपूर्ण दृष्टिकोण को पल्लवित करता है, समतामय विचारधारा को विकसित करता है। आज समाज मे, देश मे, विश्व मे विचारो का सघर्ष है। सभी अपने-अपने दृष्टिकोण को मूल्यवान समझकर दूसरों के दृष्टिकोण को अवहेलित तथा खण्डित करते है। दूसरो की बात को, मन को सहानुभूति और सहिष्णुता के साथ न सुनना पारस्परिक सघर्ष को हवा देना है। हमारे देश मे साम्प्रदायिक दगो की विभीषिका देश को आक्रान्त किये है। सिक्खो के जत्थों मे कई बार खून-खराबा हो चुका है। पिछले कुछ महीनो मे हिन्दू-मुसलमानो के दंगों मे मनुष्य-जाति का अनमोल रक्त बहाया गया, हिंसा का क्रूरतम रूप कभी सभल, कभी अलीगढ़, कभी जमशेदपुर आदि मे देखा गया। बेचारे असख्य हरिजनों को धधकती आग मे जीवित झोका गया। ये हृदय-विदारक घटनाएँ केवल इसलिए हुई कि लोगों मे वैचारिक सहिष्णुता नही, अनाग्रह दृष्टि नही, सर्वधर्म-सम भावका उदारवादी दृष्टिकोण नही, जो जैनधर्मके अनेकान्त-वाद मे अभिनिहित है। अनेकान्तवादी सघर्षवादी नही हो सकता, अनेकान्तवादी दुराग्रह द्वारा अपने मत को सर्वोत्तम नही कह सकता। अनेकान्तवादी समन्वयवादी होता है, वह परस्पर विरोधी मतों, विचार-धाराओ में सहिष्णुता की मिठास घोलकर उनकी कटुता को नष्ट कर सर्वग्राही बनाता है। जैन धर्म का यह सिद्धान्त आज के सघर्षाकुल युग के लिए बहुत ही आवश्यक और उपादेय है। इसकी शरण में आकर साप्रदायिक और राजनीतिक सभी प्रकार के संघर्ष-द्वन्द्व समाप्त हो जाते है। विश्व की सबसे बडी शान्ति स्थापित करने वाली सस्था यू० एन० ओ० जब अपने मिशन मे असफल हुई तो इस कारण ही कि सदस्य देश सकीर्ण विचार-धारा मे बाहर नही निकल सके, वे एक-दूसरे के प्रति सहिष्णु नही बन सके, उनके विचार-तन्तु समन्वयात्मक दृष्टि मे से उद्भूत नहीं थे, वे अनेकान्तवादी नहीं थे। अपने ही देश मे राजनीतिक उथल-पुथल पर दृष्टि डालकर देखिये तो यहाँ भी अनेकान्त-रहित दृष्टि ही प्रमुख कारण है। जैनधर्म तो एकत्व और अनेकत्व दोनों को सत्य मानकर अगीकार करता है। जैनधर्म में भगवान् महावीर ने सामाजिक और राजनीतिक, आर्थिक और साम्प्रदायिक सभी प्रकार की समस्याओ का अहिंसात्मक समाधान अनेकान्तवाद द्वारा प्रस्तुत किया है, जिसकी उपयोगिता आज अधिक तीव्रता मे अनुभव की जा रही है।

जैनधर्म की प्रासगिकता पर विचार करते हुए सामाजिक एकता को सामने रखना होगा। आज हमारा समाज न जाने कितनी जातियो-उपजातियों मे विभक्त है और उस पर तुर्रा यह कि ये जातियाँ-उपजातियाँ ऊँच-नीच की हीनता की ग्रन्थि मे इतनी बुरी तरह फँसी है कि जो नीच घोषित कर दी गयी वह बस प्रलयकाल तक—सृष्टि के अन्त तक—नीच ही बनी रहेगी। हरिजनो को ही लीजिये; संविधान मे समानता के अधिकार की घोषणा की गयी, फिर भी शासन को, सरकार को हरिजनो की सुविधा के लिए, उनके जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए विशेषाधिकारो की घोषणा करनी पड़ी; परन्तु इन विशेषाधिकारो को भोग कर अपना जीवन-स्तर ऊपर उठाने वाले क्या समाज मे समादृत है? नही। बाबू जगजीवन राम हमेशा से मन्त्री पद पर रहे हैं, परन्तु आम लोगो ने इन्हे 'हरिजन' ही समझा। जैनधर्म में इस प्रकार

के जातीय भेदभाव का कलंक नहीं। डा० राधाकृष्णन् ने ठीक कहा है—'जैन-दर्शन सर्वसाधारण को पुरोहित के समान धार्मिक अधिकार प्रदान करता है'। क्या कोई हरिजन वेद-उपनिषद् का महान् पण्डित होकर इस प्रकार धार्मिक अधिकार ग्रहण कर सकता है हिन्दू समाज मे? जैनधर्म तो लोकधर्म है, समाजधर्म है, उसमे व्यक्ति के विकास की पूर्ण स्वतन्त्रता है। बदलते हुए सन्दर्भों मे जैनधर्म का मूल्य उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। समाज मे एकता और समानता स्थापित करने के लिए जैनधर्म की ओर देखना होगा। हम यों नही कहेगे कि जैनधर्म, जो भगवान् ऋषभदेव से भगवान् महावीर तक श्रमण-धर्म की शिक्षाओं को तात्कालिक आवश्यकताओ के अनुकूल प्रचारित करता रहा, बदल गया है; हम तो यह मानते है कि वह बदला नही, बल्कि उसका क्षेत्र और अधिक विस्तृत हो गया है। वह 'जीव-मूल्यों' के साथ 'जीवन-मूल्यों की बातें भी कहने लगा है। उसकी आचारगत अहिंसा विचारगत अहिंसा की भूमि में पहुंच गयी है। व्यक्तिगत उपलब्धि सार्वजनिक बनती जा रही है। महावीर ने घर-बार छोड़कर जो व्यक्तिगत कैवल्योपलब्धि प्राप्त की वह सार्वजनिक ही तो है। क्या उनके समवसरण के द्वार सभी के लिए खुले नही थे? कसाई, चोर-जार, ज्ञानी-मूर्ख, बाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुष सभी बिना किसी भेदभाव के वहां सम्मिलित होते थे। जैनधर्म की यह समन्वयवादी या समानतावादी विचारधारा हमारे समाज मे एकता स्थापित कर सकती है; उससे हम अपने राष्ट्र की एकता को अधिक मजबूत बना सकते है। महावीर ने वर्गहीन समाज की स्थापना की थी, आज हम भी समाजवाद के द्वारा उस आदर्श को छूने का प्रयास कर रहे है। आज जातीय बन्धनो को तोडकर जो एक नया समाज बनता नजर आता है, उसने जैनधर्म को आत्मसात् किया है, ऐसा मालूम होता है। आचार्य तुलसी और एलाचार्य मुनि विद्यानन्दजी आदि के उपदेशो को उसने आत्मसात् किया है।

कालानुसार पुरानी मान्यताओं के रूप बदलते हैं, नवीन और व्यापक होते हैं। अहिंसा अवश्य परम धर्म है। किसी को मारना, सताना, पीटना हिंसा है; लेकिन आज हिंसा युग-सन्दर्भों मे कुछ नवीन रूप धारण कर सामने आती-जाती है। यह मानना होगा कि जैनधर्म मे अहिंसा पर जितना अधिक जोर दिया गया, शायद वैसा जोर विश्व के किसी धर्म मे नहीं दिया गया। जैन समाज में बालक को बचपन मे ही अहिंसा का पाठ मां की गोद में पढ़ाया जाता है। अहिंसा और सेवा-भाव का प्रसार जैन समाज ने इतना अधिक किया है कि समाज के किसी वर्ग ने इतना नही किया। अनेक औषधालय, समाज-सेवी संस्थाएँ, कालेज जैन समाज द्वारा सारे देश में चलाये जा रहे हैं। राष्ट्रीय उद्योग को विकसित और संवर्धित करने में जैन उद्योगपतियों का योगदान स्वर्णाक्षरों मे लिखने योग्य है। जैनधर्म मे तुच्छ-से-तुच्छ और हिंसक-से-हिंसक प्राणी को मारने का पूर्ण निषेध है; लेकिन आज की हिंसा पशु-पक्षी को मारने, किसी जीवधारी को सताने तक सीमित नही; उसने भी अपने क्षेत्र का विस्तार काला धन, उत्कोच, चोरी-डकैती, जमाखोरी, खाने-पीने की वस्तुओं मे मिलावट, तस्करी या स्मगलिंग आदि रूपों मे किया है। ये सब सामाजिक दोष है और समाज विरोधी तत्त्व इन्ही के द्वारा रातो-रात लखपति बन जाते हैं। जैनधर्म मे अस्तेय का सिद्धान्त जहां चोरी-डकैती का निषेध करता है, ऐसे पापमय कुकर्म से बचने का आदेश देता है, वही अपरिग्रह का सिद्धान्त जमाखोरी, खाने-पीने की वस्तुओ मे मिलावट, तस्करी आदि से बाज रखता है। महावीर ने अपरिग्रह का सिद्धान्त सामने रखकर वर्तमान युग की समस्याओ का अहिंसात्मक समाधान प्रस्तुत किया। बुरे कर्मों से समाज बुराई मे फँसेगा ही, दुर्गन्ध से वातावरण दुर्गन्धित होगा ही। अच्छे कर्मों के फलों की सुगन्ध ही दूर-दूर तक फैलती है। 'नारायणोपनिषद्' मे कहा गया है—

> यथा वृक्षस्य सपुष्पितस्य दूराद्गंधो वाति।
> एव पुण्यस्य कर्मणो दूराद् गंधो वाति॥

अर्थात् फूले हुए वृक्ष की सुगन्ध दूर-दूर तक फैल जाती है, वैसे ही पवित्र कर्मों की सुगन्ध दूर-दूर तक पहुचती है। जैनधर्म का अपरिग्रह का सिद्धान्त भी एक पुष्पित वृक्ष है, उसके गुणों की सुगन्ध फैलनी ही चाहिये। जहाँ कही परिग्रह है, लूट-खसोट है, उसकी दुर्गन्ध को अपरिग्रह की सुगन्ध नष्ट कर सकती है। समाचार-पत्रों में पढने को मिलता है कि अमुक गाव या नगर में डाकुओं ने घर मे घुस कर हत्याएँ की और हजारों का माल लेकर फरार हो गये, या अमुक राह चलती स्त्री के गले की स्वर्ण-

चेन खींच कर कोई भाग गया, या अमुक युवती को दहेज कम लाने पर गला घोंट कर या मिट्टी का तेल छिड़क कर हत्या कर दी गयी। इन सब के पीछे परिग्रह की बुराई है। वह परिग्रह जिसे जैनधर्म में वर्जित घोषित किया है। मनुष्य धनार्जन करे, परन्तु उचित साधनों से और उचित मात्रा में उससे दूसरों की सेवा करें। अपरिग्रह को हमें महावीर के इस आदर्श को सामने रखकर ग्रहण करना चाहिये कि जिससे दूसरो की सेवा की जा सके, देश का नवनिर्माण किया जा सके, अपने से अधिक दूसरो को सुख पहुचाया जा सके। महावीर नही चाहते थे कि कोई गरीब हो, गरीबी के अभिशाप मे फँसा हो। जैनधर्म की दृष्टि समाजवादी है, लेकिन दूसरे प्रकार की। अपरिग्रह को हम समाजवाद के निकट रख सकते है, लेकिन अपरिग्रह को समाजवाद नही कह सकते। समाजवादी आदर्श यह है कि कोई मुझसे बड़ा न हो, सब मेरे बराबर हों। अपरिग्रहवादी आदर्श यह है कि कोई मुझसे छोटा न हो, बड़ा चाहे हो। वह जो कुछ अपने पास रखता है उसे दूसरो में भी बाँटना चहता है। केवल गरीबी [illegible] या वस्तुओ के मूल्य कम करो के नारे लगाने से समस्या का निदान नही हो सकता। गरीबी यदि मिटानी है, वस्तुओ के मूल्यो को बढने से रोकना है, जमाखोरी या तस्करी को नष्ट करना है तो जैनधर्म मे निर्दिष्ट अपरिग्रहवाद को स्वीकार करना होगा। आज इसी सिद्धान्त की समाज को अधिक आवश्कता है। इसी के द्वारा आर्थिक विषमता-जन्य अनेक समस्याओं को सरलता से हल किया जा सकता है। जब तक परिग्रहजन्य छीना-झपटी रहेगी, वस्तुओ का सचय किया जाता रहेगा, वस्तुओं के मूल्य बढ़ते रहेंगे—गरीब और गरीब, अमीर और अमीर होते रहेंगे और समाज या देश सुख-शान्ति से वञ्चित रहेगा। लोग दरिद्रता के चक्र मे फँसे असहाय दम तोड़ते रहेंगे। देश दुर्व्यसनो मे जकड़ा रहेगा। कानून पास करने से हृदय नही बदलता। हृदय बदलता है, ज्ञान से, अहिंसा से, अभ्यास से। यहां कथनी और करनी में समानता होनी आवश्यक है। लोग हृदय से अपरिग्रही हों, तभी वे भौतिकता से ऊपर उठ कर आध्यात्मिक लोक मे पहुंच सकते हैं। इस प्रकार अपरिग्रह भौतिकता और आध्यात्मिकता के बीच सुदृढ़ सेतु का काम करता है। वह वचनानुसार कर्म कर के अध्यात्म-भूमि को छू सकता है। हमारे नेताओं-राजनेताओं की बातों में कोई तालमेल नहीं होता; जो वे कहते है, वह करके नहीं दिखाते—शायद वे कानून अपने लिए नहीं, दूसरों के लिए पास करते है। समाज की आर्थिक विषमता का समाधान जैनधर्म के अपरिग्रहवाद मे खोजना होगा। आज उसकी उपादेयता महावीर के युग से काफी अधिक है।

हमारा देश जैसा बहुधर्मी है, वैसा बहुभाषी भी है। यहाँ संकीर्ण विचार-धारा के कारण लोग भाषा को भी धर्म का चश्मा चढा कर देखते है। मुसलमानो की भाषा उर्दू बतायी जाती है, सरकार भी इस भावना का शोषण करती है। कही उर्दू अकादमी बनाकर, कही गालिब अकादमी खोलकर, कहीं उर्दू-अध्यापकों की भर्ती का नारा लगाकर सरकार मुसलमानो की भावना से उचित-अनुचित लाभ उठा रही है। हिन्दी को अहिन्दी-भाषियों पर थोपने का बे-सिर-पैर का नारा लगाकर दक्षिण प्रदेश के लोगों को भडकाया जाता है। कश्मीर भी एक अहिन्दी भाषी प्रान्त है। यहाँ की बहुसंख्यक आबादी मुसलमानों की है, उनकी मातृभाषा कश्मीरी है, जिसमे संस्कृत के ७० प्रतिशत शब्द व्यवहृत हैं। यहाँ के मुख्य मंत्री शेख मोहम्मद अब्दुल्ला ने आठवी कक्षा तक सरकारी स्कूलों मे हिन्दी अनिवार्य घोषित की और 'ओकाफ ट्रस्ट' की ओर से जो विद्यालय चलाये जाते हैं उनमे भी शेख साहब ने हिन्दी को अनिवार्य विषय घोषित किया। 'ओकाफ ट्रस्ट' के अध्यक्ष शेख साहब हैं। यहा भाषा की समस्या को शेख साहब ने धर्म से नही जुडने दिया। दूसरे प्रान्तो मे अवश्य प्रान्तीयता या धर्म की सकीर्णता को लेकर भाषा का हौआ खड़ा किया जाता रहा है। जब जैनधर्म पर दृष्टि डालते है, तब देखते हैं कि उसका भाषा के प्रति कोई दुराग्रह नही रहा कोई सकीर्ण विचार नही रहा। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती आदि अनेक भाषाओं मे उसका साहित्य है। यहाँ जैनधर्म की प्रासंगिकता स्पष्ट है। मत-भेदो को सामंजस्यपूर्ण उदारता और शालीनता से दूर किया जा सकता है। भाषा को अपने युग की विचार-धारा को व्यक्त करने का माध्यम मानकर ही स्वीकार करना चाहिए। जैनधर्म में उसी भाषा को स्वीकार किया जाता रहा जो उस युग मे प्रचलित थी। भाषा-भेद को मिटाने के लिए जैनधर्म की नीति अपनानी होगी। □□

जिनागम में प्रतिपादित उपचरित कथन का रहस्य

☐ श्री महाचन्द्र जैन, इम्फाल (आसाम)

मोक्षमार्ग की समझ के लिए वचन के अर्थभूत उपचरित पदार्थ के कथन को जिस प्रकार से किया जाता है, उसी प्रकार से मानना भी चाहिए या इस प्रकार से किये हुए कथन के समझने मे कुछ विशेषता है, इसके रहस्य को समझने के लिए सर्वप्रथम कथन के अर्थात् वचन के भेदों-प्रभेदों द्वारा स्वरूप को समझना आवश्यक है।

मोक्षमार्ग तथा संसार मार्ग एक दूसरे के विरुद्ध अलग-अलग मार्ग है, इसलिए संसार मार्ग की अपेक्षा एव मोक्ष मार्ग की अपेक्षा से कथन की समझ भी भिन्न प्रकार से होनी चाहिए; यदि मोक्षमार्ग के कथन की समझ भी संसार मार्ग के कथन की तरह से ही समझी या मानी जावे तो समझ की शुरुआत ही विपरीत होने की वजह से मिथ्यात्व की ग्रन्थि खोलने का शब्द द्वारा वचन मे अभिप्राय रखते हुए भी समझने का समस्त पुरुषार्थ विपरीत हो जाने के कारण मिथ्यात्व की गाठ नही खुल सकेगी।

जिस तरहसे संसार मार्ग के लिए जीवन मे प्रति समय गुजरने वाले सम्बन्धो तथा सम्पर्कों के लिए समझ अपनाई जाती है; उससे भिन्न प्रकार की समझ रंगमच पर नाटक वगैरह मे अभिनय करते समय, मुख से सभी तरह के वचन कहते हुए भी उन वचनों द्वारा अपनी समझ या मान्यता को विपरीत न बनाते हुए जिस पात्र की भूमिका मिली है, उसका यथार्थ की तरह अभिनय करते है; उसी तरह से मोक्षमार्ग की समझ अपनाने वाले जीव भी इस संसार को ही एक रगमच मानकर मिली हुई भूमिका अनुसार यथार्थ की तरह अभिनय करते हुए वचन के द्वारा कहे गये कथन की यथार्थ समझ द्वारा जीवन मे विशेष दृष्टिकोण अर्थात् स्वभाव दृष्टि अपनाते है।

वचन के दो प्रकार के भेद मे जो निरर्थक वचन होते है, जैसे बध्यासुत, आकाश कुसम वगैरह, उनके विषय मे विचार नही करके सार्थक वचन याने जो वचन पदार्थ का प्रतिपादन करने मे समर्थ है, उनके विषय मे ही यहां चर्चा करना अपेक्षणीय है।

पदार्थ के प्रतिपादक सार्थक वचन भी समझ की अपेक्षा से दो प्रकार के कहलाते है: १. मिथ्यावचन, और २. सत्यवचन।

संशय, विपर्यय, और अनध्यवसाय रूप समझ हो जाने के कारण ऐसे प्रतिपादन करने वाले वचनों को मिथ्या वचन कहते है तथा अर्थभूत पदार्थ जैसा है, वैसा ही यथार्थ समझ हो जाने के कारण ऐसे प्रतिपादन करने वाले वचनों को सत्य वचन कहते है।

सत्य वचन द्वारा अर्थभूत पदार्थ जैसा है, वैसा प्रतिपादन अभिधेय रूप मे अभिधा-वृत्ति नामक शक्ति द्वारा लक्ष्य रूप मे लक्षणावृत्ति नामक शक्ति द्वारा तथा व्यंग रूप मे व्यजनावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति द्वारा किया जाता है। विशेष इतना समझना चाहिए कि अभिधेय रूप प्रतिपादित पदार्थ का कथन मुख्य व उपचरित के भेद से दो प्रकार का होता है।

इस प्रकार कथन की अपेक्षा से समझने के लिए पदार्थ मे भी मुख्य व उपचार का भेद किया जाता है।

मुख्य कथन वह कहलाता है जिसका अस्तित्व स्वयं सिद्ध हो तथा जिसका अस्तित्व स्वयसिद्ध नही होकर निमित्त तथा प्रयोजनके आधार पर सिद्ध हो, वह उपचारित कथन कहलाता है।

इसी उपचरित कथन द्वारा स्वयं के अस्तित्व की सिद्धि में जो निमित्त रूप आधार कथन होता है, वह लक्ष्य रूप पदार्थ का कथन कहलाता है और इसी उपचरित कथन द्वारा स्वयं की सिद्धि मे जो प्रयोजन रूप आधार कथन होता है वह व्यंग रूप पदार्थ का कथन कहलाता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि उपचरित पदार्थ का कथन स्वयं लक्ष्य रूप या व्यंग रूप पदार्थ का कथन नही है लेकिन स्वय के कथन की सिद्धि याने ज्ञान होने मे निमित्त पड़ रहे लक्ष्य रूप पदार्थ के कथन की सिद्धि करने के विशेष प्रयोजन को लेकर उपचरित कथन "अर्पितानर्पित सिद्धेः" सूत्र अनुसार प्रतिपादित किया जाता है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि उपचरित कथन स्वयं की अपेक्षा कल्पित एव निरर्थक प्रतिपादित कथन नहीं है लेकिन निमित्त तथा प्रयोजन के आधार पर उपचार किया हुआ कथन है, अर्थात् निमित्त तथा प्रयोजन के आधार पर कल्पित किया हुआ कथन हुआ। इसलिए जैनागम में उपचरित कथन को आरोपित, आगन्तुक, आपेक्षिक, पर-सापेक्ष, नैमित्तिक, कल्पित या व्यवहार रूप से कहा गया है।

स्वयं पदार्थ में मुख्य तथा उपचार का भेद नहीं है लेकिन वचन द्वारा पदार्थ मे मुख्य अथवा उपचारपना कल्पित किया जाता है। इसलिए वचन द्वारा ही किसी अन्य पदार्थ मे किसी अन्य मुख्य पदार्थ की अपेक्षा उपचार करके उस उपचरित कथन द्वारा मुख्य पदार्थ के कथन को समझा जाता है।

इसके लिए जैनागम मे कुभकार वगैरह का दृष्टांत दिया जाता है जिसका शाब्दिक सीधा अर्थ कुभ आदि को करने वाला व्यक्ति होता है; परन्तु विचारणीय तथ्य यह है कि जैन मान्यता के अनुसार कर्ता वही पदार्थ कहलाता है, जो स्वयं कार्य रूप परिणत होता है तथा कार्य रूप परिणत होने वाली वस्तु की कार्यरूप परिणति की सिद्धि अर्थात् ज्ञान होने मे सहायक होना उस सहायक होने वाली वस्तु की कर्तृत्व सिद्धि मे कारण रूप है, कर्तृत्व रूप नही है; इसलिए यही निर्णीत होता है कि कार्यरूप परिणत होने वाली वस्तु की कार्यरूप परिणति की सिद्धि मे जो कथन वास्तविक रूप से सहायक होता है।

उसमे वास्तविक रूप से विद्यमान उस सहायकपन के आधार पर कर्तृत्व का उपचार किया जाता है और यही कारण है कि इस प्रकार के कर्तृत्व को उपचरित, आरोपित, आगन्तुक, आपेक्षिक, परसापेक्ष, कल्पित या व्यवहार शब्दों से पुकारा जाता है, जिसका तात्पर्य यह होता है कि कार्यरूप परिणत होने वाली वस्तु की कार्यरूप परिणति की सिद्धि याने ज्ञान होने मे सहायक होने वाले कथन मे यद्यपि कार्यरूप परिणत होने रूप स्वयसिद्ध या स्वाश्रित मुख्य कर्तृत्व विद्यमान नही है फिर भी कार्यरूप परिणत होने वाली उस वस्तु की कार्यरूप परिणति की सिद्धि याने ज्ञान होने में सहायक होने के आधार पर उपचरित रूप कर्तृत्व तो उसमे विद्यमान है ही।

इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि कर्तृत्व का उपचार या आरोप भी उसी कथन मे हुआ करता है जो कथन कार्यरूप परिणत होने वाली वस्तु की उस कार्य रूप परिणति की सिद्धि में सहायक हुआ करता है। इस तरह कार्यरूप परिणत होने वाली वस्तु की कार्यरूप परिणति की सिद्धि याने ज्ञान होने में निमित्त कहे जाने वाले कथन का, सिद्धि याने ज्ञान होने मे सहायकपना तो वास्तविक है लेकिन कर्तृत्वपना उपचरित है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि विवक्षित उपादान कारण से किसी विवक्षित कार्य की उत्पत्ति की सिद्धि वचन द्वारा मुख्य रूप से स्वयं सिद्ध भी होती है तथा उपचरित कथन द्वारा भी होती है। इसीलिए उपचरित कथन का अपना अस्तित्व स्वयंसिद्ध नही है, कारण जहां मुख्यपने का अभाव हो तथा निमित्त और प्रयोजन का सद्भाव हो, वहीं पर उपचार प्रवृत्त होता है।

उपरोक्त कथन से यही सिद्ध होता है कि जो कथन उपादान कारणभूत वस्तु की कार्यरूप परिणति का ज्ञान होने मे सहायक होता है, उसी को उपचरित कारण निमित्त कारण या सहकारी कारण कहा जाता है।

इसी अपेक्षा से श्रीमद् अकलक देव ने अपनी आप्त मीमांसा कारिका १० की अष्टशती टीका मे निम्न कथन किया है।

तद् सामर्थ्यम् खण्डयदकिंचित्करं किं सहकारीकारणं स्यात्?

अर्थात्—सहकारी कारण यदि कार्यरूप परिणत होने की योग्यता रखने वाली उपादान कारणभूत वस्तु की कार्य रूप परिणत न हो सकने रूप असामर्थ्य (अशक्ति) का खण्डन नही करता हुआ सर्वथा अकिंचित्कर ही रहता है तो फिर उसे सहकारी कारण कहा जा सकता है क्या? अर्थात् नहीं कहा जा सकता।

उपरोक्त कथन मे खण्डन शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है क्योकि खण्डन-मण्डन रूप क्रिया शब्द द्वारा कथन मे ही हुआ करती है।

मोक्षमार्ग को समझने के लिए सर्व प्रथम कथन करने की पद्धति की यथार्थ समझ होना अत्यंत आवश्यक है, क्योकि यदि कथन को पद्धति ही नही समझ सके तो वक्ता का अभिप्राय भी सही समझ मे नहीं आ सकेगा।

वचन के अर्थभूत पदार्थ का कथन मुख्य तथा उपचरित दोनो ही प्रकार से हुआ करता है। कथन दो प्रकार से होने पर लक्ष्य रूप पदार्थ को भी दो प्रकार का मान लेवे तो समझ मे भूल रह जाती है। उपचरित कथन का अभिप्राय भी उपचरित कथन की मुख्यता प्रतिपादित करना न होकर उस एक लक्ष्य रूप अर्थभूत पदार्थ का प्रतिपादन करना ही है। अपेक्षा मे दोनों तरह के कथन करने में भिन्न-भिन्न हैं। मुख्य कथन स्व-अपेक्षा किया गया कथन है तथा उपचरित कथन पर-अपेक्षा किया गया कथन है।

स्व अपेक्षा का कथन स्वयंसिद्ध होता है, इसलिए ऐसा कथन उत्पत्ति मार्ग तथा ज्ञप्ति मार्ग दोनों का ज्ञान कराने वाला होता है तथा पर-अपेक्षा का कथन निमित्त तथा प्रयोजन के आधार पर सिद्ध होता है इसलिये यह कथन मात्र ज्ञाप्तिमार्ग अर्थात् ज्ञान कराने वाला कथन है। इन्हीं दोनों प्रकार के कथन को अध्यात्म कथन-आगम कथन, तथा निश्चय कथन-व्यवहार कथन नाम से भी कहा जाता है तथा यही अपेक्षा भिन्नता ज्ञान के अनेकान्त स्वरूप को समझाने के लिये स्याद्वाद नाम से प्रसिद्ध है।

किसी भी कथन की विवेचना करते समय पहले कथन को भली प्रकार समझना जरूरी है कि इस कथन का शब्दार्थ, नयार्थ मतार्थ आगमार्थ तथा भावार्थ क्या है?

मुख्य कथन तो स्वयसिद्ध होने के कारण, उसकी समझ में तो विशेष बाधा नही आती है लेकिन उपचरित कथन में उपचरित कथन के लक्षण का ध्यान नही रखने के कारण अन्यथा समझ अपना ली जाती है। इस विपरीत समझ के कारण उपचरित कथन मे मिथ्यापन का आरोप आ जाता है क्योंकि उपचरित कथन का मुख्य रूप से प्रतिपादन करना या समझना ही विपरीत याने मिथ्या है। उपचरित कथन स्वयं ही यह घोषित करता है कि मैं मुख्य कथन नही हूँ। मुख्य को समझने के लिये ही मेरे में मुख्य का उपचार किया गया है, इसीलिए उपचरित कथन स्वय-सिद्ध नही होकर निमित्त एवं प्रयोजन के आधार पर ही सिद्ध होता है।

उपचरित कथन कहो या निमित्त नैमैत्तिक सम्बन्ध कहो, एक ही बात है। उपचरित कथन का लक्षण निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को सिद्ध करने वाला है। जब उपचरित कथन निमित्त रूप में माना जावे तो उपचरित कथन का लक्ष्य या प्रयोजन नैमित्तिक माना जाता है तथा उपचरित कथन का लक्ष्य या प्रयोजन जब निमित्त रूप से प्रतिपादित होता है तो वही उपचरित कथन मुख्य रूप होकर नैमित्तिक कहलाता है। इस तरह से सभी उपचरित कथन निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध को लिये हुए है; इसलिए उपचरित कथन तथा उसका लक्ष्य आपस मे एक दूसरे की अपेक्षा निमित्त रूप भी है तथा नैमित्तिक रूप भी है।

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि उपचरित कथन मुख्य कथन के अर्थभूत पदार्थ का ज्ञान करने में निमित्त है, न कि मुख्य कथन के अर्थभूत पदार्थ के उत्पन्न होने मे।

पदार्थ प्रतिपादन रूप शब्द, पदार्थ, पदार्थ का ज्ञान क्रमश: शब्दनय, अर्थनय तथा ज्ञाननय के विषय हैं। शब्द में ज्ञान का उपचार याने व्यवहार किया जाता है तथा ज्ञान स्वय ज्ञानरूप है ही; इसलिये पदार्थ अर्थात् अर्थ नय को समझने के लिये शब्द द्वारा जो भी कथन या वचन रूप मे व्यवहार होता है, वह सब शब्दनय का विषय है तथा शब्द द्वारा पदार्थ का जो ज्ञान होता है वह ज्ञाननय का विषय है। इस प्रकार से पदार्थ को जानने का मार्ग ही ज्ञप्ति मार्ग, आगम मार्ग, व्यवहार मार्ग कहलाता है। इस मार्ग के द्वारा मात्र पदार्थ के कथन का ज्ञान होता है, स्वय पदार्थ नही हुआ करता। लेकिन मूल मे भूल वश इस ज्ञप्तिमार्ग द्वारा पदार्थ का होना मान लिया जाता है याने ज्ञप्तिमार्ग से पदार्थ की उत्पत्ति मान लेते है। इस कारण-विपरीतता की विपरीत मान्यता के कारण अनादिकाल मे जीव को अपने आत्मस्वभाव की सम्यक् प्रतीति नही हो पा रही है जिसके फलस्वरूप इष्ट अनिष्ट कल्पना तथा रागद्वेष रूप परिणमन का अभिप्राय निरन्तर मिथ्यात्व एवं अनंतानुबंधी कषाय के रूप मे प्रतिफलित हो रहा है।

पदार्थ की उत्पत्ति उपादान कारण से भी और निमित्त कारण से भी याने दोनों कारणों से उत्पत्ति मानना ही तो मिथ्या अनेकान्त है। जबकि उपादान कारण भिन्न अपेक्षा याने उत्पत्ति की अपेक्षा से कारण है तथा निमित्त कारण याने उपचरित कारण भिन्न अपेक्षा ज्ञप्ति याने जानने की अपेक्षा से कारण है तथा यह अपेक्षा-भिन्नता ही सम्यक् अनेकान्त है।

इसी अनेकान्त स्वरूप को समझने के लिये ही समय सार गाथा १२ की टीका मे श्रीमद् आचार्य देव ने जो मार्मिक चेतावनी दी है, उसका सही भाव समझना भी अपेक्षित है।

जइ जिणमय हवज्जह ता मा ववहार णिच्छए मुयह।
ए एण विणा छिज्जइ तित्थ अण्णेण उण तच्चं।

हे भव्य जीवो ! यदि तुम जिनमत का प्रवर्तन करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों को मत छोड़ो, क्योंकि व्यवहार के बिना तो तीर्थ (धर्म तीर्थ याने ज्ञान तीर्थ जो कि तत्त्वरूप निज शुद्धात्म स्वरूप के निकट किनारे तक पहुंचाने का साधन है) का नाश हो जावेगा तथा निश्चय के बिना तत्त्व (निज शुद्धात्म स्वरूप साध्य रूप आत्मतत्त्व का नाश हो जावेगा)।

इसके लिये समयसागर मूलगाथा १२ मे श्रीमद् कुन्द-कुन्दाचार्य देव ने स्पष्ट निर्देश किया है कि अपरम भाव (विकल्पात्मक अवस्था) में व्यवहार प्रयोजनीय है, अर्थात् भेदज्ञान का विकल्प याने दोनों नयो द्वारा वस्तु स्वरूप को जानने रूप व्यवहार जानने की अपेक्षा प्रयोजनवान् है तथा परमभाव (निर्विकल्प अवस्था) मे निश्चय नय द्वारा प्रतिपादित स्वयं के शुद्धात्म स्वरूप का अर्थात् आत्मज्ञान का ज्ञान आश्रय ग्रहण करने की अपेक्षा से प्रयोजनीय है।

भेद नाम व्यवहार का है। निश्चय तथा व्यवहार रूप भेद मात्र ज्ञान का ही भेद है। ज्ञान की अपेक्षा याने समझने की अपेक्षा से अन्य गुणों में भी निश्चय व्यवहार के भेद का प्रयोग शब्द द्वारा किया जाता है लेकिन उस प्रयोग करने के यथार्थ अभिप्राय को भूलकर श्रद्धा और प्रवृत्ति वगैरह में भी जो निश्चय व्यवहार की मान्यता मान ली जाती है, इसी समझ की भूल के कारण उपचरित कथन के सही आशय को भूलकर विपरीत मान्यता बनी रहती है। यह समझ बहुत मोटी भूल है। प्रबुद्ध जिज्ञासुओं को इस विषय पर विशेष ध्यान देकर चिन्तन-मनन करके निर्णय करना चाहिये। अन्य गुणों का परिणमन शुद्ध या अशुद्ध यथार्थ ही है। मात्र ज्ञान को अपेक्षा शब्द द्वारा उनमें निश्चय व्यवहार का उपचार किया जाता है।

जैनागम मे जगह-जगह व्यवहारनय को निश्चयनय का साधन कहा है, क्योंकि निश्चय नय के अर्थभूत निज शुद्धात्म तत्व आत्मज्ञान का कथन वचनरूप व्यवहार द्वारा होता है। इस तरह से वचनरूप व्यवहार ज्ञान निश्चय साध्यरूप आत्मज्ञान के ज्ञान का साधन है। लेकिन निज के ज्ञान स्वभाव को भूलकर व्यवहारनय द्वारा प्रतिपादित प्रवृत्ति के कथन को निश्चयनय द्वारा प्रतिपादित प्रवृत्ति के कथन को निश्चयनय द्वारा प्रतिपादित प्रवृत्ति के ज्ञान का साधन नही मान कर निश्चय नय द्वारा प्रतिपादित प्रवृत्ति की उत्पत्ति का साधन मानना मात्र समझ की विपरीतता ही है। इस तरह से सत्य प्रतिपादन करने की क्षमता रखने वाले उपचरित कथन को अपनी विपरीत समझ के द्वारा मिथ्या मान्यता रूप मानना स्वयं अपनी ही भूल है। आचार्यों के कथन करने में भूल नहीं है।

इस विवेचना का यही निष्कर्ष निकलता है कि उपचरित कथन का कहना तो व्यवहार है लेकिन उसको वैसा ही मानना मिथ्यात्व है; जैसे कि राग को धर्म कहना व्यवहार है, उपचार है लेकिन राग को धर्म मानना मिथ्यात्व है; क्योंकि राग रूप से कहना तो मुख्य कथन है, यथार्थ कथन है, सत्य वचन है तथा राग को धर्म का व्यवहार है, उपचरित कथन है; उपचार रूप से यथार्थ है, सत्य वचन है क्योंकि अपने लक्ष्य रूप धर्म के कथन का ज्ञान कराने की अपेक्षा प्रयोजनवान् है। लेकिन राग में धर्म उपचार किया अर्थात् राग को धर्म कहा इसलिये राग को भी धर्म मान लिया जावे या राग से धर्म की उत्पत्ति मान ली जावे तो यह मानना विपरीत हो जाता है तथा ऐसा मानना मिथ्यात्व कहलाता है।

इसी तरह से आत्म-स्वभाव की अपेक्षा शरीर आदि नोकर्म तथा ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म रूप परपदार्थ तथा रागादिक परभावरूप भावकर्म को अपना कहना आत्म-स्वभाव का उपचार है। लेकिन इनको अपना मानना अर्थात् सबको अपना आत्म स्वभाव मानना मिथ्यात्व है। ज्ञानी जीव के स्वभाव दृष्टि की वजह से मान्यता में यह विलक्षणता पाई जाती है।

सारांश यही है कि बिल्ली मे शेर का उपचार करके शेर का ज्ञान तो किया जा सकता है लेकिन बिल्ली में शेर का उपचार करने के कारण बिल्ली को भी शेर मान लेना या बिल्ली से शेर की उत्पत्ति मान लेना स्वयं अपनी ही समझ की भूल है।

इस प्रकार से उपचरित कथन का सही प्रयोजन समझ कर भव्यजीव जिनवाणी के यथार्थ रहस्य को समझ द्वारा स्वभाव दृष्टि को अपना कर अपना कल्याण करें। □

R. N. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७ पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट्. के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है। शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। १५-००

स्वयम्भू स्तोत्र : समन्तभद्र भारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। २-००

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापा के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत, सुन्दर, जिल्द-सहित। १-५०

अध्यात्मकमलमार्तण्ड : पंचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित। १-५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १-२५

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-६०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ४-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन १-२५

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १२-०

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०। ७-०

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ५-.

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २०-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद। बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द ६-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ५-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री १२०-००

Jaia Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Pages 2500) (Under print)

प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के लिए रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली-२ से मुद्रित।